ओ३म्

श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-अर्द्धशताब्दी संस्करण

महर्षि दयानन्द सरस्वती

का

जीवन-चरित

भाग १

मूल लेखक—

श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

अनुवादक—

श्री पं० घासीराम, एम. ए., एलएल. बी., एडवोकेट, मेरठ

(भूतपूर्व प्रधान आर्य्यप्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रांत)

प्रकाशक—

आर्य-साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

प्रथमावृत्ति १०००
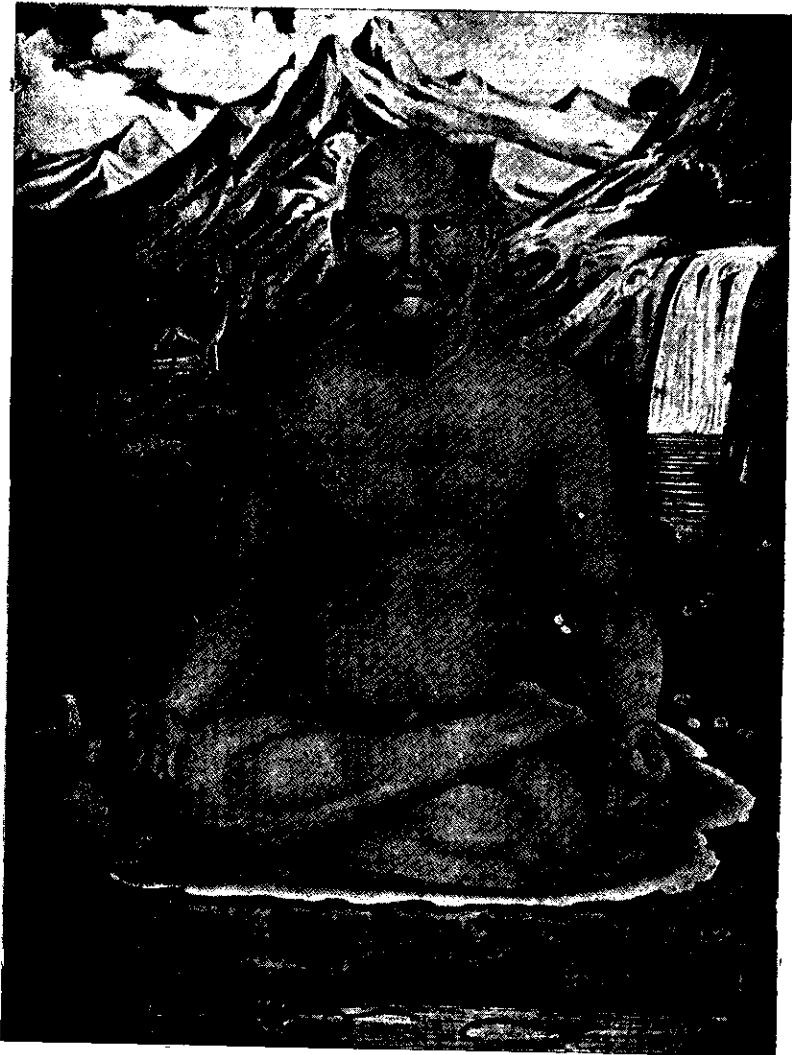
संवत् १९९० वि०

मूल्य सजिल्द ४) रु०

महर्षि दयानन्द सरस्वती

जन्म—संवत् १८८१ वि०

मृत्यु— संवत् १९४० वि०

प्रकाशक का वक्तव्य

ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित के मूल लेखक श्री देवेन्द्रबाबू से प्राय: समस्त आर्य्य परिचित हैं, इन्होंने आर्य्यसमाजी न होते हुए भी किस प्रकार ऋषि दयानन्द के ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, किस प्रकार उनको सोते, जागते, खाते, पीते, उठते, बैठते रातदिन 'दयानन्द' के जीवन-चरित संग्रह की लगन व्याप रही थी और किस परिश्रम, त्याग, लगन और अन्वेषण, अनुसन्धान से जीवन-चरित सम्बन्धी सामग्री संग्रह की, इसका विवरण पाठक, संग्रहकर्त्ता व अनुवादक की भूमिका से जान लेंगे। जिस समय समस्त सामग्री का संग्रह हो चुका, उस समय उनको इसके प्रकाशन की चिन्ता हुई। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनका किया साराश्रम उनके जीवन काल में ही जनता के सम्मुख आजावे। इसमें बहुत अधिक द्रव्य की अपेक्षा थी अत: इसको प्रकाशित करने के लिये आपने अनेक प्रकाशकों और आर्य्य नेताओं से परामर्श किया, किन्तु उन्हें सफलता न हुई, इस सम्बन्ध में उन्होंने जो पत्र※ फर्रुखाबाद के पण्डित गणेशप्रसादजी, सम्पादक भारतसुदशा प्रवर्तक को तारीख़ १७-१२-१९१६ को बनारस से लिखा था, उसका कुछ उद्धरण इस प्रकार है:—

"मैंने जिस स्वामीजी के जीवन वृत्तान्त के लिये बहुत वर्षों से घूमघाम कर कुछ मसाला इकट्ठा किया और उसके साथ स्वामीजी का आदि नाम और जन्मस्थान निश्चय करके छोड़ा, उस पुस्तक को मैं यहां बैठ कर लिखता हूँ। वह एक वृहत् पुस्तक होगी और दो तीन खण्ड में समाप्त होगी और मेरा इरादा है कि उस पुस्तक को कई भाषाओं में छपायें, परन्तु इसके लिये बहुत कुछ द्रव्य की आवश्यकता है। मैं इसके लिए पब्लिशर की तलाश में हूँ, लेकिन कोई नहीं मिलता है। फर्रुखाबाद समाज ने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के लिये बहुत कुछ किया, उनका वैदिक प्रेस स्थापन और वेदभाष्य प्रचार के लिये बहुत कुछ धन खर्च किया। मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरी इस पुस्तक के लिये फर्रुखाबाद समाज पब्लिशर हो सकते हैं या नहीं। आप कृपा करके यह बात समाज के मन्त्री के पास उठा सकते हैं और इस विषय में आप लोगों की अभिलाषा क्या है? आप आर्य्य-समाज के प्राचीन पुरुष हैं और समाज का अनुभव भी आपको बहुत कुछ है। इसलिये आप शायद स्वीकार करेंगे कि आर्य्यसमाज में साहित्य जीवन कुछ है ही नहीं ...... इसके ऊपर मेरा लेख, जो कि गत फरवरी अङ्क का वैदिक मेगजीन में प्रकाशित हुआ वह आप ने देखा है या नहीं।

—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय
नं० बी० ७/३३ हाडारबाग़,
बनारस सिटी.

※ पण्डित गणेशप्रसादजी के नाम का उपरोक्त पत्र महाशय मामराजजी, रिसर्चडिपार्टमेन्ट डी० ए० वी० कालेज लाहौर द्वारा प्राप्त हुआ।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री देवेन्द्रबाबू को ऋषि के जीवन-चरित के प्रकाशन की कितनी उत्सुकता थी, परन्तु अपने जीवन काल में प्रकाशित जीवन-चरित का देखना उनके भाग्य में न था। आपका इस सम्बन्ध में श्री पण्डित घासीरामजी एम० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट मेरठ से भी अनुवाद करने के सम्बन्ध में पत्र व्यवहार होरहा था कि इस अन्तर में आपका देहावसान हो गया।

अनन्तर सब सामग्री पण्डित घासीरामजी मेरठ ले आये और इसे क्रमबद्ध कर हिन्दी में अनुवाद कर दिया। आपने भी इस कार्य में बहुत समय और धन व्यय किया, परन्तु योग्य प्रकाशक का सहयोग न मिलने से आप भी निराश थे।

गत वर्ष हमारी बातचीत इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में श्री पण्डित हरिशङ्करजी शर्म्मा, सम्पादक आर्य्य-मित्र आगरा व श्री पण्डित भगवद्दत्तजी बी० ए०, रिसर्च स्कालर, डी० ए० वी० कालेज से हुई। आप दोनों महानुभावों ने मुझे इसको प्रकाशित करने के लिये बहुत प्रोत्साहना दी। अतः मैंने इस विशाल ग्रन्थ को प्रकाशित कर देने का संकल्प किया, यद्यपि आर्य्य साहित्य मण्डल लिमिटेड की आर्थिक स्थिति को देखकर मैं इतने भारी ग्रन्थ प्रकाशन का सहसा साहस न कर सकता था। मैंने यह समस्या जनता के सम्मुख रक्खी, परन्तु मुझे इसमें पर्याप्त सहायता न प्राप्त हुई, तो भी जितना हो सका यथासम्भव यत्न करके मैंने यह 'महर्षि दयानन्द सरस्वती' के जीवन-चरित का प्रथम भाग प्रकाशित कर श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-अर्द्धशताब्दी के अवसर पर जनता के सम्मुख रक्खा। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि मैं इस जीवन-चरित को पूरा ही इस अवसर तक प्रकाशित कर दूं, परन्तु बहुत से विघ्न उपस्थित हुए, जिनमें आर्थिक अभाव के साथ २ श्री पण्डित घासीरामजी के ऊपर मुसलमान गुण्डों के नृशंस आक्रमण के कारण उनके जीवन पर आई दारुण विपत्ति भी बड़ा कारण थी।

इस जीवनचरित में लगे चित्रों को प्राप्त करने में मण्डल को श्री विजयशङ्करजी मन्त्री आर्य्यसमाज बम्बई, श्री मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल सूपा, श्री म० गोविन्दरामजी, कलकत्ता, श्री म० मामराजजी अनुसन्धान विभाग डी० ए० वी० कालेज लाहौर तथा अन्यान्य कतिपय समाजों ने भी बड़ी सहायता की है, जिनके हम अन्तस्तल से बड़े कृतज्ञ हैं। अबतक जो चित्र प्राप्त हुए हैं, उनमें बहुत से तो वास्तविक हैं और बहुत से कल्पित हैं। मण्डल यत्न कर रहा है कि जहां २ भी महर्षि के वास्तविक चित्र प्राप्त हों वे सब चित्र तथा ऋषि के हस्तलिखित पत्र इस जीवन-चरित के दूसरे भाग में दिये जावेंगे।

—प्रकाशक

संग्रहकर्त्ता की भूमिका

ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित के लिखने में आर्य्य-समाज ने अत्यन्त निन्दनीय उदासीनता और उपेक्षा की। आर्य्य-समाज बम्बई १० एप्रिल सन् १८७५ को स्थापित हुआ, उसके पश्चात् संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध और पञ्जाब के अनेक नगरों में आर्य्य-समाज स्थापित होते रहे और वैदिक धर्म्म के सुनियमित और सुसंगठित केन्द्र अस्तित्व में आगये। ऋषि ने सन् १८८३ की ३० अक्टूबर को परमपद प्राप्त किया। आर्य्य-समाज बम्बई के स्थापित होने के पश्चात् ऋषिवर साढ़े आठ वर्ष जीवित रहे। इन वर्षों में यू० पी० और पञ्जाब, गुजरात और बिहार में प्रमुख आर्य्य-समाज स्थापित हो चुके थे, जिनमें सुशिक्षित और प्रतिष्ठित सज्जन सम्मिलित थे, परन्तु न किसी आर्य्य-समाज को ही और न किसी आर्य्य-समाजी को ही यह चिन्ता हुई कि ऋषि-जीवन की सामग्री एकत्र की जाय। किसी ने भी यह यत्न न किया कि ऋषिवर से पूछताछ करके उनके जीवन की आर्य्य-समाज की स्थापना से पूर्व की घटनाओं को लिपिबद्ध करे। यह तो दैवयोग ही समझिये कि कर्नल आल्काट को इसका ध्यान आया और उन्होंने श्रीमहाराज से प्रार्थना करके आत्मचरित लिखा कर उसे "थियासोफ़िस्ट" में प्रकाशित किया और ऋषिवर ने जब पूना में अपनी जीवन कथा का वर्णन किया तो वहाँ के सज्जनों ने उसे लिपिबद्ध कर लिया। ऋषि ने अपना जीवन-वृत्तान्त अन्य कई स्थानों में भी वर्णन किया, पर अन्य किसी ने उसे लेखबद्ध करने की ओर ध्यान न दिया। यदि कर्नल आल्काट और पूना के सज्जन इस ओर ध्यान न देते तो उस काल का जीवनवृत्त अन्धकार में विलीन हो जाता। यदि ऋषि के जीवन-काल में ही अनुसन्धान आरम्भ हो जाता तो प्रामाणिक जीवनवृत्त लिखने में कुछ भी कठिनाई न होती। उनके पिता के नाम और जन्मस्थान के विषय में यदि उनके अनुयायी उनसे आग्रह-पूर्वक जिज्ञासा करते तो सम्भव था कि वह उनकी जिज्ञासा को समीचीन उत्तर देकर शान्त कर देते। यह दोनों बातें असन्दिग्ध रूपसे ज्ञात हो जातीं और विवाद और अनुसन्धान का विषय न रहतीं और विरोधियों को इस विषय में अपवाद फैलाने का अवसर न मिलता। ऋषि ने सैकड़ों व्याख्यान दिये, सहस्रों मनुष्यों से धर्म्म तथा अन्य विषयों पर वार्त्तालाप किया। उनमें उन्होंने न जाने कितने वैदिक रहस्यों का उद्‌घाटन किया होगा, कितने विषयों पर अपनी अमूल्य सम्मति प्रकट की होगी जिनका आज हमारे पास कोई लिखित विवरण नहीं है। यदि यह विवरण होता तो उससे संसार को कितना लाभ पहुँचता, मनुष्य की जीवनयात्रा को सुखपूर्वक बिताने में वह कितना सहायक होता और उससे कितने मिथ्या विश्वासों और भ्रममूलक सम्मतियों का मूलोच्छेद होता, इसका कौन अनुमान कर सकता है? हमने इनमें से कुछ भी नहीं किया और अपने प्रमाद से संसार को एक महान् लाभ से वञ्चित कर दिया। इतना ही नहीं ऋषि की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् भी पाँच वर्ष तक हम मौन साधे और हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे।

सन् १८८८ में जाकर हमें सुध आई और आर्य्य-प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब ने स्वर्गीय परिडत लेखराम को ऋषि-जीवन की सामग्री इकट्ठी करने के लिये नियत किया। पण्डितजी ने पाँच वर्षों तक उसके संग्रह करने में अनथक परिश्रम किया और इसमें इन्हें सफलता भी अच्छी हुई। सामग्री संग्रह करने के पश्चात् वह अपने नोटों को क्रमबद्ध करने बैठे परन्तु प्रचार कार्य्य के कारण उसमें अन्तराय पड़ते रहे और वह अपनी संगृहीत सामग्री के स्वल्प अंश को ही क्रम में रखने का प्रयत्न कर पाये कि ६ मार्च सन् १८९६ को एक यवन घातक ने उनका बध कर दिया। न वह सारी सामग्री को ही क्रमबद्ध कर पाये और न उसका पुनर्निरीक्षण ही करसके। उनके पश्चात् यह काम आर्य्य-समाज के प्रसिद्ध विद्वान् कार्य्यकर्त्ता श्री मास्टर आत्माराम अमृतसरी को सौंपा गया। उन्होंने और उनके सहकारियों ने जिस महान् परिश्रम से परिडत लेखरामजी के छोड़े हुए काम को पूरा किया, उसके लिए वह शतशः और सहस्रशः धन्यवाद के पात्र हैं।

पंडित लेखरामजी और मास्टर आत्मारामजी के परिश्रम का फलस्वरूप उर्दू में लिखा हुआ वह दयानन्द-चरित है, जो आर्य्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब की ओर से सन् १८९७ में प्रकाशित हुआ। उसे पढ़कर परिडत लेखरामजी के असाधारण परिश्रम का पता चलता है। उसे देख कर एकदम अवाक् रहना पड़ता है। परिडतजी ने पाँच वर्षों से कम में इतना काम किया, जितना दो मनुष्य भी नहीं कर सकते थे। वह बीसियों स्थानों पर गये और सहस्रों मनुष्यों से मिले और ऋषिजीवनसम्बन्धी घटनाओं को लिपिबद्ध किया। उक्त उर्दूचरित ज्ञान की एक खानि है। ऋषि का कोई भी जीवन-चरित-लेखक उसकी सहायता के विना एक पग भी आगे नहीं रख सकता। परन्तु उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं जो न परिडत लेखराम की हैं और न मास्टर आत्माराम की। उसमें घटनाओं के वर्णनों का विश्लेषण, समीक्षण और उनकी समालोचना नहीं की गई, न घटनाओं को पूर्वापर सम्बन्ध की दृष्टि से एक क्रम में रक्खा गया है। केवल स्थानविशेष की घटनाओं के भिन्न२ मनुष्यों के कथनों को एकत्र कर दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक ही घटना के कई प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं, एक ही घटना का भिन्न काल में होना पाया जाता है। पाठक चक्कर में पड़ जाते हैं कि किस वर्णन को ठीक मानें, कहीं २ तो यह पता लगना ही कठिन होजाता है कि घटना का वास्तविक रूप क्या था। घटनाओं का वर्णन एक शृङ्खला में भी नहीं है।

यह त्रुटियाँ अवश्य हैं फिर भी यदि यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई होती तो 'ऋषि जीवन-चरित' का पूर्णतया लिखना असम्भव हो जाता। इसलिये हमें सदा के लिये पंडित लेखराम का नितान्त आभारी रहना होगा। जो सामग्री वह एकत्र कर गये हैं, उसका बहुत बड़ा अंश असंगृहीत ही रह जाता, यदि वह इतना परिश्रम न करते।

बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय एक बङ्गीय सज्जन थे, वह आर्य्यसमाजी न थे। हम नहीं कह सकते कि उनके हृदय में ऋषि दयानन्द के प्रति श्रद्धा का उदय किस प्रकार हुआ। एक बार श्रद्धा का अंकुर जम जाने के पश्चात् वह पल्लवित होता ही गया। उनको ऋषि का 'जीवन-चरित' लिखने की लौ लग गई। उन्होंने सन् १८९४ ई० में ही दयानन्दचरित के नाम से एक छोटी पुस्तक दो भागों में बङ्गला भाषा में प्रकाशित की। उसका विज्ञापन

किसी बङ्गला समाचार पत्र में देख कर मैंने उसे मँगाकर पढ़ा। मैंने उसे अत्यन्त रोचक पाया और मन में उसका आर्य्य-भाषानुवाद प्रकाशित करने की इच्छा उत्पन्न हुई। परन्तु कई वर्ष तक यह इच्छा कार्य्य में परिणत न हो सकी। सन् १८०८–१९१० के बीच में वह किसी समय मेरठ आये और मुझसे मिले। उनके मिलने पर मैंने देखा कि वह दयानन्द के पीछे वास्तव में पागल से हैं। उन्हें दिन रात दयानन्द की चिन्ता घेरे रहती थी। वह दया-नन्द जीवन की एक एक घटना का पता लगाने के लिये सैकड़ों कोस की यात्रा करने और सैकड़ों रुपया व्यय करने के लिये उद्यत थे। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मेरठ के कुछ आर्य्यसमाजियों से बात-चीत करते हुए उन्होंने कहा कि "आप लोग दयानन्द के अनु-यायी होने का दम्भ करते हैं। आप दयानन्द से प्रेम नहीं करते। क्या आप में से कोई उसके नाम पर मरने को तैयार है ? मैं गर्व नहीं करता परन्तु आवश्यकता हो तो मैं दया-नन्द के नाम पर अपना शिरश्छेद कराने में इतस्ततः नहीं करूँगा।" देवेन्द्रबाबू निर्धन पुरुष थे। उन्हें अपनी पुस्तकों की बिक्री से ही थोड़ी सी आय थी। कुछ उनके बङ्गाली साहित्यप्रिय मित्र भी उनकी सहायता करते रहते थे। कहीं २ आर्य्यसमाजियों से भी उन्हें कुछ मिल जाता था और इस प्रकार जो धन प्राप्त होता था, उसी से वह अपना निर्वाह भी करते थे और ऋषि-जीवन-चरित लिखने के लिये सामग्री एकत्र करने में भी व्यय करते थे। सम्भवतः सन् १९११ में मेरठ के भास्कर प्रेस के अध्यक्ष स्वर्गीय बाबू रघुवीरशरण दुबलिश ने मुझसे पूर्वोल्लिखित दयानन्द-चरित का बङ्गाल से आर्य्यभाषा में अनुवाद कराया और देवेन्द्रबाबू की आज्ञा लेकर उसे प्रकाशित किया। उस समय ही आर्य्य जनता को पता लगा कि कोई बङ्गाली ऋषिभक्त भी संसार में है। देवेन्द्रबाबू एक बृहत् सर्वाङ्ग-पूर्ण दयानन्द-चरित बङ्गला में प्रकाशित करने के नितान्त इच्छुक थे। इसी के लिये उन्हों ने असीम कष्ट सहन किया था। वह उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन गया था। मुझे उसी समय यह निश्चय हो गया था कि मैं उसका आर्य्यभाषा में अनुवाद करूँ और बङ्गला और आर्य्यभाषा की पुस्तकें एक साथ प्रकाशित हों। सन् १९१५ वा १९१६ में वह सब सामग्री संग्रह कर चुके थे और निश्चिन्त होकर जीवन-चरित लिखने बैठ गये थे।

यों तो उनकी संगृहीत सामग्री में अनेक ऐसी घटनाएँ हैं जिनका उनके अनुसन्धान के पूर्व आर्यसमाजियों को कुछ पता न था, परन्तु सब से अधिक मूल्यवान् उनका ऋषि के पिता और जन्म स्थान का पता लगाना है। उससे पूर्व पण्डित लेखराम ने किसी से सुन सुना कर बिना अधिक अनुसन्धान के ऋषि के पिता का नाम अम्बाशङ्कर और ऋषि का नाम मूलशङ्कर लिख दिया था और यही नाम आर्य्यसमाज में प्रचरित हो गये थे। देवेन्द्र-बाबू ने अत्यन्त सावधानी और परिश्रम से खोज करके बताया कि वास्तव में उनके पिता का नाम करसनजीलालजी त्रिवाड़ी और उनका नाम दयाराम वा मूलजी (मूलशङ्कर का संक्षिप्त रूप) था और उनका जन्मस्थान मोर्वी राज्य के अन्तर्गत टङ्कारा था। इस विषय पर उन्होंने 'वैदिक-मैगेजीन' गुरुकुल काँगड़ी में एक लेख भी लिखा था और एक पैम्फ़्लेट भी प्रकाशित किया था जिस का आर्य भाषानुवाद इसी पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट संख्या १ के नाम से लगा दिया गया है।

देवेन्द्रबाबू प्रस्तावित दयानन्दचरित की भूमिका और पहले चार अध्याय ही लिख

सके। वह ज्यों के त्यों प्रकाशित किये जाते हैं। इसके पश्चात् उन्हें सहसा अर्द्धांग रोग ने आ दबाया और उसी में उनका देहान्त होगया। यह कितने दुःख की बात है कि न तो पण्डित लेखराम ही और न देवेन्द्रबाबू ही अपने कार्य को पूरा करसके। यदि दयानन्द-चरित को पूरा लिख पाते तो इसमें सन्देह नहीं कि क्या साहित्य की दृष्टि से और क्या इतिहास की दृष्टि से वह एक अलौकिक ग्रन्थ होता। बहुत सी बातें और विचार उनके मस्तिष्क में ही होंगे जो उनकी मृत्यु के साथ लुप्त हो गए। उनकी मृत्यु के पश्चात् मैंने अपने स्वर्गीय मित्र बाबू ज्वालाप्रसाद एम० ए० की सहायता और उद्योग से जो काशी में डिप्टी कलक्टर थे, संभवतः सन् १९१७–१८ में देवेन्द्रबाबू की संगृहीत सामग्री प्राप्त की। वह विचित्र दशा में थी। सैकड़ों छोटे बड़े काग़ज के टुकड़ों, नोटबुकों, पत्रों, पोस्टकार्डों, समाचार-पत्रों के कर्त्तनों के रूप में थी, जो कहीं पेंसिल से और कहीं स्याही से बङ्गाली अथवा अंग्रेजी अक्षरों में लिखी हुई थी। मैंने पहले उन सब को पढ़ा, फिर आर्यभाषा में उनका अनुवाद किया और फिर उन्हें एक क्रम में लिखा।

देवेन्द्रबाबू की संगृहीत सामग्री में पण्डित लेखरामकृत दयानन्द-चरित गर्भित अनेक बातों का समावेश नहीं था। मेरे विचार में इस का कारण यह था कि पण्डित लेखराम के ग्रन्थ में वर्णित जिन घटनाओं को वह सत्य मानते थे उनके विषय में नोट रखने को उन्होंने व्यर्थ का परिश्रम समझा। अतः जब मैं देवेन्द्रबाबू की संगृहीत सामग्री के आधार पर जीवन चरित लिखने बैठा तो मैंने अनुभव किया कि यदि पण्डित लेखराम के ग्रन्थ की उपेक्षा की गई तो जीवनचरित बहुत अंशों में अपूर्ण रह जायगा और इसलिये मैंने उक्त ग्रन्थ से भरपूर सहायता लेने का निश्चय कर लिया।

देवेन्द्रबाबू के पश्चात् श्री स्वामी सत्यानन्दजी महाराज ने ऋषि की जीवनी लिखने का सङ्कल्प किया और स्थान २ में घूम फिर कर कुछ सामग्री एकत्र की। उन्होंने देवेन्द्र बाबू की सामग्री को काशी जाकर देखा और उससे पूर्ण लाभ उठाया। यही कारण है कि प्रशंसित स्वामीजी के ग्रन्थ श्रीमद्दयानन्दप्रकाश में बहुत सी उन घटनाओं का उल्लेख है जिनका देवेन्द्रबाबू के सिवाय अन्य किसी को पता न था।

पण्डित लेखरामजी का अनुसन्धान विशेषकर पञ्जाब और यू० पी० और राजस्थान तक ही सीमित रहा। बम्बई और बङ्गाल प्रान्त में न उन्होंने अधिक भ्रमण किया और न अधिक अनुसन्धान किया। अतः इन दोनों प्रान्तों की घटनाओं का उनके ग्रन्थ में उतना विशद वर्णन नहीं है जितना पञ्जाब और यू० पी० तथा राजस्थान की घटनाओं का है। देवेन्द्रबाबू ने इन दोनों प्रान्तों में अधिक अनुसन्धान किया और उनके वहाँ के वृत्तान्त बहुत विस्तृत हैं।

देवेन्द्रबाबू को जो सुविधा अंग्रेज़ी जानने के कारण थी वह न पण्डित लेखरामजी को और न स्वामी सत्यानन्दजी को ही प्राप्त थी। प्रशंसित दोनों महानुभावों को बङ्गाली और गुजराती भाषा से भी जानकारी न थी और अंग्रेज़ी भी वह न जानते थे अतः वहाँ के लोगों के वक्तव्यों के समझने में उन्हें कितनी कठिनता का सामना करना पड़ा होगा, यह सहज में ही समझ में आ सकता है।

दयानन्दप्रकाश वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखा गया। उसके लेखक का

मुख्य अभिप्राय ऋषि दयानन्द में भक्ति और श्रद्धा के भावों का उत्पन्न करना है। उसमें ऋषि के स्वरूप का इस ढंग से और ऐसी भाषा में वर्णन किया गया है जिससे पाठक उस से प्रेम करें, उनके हृदय में ऋषि के प्रति भक्ति और श्रद्धा का सञ्चार हो। दयानन्दप्रकाश ठीक उन्हीं भावों से परिचालित होकर लिखागया है, जिन भावों से परिचालित होकर गोसाईं तुलसीदास ने रामचरित-मानस और श्री सूरदासजी ने सूरसागर की रचना की। दयानन्दप्रकाश यद्यपि पद्यात्मक नहीं है, परन्तु उसके गद्य काव्य होने में कोई सन्देह भी नहीं है। दयानन्दप्रकाश की भक्ति भावपूर्ण, सरस, मधुर और ललित भाषा को पढ़ कर कौन सहृदय पाठक होगा जिसका शिर दयानन्द के चरणों में न झुक जाय, जिसका हृदय भक्ति और श्रद्धा के प्रवाह से प्लावित न हो जाय। दयानन्दप्रकाश में ऋषि के चरित्र चित्रण में एक उच्च कोटि के चित्रकार के कलानैपुण्य का परिचय मिलता है। जगह २ महाराज की भव्य और विशाल मूर्त्ति का ऐसा सुन्दर वर्णन है कि उनका चित्र आँखों के सामने आकर विराजमान हो जाता है जिसे पाठक सब कुछ भूल कर उसकी ओर एकटक दृष्टि लगा कर मुग्ध हो जाता है। स्वामी सत्यानन्दजी ने चुन २ कर ऐसी घटनाओं का अपने निराले ढंग में वर्णन किया है जिनसे महाराज की योग की विभूतियों का प्रमाण मिलता है, कुछ ऐसी घटनाएं भी हैं जिनका पता न देवेन्द्रबाबू की संगृहीत सामग्री में है और न पण्डित लेखराम के ग्रन्थ में। अतः मैंने यह उचित समझा है कि इस पुस्तक में उन घटनाओं का भी सन्निवेश कर दिया जाय।

मैंने उपर्य्युक्त दोनों ग्रन्थों से सहायता लेने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। मैं इस सहायता के लिये हृदय से कृतज्ञ हूँ। यह पुस्तक एक प्रकार से उक्त दोनों ग्रन्थों और देवेन्द्रबाबू की संगृहीत सामग्री का सारसंग्रहमात्र है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। मैंने ऐसा यत्न किया है कि इस क्षेत्र में जिन महानुभावों ने कार्य्य किया है, उनके परिश्रम का फल पाठकों को एक जगह ही हस्तगत हो जाय परन्तु ऐसा होने पर भी यह न समझना चाहिये कि यह ग्रन्थ उक्त दोनों ग्रन्थों के पद पर आरूढ़ होगया है।

ऐसी दशा में मेरे लिये यह असम्भव होगया कि मैं हरएक स्थल पर पंडित लेखराम के ग्रन्थ अथवा दयानन्दप्रकाश का नामोल्लेख करूँ। ऐसा न कर सकने से एक त्रुटि अवश्य आगई है। वह यह है कि पाठकों को सहसा यह पता नहीं लग सकता कि ग्रन्थ में कितना भाग केवल देवेन्द्रबाबू की सामग्री का है और कितना उपर्य्युक्त दोनों ग्रन्थों का, परन्तु ऐसा होना अनिवार्य ही था। दयानन्दप्रकाश का भी बहुत थोड़ा अंश है जो केवल स्वामी सत्यानन्दजी के अनुसन्धान का परिणाम है, उसका अधिकतर भाग भी पण्डित लेखराम के ग्रन्थ और देवेन्द्रबाबू की संगृहीत सामग्री पर अवलम्बित है, परन्तु ग्रन्थ के पाठ से यह पता नहीं लगता कि अमुक स्थल अमुक ग्रन्थ से लिया गया है। इस पुस्तक को उपर्य्युक्त दोनों ग्रन्थों से मिला कर पढ़ने से ही यह ज्ञात हो सकता है कि ग्रन्थ में केवल देवेन्द्रबाबू की खोज की हुई कितनी घटनाएँ हैं। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि भूमिका, पहले चार अध्याय और पितृनाम और जन्मस्थान का निर्णय परिशिष्ट संख्या १ देवेन्द्रबाबू का लिखा हुआ है, परन्तु उक्त परिशिष्ट को मैंने संक्षिप्त कर दिया है। गुजरात, काठियावाड़, बङ्गाल की यात्रा का वर्णन भी उन्हीं का है। मुग़लसराय की यात्रा का उल्लेख किसी अन्य ग्रन्थ में

देखने में नहीं आया। जोधपुर, आबू, अजमेर का वर्णन उन्हीं की लेखनी का है। आर्य्य-जगत् में यह विश्वास फैला हुआ है कि आर्य्यसमाज बम्बई ही सब से पहला आर्य्य-समाज है। वास्तव में सबसे पहला आर्य्यसमाज राजकोट में स्थापित हुआ था, जो कुछ दिन चलकर टूट गया था।

दूसरा मिथ्या विश्वास यह फैला हुआ है कि महाराज को विष जगन्नाथ रसोइये ने दिया था और उसने अपना दुष्कर्म स्वीकार भी कर लिया था। इस पर भी उन्होंने अपने परम दयालुता से उसे कुछ रुपया देकर जोधपुर से भगा दिया।

यह सर्वथा निराधार है। उनके पास किसी जगन्नाथ रसोइये के होने का पता ही नहीं चला।

इसी प्रकार देवेन्द्रबाबू ने कितने ही भ्रमों का संशोधन किया है। मैंने यह यत्न किया है कि जहाँ तक हो देवेन्द्रबाबू के ही शब्द रक्खे जावें। जहाँ कहीं विशेष रूप से अपनी सम्मति प्रकट करना आवश्यक समझा है वहाँ अपने नाम का उल्लेख कर दिया है। मैंने घटनाएँ पण्डित लेखराम के ग्रन्थ से भी ली हैं और दयानन्दप्रकाश से भी, परन्तु बहुसंख्यक होने के कारण उनके विषय में यह नोट नहीं कर सका हूँ कि अमुक ग्रन्थ से ली गई हैं; हाँ जहाँ किसी घटना के विषय में कोई विशेष आलोचना की आवश्यकता हुई है, वहाँ यह नोट कर भी दिया है।

फ़र्रुख़ाबाद सम्बन्धी घटनाएँ 'फ़र्रुख़ाबाद का इतिहास' नामक ग्रन्थ से मिलान करके लिखी गई हैं। यह ग्रन्थ हाल में ही आर्य्यसमाज फ़र्रुख़ाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रन्थ से मुझे बहुत सहायता मिली है, जिसे मैं कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता हूँ।

ऋषि के पत्रों का संग्रह जो पण्डित भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर आर्य्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर ने प्रकाशित किया है और स्वामी दयानन्द का पत्रव्यवहार जो महात्मा मुंशीराम ने प्रकाशित किया था बड़े उपयोगी हैं। उनसे भी यत्र तत्र सहायता ली गई है, जिसे मैं धन्यवादपूर्वक स्वीकार करता हूँ।

मैंने किसी विस्तृत भूमिका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि प्रथम तो देवेन्द्रबाबू की ही भूमिका पर्याप्त है, दूसरे इस ग्रन्थ का यह तात्पर्य नहीं है कि मैं यह प्रकट करूँ कि ऋषि कैसे मनुष्य थे, वह कैसे विद्वान थे, उनकी धर्मनिष्ठा, ईश्वर-विश्वास, वेदप्राणता, सत्यपरायणता, कर्मठता, योगदक्षता, तार्किकता, निर्भीकता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता, निष्कपटता, वाग्मिता आदि कैसी थीं, अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उनका कैसा वर्त्ताव था, उनका ब्रह्मचर्य्य बल, तेज, पुरुषार्थ कैसा था, उनकी महत्वपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक विषयों पर क्या सम्मति थी? उनके गुणों को उनके जीवन की अनेक घटनायें सुस्पष्टतया प्रकट करती हैं जिनके लिये किसी ग्रन्थकार के बताने की आवश्यकता नहीं है, घटनाएँ स्वयं बोलती हैं। इस ग्रन्थ का अभिप्राय ऋषिचरित्र को उसके प्रकृत स्वरूप में जनता के सम्मुख रखना है। यदि यह अभिप्राय इससे सिद्ध होता है तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। इसके निर्णायक पाठक ही हो सकते हैं। मेरे कहने से कुछ नहीं बन सकता। इस ग्रन्थ में यदि कुछ गुण हैं तो उनका श्रेय अन्यों को ही है। मैं जानता हूँ कि पाठकों को अनेक त्रुटियां मिलेंगी। उनका उत्तरदाता मैं और केवल मैं हूँ।

मेरठ,
३०-९-१९३३.

घासीराम.

विषय-सूची

भूमिका—

षष्ठ अध्याय (पृ० ११७—१३२)

सप्तम अध्याय (पृ० १३३—१५८)

दशम अध्याय (पृ० १६६—२०७)

एकादश अध्याय (पृ० २०६—२४६)

द्वादश अध्याय (पृ० २४७—२६७)

त्रयोदश अध्याय (पृ० २६६—२८४)

चतुर्दश अध्याय (पृ० २८५—३०२)

पञ्चदश अध्याय (पृ० ३०३—३२७)

षोडश अध्याय (पृ० ३२६—३५०)

स्वामीजी के विरुद्ध भड़काया गया--उपद्रव का सुयोग--सम्मान प्रदर्शन का निश्चय--शोभायात्रा की तैयारी- संवर्द्धना-सभा--स्वामीजी हाथी पर सवार न हुए—शोभायात्रा का क्रम- विपक्षियों की लीला, गर्दभ-शोभायात्रा--दोनों यात्राओं की मुठभेड़- स्वामीजी की शोभा यात्रा पर आक्रमण—पुलिस तमाशा देखती रही—पुलिस ने केवल एक मनुष्य को पकड़ा—स्वामीजी ने उपद्रव शान्त होनेपर व्याख्यान दिया—स्वामीजी का समादर—वेदभाष्य की सहायता—स्वामीजी की निर्भीकता—स्वामीजी चट्टान सदृश अचल थे—दो अभियुक्त --दो अभियुक्तों को दण्ड—मैजिस्ट्रेट को निर्णयपत्र का उद्धरण--दयानन्द की दयालुता--पौराणिक दलकी ओर अभियुक्तों का सम्मान--उपद्रव के कर्त्ता का कथन—उक्त कथन की असत्यता—पूना में आर्य्यसमाज—सतारा—शास्त्रार्थ के लिये सभा शास्त्रार्थ का आह्वान --वही मध्यस्थ का पचड़ा—फलित ज्योतिष असत्य है—वर्णभेद पर बात-चीत—बम्बई—बड़ौदा—आतिथ्य सत्कार—व्याख्यानमाला—गायक नव्वाब—शास्त्रियों ने कानों में उँगलियाँ देलीं, या तो बैठ जाओ, या चले जाओ—कितने समय का शास्त्रार्थ करना चाहते हो—संस्कृत में ही शास्त्रार्थ कीजिये—एक पण्डित परास्त होगये—दूसरा भी परास्त—वर्षाशन—वर्षाशन बन्द होने का भय—राजमहिषी को भी दर्शन न दिये शास्त्रियों के पेट में चूहे—तीसरा व्याख्यान व्याख्यान का सार—ब्रह्मचर्य्य का बल—दीवान का श्रद्धा पूर्वक प्रणाम—सहस्र रुपयों का उपहार वापस इज़ारेदार पर अभियोग—वेदभाष्य के लिये २००००) रु० देने का लोभ - पण्डित कृष्णराम पर फटकार—अभियुक्त जेल से मुक्त—भविष्यवक्ता दयानन्द असामान्य निःस्पृहत्व—न्यायप्रियता वेद का अंग्रेजी अनुवाद वेदों पर व्याख्यान —प्रोफ़ेसर मोनियर विलियम्स—मोनियर विलियम्स से सम्भाषण—दो और व्याख्यान संन्यासी शाल लेकर क्या करेगा चौथा व्याख्यान पौराणिकों की मानसिक दशा—पण्डित रामलाल ज्योतिषी पण्डित रामलाल शास्त्रार्थ के लिये सन्नद्ध किये गये—स्वामीजी हँस पड़े—शास्त्रार्थ स्वीकार है शास्त्रार्थ सभा पण्डित गट्टूलाल सभास्थल में न आये—पण्डित रामलाल असमञ्जस में—मध्यस्थ की सम्मति—हम मूर्त्तिपूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते—श्रोताओं पर प्रभाव—वेद से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने वाले को १२५) रु० दूँगा—एक लेखक की साक्षी—बृहत्प्रलोभन—प्रलोभन देने का कारण—गोसांईजी ने ५००० की माला लेली—इन्दौर—महाराज भी व्याख्यान में पधारे—महाराजा को उपदेश—महाराजा ने शाल दिया—मैं ऐसी मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं करता—स्वामीजी के विषय में सम्मति।

❀ ओरेम् ❀

प्राक्कथन

जैसे एक नदी की सृष्टि नाना दिग्देशगत जलधाराओं के समवाय से होती है, वैसे ही मनुष्य-जीवन की सृष्टि भी नाना व्यक्ति और प्रभाव-समूह के समवाय से होती है। जिन्होंने ऊँचे पर्वत पर खड़े होकर किसी नदीविशेष के उत्पत्ति-स्थान को देखा है, वे जानते हैं कि कितने छोटे-बड़े स्रोत भिन्न-भिन्न दिशाओं से आ कर आपस में मिलकर नदी की उत्पत्ति करते हैं। मनुष्य-जीवन भी ठीक इसी प्रकार से उत्पन्न होता है। किसी एक मनुष्य के जीवन की पर्य्यालोचना करने से मालूम होगा कि उसमें अनेक विभिन्न प्रभावों का सम्मिलन हुआ है। यदि विचार करके देखा जाय कि मैं कौन हूँ; यदि अहंभाव का विश्लेषण किया जाय और देखा जाय कि मेरा संगठन किस उपादान से हुआ है, मैं किस-किस शक्ति के समवाय से सृष्ट हुआ हूँ, मेरे "मैं" में मेरा कितना निजू भाग और कितना दूसरों का है, तो ज्ञात होगा कि उसमें अनेक छोटे-बड़े प्रभावों का समवाय है। प्रथम पूर्वजन्मार्जित संस्कार, दूसरे पितृ-शक्ति, तीसरे मातृ-शक्ति, चौथे परिवेष्टनीय शक्ति, पाँचवें शिक्षा-शक्ति। इन्हीं प्रधान-प्रधान पाँचों शक्तियों के स्रोतों के समवाय से मनुष्य की जीवननदी बनती है। इनके अतिरिक्त सूक्ष्म भाव से देखने से उसमें और भी छोटी-बड़ी शक्तियों का समवाय देखने में आता है। प्रागुक्त परिवेष्टनीय शक्ति के साथ जन्म-गृह, जन्म-स्थान और जन्म-पल्ली का घनिष्ट सम्बन्ध है।

परिवेष्टनीय शक्ति उसे कहते हैं जिससे मनुष्य अहरहः घिरा रहता है। उसके भीतर मनुष्य के चतुर्दिग्वर्त्ती चेतन, अचेतन, और उद्भिज्जादि समस्त पदार्थभूत की शक्ति परिगणित होती है। हमने जिस घर में जन्म लिया, उसके चतुर्दिक्स्थ जो कुछ भी है, वह सब हमारे मन पर अपने प्रभाव का विस्तार करता है। जिस ग्राम में हमने जन्म लिया है, उसमें जो कुछ भी है, वह हमारे मन को संगठित करने में सहायता करता है। जिस स्थान वा जिस ग्राम में हम भूमिष्ठ हुए हैं उसके वृक्ष, लता, नदी, सरोवर, क्षेत्र, जङ्गल, वनभूमि, शिला-स्तूप, सब पदार्थ ही हमारे मनोराज्य को विकसित करते हैं। यह एक विवादरहित सत्य है, कि मनुष्य का अध्यात्म जगत् जिस प्रकार बाह्य जगत् के ऊपर कार्य्य करता है, बाह्य जगत्

भी उसी प्रकार अध्यात्म जगत् के ऊपर अहरहः अपना प्रभाव विस्तार करता है। नदी की कल्लोल, सागर-वक्ष का प्रकम्प, अत्युच्च शैल की गम्भीरता, विस्तीर्ण मरु प्रान्तर की भीषणता, मेघमाला की घन-गभीर नीलिमा, निबिड़ वनभूमि की अपरिच्छिन्न निस्तब्धता,-सब ही मनुष्य की चित्तवृत्ति का संगठन करती हैं। यही मनस्तत्व पण्डितों ने स्थिर किया है। इस लिए हम कहते हैं कि जो लोग संसार में महाजन नाम से विख्यात हैं, जो महान् मन और विशाल मति पाकर धरित्री की पृष्ठ पर आविर्भूत हुए हैं, प्रायः वे सब ही प्रकृति की सुन्दरतर महिमा वा रुद्रतर भाव के क्रोड़ में लालित, पालित और परिवर्द्धित हुए हैं।

अस्तु ! अगण्य-सुगण्य, पण्डित-मूर्ख, प्रातःस्मरणीय-परिवर्जनीय, भिखारी-प्रासादवासी, किसी भी मनुष्य को समझने का यदि यत्न किया जाय, अथवा मनुष्य के जीवन को यदि यथार्थ रूप से चित्रित करके देखा जाय तो यह जानना आवश्यक है कि उसके भीतर परिवेष्टनीय शक्ति ने कितना कार्य्य किया है। विशेषतः जो महापुरुष हैं, जिनके आविर्भाव से धरित्री पवित्र हुई है, जिनके प्रभाव से जन-समाज की गति पलटी है, वस्तुतः जो मनुष्य समाज के प्राण और मेरु-दण्ड स्वरूप हैं, उनके चरित्र के वर्णन में उनकी जन्म-भूमि का वर्णन अपरिहार्य्य रूप से आवश्यक है।

जिन्होंने इस पापपरिपुष्ट युग में जन्म लेकर जीवनभर निष्कण्टक ब्रह्मचर्य्य का पालन किया, जो विद्या में, वाक्पटुता में, तार्किकता में, शास्त्रदर्शिता में, भारतीय आचार्य्य-मण्डली के बीच में शङ्कराचार्य्य के ठीक परवर्त्ती आसन पर आरूढ़ होने के सर्वथा योग्य थे, वेदनिष्ठा में, वेद-व्याख्या में, वेद ज्ञान की गम्भीरता में, जिनका नाम व्यासादि महर्षिगण के ठीक नीचे लिखे जाने योग्य था, जो अपने को हिन्दुओं के आदर्श-सुधारक पद पर प्रतिष्ठित कर गए हैं और इस मृतप्राय आर्य्य जाति को जागरित करके उठाने के उद्देश्य से मृतसञ्जीविनी औषध के भाण्ड को हाथ में लेकर जिन्होंने भरतखण्ड में चतुर्दिक् परिभ्रमण किया था, दुःख का विषय है कि उनका चरित्र और उनकी जन्म-भूमि का प्रसङ्ग आज तक भी अप्रकाशित है। वह भारत-दिवाकर दयानन्द कहाँ जन्मा था, यह आज तक भी कोई नहीं जानता। आज प्रायः ३३ वर्ष ※ स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्वर्गारोहण किए होगए और जिस आर्य्य-समाज को उन्होंने इस उद्देश्य से स्थापित किया कि उनके उपदेशों का संसार में प्रचार करे, उसकी आयु भी प्रायः ४० वर्ष※ होगई, परन्तु उसने स्वामीजी के जन्म-स्थानादि जानने के विषय में कोई विशेष यत्न नहीं किया। यद्यपि दयानन्द के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमें किसी में भी उनकी जन्मभूमि की कथा निश्चित रूप से नहीं लिखी गई। इसलिए दयानन्द के जितने जीवन चरित उपस्थित हैं, वे सब अपूर्ण और अङ्गहीन हैं। इसलिए आवश्यक है कि उनकी जन्मभूमि के विषय में पूरा अनुसन्धान और अन्वेषण किया जाय। इस कार्य्य को करने का हमने बीड़ा उठाया और हर्ष का विषय है कि असीम प्रयत्न और अनथक परिश्रम के पश्चात् हम अपने सङ्कल्प को पूरा करने में कृतकार्य्य हुए हैं।

※ यह स्व० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने सन् १९१६ में लिखा था।—संग्रहकर्त्ता

प्राक्कथन

सत्य की खोज के लिए अनुसन्धान के अविश्रान्त स्रोत का प्रवाहित रहना, गवेषणा के आलोक का प्रदीप्त रहना और जहाँतक हो सके उसे लेजाए जाना नितान्त आवश्यक है। इस विषय में प्रवासी नामक बङ्गला मासिक पत्रिका में एक इतिहासप्रिय चिन्ताशील बङ्गाली लेखक ने सत्य ही लिखा था:—"यदि इतिहास में किसी एक पक्ष को एकपक्षी डिगरी मिल जाय तो वह एक न एक दिन अवश्य ही हटा दी जायगी, क्योंकि जाति के ज्ञान के न्यायालय में अपील की कभी अवधि व्यतीत नहीं होती। सैंकड़ों वर्षों के पश्चात् भी अन्याय के विरुद्ध नालिश करने पर अपील की अवधि सत्य के निर्धारण पर्य्यन्त रहती है"। जैसे सत्य के निर्णय के लिए गवेषणा का पुनः पुनः परिचालन करना आवश्यक है, वैसे ही घटनाविशेष को लोगों के सामने उज्ज्वलतर रूप में रखने के लिए और उसे दृढ़तर भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिये अनुसन्धान कार्य्य में बार-बार व्यापृत होना भी अपरिहार्य्य है। जब तक किसी विषय वा घटना पर नानादिक् से आलोक पात नहीं किया जाता, तबतक वह स्फुटतर और उज्ज्वलतर नहीं हो सकती; जब तक अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक वह दृढ़तर भूमि के ऊपर स्थापित नहीं हो सकती। और यह निर्विवाद है कि नानादिक् से आलोक पात करना और अनेक प्रमाणों का संग्रह करना कष्टसाध्य है।

अतः जो कष्ट हमने सहे, जो धन और समय हमने व्यय किया उस पर हमें तनिक भी पश्चात्ताप नहीं, क्योंकि दयानन्द के जीवन-चरित का महान् विषय बिना इसके लिखना असम्भव था और उसका लिखना देश के कल्याण के लिए आवश्यक था।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

❀ ओ३म् ❀

भूमिका

हमसे हमारे बन्धुवर्ग बार-बार यह प्रश्न करते हैं कि तुम यह क्या कर रहे हो ? मनुष्य पृथ्वी पर जन्म लेकर जो काम करते हैं, जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं तुम उनमें से कोई काम भी नहीं करते ? तुमने अपने जीवन का इतना समय केवल 'दयानन्द, दयानन्द' की रट लगा कर गँवाया है। जीवन के जिस अंश को सबसे श्रेष्ठ माना जाता है तुमने उसे 'दयानन्द, दयानन्द' कहके ही बिताया है।

बन्धुवर्ग का यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल भी नहीं है, क्योंकि गत १५ वर्ष* के अधिक भाग को हमने दयानन्द-सम्बन्धी कार्य में ही लगाया है। दयानन्द सरस्वती की जीवन-कथा के कीर्त्तन करने, दयानन्द के एक सर्वाङ्ग-सुन्दर जीवन-चरित के प्रकाशित करने के अभिप्राय से सामग्री और विवरण-माला के संग्रह करने में पूरे १५ वर्ष न भी लगे हों, पर इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि १० वर्ष तो अवश्य ही लगे हैं।

सहस्रों रुपयों की प्राप्ति के लिए मनुष्य जितना उत्साह और परिश्रम करता है, हमने उतना उत्साह और परिश्रम दयानन्द के जीवन की एक-एक घटना का पता लगाने में व्यय कर दिया है। एक घटना की सत्यता का निश्चय करने के लिए हम अनेक बार एक ही स्थान में गये हैं। जिस समय भी यह सुना कि अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति के पास जाने से दयानन्द-चरित की अमुक घटना का ठीक-ठीक पता लग सकता है, हम उसी समय टिकट लेकर सैकड़ों मील की यात्रा करके उस स्थान पर पहुँचे हैं। हमारी यह दशा रही है, कि यदि आज हम अजमेर हैं, तो दस दिन पीछे जामनगर हैं, एक मास पीछे मुंबई हैं तो कुछ दिन पीछे अमृतसर हैं, और दो मास पीछे मध्य भारत के इन्दौर नगर में हैं; कभी महाराष्ट्र देश में कोल्हापुर में हैं तो कभी संयुक्तप्रान्त में गंगा के तटवर्त्ती ग्राम कर्णवास में। इसी प्रकार इस विशाल भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में (केवल मद्रास प्रान्त को छोड़ कर) बरसों पर्य्यटन किया है। न हमने जाड़े की परवाह की है न गरमी की, न शरीर के स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया, न अस्वास्थ्य की ओर। कभी-कभी हम घना-

*देवेन्द्र बाबू ने यह भूमिका सन् १९१६ में लिखी थी। संग्रहकर्त्ता

भाव के कारण अस्थिर तक हो गये, परन्तु हमने अपने व्रत को नहीं तोड़ा। प्रवास के कष्ट-क्लेश को भी हर प्रकार सहन किया। जो व्रत हमने धारण किया था उससे हमें किसी वस्तु ने एक दिन के लिए भी विचलित नहीं किया, न प्रबल धनाभाव ने, न अनेक प्रकार की बाधाओं ने, और न ही प्रवास की असुविधाओं से उत्पन्न हुए सामयिक नैराश्य ने। परन्तु प्रश्न यह है कि इन कठिनाइयों ने हमें विचलित क्यों नहीं किया ? दयानन्द कौन है ? उसकी शिक्षा में ऐसी कौनसी अलौकिक शक्ति है, उसके उपदेशों में ऐसा कौनसा संजीवन मन्त्र छिपा हुआ है, जिसके कारण हम उसके जीवन-इतिहास के लिए क्लेश पर क्लेश सहते आए हैं ? दयानन्द के चरित के प्रकाशन के साथ भारत भूमि का ऐसा कौनसा हिताहित सम्बद्ध है जिसके कारण हमने सैकड़ों प्रतिकूलताओं के बीच में अपने आपको अटल रक्खा है ? दयानन्द की शिक्षा व उदाहरण के साथ बंगवासियों का, बल्कि भारत वासियों का और इससे भी अधिक पृथ्वी भर के रहने वालों का ऐसा कौनसा कल्याण अनुस्यूत है जिसके कारण हमने अपने आपको इस भीष्म प्रतिज्ञा में बांधा है ?—इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना आवश्यक है। इसलिए हम अपने लेख को कुछ खोल कर लिखने का यत्न करेंगे।

१. दयानन्द—आर्षज्ञान का प्रचारक

पाठक ! क्या तुमने पृथ्वी पर रहने वाली इस समय की मनुष्य जाति की अवस्था को विचार कर देखा है ? क्या सारी पृथ्वी इस समय घोर अशान्ति से म्रियमाण दशा को प्राप्त नहीं हो रही है ? क्या नाना जाति, नाना जनपद, नाना राज्य, नाना देश अनेक प्रकार की अशान्ति की अग्नि से जलकर छार-खार नहीं हो रहे हैं ? क्या मनुष्य-संसार से शान्ति विदा नहीं हो गई है ? हम पूछते हैं कि कभी पहले शिक्षा और विज्ञान के नाम पर संसार में इतने उपद्रव, इतनी अशान्ति, इतने अस्वास्थ्य का विस्तार किया गया है ? क्या कभी सभ्यता के नाम पर मनुष्यों ने इतने मनुष्यों के शिर काटे हैं ? क्या कभी उन्नति की पताका हाथ में लेकर मनुष्य ने वसुन्धरा को नर-रक्त से इतना रंगा है ? यदि पहिले ऐसा कभी नहीं हुआ तो आज क्यों हो रहा है ? हम उत्तर देते हैं कि इसका कारण है अनार्ष शिक्षा और अनार्ष ज्ञान का विस्तार !-इसका कारण है यूरोप का पृथ्वीव्यापी प्रभाव और प्रतिष्ठा।

यहाँ यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि यूरोप अनार्ष ज्ञान का गुरु और प्रचारक है। जो यूरोप अनार्ष ज्ञान का प्रचारक है वही यूरोप आजससागरा वसुन्धरा का अधीश्वर है। छोटी-बड़ी, सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, नाना जातियों और जनपदों में उसी यूरोप की शासन-पद्धति प्रतिष्ठित और प्रचलित है। इसलिए जो जाति वा राज्य यूरोप के शासन वा संसर्ग में आ जाता है, उसमें अनार्ष ज्ञान का प्रचार और प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी कारण से उस जाति वा राज्य के भीतर अनेक प्रकार की अशान्ति की अग्नि धक् धक् करके जल उठती है।

यूरोप ! तूने प्रधानतः दो शिक्षाओं का सहारा लिया है, तूने विशेषतः दो सिद्धान्तों पर अपनी समाज-प्रणाली और सभ्यता के जीवन की स्थिति और उन्नति स्थापित की है।

इनमें से पहला है–क्रमोन्नति (Evolution) और दूसरा है, योग्यतम की जय (Survival of the Fittest)। इन दोनों सिद्धान्तों के द्वारा तूने संसार का जो अनिष्ट किया है हम उसे कहना नहीं चाहते। "योग्यतम की जय" का नाम लेकर तू सहज में ही दुर्बल के मुँह से भोजन का ग्रास निकाल लेता है, सैंकड़ों मनुष्यों को अन्न से वञ्चित कर देता है, एक एक करके सारी जाति को निगृहीत, निपीड़ित और निःसहाय कर देता है। जब तू बिजली के प्रकाश से प्रकाशित कमरे में संगमर्मर से मण्डित मेज के चारों ओर अर्धनग्ना सुन्दरियों को लेकर बैठता है उस समय यदि तेरे भोजन, सुख और सम्भाषण के लिए दस मनुष्यों के सिर काटने की भी आवश्यकता हो तो अनायास ही तू उन्हें काट डालेगा, क्योंकि तेरी तो शिक्षा यही है कि योग्यतम की जय होती है। यूरोप! आसुरीय वा अनार्ष–शिक्षा तेरे रोम–रोम में भरी हुई है। अपनी अतर्पणीय धन-लालसा को पूरी करने के लिए तू एक मनुष्य नहीं, दस मनुष्य नहीं, सौ मनुष्य नहीं बल्कि बड़ी से बड़ी जाति को भी विध्वस्त कर डालता है। अपनी दुर्निवार्य्य भोग-तृष्णा की तृप्ति के लिए तू केवल मनुष्य ही को नहीं, वरन् पशु-पक्षी और स्थावर-जङ्गम तक को अस्थिर और अधीर कर डालता है। अपनी भोगविलास–पिपासा की तृप्ति के लिए तू लखूखा मनुष्यों के सुख और स्वतन्त्रता को सहज में ही हरण कर लेता है। तेरे कारण पृथ्वी सदा ही अस्थिर और कम्पायमान रहती है।

यूरोप! तेरे पदार्पण मात्र से ही शान्तिदेवी मुँह छिपा कर पलायमान हो जाती है। भू-मण्डल के जिस स्थल में तेरे क़दम जाते हैं, जिस राज्य पर तेरा अधिकार होजाता है, वह स्थल और वह राज्य सुखशून्य और शान्तिशून्य हो जाता है। जिस स्थान पर तू अपनी जय-पताका फहराता है उस स्थान में सौ प्रकार की विशृङ्खलता आकर उपस्थित हो जाती है। जिस देश में तेरे शिक्षा-मन्दिर का द्वार खुलता है तू उस देश को वञ्चना, प्रतारणा, कपट और मुक़दमेबाज़ी के जाल में फाँस लेता है। जिस-जिस स्थान में तेरे धूमरथ (रेल) का नाद प्रतिध्वनित होता है वहाँ दुर्भिक्ष और अनावृष्टि पिशाचिनी के डेरे लग जाते हैं। जिस भूमि में तेरी नहरों की जलधारा बहती है उस भूमि में नाना प्रकार की आधि–व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिस जनपद को तेरे कारख़ानों की चिमनियों से निकला हुआ धुँआ आच्छादित करता है वह जनपद भोगेच्छा का आकर बनजाता है। इससे अधिक हम क्या कहें!

यूरोप! तूने संसार का जितना अनिष्ट और अकल्याण किया है, मनुष्य का जितना अहित सम्पादन किया है, उसमें सबसे बड़ा अनिष्ट और अकल्याण यही है कि तूने मनुष्य-जीवन की प्रगति को उलटा करने का प्रयत्न किया है। जिस मनुष्य ने निरन्तर मुक्तिरूप शान्ति पाने के उद्देश्य से जन्म लिया था, उसे तूने धन का दास और दुर्निवार्य्य भोगेच्छा का क्रीत किङ्कर बनने के लिए शिक्षित और दीक्षित कर दिया है। तेरी शिक्षा का उद्देश्य इसी सिद्धान्त का नाना भाव और नाना प्रकार से प्रचार और विस्तार करना है कि धन सञ्चय करना ही मनुष्य-जीवन में सबसे अधिक वाञ्छनीय है। तू भोगमय और भोग-सर्वस्व है। जो वृत्ति मनुष्य-समाज में प्रथम वा प्रधान स्थान पर आरूढ़ थी उसे तूने

सबसे नीचे स्थान पर रखने का निर्देश किया है और जो वृत्ति सबसे नीचे स्थान पर थी उसे तूने प्रथम वा प्रधान पद पर आरूढ़ कर दिया है। तूने ब्रह्मवृत्ति का अपमान किया और उसे नीचे गिरा दिया है और वैश्यवृत्ति का सम्मान किया और उसे सबसे ऊँचा आसन दिया है। इसकी अपेक्षा और किस बात से मनुष्य का अधिकतर अनिष्ट साधन हो सकता है ? यद्यपि तूने जहाँ तहाँ दो चार अनाथालय और रोगी—आश्रम स्थापित करके दया, दाक्षिण्य और परहित-परायणता का भी परिचय दिया है, परन्तु यह ऐसा ही है जैसे कोई पहिले गौ को बध करके पीछे दान-दक्षिणा की व्यवस्था करे, क्योंकि तूने अनेक मनुष्यों का विध्वंस कर डाला है, सैकड़ों सहस्रों नर नारियों के हाथ में एकदम भीख का प्याला दे दिया है, जो स्थान शान्ति और आनन्द के निकेतन थे उन्हें श्मशान बना दिया है।

जब कि यूरोप अनार्ष ज्ञान का गुरु वा प्रचारक है, तो इसमें आश्चर्य्य करने की कोई बात नहीं है कि उसके प्रभाव से संसार का घोरतर अकल्याण सम्पादित होगा और मनुष्य समाज में नित्य नूतन अशान्ति की अग्नि प्रज्वलित होकर सब को भस्मसात् कर डालेगी। इस में तनिक भी संशय नहीं हो सकता कि ऋषि-प्रणीत शिक्षा और ऋषि-प्रचारित ज्ञान ही मनुष्य की शान्ति का एक मात्र हेतु है।

यूरोप ने जिन गुरुओं से मन्त्र लिया है वे तत्ववित् वा तत्वदर्शी नहीं थे। बेन (Bain) और बेन्थम (Bentham), पेन (Payne) और स्पेन्सर (Spencer), कुन्त (Compte) और काण्ट (Kant) अथवा प्लैटो (Plato) और पिथागोरस (Pythagoras), ज्ञान-पर्वत पर बहुत ऊँचे तो चढ़ गये थे और उन्होंने अनेक तत्वों का अनुशीलन कर बहुत सी जटिल समस्याओं की मीमांसा भी की थी, परन्तु वह केवल तत्वों की खोज करने वाले ही रहे, वे किसी वस्तु के प्रकृत स्वरूप वा विषयविशेष के यथार्थ तत्व को निश्चय करने में समर्थ नहीं हुए। जो ऋषि-महर्षि आर्य्यभूमि को पवित्र कर गये हैं उनके सिवाय जगत् में और कोई तत्ववित् वा तत्वदर्शी पद का वाच्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि वे अविद्यान्धकार से मुक्ति पाने में समर्थ नहीं हुए थे। बेकन (Bacon), वा डार्विन (Darwin), हक्सले (Huxley) वा टिण्डल (Tyndall) ने अवश्यमेव विषयविशेष के प्रकृत तत्व के निश्चय करने में यथाशक्ति यत्न किया, परन्तु वे अविद्यान्धकार से विमुक्त-चित्त नहीं हो सके। फिर वे कैसे यथार्थ तत्वावधारण में समर्थ हो सकते थे ? और उनकी शिक्षा से मनुष्य-समाज में किस प्रकार शान्ति स्थापित हो सकती है ? इसी कारण से यूरोप स्वयं अपनी अशान्ति की अग्नि में जल रहा है और इसलिए जो कोई जाति भी किसी न किसी प्रकार यूरोप के संसर्ग में आजाती है उसे भी अशान्ति की अग्नि से दग्धविदग्ध होना पड़ता है।

इस जगद्व्यापिनी अशान्तिका प्रतीकार एक मात्र आर्षज्ञान के विस्तार पर निर्भर है। परन्तु आर्षज्ञान का सूर्य्य पाँच सहस्र से अधिक वर्षों से पृथ्वी-तल से अस्त हो गया है। आर्ष ज्ञान का सूर्य्य सब से पहिले भारत-भूमि पर उदित हुआ था, परन्तु भारत-भूमि स्वयं सहस्रों वर्षों से आर्ष-ज्ञान से वञ्चित हो रही है। इस दीर्घ काल में अन्य देशों में अनेक

आचार्य्यों का अभ्युदय हुआ, अनेक महान् आत्माओं ने जन्म ग्रहण किया, अनेक चिकित्सकों ने आविर्भूत होकर मनुष्य-जाति की मानसिक व्याधियों के जाल को तोड़ने का यत्न किया, परन्तु उन में से किसी ने भी आर्ष-ज्ञान को पुनरुद्दीपित करने का उद्योग नहीं किया। इन पाँच सहस्र से अधिक वर्षों में स्वयं आर्य्यभूमि में ही अनेक आचार्य्यों का आविर्भाव हुआ, परन्तु दुःख है कि उन में से भी कोई विशेष रूप से ऋषि-महर्षि-प्रवर्त्तित ज्ञान के पुनरुद्धार में मनोयोगी नहीं हुआ। हम यह नहीं कहते कि शङ्कर, रामानुज वा मध्वाचार्य में से किसी ने भी ऋषि-सिद्धान्त के समर्थन में एक बात भी नहीं कही, परन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि उन्होंने जितना परिश्रम अपने-अपने सम्प्रदायों के संगठन की पुष्टि में किया उतना आर्ष-ज्ञान के पुनरुद्धार में नहीं किया। अतः यह मानना पड़ता है कि इन पाँच सहस्रों से अधिक वर्षों में पृथ्वी आर्ष-ज्ञान के आलोक से शून्य ही रही है।

लगभग एक सौ वर्ष हुए होंगे कि यमुना के तट पर मथुरा में एक अन्धे संन्यासी ने इस बात का प्रचार किया कि आर्ष-ज्ञान ही सर्व श्रेष्ठ-ज्ञान है, आर्ष-सिद्धान्त ही सर्वोत्तम सिद्धान्त है, और आर्ष-शिक्षा ही मनुष्य के यथार्थ सुख और शान्ति का हेतु है। और उसकी शिक्षा, दीक्षा और आदेश से गुजरात देश के एक ब्राह्मण-सन्तान ने ऋषि-प्रवर्त्तित ज्ञान को समस्त संसार में पुनरुद्दीपित करने में अपने जीवन की सम्पूर्ण शक्ति समर्पित की थी। पाठक ! हम समझते हैं कि हमें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस अन्धे संन्यासी का नाम दण्डी विरजानन्द और इस गुजराती ब्राह्मण का नाम दयानन्द सरस्वती था। हम पूछते हैं कि उन पाँच सहस्र वर्षों में दयानन्द सरस्वती के समान किस आर्ष-ज्ञान के पुनरुद्धारक ने जन्म लिया है ? दयानन्द के समान आर्ष-ज्ञान के किस अद्वितीय प्रचारक का वर्तमान समय में आविर्भाव हुआ है ? महर्षि कृष्णद्वैपायन के पीछे दयानन्द के समान अन्य कौन आचार्य्य आर्ष-ज्ञान में तन्मय हुआ है ? वेद आर्ष-ज्ञान का स्वरूप है। क्या दयानन्द के समान दूसरा वेदसर्वस्व वा वेदप्राण मनुष्य दिखाया जा सकता है ? पाठक ! शायद आप हमारी बातों पर अच्छे प्रकार ध्यान न देंगे। इसमें आपका अपराध नहीं है। "यथा राजा तथा प्रजा"—जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी हो जाती है। राजा अनार्ष विद्या का प्रचारक है। राजकीय शिक्षा पाने और उसका अभ्यास करने से आप के मस्तिष्क की अवस्था अन्यथा होगई है और इसलिए हमारे कथन की आप के कानों में समाने की सम्भावना नहीं हो सकती। परन्तु आप सुनें वा न सुनें, हम बिना किसी सन्देह और सङ्कोच के घोषणा करते हैं कि वर्त्तमान युग में दयानन्द ही एक मात्र वेदप्राण पुरुष और आर्षज्ञान का अद्वितीय प्रचारक हुआ है। आर्षज्ञान के विस्तार पर ही सारे विश्व की शान्ति निर्भर है, आर्ष-शिक्षा के साथ ही मनुष्य-समाज की सब प्रकार की शान्ति अनुस्यूत है। जैसे और जिस प्रकार यह सत्य है कि एक और एक दो होते हैं, वैसे ही और उसी प्रकार यह भी सत्य है कि आर्ष-ज्ञान ही मानवीय शान्ति का अनन्य हेतु है।

ऐसी अवस्था में क्या फिर भी यह कहने की आवश्यकता रह जाती है कि आर्ष-ज्ञान

के अद्वितीय प्रचारक दयानन्द सरस्वती को समझने व समझाने का यत्न करना, उसे अच्छे प्रकार जानने व जनाने का प्रयास करना, उसके विषय में आलोचना करना और कराने का प्रयत्न करना हरएक व्यक्ति का, जो मनुष्य-जाति का हितैषी हो, कर्त्तव्य है। मनुष्य ! यदि तू शान्ति का इच्छुक है तो तुझे आर्षज्ञान की महिमा समझनी होगी और आर्षज्ञान की महिमा समझने के लिए तुझे दयानन्द को भी समझना होगा। इस दृष्टि से दयानन्द सारे मनुष्यों का आलोचनीय है। वास्तव में दयानन्द ऐसा सर्व-कल्याणकर, सुमहत् और सार्वजनिक कार्य्य कर गया है, कि उसका जीवन सर्व-साधारण की आलोचना का विषय होना ही चाहिये। जो ऋषिगण व्याकुल चित्त से "द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ॐ शान्तिः" आदि शब्दों से परमात्मा की प्रार्थना कर गये हैं उन्हीं मनुष्य-कुल-पूज्य ऋषियों की शिक्षा, ज्ञान और उपदेश को संसार में प्रतिष्ठित करना दयानन्द ने अपने जीवन का अद्वितीय और एक मात्र लक्ष्य बनाया था। तब इसमें क्या सन्देह रह जाता है कि दयानन्द का जीवन सारी भूमि और सब मनुष्यों के साथ संसृष्ट है ? इसलिए जिस जीवन के साथ सार्वभौम और सार्वजनिक कल्याण इस प्रकार संलग्न है, उसके क्रमबद्ध इतिहास के लिखने में जो कठिनाइयाँ हमारे मार्ग में आई हैं, हम उन्हें क्लेश नहीं समझते। हम आशा करते हैं कि अब हमारे पाठक समझ गये होंगे कि उपर्युक्त हेतु दयानन्द की जीवनी प्रकाशित करने में हमारा पहिला हेतु है।

२. दयानन्द—मूर्तिपूजा का शत्रु

पाठक ! क्या आप बता सकते हैं कि भारतवासी मनुष्यों की अवस्था ऐसी शोचनीय और ऐसी गिरी हुई कैसे होगई है ? क्या आप बता सकते हैं कि हिन्दुओं का चरित ऐसा हीन और घृणित कैसे हो गया है ? क्या आप बता सकते हैं कि हिन्दू जाति जगत् में ऐसी हेय और मलिन कैसे हो गई है ? हिन्दुओं की कोई बात भी ठीक नहीं है। हिन्दुओं में मनोबल नहीं है। हिन्दुओं के सामने घोर से घोर अत्याचार होता है, परन्तु उनके मुँह से उसके प्रतिकूल एक शब्द तक नहीं निकलता। उनकी आंखों के सामने प्रबल दुर्बल के मुख से ग्रास निकाल लेता है, परन्तु हिन्दुओं में उसके विरुद्ध अंगुली उठाने की भी सामर्थ्य नहीं होती। हिन्दुओं के घर में अन्न नहीं है। उनकी बुद्धि में फ़न-फ़रेब जोड़-तोड़ के सिवाय कोई उच्चतर गुण नहीं है, उन्होंने अन्यों की भूमि पर, अन्यों के देश में जन्म लिया है और वह प्रवासी बन कर अपना सारा जीवन काटते हैं। चाटुकारिता में ही हिन्दुओं का पुरुषार्थ है। दूसरों की विद्या में पारदर्शिता प्राप्त करने में ही हिन्दुओं का अभिमान है। दूसरों के पैर चाटने में ही उनका गौरव है। पाठक ! बताइये हिन्दुओं को मनुष्योचित गुणों से किसने वञ्चित किया है ?

केवल यही बात नहीं है कि हिन्दू मनुष्योचित गुणों से वञ्चित होकर पशुतुल्य बन गये हैं, इनके चरित्र में तो वह गुण भी दृष्टिगोचर नहीं होते जो पशु, पक्षी आदि इतर जन्तुओं में दिखाई देते हैं। आप एक बन्दर को मारें तो देखेंगे कि तत्काल दस बन्दर इकट्ठे हो जायंगे और यदि वह और कुछ भी न कर सकें तो कम से कम इतना तो अवश्य करेंगे

कि आपके मकान की मुंडेर पर बैठ कर घुड़की दिखाकर आपको डरायेंगे और काट खाने की चेष्टा करेंगे। आप एक कौए को मारें तो पचासों कौए आन की आन में इकट्ठे होकर आपको घेर लेंगे और काँय काँय करके इतना शोर मचायंगे कि आपको उस स्थान पर ठहरना दूभर कर देंगे। परन्तु यदि कोई किसी हिन्दू को मारे तो दस हिन्दू खड़े हुए उसके पिटने का तमाशा देखते रहेंगे, कई तो इस भय से कि कहीं गवाही देनी न पड़ जाय और कई डर के मारे वहाँ से धीरे २ खिसक जायंगे ! ओह ! हिन्दू पशुओं से भी नीचे गिर गये हैं।

क्षुद्र चिउँटी में भी आत्म-सम्मान की रक्षा का भाव देखने में आता है, परन्तु हिन्दुओं के चरित्र में यह भाव भी दिखाई नहीं देता। आपके पैर के नीचे आजाने पर चिउँटी भी काटने की चेष्टा करती है, बिल्ली तक भी बार-बार ताड़ित की जाने पर अपने नख दांतों द्वारा आघात पहुँचाने का यत्न करती है, परन्तु हिन्दुओं के आत्मसम्मान की कोई कितनी ही क्षति करे, उनमें प्रतिकार की चेष्टा उत्पन्न नहीं होती, वे सर्वथा निर्वाक् और निश्चेष्ट रहते हैं। क्या इस से भी नीचे पतन हो सकता है ?

पाठक ! हिन्दुओं के चरित्र में यह अमानुषत्व, पशुत्व और कल्पनातीत नीचत्व कैसे आया और कौन लाया ? हिन्दुओं को पशुओं से भी अधम किसने बनाया ? इन प्रश्नों का एक मात्र ही उत्तर है मूर्तिपूजा।

शायद हमारे उत्तर से सन्तोष न हो और यह कहा जाय कि मूर्त्तिपूजा ही सब दोषों की खान नहीं हो सकती। जब रूम ने गर्व से अपना मस्तक ऊंचा उठा कर जगत् में अपने आधिपत्य का विस्तार किया था तब वह भी मूर्त्तिपूजक था, जब यूनान ने अपनी गौरव-छटा से चारों दिशाओं को आलोकित किया था तब वह भी मूर्त्ति-पूजक था, जिस समय मिश्र उन्नति के उच्चतम सोपान पर आरूढ़ था उस समय कोई इतर जन्तु ऐसा नहीं था जिसकी मिश्र के मन्दिरों में आराधना न होती हो। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मूर्त्ति पूजा दूषणीय है ? परन्तु इस बात को सूक्ष्म भाव से समझने की आवश्यकता है। रूम यूनान और मिश्र की मूर्त्ति-पूजा में और भारतवर्ष की मूर्त्ति-पूजा में प्रकृतिगत और प्रकारगत भेद है। भारतवासियों ने अपनी इच्छा और अभिरुचि मात्र से अनेक ईश्वरों की सृष्टि की है। हिन्दुओं ने अपनी कल्पना मात्र से अनेक परमेश्वरों को गढ़ लिया है। जिस परमात्मा का वेदादि शास्त्रों में अकाय, अव्रण, अशब्द, अस्पर्श आदि शब्दों से कीर्त्तन किया गया है उस परमात्मा में हिन्दू काम, क्रोध, भय, क्षुधा, तृष्णा, व्याधि, आलस्य, निद्रा, विपत्, पुत्रोत्पादन, विद्वेष, हिंसा, कलह, स्वजनद्रोह, परस्त्रीगमन प्रभृति का आरोप करने में अणुमात्र भी सङ्कोच और पाप बोध नहीं करते। हिन्दुओं ने इन स्वकल्पित और नव निर्मित ईश्वरों में से हरएक की नाना प्रकार के उपकरणों के द्वारा पूजा-अर्चना करने और उस पूजा प्रणाली को चिरकाल तक स्थायी रखने के उद्देश्य से एक-एक पुराण और उप-पुराण की रचना भी कर डाली है। यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि अपनी रुचि और इच्छा के अनुसार नित्य नूतन ईश्वरों की सृष्टि करने की प्रवृत्ति में हिन्दुओं ने अपनी मृत्यु का बीज स्थापित कर दिया है। इसके कारण हिन्दू उत्सन्नता के मार्ग पर जा रहे

हैं, इसी लिए आज हिन्दू मरणासन्न की शय्या पर पड़े हुए हैं। यही हिन्दुओं की अवनति का प्रधान कारण है, यही भारत के सर्वनाश का प्रधानतर हेतु है। मूर्त्तिपूजा ने भारत के अकल्याण की जो सामग्री एकत्रित की है उसे लेखनी लिखने में असमर्थ है। मूर्त्तिपूजा ने भारतवासियों का जो अनिष्ट किया है उसे प्रकट करने में हमारी अपूर्ण-विकसित भावप्रकाशक-शक्ति अशक्त है। जो धर्म सम्पूर्ण भाव से आन्तरिक वा आध्यात्मिक था उसे सम्पूर्ण रूप से वाह्य किसने बनाया?—मूर्त्तिपूजा ने। कामादि शत्रुओं के दमन और वैराग्य के साधन के बदले तिलक और त्रिपुण्ड्र किसने धारण कराया?—मूर्त्तिपूजा ने। ईश्वरभक्ति, ईश्वरप्रीति, परोपकार और स्वार्थत्याग के बदले अंग में गोपीचन्दन का लेपन, मुख से गङ्गालहरी का उच्चारण, कण्ठ में अनेक प्रकार की मालाओं का धारण किसने सिखाया?—मूर्त्तिपूजा ने। संयम, शुद्धता, चित्त की एकाग्रता आदि के स्थान में त्रिसीमा (धारणा, ध्यान, समाधि) में प्रवेश न कर केवल दिन विशेष पर खाद्यविशेष का सेवन न करना; प्रातःकाल, मध्याह्न और सायङ्काल में अलग-अलग वस्त्रों के पहनने का आयोजन और तिथिविशेष पर मनुष्यविशेष का मुख देखना तो दूर रहा उसकी छाया तक का स्पर्श न करना, यह सब किसने सिखाया? मूर्त्तिपूजा ने। हिन्दुओं के चित्त से स्वाधीन-चिन्तन की शक्ति किसने हरण की?—मूर्त्तिपूजा ने। हिन्दुओं के मनोबल, वीर्य्य, उदारता और सत्साहस को किसने दूर किया?—मूर्त्तिपूजा ने। प्रेम, समवेदना, और परदुःखानुभूति के बदले घोरतर स्वार्थपरता को हिन्दुओं के चरित्र में कौन लाई?—मूर्त्तिपूजा। हिन्दुओं को अमानुष, अपितु पशुओं से भी अधम, किसने बनाया? मूर्त्तिपूजा ने। आर्य्यावर्त्त के सैंकड़ों टुकड़े किसने किये?—मूर्त्तिपूजा ने। आर्य्य जाति को सैकड़ों सम्प्रदायों में किसने बाँटा? मूर्त्तिपूजा ने। इस देश को सैकड़ों वर्षों से पराधीनता की लोहमयी शृङ्खला में किसने जकड़ रक्खा है?—मूर्त्तिपूजा ने। कौन सा अनर्थ है जो मूर्त्तिपूजाद्वारा सम्पादित नहीं हुआ? सच्ची बात तो यह है कि आप चाहे हाईकोर्ट के न्यायाधीश हों चाहे गवर्नर (लाट) साहब के प्रधानतर सचिव, आप बुद्धि में बृहस्पति के तुल्य हों चाहे वाग्मिता में सिसरो (Cicero) और गिटे (Goethe) से भी बढ़कर, आप अपने देश में पूजित हों अथवा विदेश में, आप की ख्याति का डङ्का बजा हो, आप सरकारी क़ानून को पढ़कर सब प्रकार से अकार्य्य और कुकार्य्य को आश्रय देने वाले अटर्नी (Attorney) कुल के उज्ज्वलतम रत्न हों चाहे मिष्टभाषी, मिथ्योपजीवी सर्वप्रधान, स्मार्त्त (वकील); परन्तु यदि किसी अंश में भी आप मूर्त्तिपूजा का समर्थन करेंगे, तो हमें यह कहने में अणुमात्र भी सङ्कोच नहीं होगा कि आप किसी अंश में भी भारतवर्ष के मित्र नहीं हो सकते, क्योंकि मूर्त्तिपूजा भारतवर्ष के सारे अनिष्टों का मूल है।

यदि मूर्त्तिपूजा कोई विशाल जंगल होता तो हम उसे अग्नि से एक क्षण में जलाकर राख करने का यत्न करते। यदि मूर्त्तिपूजा कोई बहुत शाखा-प्रशाखाओं वाला बड़ा वृक्ष होता तो हमने उसे अब तक कभी का उखाड़ कर भारत के सागर में फेंक दिया होता। यदि मूर्त्तिपूजा कोई दस्यु या दानव होता तो हमने उसका सिर काटने का प्राणपण से अब तक कभी का प्रण कर लिया होता। परन्तु खेद है कि मूर्त्तिपूजा इनमें से कुछ भी नहीं है।

हिन्दुओं की मूर्त्तिपूजा ऐसे सूक्ष्म भाव से, ऐसी जटिल रीति से, ऐसे कौशल के साथ, ऐसे अननुभूत रूप से प्रत्येक स्थान और स्थल में सन्निविष्ट है, ऐसे अदृश्य भाव से हिन्दुओं की शिक्षा, साहित्य, धर्म्म, कर्म्म, आचार, व्यवहार के साथ अनुस्यूत है, उसके साथ भारत के इतने असंख्य लोगों का स्वार्थ लगा हुआ है, उसके साथ देश के इतने विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों की जीविका बंधी हुई है, कि हमारे अनुमान में वह कदाचित् ही इस देश से उन्मूलित होसके। हमें भय है कि यह शत्रु जिसने भारत के रहने वालों का सब प्रकार से अनिष्ट साधन किया है कभी भी प्राणों से वियुक्त न होगा। हमारे अनुमान में कॉन्स्टैनटाइन, महान् (Constantine, the Great) के समान कोई वैदिक चक्रवर्त्ती राजा कभी भारत के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ, तभी इसके सर्वाङ्गी विच्छेद की आशा की जा सकती है। जैसे उस महान् सम्राट् ने ईसाई धर्म को ग्रहण करके रोम साम्राज्य के सारे मन्दिरों से जूनो (Juno), जूपिटर (Jupiter), वीनस (Venus) और बैकस (Bachhus) आदि की मूर्त्तियों को निकलवा कर फिंकवा दिया था और मन्दिरों को खाली करा कर उन्हें राजकीय कार्य्य में लाने की आज्ञा देदी थी। ऐसे ही भारत में भी कभी कोई वैदिक राजा हुआ तो यह सम्भव हो सकता है कि मूर्त्तिपूजा का यहाँ से उच्छेद हो जाये, नहीं तो हम इसे किसी प्रकार भी दूर नहीं कर सकते। परन्तु इस अवस्था में तो यह आशा दुराशा मात्र है।

कहावत है कि न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी, इसलिए भारत में मूर्ति-पूजा के उच्छेद का साधन न कभी उपस्थित होगा और न भारतभूमि उन्नति के उज्ज्वलतर आलोक से कभी सुशोभित हो सकेगी। हम दिव्य चक्षु से देख रहे हैं कि भारतभूमि को चिरकाल तक उसी अन्धकार से समाच्छन्न रहना होगा जिससे वह आज समाच्छन्न है, क्योंकि इस देश से मूर्त्तिपूजा के उठने की कोई सम्भावना नहीं है।

दयानन्द ने इस प्रबल शत्रु के विरुद्ध प्रचण्ड युद्ध का आयोजन करके न केवल भारत की आचार्य्य-मण्डली में अपने लिए अद्वितीय आसन बना लिया है, बल्कि हिन्दुओं के प्रकृत कल्याण के द्वार को भी खोल दिया है। इस देश के प्रायः सब ही आचार्य्यों ने, सम्भवतः सभी सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों ने, मूर्त्तिपूजा के साथ सन्धि करली या उसके साथ किसी न किसी प्रकार का समझौता करके चलने की चेष्टा की। महात्मा कबीर मूर्त्तिपूजा के घोर विरोधी अवश्य थे और उसका प्रबल प्रतिवाद भी किया करते थे। परन्तु उनके अनुगामी कबीर पन्थियों ने उनका अनुमोदन करना शुरू कर दिया। भारत के आचार्य्यों की मानो यह अपरिहार्य्य नीति रही है कि वह मूर्त्तिपूजा और अद्वैतवाद के साथ किसी न किसी प्रकार से मित्रता स्थापित करलें। चाहे किसी सम्प्रदाय के अनुगामी उच्चश्रेणी के लोग रहे हों, चाहे किसी सम्प्रदाय ने विशुद्ध मत का प्रचार किया हो और चाहे किसी सम्प्रदाय के प्रचारकों ने उदार धर्म-प्रणाली का प्रचार किया हो, परन्तु सब सम्प्रदायों के आचार्य्यों ने यही स्थिर किया कि मूर्त्तिपूजा के साथ समझौता करके ही चलना उत्तम है। इस देश में जितने भी आचार्य्य हुए हैं उनमें से दो-चार को छोड़कर शेष सब ही मूर्त्ति-पूजा के साथ मित्रता स्थापित करके ही चलते रहे हैं। ब्राह्मसमाज, आर्य्यसमाज, रामसनेही

और कुम्भपातिया सम्प्रदाय के सिवाय भारत के अन्य सब सम्प्रदाय मूर्त्तिपूजा के साथ सन्धि स्थापन करने के लिए लालायित रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारत के पौराणिक धर्म का प्रभाव ऐसा अवसाद-जनक और विषाक्त है कि वह हर एक उन्नत और विशुद्ध धर्म्म और मत को विषाक्त और कलुषित कर देता है। भारत में जो भी उदार, मार्जित और परिशुद्ध धर्म्म-प्रणाली प्रचरित हुई, वही धीरे-धीरे पौराणिक धर्म्म की कुक्षिगत होकर उसकी मलिनता से मलिन होगई। महात्मा कबीर ने विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रचार किया था, परन्तु उनके सम्प्रदाय वालों ने उसे मूर्त्तिपूजा की मलिनता से दुर्गन्धित कर दिया। गुरु नानकदेव के उन्नत एकेश्वरवाद की कथा सभी को ज्ञात है, परन्तु अब उसमें भी मूर्त्तिपूजा की आवर्जन मिलगई है। हमने पञ्जाब की बहुत सी धर्मशालाओं में देखा है कि जहाँ एक ओर ग्रन्थ साहब की आरती होती है वहाँ दूसरी ओर जनार्दन, राम और कृष्ण की पूजा होती है। रावलपिण्डी के सरदार सुजानसिंह के उद्यान में हमने यह देखा कि एक ओर ग्रन्थ साहब के लिए धर्म्मशाला बनादी गई है और दूसरी ओर हिन्दुओं के देवी-देवताओं के लिए एक मन्दिर निर्माण कर दिया है। एक ओर गुरु नानक के अनुगामी सिक्ख लोग पौराणिक धर्म्म के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में रत हैं तो दूसरी ओर पौराणिक धर्म्म वाले भी सिक्खों के साथ सन्धि करने के लिए उद्यत हैं। हमने पठान-कोट के पास नूरपुर ग्राम में एक हिन्दु मन्दिर देखा जिसके एक पार्श्व में एक देव मूर्त्ति स्थापित थी और दूसरी ओर ग्रन्थ साहब विराजमान थे। लोग हिन्दू मूर्त्तियों के साथ-साथ ग्रन्थ साहब की भी समानभाव से पूजा करते थे।

इस दृश्य को देखकर हमारे मन में यह कल्पना उठती है कि हिन्दू समाज एक भग्न मन्दिर के समान है, जिसके एक पार्श्व में पौराणिक धर्म्मरूपी एक बहुवृद्ध, जराग्रस्त अजगर पड़ा हुआ है। उसके सामने भला-बुरा, उत्कृष्ट-निकृष्ट, शुद्ध-अशुद्ध जो कुछ भी पदार्थ आजाता है, वह उसे ही उदरस्थ कर लेता है और यही घोषणा करता रहता है "यह भी मेरा है, वह भी मेरा है"। यही कारण है कि पौराणिक हिन्दुओं ने बुद्ध तक को अवतार श्रेणी में मिलाकर अपने पूज्य देवों में सम्मिलित कर लिया है और वह बौद्ध धर्म्म को भी हिन्दू धर्म्म कहकर घोषणा करने में यत्नपर हैं। यही कारण है कि जहाँ हिन्दू प्रकृत हिन्दू-शिक्षा के हिन्दूपन को स्वीकार करते हैं वहाँ गुरु नानक प्रवर्त्तित धर्म को भी हिन्दू मत के अन्तर्गत मानने को उद्यत हैं। यही कारण है कि जिन गौराङ्गदेव ने 'यदि कृष्ण को भजेगा तो मोची भी शुद्ध हो जाएगा' इत्यादि वचन कहकर वर्णभेद की प्रथा पर कुठाराघात किया। हिन्दुओं ने उन्हें भी अपने अवतार दल में मिला लिया और वैष्णवों ने गौराङ्ग के अनुयाइयों को अपने पक्ष के उपासकों के बीच में अन्यतम उपासक बतलाकर ग्रहण कर लिया है। हम समझते हैं कि पौराणिक धर्मरूपी बहुवृद्ध अजगर ने अबतक ब्राह्म समाज को भी अपने उदर में डाल लिया होता यदि ब्राह्म लोगों की अवलम्बित विवाह-पद्धति ने बहुत बड़ा अन्तराय उपस्थित न कर दिया होता। फिर भी कभी-कभी यह बात अनुमान रूप से हमारे मन में उठती रहती है, कि यदि नवविधान मत के प्रवर्त्तक स्वर्गीय केशवचन्द्रसेन अबतक जीवित रहते, तो वह सम्भवतः मूर्त्तिपूजा से किसी न किसी

रूप से सन्धि स्थापित करलेते । उनके 'मृन्मये आधारे चिन्मयी देवी' प्रभृति उपदेशों का स्मरण करके और स्त्रियों के हाथ में हाथ देकर सखी भाव से नृत्य करने आदि बातों की आलोचना करके हमें अपने पूर्वोक्त अनुमान के मिथ्या प्रमाणित होने की सम्भावना नहीं रहती । अतः भारत के जल-वायु के प्रभाव और पौराणिक धर्म्म के अवसादकर और विषाक्त वातावरण के बीच में विशुद्ध एकेश्वरवाद को लेकर खड़ा रहना बड़ा कठिन है ।

शायद यह बात बहुत से लोगों को ज्ञात नहीं होगी कि स्वामी दयानन्द से बहुत स्थानों में और बहुत बार मूर्त्तिपूजा का खण्डन छोड़ने के लिए अनुरोध किया गया और उन्हें प्रलोभन तक भी दिये गये । सन् १८७७ ई० में जब कि वह लाहौर में ठहरे हुए थे और उन्होंने पञ्जाब में प्रबल आन्दोलन उपस्थित कर रक्खा था तब काश्मीर-पति महाराजा रणवीरसिंह ने पं० मनफूल द्वारा स्वामीजी से अनुरोध किया था कि आप जो कुछ और कार्य्य कर रहे हैं किए जाएँ, परन्तु मूर्त्तिपूजा के विरोध में कुछ न कहें । यदि आप ऐसा करें तो मैं अपना धनागार आपके समर्पण कर दूँगा । परन्तु दयानन्द ने इसका क्या उत्तर दिया ? उन्होंने पं० मनफूल से कहा कि "मैं वेद प्रतिपादित ब्रह्म को सन्तुष्ट करूँगा न कि काश्मीर-पति को । आप ऐसी बात फिर मेरे सामने न कहिये ।" सन् १८६९ ई० में जबकि काशी में महाशास्त्रार्थ के कारण चारों ओर महा आन्दोलन हो रहा था, काशी का एक प्रसिद्ध पण्डित एक दिन, रात्रि के समय दयानन्द के पास आया और यह प्रार्थना करने लगा "यदि आप अन्य सब बातों का खण्डन करें किन्तु एक मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करें तो काशी की समग्र पण्डित-मण्डली एकत्र होकर आपके गले में जयमाला पहिनायगी और आपको हाथी पर सवार कराकर आपकी सवारी सारे नगर में निकालेगी और आप को हिन्दुओं का अन्यतम अवतार मान लेगी ।" इसके उत्तर में दयानन्द ने कहा "मैं यह कुछ नहीं चाहता, मैं तो वेद-प्रतिपादित सत्य के प्रचार के लिए आया हूँ ।" पण्डितजी यह सुन कर चुप हो गये और उठकर चले गये । ऐसा कहा जाता है कि दिल्ली के निकट-वर्त्ती किसी स्थान का एक सेठ छकड़े में एक लाख रुपया भर कर स्वामी जी के पास लाया और विनयपूर्वक उनसे बोला "महाराज ! मैं यह लाख रुपया आपकी भेंट करता हूँ, आप मूर्त्तिपूजा के खण्डन की बात जाने दीजिये । इसके सिवाय जो कुछ आप कहना चाहें कहते रहिये, मैं यह लाख रुपया आपके कार्यों के सहायतार्थ देता हूँ ।" उस सेठ के इस अनुरोध को देख स्वामीजी हँसने लगे और उस सेठ से केवल इतना कहा, "सेठजी आप यहाँ से चले जाइये ।" मूर्त्तिपूजा का प्रतिवाद करने में स्वामीजी इतने निर्भय, इतने साहसी और इतने पराक्रमी पुरुष थे कि जिस देवमन्दिर में जाकर विश्राम करते थे उसी के अन्दर उसी देव मूर्त्ति का खण्डन करने को उद्यत हो जाते थे । एक बार वह गोदावरी के तट पर नासिक में रामचन्द्रजी का मन्दिर देखने गये और उसी मन्दिर की सीढ़ियों पर खड़े होकर रामावतार का खण्डन करने लगे । मूर्त्तिपूजा के ऊपर वह इतने प्रचण्ड भाव, इतनी योग्यता और इतनी आन्तरिकता के साथ अक्षेप करते थे कि भारत के किसी आचार्य्य ने उनसे पहिले इस प्रकार अक्षेप कभी नहीं किया था । स्वामीजी अति सरल, उज्ज्वल और समीचीनभाव से प्रतिपादित किया करते थे कि मूर्त्तिपूजा के समान कोई महा

मिथ्या वस्तु नहीं है। काशी शास्त्रार्थ में उनका प्रथम प्रधानपक्ष ही यह था कि "पाषाणादि मूर्त्तिपूजा वेद विरुद्ध है"। पूना के शास्त्रियों के साथ भी उनका प्रधान विचारणीय विषय था कि "मूर्त्तिपूजा मिथ्या है"। सारांश यह है कि घोरतम प्रतिकूलताओं के होने, घोरतम प्रलोभनों के दिये जाने और समय समय पर शत्रुओं के हाथों अपने प्राण नाश के यत्न किये जाने पर भी मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध प्रचंड संग्राम उपस्थित करके उन्होंने भारत की आचार्य्य मण्डली में अपने लिये विशेष स्थान बना लिया है। इसमें अणुमात्र भी संशय नहीं है कि इस पक्ष में वह अतुल्य, अनुपम और अद्वितीय थे। जैसे मूर्त्तिपूजा आर्य्य संस्कृति की प्रधानतम वैरिणी है, वैसे ही वह मूर्त्तिपूजा के प्रधानतम बैरी थे। उन्होंने समस्त भारत भूमि में अति उज्ज्वल और प्रबल भाव से इस बात का प्रचार किया कि जबतक मूर्त्तिपूजा समूल नष्ट नहीं होगी तबतक भारत भूमि का कोई भी कल्याण साधित नहीं हो सकेगा। इस प्रकार दयानन्द ने जैसे अपनी अपूर्वता और विशेषता की रक्षा की है वैसे ही इस देश का भी अशेष उपकार किया है। इसलिए ऐसे महानात्मा के अविकल जीवन-वृत्तान्त को भारत की विविध भाषाओं में प्रकाशित करने के यत्न का यह दूसरा हेतु है।

३. दयानन्द—ब्रह्मचर्य का पोषक

इस पक्ष में हमारा तीसरा कारण है कि जिस प्रकार दयानन्द एक अत्यावश्यक, हितकर और महान् विषय के श्रेष्ठत्व का कीर्त्तन करगये हैं, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया। हम यह स्पष्ट रूप से नहीं कहते कि शङ्कराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य्य, कबीर, गौराङ्ग आदि महापुरुष वृन्द ने ब्रह्मचर्य्य के श्रेष्ठत्व और महत्व को परोक्षभाव और साधारण भाव से प्रतिष्ठित नहीं किया, परन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि जिस असाधारण और अपरिहार्य भाव से ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता और गौरव का दयानन्द प्रचार कर गए हैं, वैसा अन्य किसी आचार्य्य को करते हुए हमने नहीं देखा।

मुरादाबाद के स्वर्गीय राजा जयकिशनदास ने हमसे कहा था कि जिस जोर, जिस आग्रह और जिस उत्साह के साथ स्वामीजी ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता प्रतिपादन करते थे उस प्रकार से इस विषय पर बोलते हुए हमने किसी को नहीं सुना। "वह सबसे अधिक बल ब्रह्मचर्य्य पर दिया करते थे"। दयानन्द का निश्चल विश्वास था कि ब्रह्मचर्य्य के बिना मनुष्य का किसी प्रकार का कल्याण साधित नहीं हो सकता, चाहे वह शारीरिक हो वा मानसिक, आर्थिक हो वा आध्यात्मिक। जैसे ब्रह्मचर्य्य के बिना राजा के लिये सुप्रणाली के अनुसार राज्य शासन करना असम्भव है और शरीर के लिए सुसन्तान उत्पन्न करना असम्भव है, वैसे ही ब्रह्मचर्य्य के बिना जाति-विशेष का उन्नयन और अभ्युत्थान भी असम्भव है। वह बार-बार कहा करते थे कि यदि इन मृतप्राय हिन्दुओं को पुनर्जीवित करना है, इस हृतसर्वस्व आर्य्यावर्त्त के शिर को एक बार फिर गौरवमुकट से मण्डित करना है, तो इसका उपाय ब्रह्मचर्य्य की रक्षा करने के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। इसी-लिए उन्होंने प्राचीन ब्रह्मचर्य्याश्रम के पुनरुद्धार के लिए विशेष यत्न किया था और इसी-

लिए उन्होंने गुरुकुल के स्थापन की व्यवस्था की थी। दयानन्द जैसे स्वयं निष्कलङ्क ब्रह्मचारी थे और जैसा लाभ ब्रह्मचर्य्य के द्वारा उन्होंने स्वयं उपलब्ध किया था, वैसे ही निष्कलङ्क ब्रह्मचारी वह अन्य साधारण मनुष्यों को बना वैसा ही लाभ उन्हें उपलब्ध कराना चाहते थे। इसी हेतु से वह अपने देशवासियों से ब्रह्मचर्य्य धारण करने का बारम्बार साग्रह अनुरोध करते थे। वह भारतवासियों से सदा ही बल-पूर्वक कहा करते थे कि तुम बच्चों के बच्चे और लड़कों के लड़के हो। यदि कोई उनसे पूछता कि आप ऐसा क्यों कहते हैं तो वह यही उत्तर दिया करते थे कि भारतवर्ष में आजकल माता-पिता ब्रह्मचर्य्य की रक्षा नहीं करते और इसलिये भारत भूमि में बच्चों के बच्चे ही जन्म ग्रहण करते हैं। इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं है कि आयेदिन सहस्रों पुच्छविहीन भेड़ बकरियाँ उत्पन्न होकर भारत भूमि के दुःख और क्लेश को औरभी गुरुतर बना रही हैं। यह देश सर्वथा मनुष्य-विहीन और मनुष्यत्व-शून्य हो चला है। नरसिंहों के बदले सहस्रों भेड़ बकरियों ने देश पर अधिकार कर लिया है। आज आर्य्यावर्त भेड़-बकरियों के कोलाहल से परिपूरित और प्रतिध्वनित है। यह सर्वथा सत्य है परन्तु इसमें भी कोई संशय नहीं है कि केवल यह कहते रहने से, कि इस देश के निवासी मनुष्य उत्पन्न नहीं करते, न कर सकते हैं और न कर सकेंगे, भेड़-बकरियों के बदले मनुष्य जन्म ग्रहण नहीं करने लगेंगे।

भारत की महिमा का मूल क्या था? ब्रह्मचर्य! हिन्दुओं की जिस गरीयसी प्रतिभा को देखकर प्राचीन यूनान और रोम आश्चर्य्यान्वित हो गये थे उसका हेतु क्या था? ब्रह्मचर्य! जो उपनिषदादि अनुपम और उपादेय ग्रन्थमाला के रचयिता थे, वह कौन थे? ब्रह्मचारी! रामायण और महाभारत के जिस अलौकिक सौन्दर्य्य को देखकर मनुष्य-मंडली अवाक् रह जाती है, उसके सृष्टिकर्त्ता कौन थे? ब्रह्मचारी! अर्थनीति, युद्धनीति, व्यवहार-नीति और धर्म्मनीति के प्रवर्त्तक कौन थे? ब्रह्मचारी! गम्भीर विचारशीलता और तत्वानुसन्धान के अद्भुत क्षेत्रस्वरूप सांख्यमीमांसा की रचना किन्होंने की? ब्रह्मचारियों ने! पाणिनि का पुनरुद्धार-साधनपूर्वक भाषानुवादक, साहित्य-विज्ञान के पथ का प्रचारक कौन था? एक ब्रह्मचारी! वैदिक विद्या के पुनरुद्दीपन में आत्मोत्सर्ग करके नये युग का प्रवर्त्तक कौन था? एक ब्रह्मचारी! सुतराम् देखाजाता है कि भारतभूमि का जो कुछ संबल, जो कुछ गौरव, जो कुछ प्रतिष्ठा थी उस सब के मूल में ब्रह्मचर्य ही विद्यमान था। अतः जब तक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान होता रहेगा, तब-तक भारत के विलय होने की सम्भावना नहीं हो सकती; जब तक ब्रह्मचारी का अभ्युदय होता रहेगा, तब तक आर्यजाति के लिए निराश होने का कोई कारण नहीं है। यह निश्चय है कि यदि आर्य्यावर्त्त फिर जागेगा तो ब्रह्मचर्य्य के ही प्रभाव से जागेगा, यदि इन परदलित परानुग्रहजीवी हिन्दुओं का पुनरुत्थान होगा तो ब्रह्मचारियों के द्वारा ही होगा। यदि आर्य्यों का प्रनष्ट गौरव फिर कभी वापस आकर चमकेगा तो ब्रह्मचर्य की ही महिमा से चमकेगा। क्योंकि बल, बुद्धि, वीर्य्य, मेधा, धारणा-शक्ति, नीरोगता और शारीरिक पराक्रम जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्य पर निर्भर है, मनुष्य की आशा, उत्साह, अध्यवसाय, कष्टसहिष्णुता, श्रमशीलता, तितिक्षा और अटल प्रतिज्ञता आदि का सञ्चार और परिपुष्टि भी उसी प्रकार ब्रह्मचर्य पर निर्भर है। जैसे दयानन्द अपने जीवन में निष्कलङ्क ब्रह्मचर्य्य का परिचय देकर अपनी विद्या, पाण्डित्य और प्रतिमा आदि

के विषय में असाधारणत्व को प्रतिष्ठित कर गये हैं, वैसे ही वह अपने जीवन में ब्रह्मचर्य को सर्वोच्च आसन पर स्थापित करके इस देश का महान् उपकार कर गए हैं।

४. दयानन्द—भारतीय एकता का प्रतिपादक

गौतम बुद्ध ने शुद्धोदन राजा के घर जन्म लेकर और जीवन के दुःख-क्लेश मोचन करने के अभिप्राय से गृह त्याग किया था और फल्गु नदी के तीर पर छः वर्ष तक ध्यानावस्थित रहकर, उसके प्रभाव से बुद्धिलाभ किया था। पहिले वाराणसी में और उसके पश्चात् उत्तर भारत में अनेक स्थानों में परिभ्रमण करके और निर्वाणतत्व का प्रचरित करके लखूखा मनुष्यों के लिये कल्याणपथ को उन्मुक्त किया था। और अन्त में कुष्ण नगरी के पास एक आम्रकानन में देह त्याग करके परम धाम लाभ किया था। परन्तु बुद्ध ने विच्छिन्न भारत को एकता के सूत्र में बांधने के पक्ष में क्या कभी एक बात भी कही ? हमें उत्तर में यही कहना पड़ता है कि नहीं कही।

नम्बूद्रि ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर शङ्कराचार्य्य ने छोटी ही अवस्था में संन्यास ग्रहण करलिया था। अलौकिक प्रतिभा के प्रभाव से वह अल्पावस्था में ही अगाध विद्या के पारदर्शी होगए थे। वेदान्त-सूत्र का अनुपम भाष्य रचकर वह संसार में अविनश्वर कीर्ति स्थापित कर गए हैं, भारत के बहुत से स्थानों में पर्य्यटन करके अपने सुशाणित तर्कास्त्र के प्रभाव से नाना दिग्देशीय पण्डित-मण्डली को पराभूत करके वेदान्त मत का प्राधान्य स्थापित कर गए हैं, सौ मनुष्य भी अपने जाने हुए विषय को एकत्र करके जिस कार्य्य के करने में असमर्थ हैं, शङ्कराचार्य्य उसे बत्तीस वर्ष की आयु में अकेले ही सम्पादित कर के दिव्यधाम को प्रस्थान कर गये हैं। शङ्कराचार्य्य यह सब कुछ कर गये, परन्तु क्या उन्होंने विभक्त और विच्छिन्न भारत में ऐक्य स्थापन के लिए कोई यत्न किया ? उत्तर सिवाय 'नहीं' के और कुछ नहीं हो सकता।

बङ्गभूमि के प्राञ्चल भाग के गौरव श्री गौराङ्गदेव नवद्वीप में आविर्भूत होकर बङ्गाल को भक्ति की तरङ्ग में निमग्न कर गए, नामजपन और नामकीर्त्तन के माहात्म्य-विस्तार को चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित कर गए, सङ्कीर्त्तन के पूत, पवित्र, पुण्यमय स्रोत को उन्मुक्त करके दीन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग की ओर खींच लेगये, तन्त्रोक्त घृणित और जुगुप्सित आचार, विचार से सैकड़ों मनुष्यों की रक्षा करके देश का अशेष कल्याण कर गए और अन्त में जगन्नाथ में देहत्याग कर इस लोक से यात्रा कर गये। परन्तु क्या उन्हों ने भारत में भारतीयता स्थापन करने के लिये कभी एक बात भी कही ? हमें कहना पड़ता है, एक भी नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में जितने भी आचार्य्य हुए हैं वे सब के सब इस विषय में चुप हैं। यह होसकता है कि उनके लिए जो समग्र मानव-मण्डली के दुःख-हरण का कठोरतम व्रत धारण करते हैं देशविशेष अथवा जातिविशेष की उन्नतिसाधन करना क्षुद्र बात हो। यह भी हो सकता है कि जो अपनी अलौकिक ज्ञान-चक्षु के आलोक से संसार को ही नहीं, विश्व भर को ही मिथ्या सिद्ध करके दिखा गए हैं, जो अपनी अद्भुत शक्ति के प्रभाव से सारे जगत् के अस्तित्व बोध को "सर्प और रज्जु" के उदाहरण के समान एक महा

भ्रम बता गए हैं, उनके लिये किसी देश में ऐक्य स्थापन करना एक तुच्छ बात रही हो। यह ठीक ही है कि उन के लिए जो ईश्वर-प्रेम में अहर्निश उन्मत्त रहते थे किसी देशविशेष की उन्नति एक गौण बात रही हो। हम यहाँ तक भी मान सकते हैं कि इन बातों का वास्तविक आध्यात्मिक महत्व न भी हो, तथापि यह अवश्य मानना पड़ेगा कि हैं ये सब बातें किसी न किसी अंश में आवश्यक। यदि मनुष्य अपने घर में दाल, चावल, घी, तेल, मिरच, मसाला आदि का संग्रह करता है, तो क्या दार्शनिक दृष्टि से वह कोई बड़ा काम करता है ? निस्सन्देह नहीं, परन्तु फिर भी ऐसा करना उस के लिए अत्यन्तावश्यक है, क्योंकि इन वस्तुओं के विना उसकी देह-रक्षा ही नहीं हो सकती। यदि कोई सूई के छिद्र में धागा पिरोकर वस्त्र सींता है वा अपने पुराने कपड़ों की मरम्मत करता है, तो क्या ऐतिहासिक दृष्टि से यह बड़ा काम गिना जासकता है ? कदापि नहीं, परन्तु इसका करना उसके लिए आवश्यक है। यदि मनुष्य अपने घर के चारों ओर के गढ़े भरने के लिये गोबर-मिट्टी लाता है, तो क्या राष्ट्रीय दृष्टि से इसे कोई महान् कार्य्य कहा जा सकता है ? कभी नहीं, परन्तु यह कार्य्य भी तो आवश्यक है, क्योंकि यदि वह कार्य्य न किया जाये तो गढ़ों में सर्पादि जन्तु आश्रय लेकर पास रहने वाले मनुष्यों का प्राणनाश तक कर सकते हैं। फलतः उपर्युक्त कार्य्य-समूह यद्यपि महत्वहीन समझे जाते हैं, तथापि उन्हें करना ही पड़ेगा। यदि उनका सम्पादन न किया जायगा तो देह-रक्षा के विषय में अनेक विघ्न उपस्थित होंगे, यहाँ तक कि असमय में शरीर के विनाश की भी सम्भावना हो सकती है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि देह रक्षा, समस्त आशा, भरोसा उन्नति और आकांक्षा की मूल है। इसलिये यद्यपि यह कार्य्य-समूह सामान्य और अगण्य है और यद्यपि राष्ट्रीय वा दार्शनिक दृष्टि से इसका कुछ मूल्य नहीं है, तथापि उसका नियमित रूप से सम्पादन करना मनुष्य के लिये आवश्यक है।

इसी प्रकार देश में एकता स्थापन करना वा जातीयता के संसाधन की चेष्टा करना भी आवश्यक है। जिस देश में एकता नहीं, परस्पर की प्रीति नहीं, सद्भाव और समवेदना का बन्धन नहीं, उस देश में जीवन-यात्रा का निर्वाह निरापद नहीं हो सकता। जिस जाति के अन्दर जातीयता नहीं, जो जाति भाषागत, सम्प्रदायगत, रीति-नीतिगत, आदर्शगत और धर्म्मगत विभिन्नताओं से शतधा छिन्न-भिन्न हो रही हो, उस जाति का सदस्य रहना अनेक अंशों में ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति में अनेक प्रकार से विघ्नकर ही होगा। यह बात कुछ सूक्ष्म है इसलिये हम उसे कुछ खोल कर कहना चाहते हैं।

बात यह है कि मनुष्य सामाजिक जीव है। वह अकेला रहकर, सर्वतो भावेन, निःसंग वा सम्बन्ध रहित रहकर, किसी से कुछ सहायता न लेकर, देह-यात्रा का निर्वाह नहीं कर सकता और उन्नति के मार्ग में एक पग भी आगे नहीं रख सकता। एक मनुष्य की उन्नति-अवनति और कल्याण-अकल्याण का सम्बन्ध उसके पड़ोसियों, नगर-निवासियों, यहाँ तक कि समस्त स्वदेशवासी जन-साधारण की उन्नति-अवनति कल्याण-अकल्याण के साथ अविछिन्न रूप से है। यदि हमारे ग्राम, पथ, घाट आदि परिष्कृत और स्वच्छ न हों तो हम स्वास्थ्य भोग नहीं कर सकते। जैसे हम अपने शिक्षा-भवन को परिष्कृत रखना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वैसे ही अपने ग्राम, पथ, घाट आदि को भी स्वच्छ और निर्मल

रखना हमें अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। यदि हम अपने पुत्र को सत्स्वभाव सम्पन्न रखना चाहते हैं तो हमें अपने ग्राम-निवासियों को भी सच्चरित्र बनाने का यत्न करना पड़ेगा। यदि ऐसा न किया जायगा तो ग्राम के बालक दुष्ट हो जायेंगे और उनके साथ मिलने-जुलने से हमारे पुत्र के भी दुश्चरित्र होजाने को सम्भावना होगी। यदि हम स्वयं साधु रहना चाहते हैं तो हमें अपने मोदी को भी साधु रखना होगा। कल्पना कीजिए कि हम छुट्टी पाकर वा पेंशन लेकर यह सङ्कल्प करके अपने घर आए हों कि जीवन का शेष काल आध्यात्मिक चर्चा में बितायेंगे। अब यदि हमारा मोदी कुत्सित भक्ष्य-द्रव्य हमारे उदर में पहुँचाता है, हमारा ग्वाला अस्वच्छ पानी-मिला हुआ दूध पिलाकर हमारे शरीर में रोग का सञ्चार कर देता है, तो हम आध्यात्मिक चर्चा वा भजन साधन निरापद रूप से कैसे कर सकेंगे? वारम्बार रोगाक्रान्त रहने और अनेक प्रकार की घोरतर अशान्ति से पूर्ण जीवन व्यतीत करने से हम असमय में ही देह त्याग करके परलोक सिधार जायेंगे, फिर कहाँ रहेगा हमारा भजन-साधन और कहाँ रहेगा आध्यात्मिक चर्चा का सङ्कल्प? इस प्रकार का एक और भी दृष्टान्त दिया जा सकता है, जिससे यह प्रमाणित होगा कि जैसे राष्ट्रीय उन्नति समष्टिगत उन्नति पर निर्भर है वैसे ही समष्टिगत उन्नति व्यक्तिगत उन्नति पर स्थित है। हमारी उन्नति दस मनुष्यों की उन्नति के साथ सम्बद्ध है और हमारी अवनति भी दूसरे मनुष्यों की अवनति के साथ ग्रथित है, क्योंकि हम सामाजिक जीव हैं। अब हम समझते हैं कि इस बात को अधिक विस्तार पूर्वक बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि देश वासियों में देशप्रेम का बन्धन वा देश में जातीयता का संगठन होना अत्यन्तावश्यक है। मनुष्य जाति का इतिहास इस सत्य की स्पष्टाक्षरों में घोषणा करता है कि धन-धान्य की उन्नति, शिल्प की उन्नति, साहित्य की उन्नति और अन्य सब प्रकार की उन्नति जातीय एकता, बल्कि यों कहना चाहिए, जातीय स्वाधीनता के बिना नहीं हो सकती। इसलिए स्थलविशेष के निष्कण्टक वा निरापद हुए बिना जीव की कैवल्य-प्राप्ति वा परम पुरुषार्थ साधन की चेष्टा भी सफल नहीं हो सकती।

आर्य्यजाति के इतिहास की क्रमपूर्वक आलोचना करने से ज्ञात होता है, कि इस अपेक्षाकृत सामान्य परन्तु नितान्त आवश्यक विषय के सम्बन्ध में न तो वैदिक समय के आचार्य्य-गण, न बुद्ध और बौद्ध युग के उपदेष्टा और न चैतन्य, नानक प्रभृति सन्त-महाजनों में से एक के मुख से ही एक शब्द निकला। मनु, अत्रि प्रभृति ऋषिगण स्मृतिकार भी अपनी स्मृतियों के किसी सूत्र में इस विषय पर किसी बात का वर्णन करके नहीं गए। मध्यवर्त्ती काल के पौराणिकगण भी इस विषय पर न आख्यान के रूप में और न उपदेश-भाव से ही कोई उल्लेख कर गये हैं। अपेक्षाकृत आधुनिक समय के व्यवस्थापक और संग्रहकर्त्तागण भवदेवभट्ट, शूलपाणि, स्मार्त रघुनन्दन प्रभृति वृषोत्सर्गादि श्राद्ध के विषय में विस्तार पूर्वक व्याख्या करगए हैं, यहाँ तक कि छींक और छपकली आदि के शुभाशुभ फल के सम्बन्ध में भी व्यवस्था देगये हैं; परन्तु इस अत्यन्त प्रयोजनीय विषय के सम्बन्ध में एक पंक्ति भी लिखकर नहीं गये। यही भारत का दुर्दृश्य है, यही आर्य्यों का अमिट कलङ्क है, यही हमारी जाति की उन्नति के विषय में विघ्न है। ऐसा ज्ञात ही नहीं होता कि भारत में कभी किसी अंश में भी स्वदेशता वा स्वजातित्व का भाव रहा हो। इस देश के लोग कुल-

गत वा वर्णगत गौरव में ही व्यस्त रहते थे। हम अब तक कुलगौरव वा वर्णगौरव ही की बातों की भरमार करते आये हैं। जितना हम इस बात के जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि तुम ब्राह्मण हो वा क्षत्रिय, श्रोत्रिय हो वा स्मार्त्त, परमारों के वंशधर हो वा सीसोदियों के कुल में, इतना हम यह जानने के इच्छुक नहीं रहते कि तुम भारतवासी हो वा आर्य्य जाति के सदस्य हो। यही कारण है कि हमारे शास्त्र और संहिताएँ कुल गाथाओं और ब्राह्मणादि वर्णों की कथाओं से परिपूर्ण हैं। सारांश यह है कि जाति की एकता वा जाति की उन्नति के विषय में भारतीय आचार्यगण जैसे मौन हैं भारत की शास्त्र संहिताएँ भी वैसी ही निर्वाक् हैं।

यह देश का सौभाग्य था कि वर्त्तमान समय के आचार्य्य स्वामी दयानन्द ने हमारी युग-युग-व्यापिनी नीरवता को भङ्ग करके, चिरन्तनी उदासीनता को छिन्नभिन्न करके शास्त्र-संस्कार और धर्म्म-संस्कार के साथ-साथ जातीय एकता की आवश्यकता को भी प्रतिपादित किया। उन्होंने कोपीनधारी संन्यासी होते हुए भी इस बात को सुस्पष्ट रूप से जान लिया था कि जबतक स्वदेशीजनों में बल नहीं बढ़ेगा, स्वदेश में जातीयता प्रतिष्ठित नहीं होगी, जाति के अन्दर एकता का बन्धन दृढ़तर न होगा, तब तक धर्म्म-संस्कार, शास्त्र-संस्कार, देशोन्नति, सामाजिकोन्नति आदि कुछ भी न हो सकेगा। इसी कारण से जैसे वह समस्त भारत में एक शास्त्र अर्थात् वेदशास्त्र को स्थापित करने के लिए आजीवन संग्राम करते रहे, वैसे ही वेद प्रतिपादित एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना को प्रतिष्ठित करने के लिये भी मन, वचन, कर्म से चेष्टा करते रहे। उन्होंने जैसा प्रयास भारत के कुलगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत शाखा-प्रशाखा भेद को छिन्नभिन्न करके आर्य्य-जाति के संगठन के निमित्त किया था, वैसा ही प्रबल परिश्रम उन्होंने इसके निमित्त भी किया था कि आर्य्यावर्त्त में आदि से अन्त तक एक भाषा प्रचलित हो जाय। वस्तुतः इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दी भाषा को आर्य्य भाषा अर्थात् समस्त आर्य्यावर्त्त में प्रचलित भाषा का नाम दिया था।

बहुत दिन हुए जब की प्रसिद्ध हंटर (Hunter) साहब की अध्यक्षता में शिक्षा-कमीशन (Education commission) बैठा था तो उन्होंने उसके सामने हिन्दी का पक्ष स्थापित करने के पक्ष में साक्षी देने के लिए देश के उच्च पदारूढ़ और सम्भ्रान्त मनुष्यों को प्रोत्साहित किया था। इन सब बातों की आलोचना करने से स्पष्टरूप से मालूम होता है कि इस संन्यासी के हृदय में यह प्रबल इच्छा और प्रबल उत्साह था कि सारे भारतवर्ष में एक शास्त्र प्रतिष्ठित हो, एक देवता पूजित हो, एक जाति संगठित हो और एक भाषा प्रचलित हो। यही नहीं कि उनमें केवल ऐसी सदिच्छा और उत्साह ही था, वरन् वह इस इच्छा और उत्साह को किसी अंश तक कार्य्य में परिणत करने में भी कृतकार्य हुए थे। अतएव स्वामी दयानन्द केवल संन्यासी ही नहीं थे, केवल वेद-व्याख्याता ही नहीं थे, केवल शास्त्रों के मर्म्मोद्घाटन करने में ही निपुण नहीं थे, केवल तार्किक ही नहीं थे, केवल दिग्विजयी पण्डित ही नहीं थे, वह भारतीय एकता के स्थापन कर्ता भी थे, भारत की जातीयता के प्रतिष्ठाता भी थे। इस लिए भारत की आचार्य्य-मण्डली में दयानन्द का स्थान विशिष्ट और अद्वितीय है। अतः दयानन्द को सुप्रतिष्ठित करने के पक्ष में यह हमारा चौथा हेतु है।

५. जीवनचरित और इतिहास

जो कष्ट हमने सहे वा जो परिश्रम हमने किये उनके लिये हम कदापि दुःखित नहीं हैं, क्योंकि इतिहास वा जीवन-चरित-सम्बन्धी घटनाओं की सत्यता निर्धारित करने के लिये निरन्तर छान-बीन, गहरे अनुसन्धान और बहुकालव्यापिनी गवेषणा की अत्यन्त आवश्यकता है। अनेक प्रकार के कूड़े-कर्कट से मिले हुए अन्न को जैसे सूक्ष्म और सुछिद्र-सम्पन्न छलनी से छानना आवश्यक है, वैसे ही ऐतिहासिक अथवा चरित्र-सम्बन्धी घटनाओं की यथार्थता निरूपण करने के लिए गवेषणा की सूक्ष्म से सूक्ष्म छलनी का प्रयोग अनिवार्य्य है। इस देश के लेखकों में अनुसन्धान-वृत्ति का विकास बहुत ही कम है। वे विषयविशेष के याथार्थ्य की पुनः पुनः निरूपण करने की चेष्टा नहीं करते, हाथ में गवेषणा की छुरी लेकर विश्लेषण करने के वास्ते अग्रसर नहीं होते। इसलिए इस देश में ऐतिहासिक तत्व और चारित्रिक वृत्तान्त सत्य की प्रभा से प्रभावित नहीं होते और प्रमाण की दृढ़तर भित्ति पर प्रतिष्ठित नहीं होते। जब तक सत्य के दुरारोहशृङ्ग पर पहुँचने की शक्ति न हो तब तक गवेषणा का आलोक हाथ में लेकर सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ना पड़ेगा। यारुप वासियों में गवेषणा-वृत्ति का बहुत विकास है, इसलिए वह एक ही विषय पर ग्रन्थ पर ग्रन्थ प्रकाशित करने में समर्थ होजाते हैं। एक ही महापुरुष के कई २ जीवनवृत्त लिखे जाते हैं। गिबन हो के साथ रोम का इतिहास-लेखन समाप्त नहीं हुआ, उसके पश्चात् अन्य कई लेखकों ने रोम का इतिहास लिखा, हैलम (Hallam) के अतिरिक्त और भी कई ग्रन्थकारों ने मध्ययुग का इतिहास लिखा है।

स्वामी दयानन्द की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के निर्णय करने के लिए हमने इतने समय तक जो यत्न, परिश्रम और गवेषणा की है उसका उल्लेख हमने अपना कार्य, प्राधान्य वा गौरव दिखाने के अभिप्राय से नहीं किया है और न उसके परिचय देने के उद्देश्य से हमने इस ग्रन्थ की रचना की है। हमारा उसके उल्लेख से केवल यह दिखाने और समझाने का प्रयोजन है कि विना स्वतन्त्र, सूक्ष्म और पक्षपातरहित गवेषणा के ऐतिहासिक घटनाओं और विचारों की सत्यता का निर्णय नहीं किया जासकता।

इतिहास और जीवनचरित एक ही वस्तु हैं। दोनों में यदि कोई प्रकारगत पार्थक्य हो भी, तो भी कोई प्रकृतिगत प्रार्थक्य नहीं है। महापुरुषों की चरितमाला ही इतिहास का प्रधान अङ्ग वा उपादान है। महापुरुष ही संसार की महती घटनाओं के प्रवर्त्तक होते हैं। जो स्रोत समाज की मूलभित्ति तक को हिला देता है, जो स्रोत समाज शरीर में नई शक्ति का सञ्चार कर देता है, जो स्रोत राज्य विशेष के अभ्युत्थान वा विनाश का साधन होता है, जो स्रोत मानव-समाज के कुत्सित आचार विचार और विश्वास को सर्वथा परिवर्त्तित कर देता है, महापुरुष ही उस स्रोत के उत्पादक होते हैं। अकेले मार्टिन लूथर के नाम और कार्य्य से इतिहास के सैंकड़ों पृष्ठ भरे पड़े हैं। मेजिनी और गैरीबाल्डी के कृत्य और विचारों से ही नवीन इटली के नवीन इतिहास का कलेवर बना है। अकेले गौतम बुद्ध के उपदेशों और सन्देशों के प्रभाव से ही प्रायः एक सहस्र वर्ष व्यापी भारत का इतिहास रचा गया है, इस लिये महा पुरुष ही इतिहास की मूलभित्ति और

आधार हैं। इसी कारण से प्रख्यात नामा परिडत फ्रेड्रिक हैरिसन (Frederic Harrison) ने इस विषय में कहा है :—

"There is one mode in which history may be most easily, perhaps most usefully, approached. Let him who desires to find profit in it begin by knowing something of the lives of great men."
(The meaning of History P. 23.)

"जो लोग इतिहास से लाभ उठाना चाहते हैं उन्हें इतिहासाध्ययन करने से पहिले महापुरुषों के जीवन-चरितों का कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि यह एक ऐसी रीति है जिसके अनुसार इतिहास का अध्ययन बहुत सुगमता और सम्भवतः बहुत उपयोगिता के साथ किया जासकता है"। मीनिंग आफ़ हिस्ट्री (इतिहास का अर्थ) पृ० २३

अर्थात्, इतिहास को समझने से पहिले महापुरुषों को समझना चाहिए।

अतएव इतिहास के तत्वों का निर्णय करने के लिये जैसी गवेषणा की आवश्यकता है महापुरुषों के चरित को लिपिबद्ध करने के लिए भी वैसी ही गवेषणा की आवश्यकता है। परन्तु जिस देश में इतिहास नाम की कोई वस्तु न हो, जिस देश के वासियों के चरित्र में इतिहासवृत्ति के नाम की कोई वृत्ति देखने में न आती हो, जिस जाति के हृदय में इतिहास के प्रति कोई रुचि, आस्था वा अनुराग दृष्टिगोचर न होता हो, उस देश वा उस जाति में गवेषणा चाहे वह कैसी ही स्वतन्त्र, कैसी ही सूक्ष्म और कैसी ही पक्षपात-रहित क्यों न हो, कृतकार्य्य नहीं होसकती।

हमारा यह कथन कि इस देश में इतिहास नाम की कोई वस्तु वा कोई वृत्ति नहीं है किसी-किसी को बुरी लगेगी। कुछ लोग कहेंगे कि जिस देश में रामायण और महा-भारत विद्यमान हों, जिस देश में बहुसंख्यक पुराण, उपपुराण वर्तमान हों, उसके विषय में यह कैसे कहा जासकता है कि उसमें इतिहास नाम की कोई वस्तु नहीं है। जब संस्कृत साहित्य में इतिहास वा "इति-ह-आस" शब्द पाए जाते हैं तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उस देश में इतिहास नाम की कोई वस्तु न हो? जो सज्जन ऐसा विश्वास रखते हैं वह वास्तव में यह नहीं जानते कि इतिहास किसे कहते हैं और उसका क्या स्वरूप है। जो बात सत्य हो वह कहनी पड़ती है। रामायण और महाभारत को इतिहास का नाम नहीं दिया जासकता। * वह काव्य, महाकाव्य है।

---

* जिन योरुपीय ग्रन्थ-कर्त्ताओं ने भारतीय प्रसङ्ग का वर्णन वा भारत कथा की विवेचना में अपनी शक्ति और समय लगाया है, उन में से जेम्सामिल (James Mill), मेजर विल्फ़ोर्ड (Major Wilford) और पादरी वार्ड (Rev. Ward) आदि भारत को इतिहास-शून्य देश कहकर कुण्ठित हुए हैं। इस विषय में उनका जो सिद्धान्त है, वह चाहे हमारे लिये कर्णकटु हो, परन्तु है सत्य। मेजर विल्फ़ार्ड ने एशियाटिक रिसर्च जरनल के आठवें खण्ड में भारत की इतिहासशून्यता के विषय में लिखा है:—

"With regard to History the Hindus have really nothing but Romances from which some truth occasionally may be extracted."

रामायण का इतिहास न होना स्वयं उसके कर्त्ता महर्षि वाल्मीकि ने फल-श्रुति स्थल अर्थात् लङ्काकाण्ड के अन्तिम भाग में स्वीकार किया है और रामायण को काव्य कहा है।

शृण्वन्ति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
ते प्रार्थितान् वरान् सर्वान् प्राप्नुवन्तीह राघवात् ॥ स० १३० । श्लो० ११६ ॥

जो इस काव्य को जिसे प्राचीन समय में वाल्मीकि ने बनाया था सुनते हैं, वह इस संसार में रामचन्द्रजी से अपने मांगे हुए सारे वरों को प्राप्त करते हैं।

ऐसे ही महाभारत भी काव्य या महाकाव्य है। आदिपर्व की अनुक्रमणिका में लिखा है "मैं जानता हूँ कि तुम ने जन्म से सत् और ब्रह्मविषयक वाक्य ही कहे हैं और तुम स्वप्रणीत ग्रन्थ को काव्य कह कर ही प्रसिद्ध करते हो इस लिए वह काव्य नाम से ही प्रसिद्ध होगा और जैसे आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्व-प्रधान है वैसे ही यह काव्यों में सर्व-श्रेष्ठ होगा।

अनेक राजाओं के कथा-कीर्त्तन, अनेक युद्धों के वर्णन और अनेक महर्षि महापुरुषों के चरितोपाख्यानों से परिपूरित होने पर भी पुराण, उपपुराण इतिहास नाम से अभिहित होने के योग्य नहीं हैं। यदि कहो कि राजतरङ्गिणी तो इतिहास की कोटि में आती है परन्तु राजतरङ्गिणी केवल एक विवरण-माला है और इतिहास (History) और विवरण-माला एक ही वस्तु नहीं हैं। आजकल इतिहास शब्द के अर्थों ने जो परिवर्त्तित रूप धारण किया है, हम समझते हैं, पाठक उससे अनभिज्ञ नहीं हैं। जिस समय जोसिफ़स प्राचीन यहूदी जाति के इतिहास की वेदी के आसन पर समासीन हुए थे, जिस समय इतिहास-रचना कला के पथ-प्रदर्शक वा पितृस्वरूप योरोपीयगण विविध जातियों के इतिहास-प्रणयन में लगे हुए थे, उस समय जो अर्थ इतिहास शब्द के थे वह अर्थ अब नहीं हैं। अब इतिहास ने सुन्दरतर और उज्ज्वलतर मूर्त्ति धारण करली है। अब इतिहास को दार्शनिकता की भित्ति पर स्थापित कर दिया गया है। अब केवल विवरण माला का समावेश ही इतिहास में नहीं हैं। केवल घटना परम्परा के विज्ञान और वर्णन करने से ही इतिहास नहीं लिखा जाता, केवल युद्धों के वर्णन, युद्ध-नेताओं की पदाति, अश्वारोही सेना की संख्या के निरू-

---

"गल्प वा उपन्यास को छोड़ कर हिन्दुओं के पास वास्तव में कोई इतिहास नहीं है जिन में से कभी २ कोई सत्य निकाला जा सकता है"।

हिन्दुओं की इतिहासशून्यता के विषय में पादरी वार्ड अपनी पुस्तक 'A View of History, Literature and Mythology of the Hindus' की पहिली जिल्द के पृष्ट ४०-४१ पर कहते हैं:—

The proneness of the Hindus to magnify objects and events may rather be ascribed to climate, to the magnificence of the mountains, the plains, the rivers and the various objects of nature around them and to the florid allusions of their poets".

"हिन्दुओं की वस्तुओं और घटनाओं को बड़ा करके दिखाने की ओर झुकाव का कारण भारत का जल-वायु, विशाल पर्वत मालाएँ, मैदान, नदियाँ और अनेक पदार्थ जो इनके चारों ओर हैं और उनके कवियों के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन हैं"।

पण और युद्धों के जय-पराजय के संवाद-लेखन ही ऐतिहासिक कर्म्म नहीं हैं। यह सब इतिहास के बहिरङ्ग मात्र हैं अन्तरंग नहीं हैं, इतिहास के शरीर हैं प्राण नहीं हैं, इतिहास के स्थूलांश हैं सूक्ष्मांश नहीं हैं। घटना-विशेष को वर्णन करके यदि उसके कारणों को न बताया जाय, राज्य-विशेष के अभ्युत्थान के विवरण को लिपिबद्ध करके यदि उसके कारणों का निदर्शन न किया जाय तो उसकी इतिहास में गणना न होगी। कल्पना करो कि आप बूअर-इंग्लिश-युद्ध का इतिहास लिखने बैठते हैं और केवल इतना ही उल्लेख कर के कि बूअर सेना के इतने सैनिक क्षत-विक्षत हुए, अंगरेज़ी सेना के इतने योद्धा हत-आहत हुए, अंगरेज़ी सेना ने इस प्रकार जयलाभ किया और बूअरों को इतनी हानि पहुँचाई, अपने इतिहास को समाप्त कर देते हैं, तो हम कहेंगे कि आपने इतिहास नहीं लिखा। यदि आप वास्तविक अर्थों में उस युद्ध का इतिहास लिखना चाहते हैं, तो उपर्युक्त विषयों का समावेश करने के साथ-साथ आपको यह भी लिखना होगा कि युद्ध के क्या-क्या कारण थे और वह कारण-परम्परा कितने दिनों से दोनों जातियों के जीवन में उत्पन्न हो रही थी और किस विशेष घटना के उपस्थित होने पर उस कारण-परम्परा ने कार्य्यरूप धारण करके दोनों जातियों को तुमुल युद्ध में प्रवृत्त कर दिया, इत्यादि। इन विषयों को सूक्ष्म भाव से चित्रित किये विना आपका इतिहास इतिहासपद वाच्य नहीं हो सकता।

सारांश यह है कि केवल कार्य का विवरण करने से काम नहीं चलता, उसके साथ कारण का भी उल्लेख करना चाहिये। ऐतिहासिक-शिरोमणि गिबन ने जिस भाव से रोम की क्रमोन्नति और अधःपतन का इतिहास लिखा है, जिस प्रणाली का अवलम्बन करके हैलम ने मध्ययुग के इतिहास का सङ्कलन किया है, जिस रीति का अनुसरण करके सभ्यता का इतिहास प्रणयन किया है, और जिस पद्धति का सहारा लेकर डाक्टर मिलमैन ने लैटिन क्रिश्चैनिटी का इतिहास मानव-समाज के सामने रक्खा है, उस भाव, प्रणाली, रीति वा पद्धति का अनुगमन करके भारत में आज तक कोई इतिहास नहीं लिखा गया।* अतः यह कहना पड़ता है कि हिन्दुओं का कोई इतिहास नहीं है, उनमें इतिहास-रचनाकला का अभाव है। इस कारण भारत भूमि में प्रकृत इतिहास रचना का मार्ग कण्टकाकीर्ण है और प्रकृतजीवन-वृत्तान्त रचना का मार्ग भी सैकड़ों विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण है। हमने यथाशक्य सब कण्टक और विघ्न-बाधाओं को सहन करके भी स्वामी दयानन्द के जीवन

---

* विख्यात लेखक फ्रेड्रिक हैरिसन ने इतिहास शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है:—

The History of the human race is the history of a growth. अर्थात् मनुष्य-जाति का इतिहास विकास वा उन्नति का इतिहास है।

(Meaning of History. p. 22)

दार्शनिक हीगल ने इतिहास शब्द का यह अर्थ किया है:—

History is general development of Spirit in Time as nature is the development of the Idea in Space.

इतिहास साधारणतः भगवच्छक्ति के काल में विकास का नाम है, जैसे प्रकृति भगवद्भाव के देश में विकास का नाम है। Hegel's Philosophy of History.

हीगल की व्याख्या यद्यपि कुछ गूढ़ अवश्य है, परन्तु है अति सुन्दर।

चरित को लिखने का यत्न किया है। इस सम्बन्ध में हमसे जो कुछ बन पड़ा है किया है। हमने अपने ऊपर यह भार केवल इस लिये लिया है कि हमारा विश्वास है कि हिन्दू जाति के अभ्युत्थान, और वैदिकधर्म की उन्नति दयानन्द के जीवनवृत्त की सम्यक् आलोचना के विना नहीं हो सकती। दयानन्द ने हिन्दूजाति के रोग का निदान जिस सुन्दरता से किया है उस सुन्दरता के साथ और किसी सुधारक ने नहीं किया है। दयानन्द हिन्दूजाति के आदर्श सुधारक थे। ※ अतः यदि हिन्दूसन्तान हिन्दू बनी रह कर ही उठना चाहती है, हिन्दू बनी रह कर ही जगना चाहती है और हिन्दू बनी रह कर ही मुक्तिलाभ करना चाहती है, यदि वैदिक सभ्यता का फिर से जगत् में विस्तार होना है, हिन्दू-शिक्षा को उसके लिए संसार में प्रचरित होना है, हिन्दू-आदर्श को फिर से मानव जाति में प्रतिष्ठित होना है, तो दयानन्द-प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

परन्तु खेद है कि भगवान् दयानन्द के जीवन-चरितसम्बन्धी सामग्री के एकत्र करने का कोई क्रमबद्ध और संगठित रीति से यत्न नहीं किया गया। "जिन्होंने जन्म ग्रहण करके सौराष्ट्र भूमि को समुज्ज्वल किया, जिनके आविर्भाव से सौराष्ट्रभूमि ने अपने कण्ठ में गौरव की माला धारण की, उनके सम्बन्ध में, उनके नाम, जन्मस्थान, बाल्यचरित के सम्बन्ध में सौराष्ट्रवासी सर्वथा उदासीन और आस्थाहीन हैं। मूर्त्तिपूजक हिन्दुओं से तो ऐसी आशा करनी ही व्यर्थ है, क्योंकि ऋषि ने मरणपर्य्यन्त मूर्त्तिपूजा पर अस्त्रनिक्षेप किया और काठियावाड़ में अधिकतर वल्लभ-सम्प्रदाय वाले और स्वामी-नारायण-मतानुयायी बसते हैं और दोनों के मन्तव्य ही ऋषि की तीव्र आलोचना का विषय रहे हैं। सामवेदी औदच्यियों में अब न विद्या है और न धन है, वह अधिकतर भिक्षोपजीवी हैं। उनसे यह आशा करना कि वह अपनी जाति के इस महापुरुष की जीवनसम्बन्धी घटनाओं में कुछ मनोग्राहिता दिखावेंगे, दुराशामात्र है †। अस्तु, आर्य्य समाज को इस विषय में जितना सचेष्ट होना चाहिए था वह उतना सचेष्ट नहीं हुआ। यदि उसी समय जब कि आर्य्य-समाज स्थापित होने आरम्भ हो गये थे किसी सुशिक्षित लेखक को ऋषि के साथ रख दिया

※ देवेन्द्र बाबू ने अपने अति मनोहर और सुन्दर पुस्तिका "आदर्श सुधारक दयानन्द" में जिसका आर्य्य भाषानुवाद श्रीमती आर्य्य प्रतिनिधि सभा युक्तप्रान्त की ओर से छप चुका है इस विषय का बड़े गम्भीर और मर्म्मग्राही भाव से प्रतिपादन किया है। —संग्रहकर्त्ता.

† स्वयं मोरवी के ठाकुर साहब ने जिन्होंने ऋषि से साक्षात् करने पर यह कहा था, "मुझे बहुत गर्व है कि आपजैसा रत्न मेरे राज्य में उत्पन्न हुआ," देवेन्द्र बाबू के कार्य्य में मनोलग्नता से सहायता नहीं दी, तब अन्यों की तो कथा ही क्या है। यदि ठाकुर साहब मोरवी आन्तरिकता के साथ उनके कार्य्य में योग देते तो ऋषि के नाम और जन्मस्थानादि के लिखित प्रमाण उपलब्ध होने सम्भव थे और फिर इस विषय पर कोई विवाद वा सन्देह करने को जगह न रहती। अस्तु यह तो हुई उन लोगों की बात जो ऋषि के गौरव को या तो जानते ही नहीं थे या जान बूझ कर द्वेष वा साम्प्रदायिक दुराग्रह के कारण उसे नहीं मानते; परन्तु सबसे अधिक दुःख आर्य्य-समाज पर प्रकट करना पड़ता है। उसने भी कोई वास्तविक प्रयत्न इस विषय में नहीं किया। उनके परमधाम सिधारने के कितने ही वर्ष पीछे आर्य्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने

जाता और वह उनकी व्याख्या, शास्त्रार्थ और प्रश्नोत्तरों को लिपिबद्ध करता रहता सो उसके द्वारा निःसन्देह संसार का बड़ा उपकार होता। श्रीमान् हरगोविन्ददास द्वारकादास कहते हैं कि स्वामी जी ने राजकोट में वेदविषय पर ऐसा व्याख्यान दिया था कि उक्तता, गम्भीरता और युक्ति-युक्तता में, मेरी सम्मति में वह अपूर्व था। इस प्रकार के केवल एक व्याख्यान से ही संसार वञ्चित नहीं रहा है, बल्कि न जाने इस प्रकार के कितने अपूर्व व्याख्यानों से मानव-समाज को वञ्चित रहना पड़ा है। जिनका धार्मिक जीवन अशेष अभिज्ञता के ऊपर प्रतिष्ठित था, जिनकी शास्त्रदर्शिता, तार्किकता, मनस्विता सब प्रकार से असाधारण थीं, और विशेषतः जिनके निष्कण्टक ब्रह्मचर्य्य का निर्मल प्रभाव उस शास्त्रदर्शिता तार्किकता, और मनस्विता को उज्ज्वल और सुतीक्ष्ण बनाता था, उनके मुख से निकला हुआ एक उपदेश नहीं, एक व्याख्यान नहीं, वरन् एक-एक शब्द लिपिबद्ध करने, मनुष्यों के आलोचना करने तथा संसार के कल्याणार्थ प्रचार करने योग्य था। परन्तु दुःख है उस समय आर्य्यगण इस बात को हृदयङ्गम नहीं कर सके और किसी लेखक को नियुक्त करके स्वामी जी के साथ नहीं रख सके। और रखते भी कैसे ? आर्य्य-समाज वा आर्य्य-समाजियों के कलेवर को किसी स्वर्गागत वा अन्य अज्ञात लोकागत देवता ने तो

स्वर्गीय पण्डित लेखरामजी को ऋषि-जीवनसम्बन्धी घटनाओं का अनुसन्धान करके उन्हें सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी के रूप में प्रकाशित करने के लिये नियत किया था। प्रशंसित पण्डितजी ने कई वर्ष तक इस कार्य्य को बड़ी लगन और उत्साह के साथ किया और उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक लोगों से मिलकर बहुत सी घटनाओं को ज्ञात करके नोट भी लिये। वह नाम, जन्म-स्थानादि का निर्धारण करने के लिये टङ्कारा, मोरवी प्रभृति स्थानों में भी गये, परन्तु उन्हें अधिक कृतकार्य्यता न हुई और वहां से कुछ लोगों की बातों को लिखकर लौट आये। उसके पश्चात् उन्हें इतना समय नहीं मिला जो स्वयं अपनी संगृहीत सामग्री के आधार पर ऋषि-जीवन-कथा वर्णन कर जाते। सन् १८६७ में एक दुष्ट यवन ने उनका वध कर डाला। उनके देहान्त के पश्चात् श्रद्धास्पद श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी (भूतपूर्व ला० मुंशीराम) ने उन नोटों को देखा और लाला आत्माराम अमृतसरी द्वारा उन्हें एकत्रित करके पुस्तकाकार में छपवा दिया, जो अब पं० लेखराम कृत दयानन्द-जीवन-चरित के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें अनेक त्रुटियां हैं और वह किसी अर्थ में भी क्रमबद्ध अथवा घटनाओं की आनुपूर्विकता की दृष्टि से शृङ्खलाबद्ध जीवन-चरित नहीं कहा जा सकता। पर उसके लिये पं० लेखरामजी को उत्तरदाता समझना उतना ही न्याय प्रतिकूल है जितना स्वर्गीय देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को इस ग्रन्थ का उत्तरदाता समझना होगा जो हम उनकी एकत्रित सामग्री के आधार पर पाठकों के सामने रख रहे हैं। जो सामग्री पं० लेखराम इकट्ठी करके छोड़ गये वह उस कच्चे बहुरंगे सूत के गोले के समान थी जो एक जुलाहे को कई रंगों से युक्त वस्त्र बनाने के लिये दिया जाय। तन्तुवाय को सबसे पहिले हर एक रंग के सूत को सुलझा कर अलग अलग नलियों पर चढ़ाना और फिर ताना तनना होगा। उसके पश्चात् राछ में भरना होगा। तब उसे जो जो और जितना जितना सूत जहां अपेक्षित होगा लगाना होगा, तब कहीं वस्त्र प्रस्तुत कर सकेगा। ऐसे ही उस सामग्री में से प्रथम असम्बद्ध बातों को पृथक् करना और फिर शेष बातों को विषय के अनुसार अलग अलग करना

परिपुष्ट किया ही नहीं, वह भी तो उन्हीं हिन्दुओं में से हैं, उनका अङ्ग प्रत्यङ्ग भी तो उन्हीं हिन्दुओं से बना है, जिनके पास इतिहास नाम की कोई वस्तु नहीं, जिनके चरित्र में कोई ऐतिहासिक नाम की वृत्ति लक्षित नहीं होती, जिनमें किसी घटनाविशेष को, चाहे वह कैसी ही गुरुतर वा आवश्यक क्यों न हो, लिपिबद्ध करने की प्रणाली देखने में नहीं आती। फिर आर्य्य-समाजियों के चरित्र में ऐतिहासिक भावों का आविर्भाव कैसे हो सकता था ? हम यद्यपि आर्य्यसमाज के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हैं, तथापि इस बात के कहने से नहीं रुक सकते कि आर्य्यसमाज का जीवन नितान्त दुर्बल है, ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त क्षीण है और उसमें किसी विषय को विचार की तथा विश्लेषणपूर्ण दृष्टि से देखने की शक्ति अत्यल्प है।

यदि आर्य्य-समाज स्वामीजी के देहान्त के पश्चात् ही किसी व्यक्ति को उनके जीवनवृत्त लिखने के लिए सामग्री एकत्रित करने के लिए नियत कर देता, तो भी इतनी अड़चन न पड़ती, इतना परिश्रम न करना पड़ता और अनेक ऐसी घटनाओं का ठीक-ठीक पता लग जाता जिनका अब, इस कारण से कि उनके जानने वाले इस संसार में नहीं हैं, कोई पता नहीं लगा सकता। बहुत सी ऐसी बातें जो अब सन्दिग्धावस्था में हैं, स्पष्ट हो जातीं और बहुत सी विघ्न-बाधाएँ जो अब मार्ग की अवरोधक हुई, न होतीं। पर आर्य्य-समाज ने इस विषय में कोई यत्न करना आवश्यक नहीं समझा। उस आर्य्यसमाज ने जिस के हाथ में स्वामीजी अपनी शिक्षा के प्रचार का कार्य्य सौंप गए थे और जो आज सहस्र मुख से उनके गुण-कीर्त्तन करता हुआ नहीं थकता, उस आर्य्य समाज ने जो उन्हें

और तर्क और विश्लेषण की छुरिका हाथ में लेकर समालोचना के प्रकाश में जो असत्य वा असम्भव वा निराधार सिद्ध हो उसे काट-छाँट कर रद्दी की टोकरी में फेंकना और अन्त में यथा-स्थान सबको संगठित करना जीवन-चरित लेखक के अपरिहार्य्य कार्य्य हैं। यदि सामग्री को जिस रूप में है उसी रूप में सर्वसाधारण के सामने रख कर उसे जीवन-चरित का नाम देदिया जाय, तो वह ऐसा ही है जैसा कि पांच सात रंग के सूत के ढेर को वस्त्र की संज्ञा से अभिहित किया जाय। अतः हम पं० लेखराम की एकत्रित सामग्री को क्रमबद्ध जीवन-चरित नहीं कह सकते और न जो कुछ इस नाम से छपा है उसके विषय में यह कह सकते हैं कि पण्डितजी उस सबको सत्य मानते थे। उक्त ग्रन्थ में ऋषि के नाम और जन्मस्थान के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है वह हमारे अनुमान में पण्डितजी की विचारपूर्वक स्थिर की हुई सम्मति नहीं है। देवेन्द्र बाबू ने कई स्थल पर यह कह कर कि पं० लेखराम अपने रचे दयानन्द-चरित में अमुक घटना लिखते हैं कई घटनाओं का खण्डन किया है। हम समझते हैं उन्होंने ऐसा इस बात को जाने बिना ही किया है कि वह दयानन्द-चरित वास्तव में पं० लेखरामरचित नहीं है। हां यह दुःख अवश्य है कि सर्व साधारण ने उसे पं० लेखरामकृत समझ लिया और वह प्रामाणिक गिना जाने लगा और अन्य कई लेखकों ने भी जिन्होंने आर्य्यभाषा, उर्दू वा अंगरेज़ी में ऋषि-जीवनी लिखी, उसी का अनुकरण किया। इस प्रकार यह भ्रम सर्वसाधारण में फैल गया और अब दूसरे लेखक को इतना कार्य्य और बढ़ गया कि वह उन भ्रमों और त्रुटियों का भी खण्डन करे।

[संग्रहकर्त्ता]

ऋषि-पदवी प्रदान करने में अत्यन्त आग्रही है, जो उनके बचनों को निर्भ्रान्त तक मानने को भी शायद उद्यत हो सकता है, यह आवश्यक नहीं समझा कि उनका एक सर्वाङ्गपूर्ण जीवन-चरित प्रकाशित करने का यत्न करे। और न उस परोपकारिणी सभा ने ही, जिसे स्वामीजी ने अपना उत्तराधिकारी बनाया, इस विषय में कुछ ध्यान दिया। कितनी घोर कर्त्तव्यच्युति है! कितनी अतुलनीय कर्त्तव्यग्लानि है!!

विगत चालीस वर्षों में जब भारत की जन-संख्या के चालीस भागों में से एक भाग दयानन्द के अधिकृत होगया है, भारतवासियों में से तीन-चार लाख मनुष्यों के हृदय पर दयानन्द ने अपना आसन जमा लिया है, सैकड़ों पाश्चात्यालोकप्राप्त, पाश्चात्य-भाव-परिपुष्ट हिन्दू सन्तानों के जीवन का आदर्श स्वामी दयानन्द की शिक्षा और संसर्ग से परिवर्त्तित होगया है, दयानन्द का स्थापित किया आर्य्य-समाज भारत के प्रायः सब ही भागों में अपनी शाखाओं का विस्तार करने में समर्थ होगया है, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, प्रभृति धर्मों और अंग्रेज राजपुरुषों ने उसे एक प्रबल और प्रधानशक्ति मान लिया है, तो यह कौन कह सकता है कि और चालीस वर्ष वा चार सौ वर्ष पीछे लाखों हिन्दू व अन्य मतावलम्बी दयानन्द के नाम पर अपनी प्रीति और भक्ति की पुष्पाञ्जली अर्पित नहीं करेंगे? कौन कह सकता है कि हिमालय के पादप्रदेश से कन्याकुमारी तक सारे स्थानों में, भारतभूमि के अधिकांश स्थलों में दयानन्द का प्रभाव प्रतिष्ठित नहीं होगा? कौन कह सकता है कि आर्य्य समाज उस समय बहुशाखा–प्रशाखासमन्वित एक विशाल वृक्ष के समान भारत भूमि में बद्धमूल न होगा। बुक्क राजा का मन्त्रित्व प्राप्त करके सायणाचार्य्य जिस वेदभाष्य का प्रणयन कर गये हैं यदि वह वेदभाष्य प्रायः ५०० वर्ष के भीतर ही इतना प्रचलित होगया है और हिन्दुओं का अधिकांश उसे स्वीकार करने लगा है, तो कौन कह सकता है कि अपने जीवनभर ज्ञान की आराधना करके अपने चरित्र में अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का उज्ज्वल दृष्टान्त दिखाके दयानन्द जिस वेदभाष्य की रचना कर गए हैं वह वेदभाष्य पांच सौ वर्ष पीछे लाखों मनुष्यों के सम्मान का पात्र नहीं होगा? कौन कह सकता है कि इस देश के भावी वंशीयगण शङ्कर और रामानुज के आचार्य्यत्व को इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा और सम्मान के साथ ग्रहण नहीं करेंगे जितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ वह अब करते हैं? कौन कह सकता है कि भारत की आचार्य्य-मण्डली में स्वामी दयानन्द आचार्य्यशिरोमणि का पद प्राप्त न करेंगे? पाठक! विवेचना करके देखो, क्या दयानन्द दिवाकर के मध्यान्हिक विकास के समय तत्कालीन मनुष्यों के मन में स्वतः ही यह प्रश्न नहीं उठेंगे कि यह दयानन्द कौन थे? वह किस कुल वा परिवार में जन्म लेकर समस्त भारत को धन्य कर गये हैं? कौन भाग्यवान् पिता इस पुरुषरत्न के जन्मदाता थे? यदि इन सब विषयों का निर्धारित, निश्चित और प्रमाणित विवरण न रहेगा तो इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि भावी वंशीयगण बड़ी गड़बड़ में पड़ेंगे और नाना मनुष्य नाना प्रकार के मत प्रकट करेंगे और विरोधी पक्ष बहुत प्रकार की अलीक और अवास्तविक बातों के प्रचार में अग्रसर होंगे? अतः हम भारत के इतिहास की रक्षा के नाम पर, और दयानन्द-चरित के गुरुत्व और सर्वाङ्गीणत्व के नाम पर सहस्र बार यह बात कहेंगे कि स्वामीजी

की जन्म-भूमि आदि के विवरण का प्रामाणिक भित्ति पर स्थापित होना नितान्त आवश्यक है।

काल के अनागत स्तर में जो कुछ होने वाला है वा जिसके होने की पूरी सम्भावना है वह काल के वर्तमान स्तर का आश्रय लेकर ही होगा। सदा ऐसा ही हुआ है और अब भी ऐसा ही हो रहा है। अतः हमें यत्न करना चाहिए कि हम स्वामीजी के विषय में यथाशक्य सब बातें स्पष्ट रूप से स्थिर कर जावें ताकि आने वाले समय में किसी को उन के विषय में भ्रम न रहे। हम देख रहे हैं कि अब भी कोई दुष्ट दुरभिसन्धि-प्रचालित मनुष्य उनके जन्म-स्थानादि के विषय में नाना प्रकार की मिथ्या बातों के प्रचार में लगे हुए हैं। हमें विश्वास रखना चाहिये कि स्वामीजी के जीवन, उनकी शिक्षा, उनके सिद्धान्त यहां तक कि उनके सामान्य कार्य्य भी भारत के भावी वंशीयगण की गुरुतर आलोचना के विषय होंगे। उनकी बातों को लेकर उनकी शिक्षा के विरोधी सहस्रों मनुष्य प्रत्येक दिशा से समालोचना के सुतीक्ष्ण बाणसमूह का निक्षेप करेंगे। ऐसी दशा में यह बहुत ही अच्छा होता यदि स्वामीजी अपनी मृत्यु से पहिले अपने नाम, और जन्मस्थानादि की कथा प्रकाशित कर देते, परन्तु दुःख का विषय है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया या वह ऐसा नहीं कर सके।*

जैन सम्प्रदाय बहुत दिन से स्वामीजी का घोर विरोधी चला आता है। पं० जियालाल नामक एक जैन ने कई वर्ष हुए एक मिथ्यापरिपूरित निन्दोक्तिपूर्ण पुस्तक 'दयानन्द-छल-कपट-दर्पण' नामक प्रकाशित की थी। उसमें जो बातें लिखी हैं उनका कोई प्रमाण नहीं और न कोई प्रमाण हो सकता है। वह सर्वथा निराधार और निर्मूल हैं। ऐसी ही अलीक घटनाओं से उक्त पुस्तक का कलेवर बना है। ऐसी पुस्तक की समालोचना करनी तो दूर रही, उसका नामोल्लेख करना भी निष्प्रयोजनीय है।
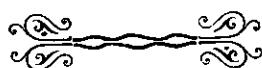
स्वामीजी के चिरवैरी देवसमाज लाहौर के स्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री ने एक बार अपने एक शिष्य को मोरवी भेजा था कि वहां से स्वामीजी के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या और ग्लानिकर समाचार संग्रह करके लेआवे। परन्तु शिष्य अपने देवगुरु की सदिच्छा-पूर्ति में अकृतकार्य्य रहा और निष्फल प्रयत्न होकर लौट आया। इसके कुछ दिन पीछे मोरवी महाराज के पुरोहित कवि नानाजी पुरुषोत्तम लाहौर आये और उस शिष्य का उनके साथ साक्षात्कार हुआ। शिष्य उन्हें देख गुरु के पास लेगया और उन्होंने राजपुरोहित को कुछ प्रलोभन दिखाकर उनसे कहा कि आप यह लिखदें कि "दयानन्द छल-कपट-दर्पण" में लिखी हुई बातें सत्य हैं। परन्तु उन्होने इस बात को स्वीकार न किया और अपने मन में देवगुरु के प्रति घृणा के भाव लेकर वह लौट आए। यह सच है कि अग्निहोत्री सत्यानन्द मिथ्या मेघ की सृष्टि करने के यत्न में समर्थ नहीं हुए और उनका पुनीत उद्देश्य

* पण्डित शिवराम पांडे वैद्य, प्रयाग से मालूम हुआ कि मिर्ज़ापुर में स्वामीजी ने उनसे कहा था कि देहान्त होने से पहिले वह अपने जन्मस्थानादि की कथा लिखकर किसी विश्वस्त व्यक्ति को दे जावेंगे, परन्तु वह मृत्यु से पहिले घोर पीड़ा में रहे और ज्ञात होता है इसी कारण वह न लिख सके।

पूरा नहीं हुआ, परन्तु यदि पूरा भी होजाता तो सत्य बहुत दिनों तक छिपा नहीं रह सकता था। मेघ छोटा हो वा बड़ा, तरल हो वा गम्भीर, बहुत समय तक सहस्ररश्मि को अस्तमित करके नहीं रख सकता। ऐसे ही मिथ्या के सहस्र प्रचार से भी सत्य का सूर्य्य बहुत काल तक अस्तमित नहीं रह सकता। सत्य को कोई लाख यत्न से छिपाए, परन्तु वह एक न एक समय अवश्य ही प्रकट होकर रहेगा। यह सत्य है कि सत्य की शक्ति चिरकाल तक अजय और अक्षुरण रहती है, परन्तु फिर भी इतिहास व जीवन-चरित प्रणयन के क्षेत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म गवेषणा की आवश्यकता है, परिवेष्टनीय शक्ति के विश्लेषण के लिए घटनाओं का यथायथपूर्वक अवधारण करके उनके प्रभाव को स्पष्टरूप से दर्शाना नितान्त कर्त्तव्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो दुर्जनों को अपने मिथ्या जाल फैलाने का सुअवसर मिलता है। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि यदि आर्य्यसमाज ने यत्नपूर्वक स्वामीजी के जन्मस्थान, परिवारादि का निर्धारण कर दिया होता तो जैनी जियालाल और अग्निहोत्री सत्यानन्द जैसे विरोधियों को ऐसे दुःसाहस का साहस न होता।"

उपसंहार

अब हमारा दयानन्दपरिक्रम का व्रत परिसमाप्त होगया। संन्यासी परमहंसों के गङ्गापरिक्रम के समान दयानन्द-गङ्गा के परिक्रम का कार्य शेष हो गया। परमहंसगण गङ्गा की उत्पत्तिभूमि से आरम्भ करके गङ्गा के किनारे किनारे विचरते हुए गङ्गासागर तक गमन करके अपने परिक्रम का कार्य समाप्त करते हैं। हमने भी दयानन्द के जन्म-गृह से आरम्भ करके उनकी श्मशान-भूमि तक पर्य्यटन किया है। टङ्कारा से जिसके जीवापुर महल्ले के जिस घर में उन्होंने जन्म लिया था उससे आरम्भ करके अजमेर के तारागढ़ के नीचे अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस निदारुण श्मशान-भूमि को देखकर आए हैं जहाँ उस भारत के सूर्य दिव्यदेह को चितानल ने कुछ मुट्ठीभर भस्म में परिणत कर दिया था। जैसे गङ्गापरिक्रम-कारी जन गङ्गा के दैर्घ्य, गङ्गा के विस्तार, गङ्गा की विशालता, गङ्गा की भीषणता गङ्गा के आवेग, गङ्गा के आवर्त, गङ्गा के क्षोभ, गङ्गा की तरङ्ग, गङ्गा की कल्लोल और गङ्गा की हिल्लोल को देखते हैं, वैसे ही हमने भी दयानन्द-गङ्गा का सब कुछ देखा है; इसके प्रत्येक तरङ्ग-निक्षेप पर दृष्टि दी है। कोई कोई संन्यासी कहते हैं कि हरिद्वार से आरम्भ करके गङ्गासागर तक पर्य्यटन करने में प्रायः तीन वर्ष लगते हैं, परन्तु हमने दयानन्द-गङ्गा के परिक्रम में प्रायः पन्द्रह वर्ष काटे हैं। अतः दयानन्द-गङ्गा हरिद्वारवाहनी गङ्गा की अपेक्षा कुछ दीर्घतर है, कुछ विशालतर है। संन्यासी परमहंसगण अपने विश्वास में गङ्गा-परिक्रमण वा नर्मदा-परिक्रमण से कुछ-न-कुछ पुण्यार्जन करते हैं। पाठक! तो क्या हमने दयानन्द गङ्गा का परिक्रमण करके कुछ पुण्यार्जन न किया है?

महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित

प्रथम अध्याय

संवत् १८८१ वि०—१८२४ ई०

भारत-भूमि के पश्चिम में बम्बई गवर्नमेन्ट के अधीन उपद्वीप के आकार का एक प्रदेश है। इस प्रदेश का सौर देश-गुर्जर भूमि के साथ सम्बन्ध है। इसके दो ओर कैम्बे और कच्छ उपसागर दो भुजाओं के समान विस्तृत हैं, और इसके पैरों को अरब सागर की अनन्त ऊर्म्मिमाला नित्य-प्रक्षालित करती है।

पुराणादि ग्रन्थों में इस प्रदेश को सौराष्ट्र नाम से पुकारा गया है। अब यह काठियावाड़* के नाम से प्रसिद्ध है। काठियावाड़ का थोड़ा सा ही भाग अंग्रेजी राज्य के अधि-

---

* काठि जाति से ही काठियावाड़ शब्द उत्पन्न हुआ है। बहुत काल पहिले काठि लोगों ने सौराष्ट्र में आकर अपना अधिकार स्थापित किया था और इसलिए सौराष्ट्र का वह भाग जिस पर काठि जाति के लोगों ने अधिकार स्थापित किया था काठियावाड़ के नाम से प्रसिद्ध होगया। परन्तु पीछे से सम्भवतः महाराष्ट्रीय विजेताओं ने सारे देश का ही काठियावाड़ नाम देदिया और उनकी देखा देखी बृटिश गवर्नमेन्ट ने भी सारे देश को इसी नाम से अभिहित करना आरम्भ कर दिया। जिस भाग पर आरम्भ में काठि लोगों ने अधिकार स्थापित किया था वास्तव में वही काठियावाड़ है और गवर्नमेन्ट के काग़ज़ों में उसे अब भी Kathiyawar proper लिखा जाता है। मुसलमानी राज्यकाल में काठियावाड़ को "सरकार सूरत" कहते थे।

प्राचीन काल में काठि लोग किसी नियत स्थान पर घर बनाकर नहीं रहते थे, प्रत्युत अपने पशुओं को लिये हुए जहां तहां घूमते रहते थे। एशिया-माइनर के अन्तर्गत कुर्दस्तान उनकी आदिम निवासभूमि थी, बहुत से लोगों का ऐसा मत है। बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेन्ट (प्राचीन विधान) में काठि लोगों का हिट्टाइटीज़ (Hittitis) नाम से सम्बोधन किया गया है। वह अनेक स्थानों में युद्ध करते और अनेक देशों को लूटते-खसोटते अन्त में भारतवर्ष में आये। उस समय प्रसिद्ध महाराजा पौरस ने उन्हें इस देश से निकाल दिया था, परन्तु पीछे महाराजा शालिवाहन के समय में उन्होंने फिर आकर राजपूताने में अरावली पर्वत के निकट

कार में है और उसका शेष भाग देशीय राजाओं के शासन और नियन्त्रण में है और छोटे-बड़े खण्ड-राज्यों में विभक्त है, जिन पर बहुत से छोटे २ राजाओं का अधिकार है। इन्हीं खण्ड-राज्यों के अन्तर्गत एक मोरवी राज्य भी है। मोरवी का प्राचीन-नाम मयूर-ध्वजपुरी था।
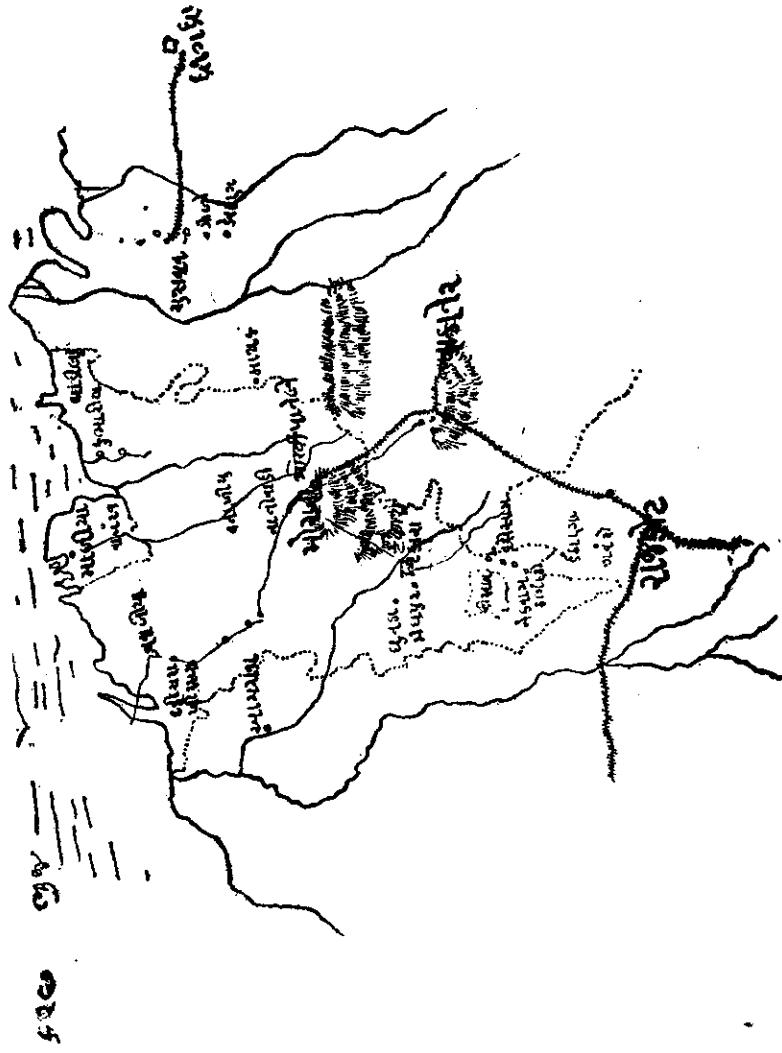
मोरवी राज्य भी कई विभागों में विभक्त है। उसके एक भाग का नाम टङ्कारा है। टङ्कारा एक बड़ा और विशेष ग्राम है। किसी समय वह अपने वाणिज्य-व्यापार की अधिकता, धनशालिता तथा अपने निवासियों की संख्या के कारण सारे काठियावाड़ में प्रसिद्ध था। सन् १८७२ ई० में उसकी जनसंख्या ली गई थी तो ४९०३ हुई थी। सन् १८८१ में उसकी जनसंख्या ५७२४ थी, परन्तु सुनते हैं किसी समय उसके निवासियों की संख्या सात-आठ हज़ार थी। सन् १९१८ ई० में विषूचिका रोग के भयङ्कर प्रकोप से बहुत से लोग मर गये और उसकी जनसंख्या पहिले की अपेक्षा बहुत कम होगई। उक्त कारणों से टङ्कारा की गिनती नगरों में होती चली आती है।*

टङ्कारा एक नगर है और वह कितने ही भागों वा महल्लों में विभक्त है। उस का जीवापुर महल्ला दरबारगढ़ वा राजमहल से थोड़ी ही दूर पर पश्चिम की ओर अवस्थित है। जब टङ्कारा दुर्ग की परिखा बनी हुई थी तब उसकी पश्चिम की परिखा को पार करना पड़ता था और थोड़ी ही दूर आगे चल कर जीवापुर में पहुंच जाया करते थे। इस समय परिखा टूट फूट कर भूमि के समतल होगई है, उसका केवल थोड़ा सा भाग खड़ा है जो टङ्कारा दुर्ग को जीवापुर मोहल्ले से अलग करता है।
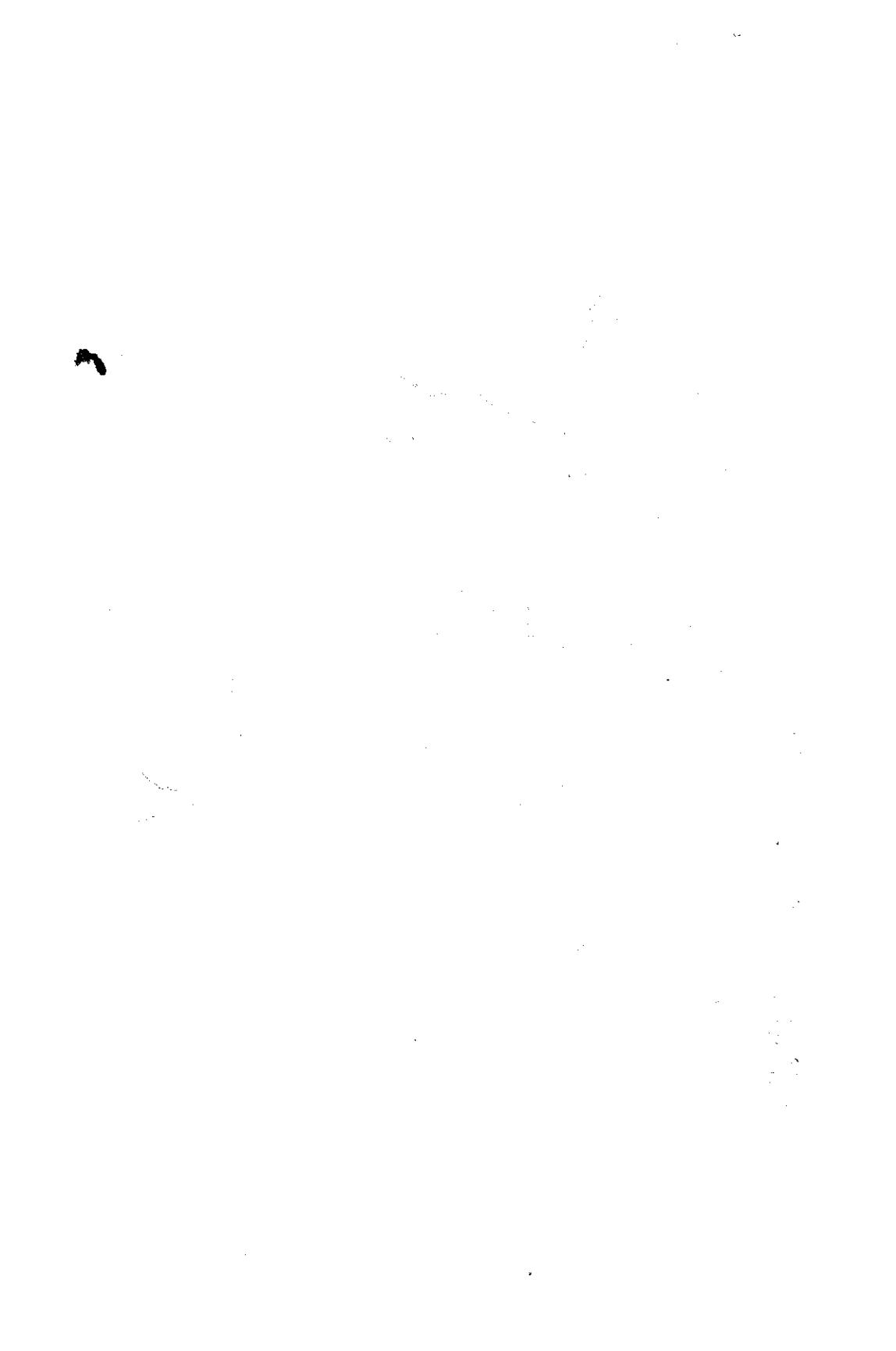
अपनी बस्तियां बनालीं। वहां से वह मालवे में आये और मालवे से कच्छ में और कच्छ से सौराष्ट्र में आकर बस गये और कुछ काल पीछे वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि वह सौराष्ट्र में किस समय आये। काठि लोग हिन्दु नहीं हैं, परन्तु चिरकाल से हिन्दुओं के देश तथा संसर्ग में रहते २ वह ब्राह्मणों में श्रद्धा और हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करने के अभ्यासी हो गये हैं। असल में काठि लोग सूर्य्य के उपासक हैं और सूर्य्य ही उनका आराध्य देव है। थल नामक स्थान में उनका बनाया हुआ सूर्य्य का मन्दिर भी विद्यमान है। वह अपनी दस्तावेज़ें और आवश्यक कागज़-पत्रादि भी सूर्य्य की शपथ लेकर लिखते हैं और किसी २ विशेष कार्य्य के आरम्भ करने से पहिले सूर्य की प्रार्थना करते हैं। वह बड़े ही अतिथि सेवक और अत्यन्त मिलनसार हैं, परन्तु साथ ही वह आलसी भी बड़े हैं और उनमें कुसंस्कार भी बहुत हैं।

* जिन-जिन लक्षणों से किसी स्थान की गिनती नगरों में हो सकती है वह सब लक्षण टङ्कारा में विद्यमान हैं। देवेन्द्र बाबू ने यह बात विशेषरूप से अपनी "दयानन्द सरस्वती के जन्मस्थानादि का निर्णय" नामक पुस्तक में लिखी है और इस पुस्तक में भी दयानन्द के पिता और पूर्व पुरुषों के सम्बन्ध में इस बात की तर्क और प्रमाण पूर्वक आलोचना और मीमांसा की गई है। उक्त पुस्तक को मनोयोग से पढ़े बिना दयानन्द के जीवन-वृत्त के उस अंश को जिसमें उनकी जन्मभूमि आदि का वर्णन है भली भांति नहीं समझा जा सकता। पाठकों के लाभार्थ उक्त पुस्तक परिशिष्टरूप से इस ग्रन्थ के अन्त में छाप दी गई है।

मोरवी राज्य के टङ्कारा ग्राम में महर्षि दयानन्द का जन्म स्थान है।

जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय जीवापुर मुहल्ले में कर्शनजी लालजी त्रिवाड़ी नाम के एक सामवेदी उदीच्य ब्राह्मण निवास करते थे। कर्शनजी उनका और लालजी उनके पिता का नाम था। काठियावाड़ में यह प्रथा चली आती है कि लोग अपने नाम के साथ अपने पिता का नाम जोड़कर बोलते हैं, इसी कारण हमने उन्हें कर्शनजी लालजी लिखा है। त्रिवाड़ी उनकी उपाधि थी। त्रिवाड़ी शब्द त्रिपाठी शब्द का अपभ्रंश है। इससे मालूम होता है कि कर्शनजी के पूर्वपुरुष वंशपरम्परा के अनुसार त्रिवेद के पाठ में प्रवृत्त रहते थे। उदीच्य कहने से उत्तर दिशा वा उत्तर देश के व्यक्ति से प्रयोजन है। अन्हलवाड़ा के अधिपति मूलराज सौलङ्की ने किसी विशेष कार्य्य के लिए उत्तर भारत के अनेक स्थानों से एक सहस्र शुद्धचरित्र और वेदवेदाङ्ग—परायण ब्राह्मणों को बुलाकर और उनकी यथोचित सेवा और सत्कार करके उन्हें गुजरात प्रदेश के नाना स्थानों में बसाया था। वही ब्राह्मणगण गुजरात और काठियावाड़ प्रदेश में 'उदीच्य-सहस्र' नाम से प्रसिद्ध हुए[*]। कर्शनजी के त्रिवाड़ी-उपाधिधारी होने से ही विदित होता है कि उनके पूर्वपुरुष इन्हीं 'उदीच्य-सहस्र' ब्राह्मणों में से थे। अनुसन्धान द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि मूलराज ने जिन 'उदीच्य-सहस्र' ब्राह्मणों को बुलाया था, उनके भीतर जो सामवेदी त्रिवाड़ी ब्राह्मण थे उन्हें मूलराज ने सिद्धपुर ग्राम देकर बसा दिया था। इससे मालूम होता है कि कर्शनजी के पूर्वज गुजरात प्रदेश में आने के पीछे सिद्धपुर के अधिकारी होगये थे। यद्यपि यह निर्णय नहीं हो सकता कि वह उत्तर भारत के किस स्थान से आये थे, तथापि यह सिद्ध होता है कि दक्षिण भारत में पदार्पण करने के पीछे उन्होंने सबसे पहिले

कर्शनजी त्रिवाड़ी

कर्शनजी के पूर्व-पुरुषों का निवासस्थान

---

[*] गुजरात का इतिहास देखने से मालूम होता है कि मूलराज सौलंकी अन्हलवाड़ा के एक राजा थे। वह अपने मातृपक्ष के किसी बन्धु के वध के कारण चित्त में इतने अनुतप्त हो गए थे, कि उन्होंने राज्य का कार्य्य करना तक छोड़ दिया था और तीर्थयात्रादि करने चले गये थे, परन्तु जब तीर्थयात्रा से भी वह चित्त की शान्ति प्राप्त न कर सके तब वह उत्तर-भारत से एक सहस्र शुद्धचरित्र और वेदविद् ब्राह्मणों को लाये और उन्हें भूमि आदि सम्पत्ति देकर अपने राज्य के नाना स्थानों में बसाने का संकल्प किया। उन्होंने गान्धार देश से १००, कन्नौज से २००, कुरुक्षेत्र से २७२, निमिषारण्य से १०० और इसी प्रकार भिन्न २ स्थानों से भिन्न २ संख्या के ब्राह्मणों को बुलाकर सब मिला कर एक सहस्र ब्राह्मण अन्हलवाड़ा नगर में एकत्र किये थे। उन ब्राह्मणों में से मूलराज ने किसी को भूमि, किसी को ग्राम, किसी को और कुछ सम्पत्ति देकर अपने राज्य के भिन्न भिन्न स्थानों में बसाया था। इन्हीं ब्राह्मणों के वंशधर इस समय गुजरात व काठियावाड़ में 'उदीच्य-सहस्र' कहलाते हैं। मूलराज की मृत्यु सन् ९९७ ई० में हुई इससे अनुमान होता है कि ब्राह्मण-संस्थापन का यह महान् कार्य्य ईसा की १० वीं शताब्दी के मध्य में वा उससे कुछ पीछे सम्पन्न हुआ था। Rasmala by A. K. Forbes Published in 1878. (New Edition)

सिद्धपुर को ही अपनी निवासभूमि बनाया था※। यह भी निश्चय होता है कि कर्शनजी त्रिवाड़ी के पूर्व-पुरुषों में से कोई व्यक्ति पीछे से कच्छ राज्य के भुज नगर में आकर बस गये थे और उसके कुछ समय पीछे वह काठियावाड़ में सम्भवतः जामनगर में आये और फिर जामनगर के अन्तर्गत कोशिया ग्राम में आकर बस गये। सुना जाता है कि कर्शनजी के पिता लालजी ही किसी जाति सम्बन्धी कार्य्य के अनुरोध से कोशिया ग्राम को छोड़कर टङ्कारा में आ बसे थे। अतएव पिता के समय से ही टङ्कारा कर्शनजी की निवासभूमि समझनी चाहिए। यह हम पहिले ही लिख चुके हैं कि कर्शनजी का घर टङ्कारा के जीवापुर मोहल्ले में था। कर्शनजी त्रिवाड़ी के इसी टङ्कारा के जीवापुर मोहल्ले वाले घर में संवत् १८८१ वा सन् १८२४ ई० में एक पुत्र ने जन्म ग्रहण किया था। यही पुत्र पीछे घर छोड़ कर निकल गये और संन्यासाश्रम ग्रहण करके संसार में स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम से प्रख्यात हुए। इससे पहिले काठियावाड़ प्रदेश सिंहों के लिये ही प्रसिद्ध था। अब वह कर्शन जी के घर पुरुषसिंह को जन्म देकर गौरव के प्रोज्ज्वल मुकुट से मुकुटित होगया। यह पुत्र कर्शनजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। नामकरण का समय आने पर कर्शनजी ने उनका नाम मूलजी रक्खा†। मूलजी को छोड़ कर कर्शनजी के और भी दो पुत्र और दो कन्याएं उत्पन्न हुई थीं। उन दोनों पुत्रों में से एक का नाम वल्लभजी था। दूसरे का न तो नाम ही मालूम हो सका और न उसके विषय में कोई और बात ही ज्ञात हो सकी। कोई २ कहते हैं कि संवत् १९१८ के विषूचिका रोग में उस पुत्र की मृत्यु हो गई थी। दोनों कन्याओं में से एक कन्या छोटी आयु में ही मृत्यु का कवल हो गई थी। मूलजी वा दयानन्द के गृहवास के समय उनके सामने ही उसकी मृत्यु हुई थी। दयानन्दने उसकी मृत्यु का वर्णन स्वरचित आत्मचरित में किया है। कर्शनजी का छोटा पुत्र वल्लभजी विवाह के दो मास पीछे ही मर गया था। अपनी बड़ी पुत्री प्रेमबाई का विवाह करने के अभिप्राय से गोंडाल

(हाशिया: जन्म-ग्रहण; कर्शनजी का वंश)

※ उदीच्य प्रकाश ग्रन्थ में लिखा है कि इन्हीं बुलाये हुए एक सहस्र ब्राह्मणों में से मूलराज ने इक्कीस ब्राह्मणों को छांट कर और आसनों पर बिठाकर उनकी पूजा-सत्कार किया था। इन आसनों पर बैठे हुए ब्राह्मणों में से चौथे आसन पर जो ब्राह्मण बैठे थे वह त्रिवाड़ी उपाधिधारी, सामवेदी, दाल्भ्य गोत्री, पञ्चप्रवर और कौथुमी शाखा के थे। इसलिए कर्शनजी त्रिवाड़ी के सिद्धपुर आए हुए पूर्व पुरुषों में से पूर्वोक्त ब्राह्मण को प्रधान पुरुष समझना चाहिए। मूलराज ने उन्हें सिद्धपुर का मध्यस्थान देकर बसाया था। सामवेदी त्रिवाड़ी उपाधिकारी ब्राह्मणों की कुलदेवी महागौरी, कुलदेवता दिवेश्वर महादेव, गणपति विघ्न-विनायक और भैरव कालभैरव है।

† कोई २ कहते हैं कि दयानन्द का आदि नाम मूलशङ्कर था। कर्शनजी—जैसे शङ्कर-निष्ठ वा शंकर-परायण के लिए पुत्र को मूलजी नाम देना वा मूल शब्द के साथ शङ्कर शब्द का संयोग करके अपने पुत्र को पुकारना किसी प्रकार भी असङ्गत नहीं हो सकता। बम्बई के प्राण जीवनदास कहते हैं कि स्वामीजी ने उनसे कहा था कि उनका नाम मूलशंकर था।

महर्षि दयानन्द जन्म गृह (एक ओर से)

महर्षि दयानन्द जन्म गृह (दूसरी ओर से)

नगर के पास के गुंदिमाडू नामक एक छोटे से ग्राम से एक ब्राह्मणकुमार मङ्गलजी लीला-रावल नामक को कर्शनजी टङ्कारा ले आये थे और उसे वहाँ ही बसा दिया था और फिर उसी के साथ प्रेमबाई का विवाह कर दिया था। इस समय कर्शनजी के वंश में इस कन्या के प्रपौत्र को छोड़कर और कोई जीवित नहीं है। इस प्रपौत्र का नाम प्रभाशङ्कर कल्याण जी रावल है। परन्तु वह साधारणतः पोपट रावल के नाम से परिचित है। पोपट रावल इस समय तक टङ्कारा में कर्शनजी त्रिवाड़ी के घर में निवास करता है। मूलजी के संसार-त्यागी होने और अन्य दोनों पुत्रों की मृत्यु हो जाने के कारण से कर्शनजी के वंश की रक्षा करने वाला और उनका उत्तराधिकारी बनने वाला कोई नहीं रहा था। अतएव उन्होंने अपने जामाता मङ्गलजी को ही अपना उत्तराधिकारी बना दिया था और अपनी भूमि, घर, धन, सम्पत्ति, लेन-देन सब कुछ उसे ही दे दिया था। और इसी प्रकार वह कर्शनजी की सारी सम्पत्ति का अधिकारी हो गया था। मङ्गलजी का पुत्र बोगा हुआ, बोगा का पुत्र कल्याणजी और कल्याणजी का पुत्र उपर्य्युक्त प्रभाशङ्कर वा पोपट रावल हुआ और उन में से एक के पश्चात् दूसरा कर्शनजी की सम्पत्ति का स्वामी होता रहा। कर्शनजी के परिवार में सांसारिक दृष्टि से किसी प्रकार की कमी वा क्लेश नहीं था, क्योंकि वह स्वयं धनशाली व्यक्ति थे। इनका लेन देन का कारबार था। परन्तु यह कारबार परिमित धन राशि पर निर्भर नहीं था। पोपट रावल के घर में कर्शन जी के लेन देन का बहीखाता विद्यमान है, उसके देखने से विदित हुआ कि वह एक समय कई कई सहस्र रुपया दूसरों को ऋण दे सकते थे। गुजरात काठियावाड़ में मेमन नाम की एक मुसलमान जाति है। मेमन लोग वाणिज्य-व्यापार करने में जगत् में प्रसिद्ध हैं। पहिले समय में टङ्कारा में बहुत से मेमन लोग बसते थे। उनमें से अधिक तर वाणिज्य-व्यापार ही करते थे और प्रायः नये वर्ष के आरम्भ में वह अपने व्यापार के लिए विदेशयात्रा किया करते थे और वह प्राय कर्शनजी त्रिवाड़ी से उसके लिए रुपया ऋण पर लिया करते थे और यथासमय विदेश से लौटकर कर्शनजी का रुपया चुका दिया करते थे। यह बात अब तक भी टङ्कारा के किसी-किसी पुराने मनुष्य के मुख से सुनी जा सकती है।

कर्शनजी का लेन-देन

कर्शनजी केवल साहूकार वा महाजन ही नहीं थे, वह विस्तृत भूमि-सम्पत्ति के भी स्वामी थे। वह जामनगर के अन्तर्गत उक्त काशिया ग्राम के एक बड़े भाग के अधिकारी थे। जामनगर के अन्तर्गत हरियाना ग्राम में कर्शनजी की दो बहन दो ब्राह्मणों से विवाही थीं। उन बहनों के पुत्र अर्थात् अपने भानजों को कर्शनजी ने कोशिया ग्राम की कुछ भूमि दान कर दी थी। अपने जामाता मङ्गलजी रावल को भी उन्होंने कोशिया की कुछ भूमि दान कर दी थी और अपनी विधवा पुत्रवधू वल्लभ की स्त्री मोगी बाई के भरण-पोषण के लिए भी वहाँ की कुछ भूमि उसके नाम कर दी थी। और उसके अतिरिक्त मेधपुर, जिरा-गढ़, धूरकोट प्रभृति ग्रामों में जो कर्शनजी के शिष्य थे उनकी वृत्ति भी उन्होंने मोगी बाई को देदी थी। इसके सिवाय कर्शनजी राज-पदारूढ़ व्यक्ति थे। सन् १८७३ ई० में जब दयानन्द कलकत्ते में थे तो उन्होंने प्रसङ्ग-वश बातों-बातों में श्रीयुक्त मन्मथनाथ चौधरी, बी० एल० महाशय से कहा था कि जो तुम्हारे कलेक्टर करते हैं वही कार्य्य हमारे पिता किया करते

थे। इसके अतिरिक्त दयानन्द ने स्वरचित आत्मचरित्र में भी कहा है कि वह जमादार थे। और जमादार शब्द का अर्थ भी उन्होंने स्वयं ही यह किया है कि वह नगर के फ़ौजदार और राज-कर उगाहने वाले दोनों ही थे। यह शब्द जमादार नहीं बल्कि जमेदार है। इस बात की विशेष रूप से आलोचना हमने दयानन्द जन्मस्थानादि-निर्णय नामक पुस्तक में की है। पिता की धनशालिता के सम्बन्ध में उन्होंने स्वलिखित आत्मचरित में और भी निदर्शन दिया है। जब घर से निकल कर मूल जी शैला योगी के पास पहुंचने के लिए यात्रा कर रहे थे तो उन्होंने उस समय की एक घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि "मार्ग में एक ब्राह्मण–भिक्षुकों के दल के साथ हमारा साक्षात् हुआ। वह हमारी ओर देखकर कहने लगे कि तुम जितना दान यहाँ करोगे परलोक में उतना ही तुम्हें लाभ होगा। हमारे पास जितना रुपया पैसा था और हमारी देह पर जितना अलङ्कार था वह ठग लिया। एक वैरागी ने एक मूर्त्ति रख रक्खी थी। मेरे हाथ में सोने की तीन अँगूठियाँ थीं। उसने मुझे चिढ़ाया कि सोने की अँगूठियों से वैराग्य की सिद्धि कैसे हो सकती है? मेरी अँगूठियाँ मूर्त्ति के समर्पण करालीं। जो मनुष्य सोने चाँदी के अलङ्कारों से अलंकृत हो वह कभी भी निर्धन पिता का पुत्र नहीं हो सकता, जब वह शैला से कोट गङ्गा पहुँचे तो वहाँ की अवस्था के विषय में उन्होंने एक और घटना का आत्मचरित में उल्लेख किया है कि उस समय भी हम रेशमी किनारे की धोती पहने हुए थे। वहाँ के वैरागी उस पर प्रायः सदा ही हमारा ठट्ठा किया करते थे, इसलिये हमने यह मूल्यवान् वस्त्र फेंक दिये और बाजार से साधारण वस्त्र कम करके पहनने लगे। काठियावाड़ की नीति-रीति और प्रथापद्धति से हमें जितनी अभिज्ञता है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि वहाँ धनी लोगों की सन्तान के सिवाय और कोई साधारणतः रेशमी किनारे की धोती नहीं पहनता। अपने पिता के ऐश्वर्य्य के प्राचुर्य्य के विषय में वह एक और घटना का उल्लेख कर गये हैं। जब उनकी तीव्र मेधा, प्रगाढ़ विद्वत्ता और अन्य सद्गुणों का परिचय पाकर आखी मठ के महन्त उन पर मोहित हो गये और महन्त-पद–प्राप्ति का प्रलोभन दिखा कर उनसे शिष्य हो जाने को कहा, तो वह लिखते हैं कि मैंने उत्तर दिया कि यदि मैं धन-सम्पत्ति का इच्छुक होता तो पितृ-गृह छोड़कर कभी न आता, क्योंकि मेरे पिता की सम्पत् इस मठ की सारी संपत् से किसी प्रकार कम नहीं है।

इसके अतिरिक्त मोगी बाई लोगों से प्रायः कहा करती थी कि मेरे श्वशुर धनी और सुखी पुरुष थे। मोगी बाई की यह उक्ति उनके भतीजे बालशङ्कर भीमजी देव के मुख से सुनी गई है। अस्तु, इन सब दृष्टान्तों से स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि कर्शनजी त्रिवाड़ी विपुल वित्तशाली मनुष्य थे।

इसके पश्चात् हम कर्शनजी के राजकर्म्मचारी होने के सम्बन्ध में एक दो बातें कहेंगे। शिवमूर्त्ति के प्रति अविश्वासी होकर जब शिवरात्रि की रात्रि में मूलजी जड़ेश्वर के मन्दिर से घर को चलने लगे, तो कर्शनजी ने उनके साथ एक सिपाही भेजा था। घर से निकलने के पश्चात् जब कर्शनजी ने मूलजी को सिद्धपुर में पकड़ लिया था तब भी उनके साथ कई सिपाही थे। और भी देखा जाता है कि जब टङ्कारा से निकल कर मूलजी योगी

के अनुसन्धान में शैला की यात्रा कर रहे थे, अर्थात् घर से निकलने के तीसरे दिन, तो उन्हें एक सरकारी कर्म्मचारी के मुख से मालूम हुआ था कि एक भागे हुए युवक के ढूंढने के उद्देश्य से कई एक अश्वारोही दलबद्ध होकर इधर उधर घूम रहे हैं। पाठक! सिपाही वा अश्वारोही सेना किस प्रकार के मनुष्य के अधीन रहते हैं। सिपाही वा अश्वारोही गण किस प्रकार के मनुष्य की आज्ञा मान कर चलते हैं? इससे स्पष्ट विदित होता है कि कर्शनजी त्रिवाड़ी राजा के सम्मानपात्र थे वा राजकीय-पद-जनित संभ्रम से विभूषित थे। इस विषय में और भी प्रमाण हैं, परन्तु बाहुल्य-भय से हम उन्हें यहाँ नहीं लिखते। फलतः कर्शनजी त्रिवाड़ी के लेन देन, जमींदारी और जमेदारी ने उन्हें टङ्कारा का एक संभ्रान्त और विशेष पुरुष बना दिया था। अतः मालूम होता है कि अपने पितृगृह में शिशु मूलजी सुख और शान्ति के साथ लालित-पालित हुए थे।

कर्शनजी केवल, धन, मान, वा संभ्रम में ही बड़े आदमी न थे। उनकी चरित्रगत-दृढ़ता, प्रकृतिगत धर्म्म-निष्ठा और हृदयगत धर्म्म-पिपासा भी कुछ कम सम्मान की वस्तु न थीं। दृढ़ता तेजस्विता की उत्पादक है और तेजस्विता कठोरता की प्रवर्त्तक होती है। कर्शनजी का चरित्र जैसा दृढ़ था वैसा ही तेजस्वी और कठोर भी था। मूलजी का आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार होगया था और तब से ही उनके पिता उन्हें पार्थिव पूजन का आदेश और उपदेश किया करते थे। परन्तु यह बात मूलजी की माता को अभिप्रेत न थी। क्योंकि शिव की पूजा में समय-समय पर उपवास का क्लेश सहना पड़ता है। इस विषय में दयानन्द ने लिखा है कि मुझे सवेरे भोजन करने की बान पड़ गई थी और इस आशङ्का से कि उपवास करने से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ेगा मेरी माता मुझे प्रतिदिन शिवपूजा करने [illegible] रोका करती थी। परन्तु यह बात किसी प्रकार भी पिता को सह्य न होती थी। इसके ऊपर प्रायः सदा ही मेरे माता-पिता में कलह रहने लगा। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि यह घटना कर्शनजी की दृढ़ता को जताने वाली है। उनकी तेजस्विता के सम्बन्ध में निम्न लिखित एक उज्ज्वल उदाहरण है। इस विषय में मूलजी अपने आत्मचरित में लिखते हैं, एक बार जब शिवरात्रि आई तो पिता ने मुझे शिवरात्रि के व्रत ग्रहण करने का आदेश किया। मेरे अस्वस्थ हो जाने का डर है, इस विषय पर मेरी माता ने प्रबल प्रतिवाद किया। परन्तु उस पर दृक्पात न करके पिता ने मुझ से कहा कि तुम आज उपवास करो और शिवालय में जाकर रात्रि-जागरण करो, क्योंकि तुम्हें आज पवित्र शैवदीक्षा लेनी होगी। इसके पश्चात् मूलजी व्रतधारी होकर पिता के साथ शिवालय में गये और जगते रह कर शिवपूजादि करने लगे। अन्त में जब उस नीरवरात्रि में शिव-मन्दिर के भीतर बैठे हुए उनके मन में यह संशय उत्पन्न हुआ कि यह महादेव यथार्थ महादेव है कि नहीं और जब कर्शनजी ने उस संशय का निराकरण न कर सकने पर सिपाही के साथ मूलजी को घर चले जाने की आज्ञा दी तब भी उन्होंने मूलजी को बार बार सावधान किया कि ऐसा न करना जिससे तुम्हारा व्रत भङ्ग हो जावे। उनका पुत्र सारे दिन भूखा-प्यासा रहने से अधीर होरहा था, नींद न लेने के क्लेश से दुःखित हो रहा था, सन्देह के उत्पन्न हो जाने के कारण अवलम्बित व्रत
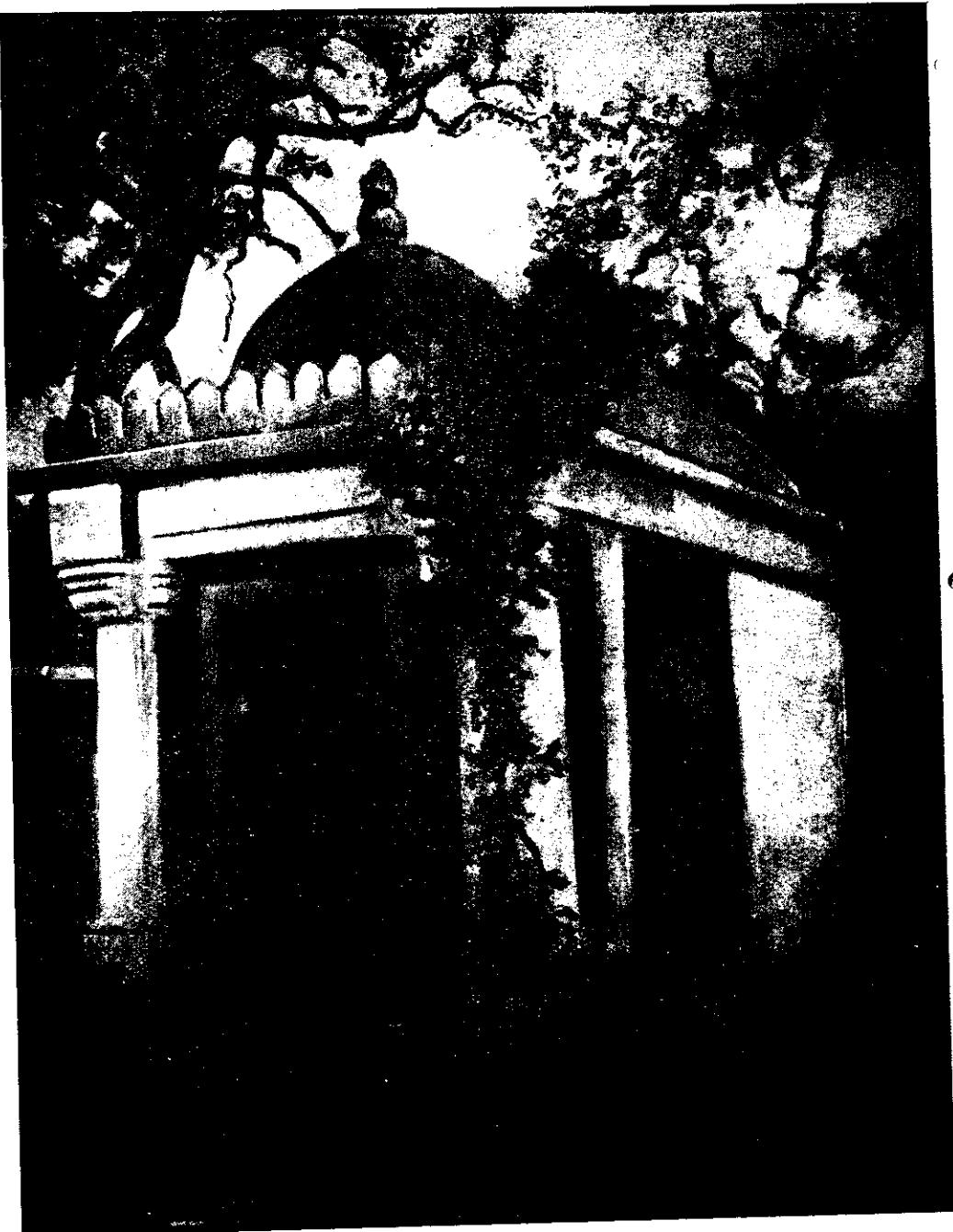
पितृ–प्रकृति

में अनास्था प्रकट कर रहा था, परन्तु फिर भी उनका यही आदेश था कि पुत्र किसी प्रकार भी भोजन करने न पावे। ऐसा आदेश प्रदान करना कर्शनजी की कठोरता का परिचायक है।

कर्शनजी की धर्म्म-निष्ठा ऐसी ही अटल थी जैसी उनकी धर्म्म-पिपासा गभीर थी। उनके समान घोर शैव, प्रगाढ़ शिवनिष्ठ और सरल शिवोपासक संसार में विरले ही दिखाई देते हैं। कर्शनजी अपने घर तो प्रत्येक दिन शिवार्चना करते ही थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने डेमी नदी के तट पर एक शिवमन्दिर भी बनवाया था जिसका नाम कुवेरनाथ महादेव का मन्दिर था। इस मन्दिर की सेवा-पूजा के लिए मोरवी के ठाकुर पृथ्वीराजजी ने कई बीघा भूमि भी अपर्ण कर दी थी। कर्शनजी जितने दिन जीवित रहे अतीव भक्ति के साथ कुवेरनाथ महादेव की सेवा-अर्चना करते रहे। इसके अतिरिक्त जब और जहाँ कहीं भी शिवजी की कथा-वार्त्ता होती, कर्शनजी वहाँ जाते और श्रद्धान्वित चित्त से उसे सुनते थे। इस विषय में स्वलिखित आत्मचरित में स्वामीजी ने लिखा है—"पिता के साथ मैं शिवालयों में और ऐसे स्थलों में जहाँ शिवजी की पूजा होती थी आने-जाने लगा। पिताजी मुझ से जब कभी कोई बात चीत करते तो सदा यही कहते कि शिवजी की पूजा करना ही सर्वोच्च धर्म्म है। मुझ से पिता केवल यही बात कहा करते थे और यही समझाया करते थे कि शिवजी की भक्ति ही सब से श्रेष्ठ धर्म्म है।" कर्शनजी की असामान्य शिव-भक्ति का प्रभाव उनके परिवार के अन्य व्यक्तियों के चरित्र में दिखाई देता है। उनकी बड़ी कन्या प्रेमबाई एक शिवभक्ति-परायणा स्त्री थीं। जिन्होंने अपनी आँखों से उन्हें देखा था उनके मुख से सुना गया है कि वह विधवा होने के पश्चात् जितने दिन जीवित रहीं नियमित रूप से अगाढ़ भक्ति और श्रद्धा के साथ कुवेरनाथ महादेव की पूजा-अर्चना करती रहीं। अपने परम शैव पिता के प्रतिष्ठित किये हुए कुवेरनाथ महादेव की नियमितरूप से पूजा-अर्चना करना भक्तिमती प्रेमबाई के पक्ष में सब प्रकार से सम्भव और सङ्गत है। ज्येष्ठ पुत्र मूलजी के घर से निकल जाने के पश्चात् कर्शनजी हृदय में बहुत ही निर्वेदयुक्त हो गये थे और हृदय के निर्वेद के निराकरण करने के अभिप्राय से ही वह पूजान्हिकादि कर्म्मानुष्ठान में अधिकतर अनुरक्त हो गये थे, साधुसङ्ग और शास्त्रालोचन में अपना अधिक समय लगाते थे। उसके पीछे अपने छोटे पुत्र वल्लभजी का मोगी बाई नामी कन्या से विवाह करके, पुत्र और पुत्रवधू के साथ संसार में कुछ सुखी होने का उन्होंने सङ्कल्प किया। परन्तु दुःख है कि विवाहित होने से दो मास पीछे ही वल्लभजी की मृत्यु हो गई। इस कारण से वह चित्त में और भी हताश और व्यथित हो गए। इस प्रकार जब संसार की ओर से उन्हें प्रबल धक्के लगने लगे, तो उनकी धर्म्म-पिपासा जो पहिले ही प्रबल थी और भी प्रबल हो गई। इस कारण से उनकी जो कुछ सम्पत्ति थी अपने जामाता मङ्गलजी को देकर और उसे अपने वंशधर और उत्तराधिकारी पद पर प्रतिष्ठित करके कर्शनजी संसार को छोड़कर भारतभूमि के प्रधान-प्रधान तीर्थों में भ्रमण करने के उद्देश्य से निकले। प्रयाग, काशी, द्वारका, जिस किसी तीर्थस्थान पर भी वह गए वहाँ की तीर्थ-क्रिया अतिशय श्रद्धा के साथ की और प्रसन्नचित्त होकर सैकड़ों रुपया दान-दक्षिणा में व्यय किया और अन्त में ब्रह्मभोज करके तीर्थवासी सैकड़ों सहस्रों ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया।

कर्शनजी तिवाड़ी द्वारा स्थापित कुबेरनाथजी महादेव का
मन्दिर (पृ० ८)

टंकारे के प्रसिद्ध मन्दिर का भीतरी दृश्य (पृष्ठ ९)

अपना शेष जीवन तीर्थाटनरूप पुण्यप्रद कार्य्य में व्यतीत किया। सब लोग यह कहते हैं कि यद्यपि कर्शनजी के चरित्र में धर्म्म-निष्ठा और धर्म्म-पिपासा की स्वाभाविक वृत्तियाँ थीं, परन्तु वे उनके जीवन के अन्तिम भाग में अधिकतर स्फुरित हो गई थीं। मूलजी की जननी के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते इसलिए उनकी प्रकृति का चित्र खींचने में हम असमर्थ हैं।

तत्कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था

जिस समय भारत के भावी सुधारक ने कर्शनजी के घर जन्म लिया उस समय के भारत का राजनैतिक आकाश यद्यपि मेघाच्छन्न न था, परन्तु निर्मल भी न था। यद्यपि उस समय मुग़लों का सूर्य्य अस्त हो गया था, अंग्रेज़ों का सौभाग्य थोड़ा-थोड़ा उदय होने लगा था और मुग़ल साम्राज्य की विषादपूर्ण समाधि-भूमि पर बृटिश की जयपताका धीरे-धीरे लीला-विस्तार करने लगी थी, तथापि देश में शान्ति स्थापित नहीं हुई थी अनेक प्रकार और आकार के पाप और अत्याचार देश में सब जगह राज्य कर रहे थे। डकैती, चोरी, नरहत्या विशेष कर ठगों के नरघातक दल के अत्याचारों से भारत के प्रजावर्ग सदा त्रास और भय का जीवन-यापन करते थे।

भारत की सामाजिक अवस्था

भारत की सामाजिक अवस्था इससे भी अधिक शोचनीय थी। समाज के शरीर का प्रायः हर एक अङ्ग रुग्ण था। समाज-मन्दिर की ईंट, पत्थर, चूना, कंकड़ी, बरंगा सब कुछ एक-एक करके अलग होकर गिर रहा था। जिस समाज का गठन आश्रमचतुष्टय और वर्णचतुष्टय की सुदृढ़ भित्ति पर हुआ था उसकी छत और प्राचीरादि धीरे २ टूट कर गिर रहे थे। इसमें संशय ही क्या है, कि जो समाज-गृह इस प्रकार विकृत और विपर्य्यस्त हो जाय उसमें विविध रोग प्रवेश करेंगे और वे नाना प्रकार की अशान्ति और अमङ्गल की आश्रयभूमि हो जायगी। इस लिये यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारत-वासियों के अन्तःकरण से प्रीती-ममता, कोमलता और उदारता आदि वृत्तियों का समूह बहुत कुछ विलुप्त हो गया था। यही कारण था कि वह गंगा यमुना के दोनों तटों को प्रकाशित करके सैकड़ों सहस्रों अबलाओं के जीते हुए शरीरों को भस्मसात् करने में परम-धर्म्म की सिद्धि समझते थे। कभी-कभी जीती हुई विधवाओं को पृथ्वी में गाड़ देने में भी उनका चित्त अक्षुण्ण रहता था। गला घोट कर, भूमि में गाड़ कर वा किसी प्रकार का विषाक्त द्रव्य पिला कर कन्यावध करने की प्रथा क्षत्रिय-समाज को कलङ्कित कर रही थी। कुलीन प्रथा ने सैकड़ों कुल-कामिनियों को विवाह सम्बन्ध से आयु भर के लिए पृथक् कर रक्खा था। नारी तत्कालीन भारत-समाज में पशुओं में ही गिनी जाती थीं। यह कहना असत्य नहीं होगा कि इस देश के सामाजिक वर्ग इस बात को बिल्कुल भूल गए थे कि सामाजिक उन्नति और जाति की श्रीवृद्धि विशेष भाव से नारियों के सम्मान, शिक्षादान और चरित-रक्षण पर निर्भर हैं। इसके अतिरिक्त नाना आवर्जनाओं, विविध कुरीतियों और बहुविध कदाचारों ने समाज के बलवीर्य, शान्ति और शुद्धता को नष्ट कर डाला था। जैसे जल सड़क पर नाना प्रकार के कृमिकीटों का आश्रयस्थल हो जाता

है, ऐसे ही भारत भी बहुत प्रकार के कृमि, कीट, क्लेद और कर्दम का आश्रयीभूत हो गया था।

भारत की धार्मिक अवस्था

जब कि यमदम का साधन वा विवेक-वैराग्य का अनुसरण न करके तिलक-लेपन वा त्रिपुण्ड्र धारण ही धर्म्म का अङ्ग माना जाता था, जब कि साधुता वा सत्यप्रियता स्थानविशेष वा नदीविशेष के नामोच्चारण ही में परिणत होगई थी, जब कि चित्त की शुद्धि और इन्द्रिय-संयम वस्त्रविशेष के पहनने वा दिनविशेष पर वस्तुविशेष के भक्षण ही पर निर्भर हो गया था, जब कि मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीगमनादि घृणित और कुत्सित कर्मों का शिववाक्य कहकर आदर होने लगा था, तब आर्य्यों का सनातन धर्म्म बिना आत्महत्या किये कैसे स्थिर रह सकता था। उस समय आर्य्यसन्तान उस आत्मघाती धर्म्म के दुर्गन्धपूरित मृतदेह को कंधे पर लेकर भ्रान्ति, कुसंस्कार और भ्रष्टाचार के भीषण श्मशान में ताण्डव नृत्य कर रही थी। उस समय न केवल भारत के धर्म्म ने ही आत्म-हत्या करली थी, बल्कि भारत के शास्त्र भी सान्निपातिक रोग से विकृत होगए थे। जो शास्त्र सर्वप्राचीन और अपौरुषेय और धर्म्म के आधार होने के कारण सर्वजनमान्य और सर्वकालगण्य थे, उन शास्त्रों में निष्ठा और आलोचना आर्य्यावर्त से लुप्त हो गई थीं। वेद का पठन-पाठन एक प्रकार से उठ ही गया था। आर्य्यसंतान वेद शून्य होकर सैकड़ों वर्षों से दिन काटती चली आती थी। शास्त्री लोगों ने वेद-वेदाङ्ग का संश्रव छोड़ कर ब्रह्मवैवर्त्त और विवर्त्त-विलास का आश्रय लेलिया था। ब्राह्मणगण वैशेषिक और वेदान्त की बात भूल कर गंगालहरी और गोपालसहस्रनाम की बार २ आवृत्ति करना ही श्रेय कर्म्म समझने लगे थे। और उपनिषदों के अत्युत्कृष्ट कानन में अमृत-फल का स्वाद न लेकर पुराण तन्त्रादि के अंधकाराच्छन्न, कीटपूर्ण और कण्टकाकीर्ण बन में प्रवेश करके कण्टकफल रूप कालकूट को भक्षण कर के हिन्दुओं ने अपनी बुद्धि, धृति और विचार-शक्ति को अवसन्न करके अपने आध्यात्मिक जीवन को भी निर्बल, रुग्ण और अकर्मण्य बना लिया था।

काठियावाड़ की अवस्था

यहाँ काठियावाड़ की अवस्था की भी कुछ आलोचना करनी योग्य है। हम पहिले कह चुके हैं कि काठियावाड़ की भूमि अधिकतर देशीय राजाओं के शासनाधीन है, परन्तु ईसा की अठारहवीं शताब्दी से वहाँ मरहटों की शक्ति का प्रभुत्व प्रतिष्ठित हो गया था। पूना के पेशवा और बड़ोदा के गायकवाड़ ने काठियावाड़ के प्रायः सब ही राजाओं पर अपना ऐसा आधिपत्य स्थापित किया था कि उनमें से हर एक को ही इन दोनों शक्तियों को कर देना पड़ता था। गायकवाड़ आज तक भी काठियावाड़ के राजाओं से कर लेते हैं और पेशवा के पराजित होने के पीछे से अंग्रेजी गवर्नमेण्ट उसके स्थानापन्न होने की स्थिति से उनसे कर लेती है। सन् १८१७ की सन्धि होने के पश्चात् से पेशवा के अधिकारों की अधिकारिणी होकर अंग्रेजी गवर्नमेण्ट ने सन् १८२० ई० से काठियावाड़ में प्रवेश करके अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

जब पेशवा वा गायकवाड़ के राजाओं से नियमित रूप से कर प्राप्त नहीं होता था, तो कभी तो वह दोनों मिलकर और कभी स्वतन्त्र रूप से काठियावाड़ में फ़ौज भेजा करते थे। यह फ़ौज काठियावाड़ के इतिहास में मुल्कगीरी फ़ौज के नाम से प्रसिद्ध है। इस फ़ौज के आने पर काठियावाड़ के रहने वालों पर जो विपत्ति आती थी, और अत्याचार होता था उसे वर्णन नहीं किया जा सकता। वही टङ्कारा जो दयानन्द की भूमि है, उनके जन्म ग्रहण करने से कुछ वर्षों पहिले तक कई बार मुल्कगीरी फ़ौज से आक्रान्त होकर अतिशय विपद्ग्रस्त हो चुका था! उनके जन्मग्रहण करने से केवल १५ वा १६ वर्ष पहिले ही मुल्कगीरी सेना-जनित घोर अशान्ति और भीषण उपद्रव से न केवल टङ्कारा की ही रक्षा हुई थी, बल्कि सारी काठियावाड़ भूमि शान्ति और निरुपद्रवता की गोद में आश्रय ले रही थी। कारण कि सन् १८०७ ई० में कर्नल वाकर के जमाबन्दी बन्दोबस्त के प्रचलित होने के पश्चात् से मुल्कगीरी फ़ौज का आना एक दम बन्द हो गया था। मुल्कगीरी फ़ौज के कारण उत्पन्न होने वाले उत्पीड़न और अपमान, अशान्ति और लुण्ठन आदि से काठियावाड़ निवासियों की रक्षा करने के उद्देश्य से ही वाकर साहब का जमाबन्दी बन्दोबस्त हुआ था। अस्तु, बहुत काल से मरहटों के प्रभुत्वाधीन रहने और उनसे सम्बन्ध रखने के कारण काठियावाड़ वालों के चरित्र में मरहटों के भाषा-भाव, रीति-नीति का प्रभाव स्थापित होना सम्भव है। और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। शिवोपासना और शैवमत के समर्थन में महाराष्ट्र लोग बहुत अग्रवर्ती हैं। इस लिये इनके संसर्ग से शैवमत का काठियावाड़ में अधिक प्रचार होगया था। उस समय काठियावाड़-वासियों में वा प्रवासी महाराष्ट्रों में विट्ठलराव देवजी एक अग्रगण्य व्यक्ति थे। विट्ठलराव महाराज गायकवाड़ के प्रतिनिधि की हैसियत से आम्रेली में रहते थे। वह स्वयं भी एक घोर शैव थे। उन्होंने काठियावाड़ में शिवोपासना का प्रचार करने के उद्देश्य से कई स्थानों में शिव-मन्दिर भी बनवाये थे*।

इसके अतिरिक्त एक और बात भी थी। मूलजी के जन्म ग्रहण करने के समय टंकारा ताल्लुका बड़ौदा के प्रसिद्ध सेठ गोपाल मेड़ेल नारायण के अधीन था। धर्म्मनिष्ठा और शिवपरायणता के लिए मेड़ेल की बड़ौदा अञ्चल में बहुत प्रसिद्धि है। अस्तु, प्रायः तीस वर्ष तक टङ्कारा के अविच्छिन्न रूप से मेड़ेल नारायण के अधीन रहने से†

---

* विट्ठलराव देवजी ने आम्रेली में नागनाथ महादेव का मन्दिर बनाकर उसके व्यय के लिये दो ग्राम दान कर दिये थे। इसके भिन्न उन्होंने जूनागढ़ के निकट त्रिनेत्रेश्वर का, पुरबन्दर में विश्वेश्वर और बांकानेर राज्य में सुप्रसिद्ध जड़ेश्वर प्रभृति मन्दिर बनवाकर अपनी शिवभक्ति की पराकाष्ठा दिखाई थी।

† गायकवाड़ सरकार की प्राप्तव्य खण्डनि वा कर न दे सकने पर मोरवी के राजा स्वर्गीय जियाजी वाघजी ने उल्लिखित साहूकार से रुपया ऋण लेकर टङ्कारा को उनके पास बन्धक रख दिया था। इस हेतु से टङ्कारा ताल्लुका उक्त साहूकार गोपाल मेड़ेल नारायण के अधीन सन् १८४१ ई० से पूर्व प्रायः २१ वर्ष तक रहा था। इस अवधि के भीतर टङ्कारा के राजस्व लेने का कार्य अपने हाथ में रखकर अपना ऋण का रुपया वसूल कर लिया था। इस विषय का विस्तृत वर्णन हमारी लिखी हुई 'दयानन्द-जन्मस्थानादि-निर्णय' नामक पुस्तिका में देखना चाहिये।

टङ्कारा में और उसके चारों ओर शैव मत का प्राधान्य स्थापित हो गया था। विशेष कर इस समय टङ्कारा के जमेदार कर्शनजी त्रिवाड़ी के चरित्र में शिवभक्ति और शिवनिष्ठा की मात्रा स्फुटतर और उज्ज्वलतर हो गई थी, यह भी सहज ही में अनुमान हो सकता है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि स्वामीजी ने स्वलिखित आत्मचरित में शिवभक्ति के प्राबल्य के परिचायक जो दृष्टान्त दिये हैं, कि टङ्कारा में स्थान-स्थान पर शिवपुराण का पाठ वा शिवमाहात्म्य का कीर्त्तन हुआ करता था, उनके भी मूल में मेड़ेल आदि के संसर्ग का प्रभाव ही कार्य्य करता था*।

उस समय टङ्कारा के आस-पास वा सारे काठियावाड़ में केवल शैवमत का ही प्राधान्य नहीं था। वल्लभाचार्य्य के चलाये हुए वैष्णव मत का, और स्वामी नारायण के सम्प्रदाय का भी प्रभाव कुछ बहुत कम नहीं था। काठियावाड़ के बनिया, लोहाना, भाटिया प्रभृति श्रेणियों के लोग प्रायः सब ही वल्लभ-सम्प्रदाय में सम्मिलित हैं और कुन्बी और अन्य नीची श्रेणियों के लोग अधिकतर स्वामी नारायण के सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं और काठियावाड़ के प्रायः सब ही ब्राह्मण, क्या नागर, क्या उदीच्य और क्या श्रीमाली, शिवोपासक और शैवमत के परिपोषक हैं। इस कारण अन्य क्षुद्र मतों के रहते हुए भी यही समझना चाहिए कि काठियावाड़ के सभी लोगों के मानस-क्षेत्र पर या वल्लभ सम्प्रदाय या शैवमत अथवा स्वामी नारायण के मत का विशेष प्रभाव पड़ता चला आता है। अतः धर्म्म-सम्बन्धी शुद्ध सार और सत्यभाव के बदले दुःसंस्कार, अन्ध-विश्वास और भ्रान्ति से ही काठियावाड़-वासियों की चित्तभूमि समाच्छन्न है। पहले ही कहा जा चुका है कि काठियावाड़ का बहुत थोड़ा भाग अंग्रेजों के शासनाधीन है। इसलिए अंग्रेजी शिक्षा, भाव और सभ्यता प्रणाली का प्रभाव काठियावाड़-वासियों के मन के ऊपर बहुत ही कम कार्य्य कर सका है। अंग्रेजी शिक्षा और भाव में चाहे सहस्र दोष हों, परन्तु यह मानना पड़ता है कि वह स्वाधीन चिन्ता और विचारशीलता के उन्मेषक हैं। जो भाग देशीय राजाओं के शासन में है, उसमें केवल स्वाधीन-चिन्तन और विचारशीलता का ही अभाव देखने में नहीं आता, वरन् कर्त्तव्य-निष्ठा और मानसिक बल का अभाव भी देखनेमें आता है।

इन सब कारणों से काठियावाड़ के लोगों की मनोभूमि पर धर्म्म-सम्बन्धी कुसंस्कारों अन्ध विश्वास आदि ने दीर्घकाल से अपने प्रभाव का जैसा अधिक विस्तार किया है वैसा भारत के किसी अन्य भाग में वा अन्यत्र देखने में नहीं आता। स्वाधीन-चिन्तन और विचारशीलता के अत्यन्त अभाव के कारण काठियायावाड़ के निवासियों को साधारण बात चीत तक में 'भोला' कहा जाता है। इस कारण बहुत से लोग यह विश्वास

* कर्शनजी त्रिवाड़ी गोपाल मेड़ेल नारायण भाव के समय में टङ्कारा के जमेदार तो थे ही, परन्तु उसके अतिरिक्त उनका और मेड़ेल का घर एक ही महल्ले अर्थात् जीवापुर में था और मेड़ेल के अधीन जो अन्य महाराष्ट्री कर्म्मचारी थे उनके पास रहने के कारण दक्षिणी वा मरहटों का प्रभाव कर्शनजी के चरित्र पर खूब पड़ा था। कोई कोई कहते हैं कि स्वामीजी के पिता ठीक दक्षिणियों जैसी पगड़ी धारण करते थे। इसमें कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि संसर्ग का प्रभाव बहुत होता है।

करना नहीं चाहते कि दयानन्द काठियावाड़ के रहने वाले थे । इस विषय में हम एक दृष्टान्त दिये बिना नहीं रह सकते ।

बांकानेर नगर में बांकानेर के राजकवि सुन्दरजी नाथूराम के साथ भेंट होने पर उन्होंने कहा था कि क्या आप यह मानते हैं कि दयानन्द काठियावाड़ के रहने वाले थे ? हमने कहा कि निश्चय वह काठियावाड़ के ही रहने वाले थे । इस पर सुन्दरजी बोले कि काठियावाड़ में कभी ऐसे पुरुषसिंह का जन्म नहीं हो सकता । फिर वह बोले कि एक दिन मैं सन्ध्या समय चोटिला की धर्म्मशाला में जाकर ठहरा । चोटिला राजकोट से १३–१४ मील दूर है और बत्तोयान को जाते हुए मार्ग में पड़ता है । धर्म्मशाला में पहुंच कर मैंने देखा कि वहां स्वामी दयानन्द उपस्थित हैं । यद्यपि मैंने स्वामीजी को राजकोट में देखा था, परन्तु वहाँ उनसे वार्त्तालाप करने की सुविधा नहीं मिली थी । धर्म्मशाला में जब रात्रि में उनके पास से चोटिला के थानेदार आदि बात चीत करके चले गये तब मैं उनको अकेला पाकर उनके समीप गया और कुछ देर तक उनसे बातचीत की । अगले दिन प्रातःकाल उठकर मैंने देखा कि स्वामीजी के नौकर चाकर प्रस्थान का प्रबन्ध कर रहे हैं । गाड़ी वाला एक मुसलमान मेमन था । उसके साथ स्वामीजी के नौकरों का सम्भवतः भाड़े के ऊपर कुछ वादविवाद हो रहा था । धीरे-धीरे यह वादविवाद बढ़ता गया और मेमन उन्हें मारने को उद्यत हुआ । नौकरों ने सारा वृत्तान्त स्वामीजी से जाकर कहा । तब स्वामीजी बाहर आये और गाडी वाले मेमन की ओर देख कर बोले "तुम यह मत समझो कि हम केवल साधु वा फ़क़ीर हैं । यह मत समझना कि तुम हमारा यथोचित सम्मान न करके हमारे काम की अवहेलना कर सकोगे और जो कुछ तुम्हारा हमसे ठहरा है उससे फिर सकोगे । यदि ऐसा करोगे तो हम एक ही थप्पड़ में तुम्हारे बत्तीसों दाँत तोड़ डालेंगे ।" यह बात सुनते ही मेमन एक दम चुप और एक मुग्ध व्यक्ति की न्याईं उनके सारे सामान को गाड़ी पर लाद और उन्हें बिठाकर थोड़ी ही देर में बत्तोयान की ओर चल दिया । उपर्युक्त शब्दों के बोलते समय स्वामीजी के मुख के भाव और उनके बोलने के ढंग से उनकी असाधारण तेजस्विता का परिचय मिलता था । उससे हमारे मन में यह बात आई थी कि ऐसा मनुष्य कभी-भी काठियावाड़ का रहने वाला नहीं हो सकता । यह घटना सन् १८७५ ई० के जनवरी मास की है, जब स्वामीजी राजकोट से अहमदाबाद वापस आ रहे थे । अस्तु, सुन्दरजी का यह अनुमान सर्वांश में निर्मूल नहीं था, क्योंकि काठियावाड़ के लोग साधारणतः इतने भीरु स्वभाव के होते हैं कि यही अनुमान होता है कि स्वामीजी-जैसे तेजस्वी पुरुष को उत्पन्न करने की काठियावाड़ की भूमि में सामर्थ्य नहीं है । परन्तु विधाता ने ऐसा ही रचा था कि स्वामीजी काठियावाड़ ही की भूमि में उत्पन्न हों ।

मनुष्य-जाति का इतिहास विश्व-विधाता की इस असम्भव को सम्भव बनाने वाली शक्ति के भूरि-भूरि परिचय से परिपूर्ण है । रोम, यरोशलम, अन्टियाक, अलक्ज़ण्डरिया, के होते हुए ईसा ने उस शहर में क्यों जन्म लिया जो फलस्तीन में सर्वापेक्षा अगम्य था ? जो मनुष्य एक साधारण कोयले की खान में मज़दूरी करने वाले की सन्तान था, जो मनुष्य अध्ययन काल में धनाभाव के कारण गली-गली गा-गा कर पैसा-पैसा संग्रह करता था, वह जर्मनी में इतने धनी-मानी लार्ड और काउन्टों की सन्तान के विद्यमान होते हुए

अपरिमेय प्रतापशाली पोपों के नाश के लिये अग्रसर क्यों हुआ ? और फिर उसी मनुष्य के हुङ्कार मात्र से सारी योरुप भूमि क्यों काँप उठी ? बात यह है कि मनुष्य के लिये जो असाध्य है विधाता के लिये वह सहज और सुसाध्य है। मनुष्य को दृष्टि में जो घृणित है, ईश्वर की दृष्टि में वह आदृत है। जिस भूमि को मनुष्य नाना-विध असार लतागुल्म-युक्त और कण्टक-तरुओं का आश्रय-स्थल समझकर त्याग देता है, विधाता उसी भूमि में परिजात पुष्पों को खिलाकर मनुष्य की बुद्धि को धिक्कृत और उसकी विचारशक्ति को तिरस्कृत कर देता है। अतः इसमें आश्चर्य्य की क्या बात है यदि विधाता ने भीरुता, वा निर्वीर्य्यता की आश्रयभूमि काठियावाड़ में दयानन्द के समान तेजस्वी, वीर्य्यशाली और भय से सर्वथा शून्य व्यक्ति को जन्म दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि धर्म्म का प्रभाव ही सर्वोपरि है। धर्म्म ही मनुष्य की जीवन–यात्रा का प्रधान परिचालक है। यह सब प्रकार से माननीय है कि मनुष्य के जितने भी छोटे-बड़े सामाजिक वा पारिवारिक कार्य्य हैं उनके सम्पादन में धर्म्म ही श्रेष्ठ नियन्ता और परामर्शदाता है। इसलिए जिस प्रदेश में धर्म्म नाना आवर्जनाओं से मिश्रित हो, बहुत अंशों में कलुषित हो, उस प्रदेश की समाज वा आश्रयनीति अमार्जित वा कलुषित होगी ही, इसे समझना कुछ कठिन नहीं है। अतः इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि काठियावाड़ निवासियों की सामाजिक अवस्था भी अनेक अंशों में निन्दित और मलिन हो गई थी। एक कन्यावधरूप दुरपनेय कलङ्क ने ही काठियावाड़वालों के सारे सद्गुणों को (यदि उनमें कुछ थे भी) आच्छादित कर रक्खा था। यह निष्ठुर और अमानुषिक प्रथा जाड़ेजा लोगों अर्थात् यदुवंशी क्षत्रियों में इतनी अधिक फैली हुई थी कि उतनी भारत के अन्य विभागों के क्षत्रियों में नहीं थी।* वल्लभाचार्य्य सम्प्रदाय के गुरुओं की रीति-नीति इतनी कलुषित थी और धर्म्म के नाम पर उसका इतने असङ्कोच के साथ अनुष्ठान होता था कि समय-समय पर उसके कारण न केवल काठियावाड़ में ही बल्कि सारी गुजरात भूमि में भी व्यभिचार का स्रोत प्रबल मूर्त्ति धारण कर लेता था। इसके ऊपर स्वामी नारायण मत के महन्तों की दुर्निवार्य्य धन-पिपासा और धन संग्रहार्थ नाना कौशल-युक्त चेष्टाएँ काठियावाड़ निवासियों की विचार-हीनता का प्रचुर साक्ष्य प्रदान करती हैं†। हम समझते हैं कि इस विषय में हमें और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है कि विशेषतः जो प्रदेश अन्यों की अपेक्षा विचार-शून्यता, मानसिक दुर्बलता और कर्त्तव्य-शिथिलता में अग्रवर्त्ती हों, उस प्रदेश में देशाचार का मान्य करके चलना ही सामाजिक उन्नति की पराकाष्ठा समझी जायगी। फलतः जिस समय काठियावाड़वालों के चरित्र, धर्म्म और समाज ऐसी दशा में अवस्थित थे, उस समय भारत के आदर्श सुधारक ने काठियावाड़ के शाक प्रान्त में जन्म ग्रहण किया। टङ्कारा के कर्शनजी त्रिवाड़ी के घर में एक शिशु मूलजी नामक उत्पन्न हुआ।

* इस विषय पर कर्नल वाकर लिखित काठियावाड़ रिपोर्ट और विलसन साहब प्रणीत History of Infanticide in Western India देखने योग्य हैं।

† ऐसी जनश्रुति है कि अहमदाबाद में जो स्वामी नारायण मतवालों का मन्दिर है उसमें डेढ़ करोड़ रुपया विद्यमान है।

द्वितीय अध्याय

संवत् १८८२—१९०३; सन् १८२५—१८४६

पाँच वर्ष की आयु में मूलजी का विद्यारम्भ हुआ। इस विषय में उन्हों ने स्वयं लिखा है कि "जब मेरी आयु पाँच वर्ष के लगभग थी तब मैंने देवनागरी अक्षर सीखने आरम्भ किये।" जिस वंश में मूलजी ने जन्म लिया था वह विद्यानुराग और धर्म्मानुराग दोनों के लिए ही प्रसिद्ध था। संस्कृतविद्या की चर्चा और अनुशीलन के विषय में त्रिवाड़ी वंश के लोगों की एक कुलपरम्परागत रीति थी। वर्णशिक्षा आरम्भ करने के पीछे उसी कुल परम्परागत रीति के अनुसार मूलजी विद्याभ्यास करने लगे। इस सम्बन्ध में वह स्वलिखित आत्म-चरित में लिखते हैं, "उसी समय से माता-पिता और अन्य वयोवृद्ध अभिभावकवर्ग कुल की प्रथा के अनुसार मुझे शिक्षा देने लगे। उसके अनुसार मैं बहुत से श्लोक और मंत्रों को कण्ठस्थ करने लगा"।

बाल्य-शिक्षा

विद्यारम्भ के तीन वर्ष पीछे अर्थात् ८ वर्ष की आयु में मूलजी का उपनयन संस्कार हुआ। उपनयन होने के पश्चात् विद्याभ्यास के कार्य्य में उन के लिये अधिक समय लगाना सम्भव नहीं हुआ। क्योंकि उन्हें सन्ध्योपासनादि के कार्य्य में भी नियमानुकूल प्रवृत्त होना पड़ा। इसके अतिरिक्त कर्शनजी अपने पुत्र को अपने समान धर्म्मनिष्ठ और शिवभक्त बनाने के लिये उद्योग करने लगे। इस कारण से उपनयन के दो वर्ष पीछे से ही अर्थात् दस वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने बालक मूलजी को पार्थिव पूजा का आदेश और उपदेश देदिया। इसके अतिरिक्त जब कभी कहीं किसी शिव-प्रसङ्ग की आलोचना वा शिव-माहात्म्य का कीर्त्तन होता तो मूलजी को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी पिता के साथ वहाँ जाना पड़ता। बीच-बीच में शिवोपासना के सम्बन्ध में उपवास और व्रत और अन्यान्य कठोरता का अवलम्बन करके चलना दस वर्ष के बालक मूलजी को कठोर प्रकृति पिता के आदेशानुसार आवश्यक हो गया और उन्हें सब काम नियमपूर्वक सम्पादन करने पड़े। इस से यह सहज में ही समझ में आसकता है कि उनके पाठ में विघ्न उपस्थित होते रहते थे। परन्तु

इन विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी मूलजी अपनी स्वभावसिद्ध सुतीक्ष्ण बुद्धि और समुज्ज्वल धारणा-शक्ति के साहाय्य से विद्योपार्जन के मार्ग में क्षिप्रगति से अग्रसर होने लगे। इस विषय में उन्होंने स्वलिखित आत्मचरित में लिखा है कि "चौदहवें वर्ष में पदार्पण करने के पहले ही व्याकरण और शब्दरूपावली का अभ्यास करके और समस्त यजुर्वेद और अन्य वेदों के भी थोड़े-थोड़े भाग को कण्ठस्थ करके मेरा अध्ययन कार्य एक प्रकार से समाप्त हो गया"। यजुर्वेद कण्ठस्थ करने से पहले उन्हें रुद्राध्याय को भी कण्ठस्थ करना पड़ा था और यह उन्हें सम्भवतः पिता के आदेशानुसार ही करना पड़ा था क्योंकि रुद्र शब्द यद्यपि अपने स्वतन्त्र अर्थ का भी बोधक है, परन्तु वर्त्तमान पौराणिक युग में रुद्र कहने से शिव का ही अर्थ समझा जाता है। परम शिवभक्त कर्शनजी के लिए यजुर्वेद पढ़ाने के पहले ही रुद्राध्याय का पढ़ाना स्वाभाविक और सम्भवपर था। यद्यपि चौदह वर्ष पूरे होने से पहले ही एक प्रकार से मूलजी का अध्ययन-कार्य समाप्त होगया था, तथापि हम यह नहीं मानते कि वह उसके पश्चात् एक दम विद्या-चर्चा से अलग हो गए थे, क्योंकि शिवरात्रि के व्रत-भङ्ग करने के कारण जब पिता ने उनका तिरस्कार किया और उनके चचा, जननी और अन्यान्य स्वजनगणों ने एक मत होकर उन्हें अधिक समय पढ़ने में ही लगाने का आदेश किया, तो उस समय की अपनी विद्यालोचना के विषय में वह लिखते हैं "मैंने अपना पाठ्य विषय कुछ विस्तृत कर दिया। निरुक्त, निघण्टु, पूर्वमीमांसा और कर्मकाण्डादि के ग्रन्थों को भी मैंने अपनी आलोचना का विषय बना लिया"। इससे विदित होता है कि उन्होंने जहाँ यह लिखा है कि चौदहवें वर्ष में पदार्पण करने के पूर्व ही मेरा अध्ययन-कार्य एक प्रकार से समाप्त होगया था, तो वहां लौकिक रीति के अनुसार ही विद्याध्ययन समाप्त होना समझ कर लिखा है और किसी विचार से नहीं लिखा है। कर्शनजी त्रिवाड़ी के वंश के लोग शिक्षित होने की इच्छा करने तथा गण्य-मान्य होने के इच्छुक होने पर साधारणतः जिन ग्रन्थों का अवलोकन किया करते थे, उन सब ग्रन्थों के अवलोकन कर लेने पर मूलजी ने अपना अध्ययन-कार्य्य एक प्रकार से समाप्त कर डाला था। इससे एक बात और भी सिद्ध होती है। पाँच वर्ष की आयु में वर्णशिक्षा आरम्भ करके चौदहवें वर्ष के पूरे होने से पहले ही उन्होंने कौलिक प्रथा-निर्दिष्ट ग्रन्थों का पाठ समाप्त कर लिया था। अतः केवल नौ वर्ष में ही उन्होंने कुल की प्रथा के अनुसार सब पाठ्य विषय समाप्त कर लिये थे।

इसके पश्चात् काशी में जाकर विद्याध्ययन करने की इच्छा मूलजी के मन में प्रकट हुई। परन्तु ऐसा नहीं है कि यह इच्छा उनके मन में आप ही आप उठी हो। जब माता-पिता उन्हें विवाह के बन्धन में बांधने के लिये शीघ्रता करने लगे और विवाह के प्रारम्भिक कार्य्य वाग्दान की भी वह तैयारियाँ करने लगे, तो उन्होंने विशेष रूप से पिता को समझा-कर वाग्दान को कुछ दिन के लिए स्थगित करा दिया और पिता से सातिशय अनुरोध करने लगे कि ऐसे सुयोग में मैं काशी जाकर व्याकरण और ज्योतिषादि दुरूह शास्त्रों को अच्छे प्रकार आयत्त कर सकूँगा। इस अनुरोध को स्वीकार करने पर पिता तो सहमत होगये, परन्तु माता ने किसी प्रकार सम्मति प्रदान न की। इसलिए काशी जाकर अध्ययन करने की इच्छा का मूलजी को त्याग करना पड़ा। परन्तु विद्यानुशीलन के विषय में मूलजी

एक दम निरस्त नहीं हुए। काशी जाने के सम्बन्ध में मनोरथ निष्फल होने के पश्चात् उन्होंने पिता से एक और प्रस्ताव किया। वह प्रस्ताव यह था कि "यहाँ से तीन कोस दूर हमारी ज़मीदारी के अन्तर्गत ग्राम में एक सुपण्डित अध्यापक रहते हैं। यदि आप मुझे उनके पास जाकर पढ़ने की आज्ञा दें, तो स्वदेश में रहकर भी मैं अपना अध्ययन-कार्य्य समाप्त कर सकता हूँ"। इस प्रस्ताव का मूलजी के माता-पिता दोनों ने ही अनुमोदन किया और वह उस ग्राम में जाकर उस पण्डित के पास पढ़ने लगे। परन्तु घटनावश, कुछ दिन पीछे ही, उन्हें अपना अध्ययन-कार्य्य छोड़ कर घर वापस आना पड़ा और एक प्रकार से मूलजी के विद्याभ्यास की समाप्ति हो गई।

पिता के घर वापस आकर मूलजी विद्याभ्यास के कार्य्य को बहुत दिन न कर सकें। और पिता के पास रहकर अधिक समय तक सांसारिक सुख भोग करना भी मूलजी के अदृष्ट में नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में दो विशेष घटनाएँ मूलजी के बाल्यकाल में हुई। उन घटनाओं से केवल उनके पठन-कार्य्य में और सांसारिक सुख-भोग में ही विघ्न नहीं पड़ा, बल्कि उन घटनाओं ने मूलजी के जीवन को ऐसे मार्ग की ओर फेर दिया जो संसार के साधारण लोगों के चलने योग्य नहीं है और न अवलम्बन करने योग्य है। पृथ्वी में जो असाधारण होने के लिए ही जन्म लेते हैं वह प्रायः जीवन के प्रथम स्तर से ही असाधारण मार्ग पर चलना आरम्भ करते हैं। इन दो घटनाओं में से एक तो मूलजी की बाल्यावस्था में ही हुई थी और दूसरी बाल्यावस्था की समाप्ति पर हुई थी।

मूर्त्ति-पूजा में अविश्वास

जब मूलजी की अवस्था तेरह वर्ष की थी तो उनके पिता ने उन्हें शिवरात्रि का व्रत ग्रहण करने का आदेश किया। यह सब ही जानते हैं कि इस व्रतग्रहण में क्लेश और कठोरता सहन करना ही होता है, इसलिये उसमें मूलजी की माता ने आपत्ति की और अभिभावक और बन्धुवर्ग ने भी उसका विरोध किया। परन्तु कर्शनजी ऐसे मनुष्य न थे जो इस आपत्ति और विरोध की ओर दृक्पात करते। विशेषकर उन्होंने सोचा कि जब पुत्र का उपनयन हो गया है तो उसे अधिक समय तक धर्मपालन और धर्मानुष्ठान विरत रखना ठीक नहीं है। अतः उस शिवरात्रि को ही अच्छा अवसर समझ कर मूलजी को बुला कर कहा कि तुम आज उपवास रखना, शिवालय में जाकर रात्रि में जागरण करना, क्योंकि आज तुम्हें पवित्र शैव-धर्म्म की दीक्षा लेनी होगी। इसके अनुसार मूलजी ने उपवास रक्खा और सायङ्काल के अन्यान्य साथियों के साथ पिता के पीछे-पीछे शिवालय की यात्रा की और शहर के बाहर जो बड़ा शिवालय था वहां जाकर पहुँचे। शिवरात्रि को चार पहर में चार बार शिवजी की पूजा करनी होती है। जिस समय मूलजी की दूसरे पहर की पूजा समाप्त हो चुकी तब उन्होंने देखा कि मन्दिर के पुजारी और मन्दिर में आये हुए गृहस्थ व्रतधारी सब ही मन्दिर के बाहर जाकर सो रहे हैं, यहाँ तक कि उनके पिता भी निद्रा के वशीभूत हो गये। परन्तु मूलजी न सो सके, क्योंकि उन्होंने सुन रक्खा था कि व्रतधारी के लिये शिवरात्रि में सोना बहुत ही निन्दनीय है और निद्रा के कारण व्रत का भङ्ग करना महापाप है। इसलिये बीच-बीच में प्रबल निद्रा के वेग से अवसन्न होने पर भी मूलजी बार बार आँखों पर जल छिड़क-छिड़क कर जागते ही रहे। मन्दिर के पुजारी और मन्दिर में आये

हुए व्रतधारी-गण-प्रायः सब ही निद्रा के वशीभूत हो गये, परन्तु एक तेरह वर्ष का अकेला बालक जागता रहा। पिता ने निद्रा की गोद में आत्म-विसर्जन कर दिया, परन्तु पुत्र निद्रा पर जयलाभ करके बैठा हुआ जागता रहा। जड़ेश्वर* के विशाल मन्दिर के भीतर जब

---

*कोई-कोई आक्षेप करते हैं कि जब टङ्कारा में कर्शनजी त्रिवाड़ी का बनाया हुआ अपना कुबेरनाथजी का मन्दिर था तो वह पुत्र को शिवरात्रि के व्रत के पालन करने के लिये जड़ेश्वर के मन्दिर में लेकर क्यों गये होंगे ? कर्शनजी के लिये यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह बालक मूलजी को शिवरात्रि की अन्धेरी रात्रि में जड़ेश्वर के मन्दिर में जो टङ्कारा से चार मील दूर है, लेगये हों ? यह बात सब जगह देखने में आती है कि अपना शिवालय रहने पर भी शिवरात्रि प्रभृति विशेष घटनाओं के अवसर पर लोग उसी मन्दिर में जाते हैं जो प्रसिद्ध और माहात्म्य में विशिष्ट समझा जाता है। हमने कर्शनजी की प्रदौहित्री वा पूर्वोक्त पोपट रावल की फूआ श्रीमती बेनीबाई से पूछा कि कर्शनजी के दौहित्र के वंश वाले शिवरात्रि की रात्रि को किस शिवालय में जाते हैं, तो उन्होंने कहा था—"हमारे पिता और भाई शिवरात्रि को कभी कुबेरनाथजी के मन्दिर में और कभी जड़ेश्वर के मन्दिर में जाया करते थे"। इसे छोड़ कर स्वयं स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"हमारे शहर के बाहर जो बड़ा शिवालय था उसमें शिवरात्रि को बहुत लोगों का समागम होता था, मैं भी एक बार शिव-चतुर्दशी को व्रतधारी होकर सायंकाल पिता के साथ उसी मन्दिर में गया था। रात्रि के दो पहर बीतने पर मैंने देखा कि मन्दिर के पुजारी और सेवक और मन्दिर में आये हुए व्रतधारी गृहस्थ मन्दिर से बाहर जाकर सोने लगे"। इन दोनों बातों से यह सिद्ध होता है कि दयानन्द जिस मन्दिर में व्रत के उद्यापन के लिये गये थे वह मन्दिर उनके शहर के बाहर था, बड़ा था और उस मन्दिर के निकट कोई बरामदा आदि आश्रय का स्थान नहीं था। अतः मन्दिर के पुजारी और मन्दिर में आये हुए व्रतधारियों के सोने के लिये स्थान कहाँ से आया ? कुबेरनाथजी का मन्दिर इन लक्षणों से युक्त नहीं है क्योंकि वह शहर से बाहर नहीं है बल्कि भीतर है। उसके पार्श्व में वा उसके निकट कोई ऐसा आश्रय-स्थान नहीं है जिसमें दो से अधिक मनुष्यों के सोने की जगह हो। उस मन्दिर का आयतन इस प्रकार है कि मन्दिर के बाहर के बरामदे की लम्बाई चार हाथ और चौड़ाई ३॥ हाथ, मन्दिर के भीतरले भाग की लम्बाई ३। हाथ, चौड़ाई ३ हाथ, ऊँचाई ४ हाथ और कलशसहित ऊँचाई पाँच हाथ से अधिक नहीं है।

मौरवी नगर के बाहर भी एक जड़ेश्वर महादेव का मन्दिर है। इसलिये किसी-किसी व्यक्ति की अर्थात् उर्दू दयानन्द-चरित के लेखक पंडित लेखराम और उनके अनुयाइयों की यह धारणा है कि दयानन्द का जन्म स्थान मोरवी था और वह शिवरात्रि के व्रत के पालन के लिये मोरवी नगर के जड़ेश्वर के मन्दिर में ही गये थे। परन्तु यह बात, कि टङ्कारा को छोड़कर और कोई स्थान दयानन्द का जन्म-स्थान नहीं होसकता, 'दयानन्द जन्मस्थानादि निर्णय' नामक पुस्तक में सम्पूर्ण रूप से सिद्ध करदी गई है, इसके अतिरिक्त मोरवी के बाहर जो जड़ेश्वर का मन्दिर है वह किसी प्रकार भी बड़ा नहीं है और उसकी महिमा भी इतनी नहीं है कि वह बहुत से लोगों का चित्ताकर्षण कर सके। विशेष कर शिवरात्रि को बहुत से लोगों के इकट्ठे होने का स्थान होसके। इसके विरुद्ध टङ्कारा के बाहर-बांकानेर राज्य की सीमा के ऊपर जड़ेश्वर का जो

मूलजी अकेले बैठे हुए जागरण कर रहे थे, मन्दिर की निस्तब्धता ने मन्दिर के चारों ओर की निस्तब्धता से मिलकर एक नयी निस्तब्धता की सृष्टि करदी थी और शिव चतुर्दशी के घोर तिमिरावरण में वह महानिस्तब्धता आवरित रहकर जिस समय मनुष्य के मन में आतङ्क का उद्दीपन कर रही थी, ऐसे समय में संशय के एक प्रबल झटके ने मूलजी के मन में प्रवेश करके उसे आलोडित करडाला। इस विषय को उन्होंने स्वयं इस प्रकार वर्णन किया है, "जब मैं मन्दिर में इस प्रकार अकेला जाग रहा था तो एक घटना उपस्थित हुई। कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी के ऊपर दौड़ने लगे। और बीच बीच में महादेव पर जो चावल चढ़ाये गये थे उन्हें भक्षण करने लगे। मैं जागृत रहकर चूहों के इस कार्य को देखने लगा। देखते देखते मेरे मन में आया कि यह क्या है? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्त्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पाशुपतास्त्र की कथा और जिस महादेव के विशाल वृषारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृत्तान्त में सुनी थी, क्या वह महादेव वास्तव में यही है? इस प्रकार मैं चिन्ता से विचलित-चित्त हो उठा। मैंने सोचा कि यदि यथार्थ में यह वही प्रबल प्रतापी, दुर्दान्त-दैत्य-दलनकारी महादेव है तो यह अपने शरीर पर से इन थोड़े से चूहों को क्यों विताड़ित नहीं कर सकता? इस प्रकार बहुत देर तक चिन्तास्रोत में पड़कर मेरा मस्तिष्क घूमने लगा। मैं आप ही अपने से पूछने

मन्दिर है, वह विशाल तो है ही, परन्तु इसके सिवाय उसकी प्रतिष्ठा और महिमा सारे काठियावाड़ में इतनी प्रसिद्ध है कि शिवरात्रि में सैकड़ों लोग वहाँ आते हैं। दूरवर्ती स्थानों तक से मनुष्यों के दल के दल वहां आते हैं। जड़ेश्वर मन्दिर के व्यय के लिये जामनगर से प्रति मास ५०), धरांगधरा से २५), सांगली से १०) रु० मिलता है। बांकानेर प्रति वर्ष ३७५ मन बाजरा, ६ मन घृत, ६ मन तेल, और १६ मन शक्कर देता है। बांकानेर के कृषक प्रति ३० एकड़ भूमि के पीछे ४ सेर बाजरा प्रति वर्ष देते हैं।

कुछ लोग यह कहते हैं कि यह सम्भव नहीं मालूम होता कि व्रतपालन और रात्रि-जागरण के लिये दयानन्द जड़ेश्वर के इस मन्दिर में गये हों, क्योंकि उस समय यह स्थान जंगल से पूर्ण था और रात्रि के समय वहां चीते, बाघ प्रभृति हिंस्र जन्तु आकर उपद्रव किया करते थे। हमारे विश्वास में यह बात ठीक नहीं जचती, क्योंकि जहां बहुत से मनुष्य इकट्ठे होकर रहते हों वहां हिंस्र जन्तुओं का भय होते हुए भी हिंस्रजन्तु वास्तव में कुछ कर नहीं सकते। इसके अतिरिक्त जिस समय की बात हम लिख रहे हैं उस समय इस स्थान का जंगल काटकर साफ़ कर दिया गया था। दयानन्द सम्भवतः संवत् १८९३ वा १८९४ का शिवरात्रि का व्रत पालन करने के लिये जड़ेश्वर के इस मन्दिर में गये थे। क्योंकि उस समय उनकी आयु केवल १३ वर्ष की थी। उस से पहिले जड़ेश्वर का स्थान जंगल से पूर्ण रहा हो, परन्तु उस समय नहीं था। जड़ेश्वर का मन्दिर पूर्वोक्त विठलराव देवाजी ने संवत् १८६९ में बनवाया था और मन्दिर पर जो शिलालेख है, उस से विदित होता है कि मन्दिर के पश्चिम भाग की सोपानमाला संवत् १८७३ को माघ शुक्ला पञ्चमी के दिन प्रागुक्त सेठ सुन्दरजी शिउजी ने बनवाई थी। इससे अनुमान होता है कि संवत् १८६९ से पहिले ही जड़ेश्वर की भूमि जंगलशून्य करदी गई थी। वक्ष्यमाण समय में वहां हिंस्र जन्तुओं के आधिक्य की सम्भावना नहीं थी।

लगा कि जो चलते-फिरते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं, हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं, डमरू बजाते हैं और मनुष्य को शाप दे सकते हैं क्या यह वही वृषारूढ़ देवता हैं जो मेरे सामने उपस्थित हैं ※ ? यह प्रश्न वास्तव में सरल और स्वाभाविक है, परन्तु उसका उठाना तेरह वर्ष के बालक के लिए सम्भव मालूम नहीं होता। परन्तु जो भावी जीवन में महापुरुषों की पूज्य और उन्नत पदवी पर आरूढ़ होकर मनुष्यजाति की चिन्ता, सङ्कल्प और लक्ष्य को परिचालित करते हैं उनका बाल्य-जीवन भी निःसन्देह किसी न किसी अंश में महापुरुषत्व का परिचायक होता है। जर्मनी के प्रोज्ज्वलगौरव गेटि जब छः वर्ष के बालक थे तो उन्होंने लिस्बन के भीषण भूकम्प का समाचार सुनकर कहा था "तो ईश्वर फिर दयालु कैसे है ?"

अस्तु, इस भारी संशय के झटके को शान्त करने के सङ्कल्प से मूलजी ने अपने सोते हुए पिता को जगाया और उनसे प्रश्न किया—"जो महादेव प्रबल पराक्रमी प्रसिद्ध हैं वह थोड़े से चूहों को भी भगाने में समर्थ क्यों न हुए"? शिव-चतुर्दशी की रात्रि में, शिवमन्दिर में, शिवमूर्त्ति के सामने, परम शिवभक्त कर्शनजी त्रिवाड़ी को शिव-व्रतधारी पुत्र के मुख से यह कैसी बात सुनने में आई ! कर्शनजी के मस्तक पर मानों वज्रपात होगया। उन्हों ने सोचा कि कैसा सर्वनाश है ! उन्हों ने किंकर्त्तव्यविमूढ़ मनुष्य के समान पुत्र को एक उत्तर तो दिया, परन्तु मूलजी का संशयान्दोलित चित्त उससे शान्त नहीं हुआ। कर्शनजी ने कहा "निर्बुद्धि बालक ! यह उस महादेव की केवल प्रतिमूर्त्ति है।" संसार में जो सत्य ही चाहते हैं, सत्य के पिपासु होते हैं और जो सत्य के पिपासु कहलाकर ही साधारण मानव-श्रेणी के बहुत ऊंचे स्तर पर अवस्थित होते हैं, वह प्रकृत सत्य को चाहते हैं, सत्य की प्रतिमूर्त्ति नहीं चाहते। यदि उन्हें प्रकृत सत्य कृत्रिमता द्वारा आवरित करके दिखाया जाता है और समझाया जाता है तो वह उससे चित्त में तृप्तिलाभ नहीं करते। क्योंकि वह एक बार ही सरल भाव और सम्यक्रूप से सत्य के प्राप्त करने

※ उल्लिखित उक्ति से विदित होता है कि मूलजी महादेव के सामने बैठ कर चूहों की इस प्रकार की लीला देख रहे थे और इस चिन्ता से आन्दोलित हो रहे थे। वह महादेव अर्थात् जड़ेश्वर महादेव केवल लिङ्गमात्र नहीं है, वह महादेव की सुन्दर त्रिशूलधारी मूर्त्ति है, परन्तु देखा गया है कि जड़ेश्वर की मूर्त्ति लिङ्गमूर्त्ति के सिवाय कुछ नहीं है तो फिर यह किस प्रकार विश्वास के योग्य होसकता है कि शिवरात्रि को व्रतपालन करने के लिये दयानन्द इस जड़ेश्वर के मन्दिर में गये थे, परन्तु इसके विश्वास योग्य होने का यथेष्ट कारण है, क्योंकि शिवरात्रि को और श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को पुजारी लोग शिव की चांदी की पूरी प्रति मूर्त्ति लाकर लिङ्ग मूर्त्ति के सामने स्थापित करदेते हैं। यह प्रथा जड़ेश्वर मन्दिर मे बहुत काल से चली आती है। इसी चांदी की शिव मूर्त्ति के प्रति लक्ष्य करके दयानन्द ने कहा था कि "क्या यह वही वृषारूढ़ देवता है जो मेरे सामने उपस्थित है ?" इस प्रकार के वचन दयानन्द के लिये किसी अंश में भी असंगत वा निर्मूल नहीं हैं। आजकल जो शिवजी की चांदी की मूर्त्ति शिवरात्रि आदि अवसरों पर जड़ेश्वर की लिङ्गमूर्त्ति के सामने स्थापित की जाती है वह जामनगर के अधिपति स्वर्गीय विभाजी जाम ने प्रदान की थी।

की ही इच्छा करते हैं। इसी कारण से मूलजी कर्शनजी के प्रागुक्त उत्तर से संतुष्ट न हो सके। और प्रतिमूर्त्ति से संतुष्ट न होने पर उन्हों ने प्रकृत के देखने का सङ्कल्प कर लिया और उसी क्षण और उसी स्थान पर बैठकर स्थिर कर लिया कि जब तक त्रिशूलधारी यथार्थ महादेव को न देखूँगा तब तक किसी प्रकार भी उस की पूजा न करूंगा। तेरह वर्ष के बालक होते हुए भी सत्य की जिज्ञासा में मूलजी निर्भीक थे! पिता के अनुरोध, पिता के आदेश और पिता के तिरस्कार पर तनिक भी दृक्पात न करके बालक ने प्रतिज्ञा की कि विना यथार्थ महादेव के देखे हुए किसी प्रकार भी मैं उस की मूर्त्ति की पूजा नहीं करूंगा। इस घटना ※ ने केवल यही नहीं किया कि दयानन्द को सदा के लिए मूर्त्तिपूजा का अविश्वासी बना दिया वा कुछ समय पश्चात् उन्हें मूर्त्तिपूजा के घोरतर विरोधी में परिणत कर दिया, बल्कि इससे भी अधिक यह किया कि वह सहस्रों मनुष्यों के मन में मूर्त्तिपूजा के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा का प्रबल कारण बन गई, भारत भूमि से मूर्त्तिपूजा के उन्मूलन का कारण बन गई।

कर्शनजी पुत्र के कारण बड़े विभ्राट् में पड़ गये। पुत्र का व्रत-उद्यापन करना तो दूर रहा और उसका शैव धर्म्म की दीक्षा लेना भी दूर रहा, पुत्र के मन में मूल वस्तु के प्रति ही अविश्वास उत्पन्न होगया। पुत्र इसी विषय में विचलित होगया कि यह महादेव यथार्थ महादेव है कि नहीं। उन्हों ने मूलजी को और अधिक समय के लिए शिव मन्दिर में रखना उचित न समझा और उधर सारा दिन उपवास करने के कारण मूलजी भी क्षुधा-तृष्णा से बहुत अधीर हो रहे थे और इस लिए घर जाने पर उद्यत थे। अतः उन के लिए भी शिव-मन्दिर से विदा होना वाञ्छनीय होगया था। अस्तु अन्त में कर्शनजी ने मूलजी को एक सिपाही के साथ करके घर भेज दिया और जाते समय बार बार मूलजी को सावधान कर दिया कि घर जाकर आहार करके व्रतभङ्ग न करना। जड़ेश्वर के मन्दिर से टङ्कारा का जीवापुर महल्ला प्रायः तीन कोस दूर है। रात्रि में जीवापुर महल्ले को जाना होगा, इसलिये बालक मूलजी के साथ एक रक्षक वा सिपाही करना आवश्यक था। और कर्शनजी के पास रक्षकों और सिपाहियों का अभाव न था। क्योंकि वह टङ्कारा ताल्लुक़ के जमेदार थे।

कुछ देर पीछे मूलजी सिपाही के साथ घर आगये। शिव-व्रतधारी पुत्र को शिव-मन्दिर से रात्रि के तीसरे पहर में घर वापस आया हुआ देखकर माता ने कहा कि मैंने व्रत लेने से पहिले ही तुझ से कहा था कि व्रत मत ले क्योंकि मैं जानती थी कि उपवासजनित कठोर क्लेश को तू नहीं सह सकेगा। माता यह समझी थी कि मूलजी उपवास के क्लेश को सहन न कर सकने के कारण ही घर लौट आया है। यह कह कर उसने पुत्र के सामने

※ इस घटना की भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। अलीगढ़ के ख्यातनामा सर सय्यद अहमदख़ां कहते हैं कि वह दैवी प्रेरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। जिस घटना ने दयानन्द को मूर्त्तिपूजा का अविश्वासी और पीछे जाकर मूर्त्तिपूजा का विरोधी कर दिया, जो दयानन्द को मूर्त्तिपूजा के उच्छेद के लिये जीवनव्यापी संग्राम में प्रवृत्त रखने का कारण हुई, वह ईश्वरीय घटना ही थी, इसमें सन्देह ही क्या है?

मिष्टान्नादि खाद्य पदार्थ लाकर रख दिये। जब मूलजी भोजन करने लगे तो पुत्रवत्सला माता उनके सामने बैठ गई और यह परामर्श देने लगी कि तुम दो दिन तक पिता के सामने न जाना और उन से एक बात भी न करना। मूलजी भोजन करके पलँग पर जाकर सोगये और ऐसी गहरी नींद सोये कि अगले दिन आठ बजे से पहिले वह पलंग परसे न उठसके। जब प्रातःकाल कर्शनजी ने जड़ेश्वर के मन्दिर से वापस आकर यह सुना कि पुत्र ने भोजन कर के व्रत भंग किया है तो उन्हें बहुत क्रोध आया और वह पुत्र को फटकारने पर उद्यत होगये। बन्धुवर्ग की और विशेषकर मूलजी की माता की यह धारणा थी कि व्रतभंग के अपराध पर कर्शनजी सम्भवतः पुत्र को पीटेंगे। कर्शनजी कठोर प्रकृति के कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष थे, इसलिए उनके लिए ऐसा कर बैठना किसी प्रकार भी असम्भव नहीं था। अतः मूलजी की माता, चचा और आत्मीयजन कर्शनजी को समझाने लगें और उनसे यह बात विशेष रूप से समझाकर कही कि पुत्र को उपवासादि का क्लेश सहन करना पड़ा है, वह अल्पवयस्क है, उसके पढ़ने में विघ्न होगा। परन्तु शिवव्रतधारी होकर व्रतभंग किया है और ऐसा करके महापाप किया है इस कारण से शिवभक्त कर्शनजी का क्रोध एकदम शान्त नहीं हुआ। वह क्रोध में आकर अपराधी पुत्र के सामने आये और उस से बार बार कहने लगे कि तूने व्रतभंग कर के बहुत भारी अपराध किया है, परन्तु पुत्र की दृढ़ता पिता की दृढ़ता से किसी अंश में भी कम न थी। जैसे पिता अपने विश्वासों पर अटल थे, वैसे पुत्र भी अपने विश्वास पर अटल था। पिता का विश्वास था कि उपवासी न रहकर, आहार करके पुत्र ने घोर अपराध किया है। पुत्र का विश्वास था कि जब मैं किसी प्रकार भी उस पाषाणमूर्त्ति को प्रकृत महादेव नहीं समझता तो फिर उसकी पूजा कैसी ? और उस के लिए उपवासादि कैसा ? अन्त में दोनों के बीच में सन्धि स्थापित हो गई, परन्तु कर्शनजी के अन्तःकरण में बहुत दिनों तक अशान्ति की रेखा बनी रही।
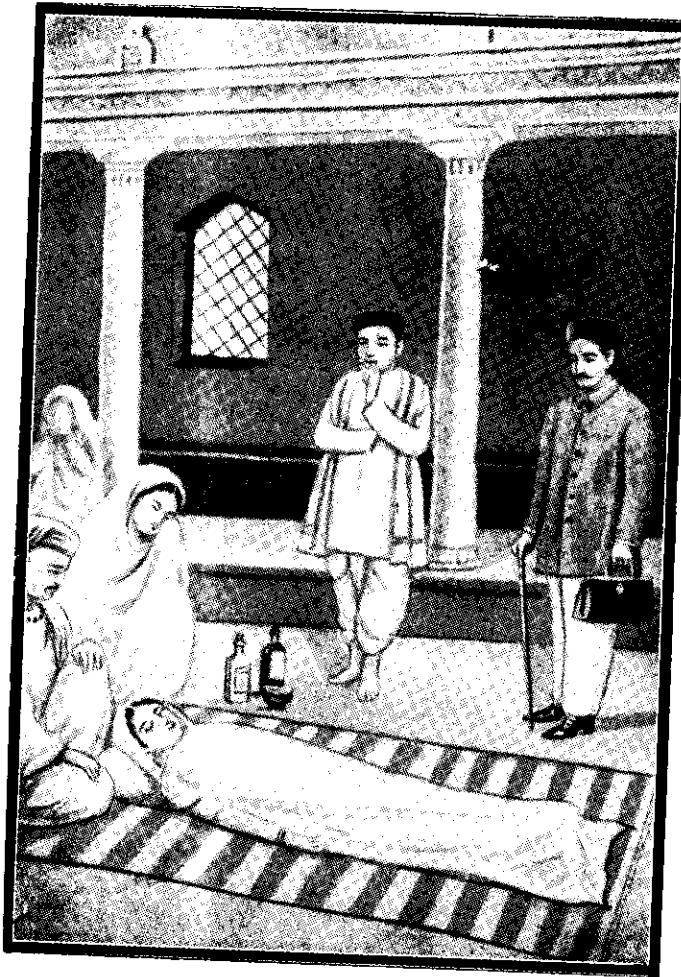
इस घटना के पाँच वर्ष पीछे मूलजी के जीवन में एक और घटना हुई। उस घटना के विषय में उन्होंने स्वयम् इस प्रकार लिखा है:—

"एक दिन रात्रि के समय मैं अपने एक बन्धु के यहाँ नृत्योत्सव * देख रहा था उस समय एक भृत्य ने घर से आकर एक विषम संवाद दिया। उसने कहा कि मेरी

* उल्लिखित नृत्योत्सव के अर्थ सम्भवतः सबही पाठक वेश्याओं के नाच के लेंगे, परन्तु जिस समय की बात लिखी जा रही है, उस समय काठियावाड़ में वा मोरवी अञ्चल में वेश्याओं के नाच-गान की प्रथा प्रचलित न थी, उस समय तर्गोरा नाम का एक दल नाचने गाने का पेशा करने वाला काठियावाड़ में विद्यमान था। जब किसी आमोद वा उत्सव के उपलक्ष में आवश्यकता होती थी तो उन्हें पैसा देकर बुला लेते थे। तर्गोरा बहुत प्रकार से सजबज कर दल बांध कर नाचते गाते थे। उनका नाचना गाना रात्रि में ही होता था, दिन में नहीं। उनमें अधिकतर नीच श्रेणी के ब्राह्मण सम्मिलित रहते थे। इस समय उनके नाचने गाने की प्रथा काठियावाड़ से एक प्रकार से उठसी गई है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं है कि उपर्युक्त नृत्योत्सव तर्गोरों के ही नृत्य-गीत का उत्सव था।

मूलजी की भगिनी की मृत्यु का दृश्य (पृ० २३)

चौदह वर्ष की भगिनी सांघातिक रोग से रुग्ण हो गई है। भगिनी की चिकित्सा के लिये सारे ही उपायों का अवलम्बन किया गया, परन्तु दुःख है कि मेरे घर आने के दो घण्टे के भीतर ही वह मृत्यु का ग्रास हो गई। उस भगिनी के वियोग का शोक ही मेरे जीवन का प्रथम शोक था। उस शोक से हृदय में बड़ा आघात लगा। उस शोकप्रद घटना के समय जब आत्मीय स्वजनगण मेरे चारों ओर खड़े हुए क्रन्दन-विलाप कर रहे थे, मैं पाषाण-निर्मित मूर्त्ति के समान अविचलित रहकर चिन्ता के स्रोत में डूबा हुआ था। मनुष्य-जीवन की क्षण भंगुरता की बात सोच कर अपने मन में कह रहा था कि जब पृथ्वी पर सबको ही इस प्रकार मरना है तो मैं भी एक दिन मरूंगा। परन्तु कोई ऐसा स्थान भी है वा नहीं जहाँ जाकर-मृत्यु समय की यन्त्रणा से रक्षा हो सके और मुक्ति का उपाय भी मिल सके। अन्त में उसी स्थान में खड़े खड़े उसी क्षण मैंने यह सङ्कल्प किया कि मुझ-जैसा ईश्वर-अविश्वासी जिस प्रकार से अवर्णनीय मृत्यु-क्लेश से अपने आप को बचा सके, ऐसे उपाय का चाहे जैसा भी हो अवलम्बन करने का यत्न करूंगा। इसके अतिरिक्त उस चिन्ता और विचार के समय मैंने सुदृढ़ रूप से जान लिया कि बाहर की कठोरता वा किसी प्रकार का वाह्यानुष्ठान किसी अंश में भी धर्म्मलाभ के अनुकूल नहीं है और आत्मिक प्रयत्न की आवश्यकता भी मैं दिन प्रतिदिन समझने लगा। परन्तु मैंने मन के यह सब भाव सर्वथा प्रच्छन्न रक्खे, अन्तःकरण की गूढ़ आकांक्षाओं के विषय में मैंने किसी को भी कोई बात जानने न दी।"

उल्लिखित घटना ने मूलजी को तीन शिक्षायें दीं। प्रथम, शरीर की क्षण-भंगुरता, द्वितीय, मुक्ति-प्राप्ति की नितान्त आवश्यकता, तृतीय, धर्म्मलाभ के मार्ग में उपवासादि बहिरङ्ग साधनों की अकिञ्चित्कारिता। इसके पश्चात् इसी प्रकार की एक और घटना उनके सामने उपस्थित हुई। उस घटना के विषय में वह स्वयम् इस प्रकार कहते हैं:—

"थोड़े ही दिन पीछे चचा की भी मृत्यु हो गई। चचा सुपण्डित और साधुचरित्र-व्यक्ति थे। वह मेरे जन्म से ही मुझ से बहुत स्नेह करते थे। उनके वियोग से मैं और भी अवसन्न हो गया। मैंने सोचा कि संसार की सारी वस्तुएँ अस्थायी और चञ्चल हैं, तब ऐसी वस्तु कौन है जिसके लिए संसार में रहकर सांसारिक लोगों के समान जीवन-यापन करूं?" साधारण पुरुष और महापुरुषों के बीच में यही विशेष भेद है कि संसार की नित्य प्रति की घटनाओं के भीतर साधारण मनुष्य जिस बात को नहीं देख सकते उसे महापुरुष देख लेते हैं।

वैराग्योदय

जन्म-मृत्यु, संपद्-विपत्, हानि-लाभ, सदा होने वाली घटनाएँ जो साधारण मनुष्य को शिक्षा देती हैं, महापुरुषों को उनसे कुछ अधिक शिक्षा प्रदान करती हैं। विलाप और रोदन के साथ राजपथ में मृत देह को ले जाते हुए किसने नहीं देखा? परन्तु उस दृश्य को देखकर कपिल वस्तु के युवराज बुद्ध राजसिंहासन पर लात मार कर और गृहस्थ छोड़कर क्यों चले गये? भगिनी का वियोग और चचा की मृत्यु प्रायः संसार में सब ही जगह होती हैं, परन्तु ऐसा व्यक्ति कौन है जो उन घटनाओं के स्थल में खड़ा होकर और उस शोकावह घटना के लिये अश्रु की एक बूंद भी न गिराकर स्थिर कर सके कि "जब संसार की सारी ही

वस्तुएँ अस्थायी और चञ्चल हैं, तो ऐसी कौनसी वस्तु है जिसके लिए गृहस्थ में रहकर सांसारिक लोगों के समान जीवन-यापन करूं ?" इससे अब यही प्रश्न उठता है कि साधारण मनुष्यों और महापुरुषों में जो पार्थक्य है वह किस वस्तु पर निर्भर है, घटना पर वा घटना के देखने वाले के मन के ऊपर ? उत्तर यही कि निश्चय ही मन के ऊपर। महापुरुष जिस मन वा मानसिक प्रकृति को लेकर जन्म ग्रहण करते हैं उस मन और मानसिक प्रकृति को लेकर साधारण मनुष्य जन्म ग्रहण नहीं करते।

अब हम देखते हैं कि यौवन के प्रारम्भ से ही मूलजी के अन्तःकरण में तीन भाव विशेष रूप से कार्य्य कर रहे थे। प्रथमतः मूर्त्तिपूजादि पौराणिक धर्म्मप्रणाली के प्रति अश्रद्धा, द्वितीयतः संसार के प्रति वैराग्य, तृतीयतः उपवासादि बहिरङ्ग साधनों के प्रति अरुचि और अनास्था। वयोवृद्धि के साथ साथ यह तीनों भाव भी उत्तरोत्तर प्रबल तर होते रहे। इनमें से दूसरे भाव का प्राबल्य अन्यों की अपेक्षा कुछ विशेष मात्रा से देखा जाने लगा। जिस वैराग्य की अग्नि उद्दीपित करने के अभिप्राय से ज्ञानी ज्ञान के साधन में तद्गत रहते हैं, विवेकी इन्द्रिय-संयमरूप दुर्जेय संग्राम में वारंवार प्रवृत्त होते हैं, वही वैराग्य की अग्नि एक अठारह वर्ष के युवक के हृदय में इस प्रकार जल उठी कि वह संसार और सांसारिकता की ओर से एक दम मुँह फेर कर खड़ा होगया। सुतराम् पिता के साथ उनकी अप्रीति होने की सम्भावना होगई। पिता घोर मूर्त्तिपूजक, पुत्र मूर्त्तिपूजा के प्रति श्रद्धाहीन, पिता संसार के धन, मान, यश, प्रतिष्ठा–एक शब्द में–अहरहः सांसारिकता के साथ जटित, पुत्र सांसारिकता के सब प्रकार के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने पर उद्यत, पिता अनाहार, एक समय आहार, दिनविशेष पर व्रतविशेष का अवलम्बन आदि धर्म्म के बाह्यानुष्ठान के परिपालन में प्रयत्नशील, पुत्र उन सब कार्य्यों के प्रति उदासीन वा आस्था-हीन, ऐसी अवस्था में पिता और पुत्र में अप्रीति वा असद्भाव बिना हुए नहीं रह सकता था। एक बात और भी है, संसार में सर्वकालप्रचारित और सर्वजन सम्मत यह सिद्धान्त है कि भाषा भाव की प्रकाशक है। परन्तु हम सब स्थलों में इस सिद्धान्त के पक्षपाती नहीं हैं, क्योंकि भाषा के न रहते हुए भी भाव-प्रकाशन में कोई विशेष व्याघात नहीं होता। भाव आत्मप्रकाशक है, भाव आप ही अपने को प्रकाशित करने में समर्थ है। भाषा वा सरवता की अपेक्षा नीरवता के द्वारा ही भाव अपने को अधिक प्रकाशित करता है। इसलिए यद्यपि मूलजी ने अपने प्रागुक्त भावों को गुप्त रक्खा था और अन्तःकरण की निगूढ़ आकाँक्षाओं के विषय में किसी को कुछ जान लेने न दिया था, तथापि मूलजी के माता-पिता आदि सब ही उनके प्रकृत मनोभावों को क्रमशः समझ गये थे।

जब मूलजी की आयु उन्नीस वा बीस वर्ष की थी तब सांसारिक सम्बन्ध को निर-विच्छिन्न कर देने के विषय में उनके चित्त में निरन्तर संग्राम होने लगा। हम समझते हैं कि यह बात सब ही जानते हैं कि मुख मनोभावों का एक दर्पण है, इसलिए बन्धुबान्धव-गण मूलजी के मुख को देखकर बीच-बीच में कारण पूछते थे। जो विषय मनुष्य को सर्वोपरि वांछनीय है, जो वस्तु मनुष्य की अधिकतर आकांक्षित है, उसके सम्बन्ध में मनुष्य चाहे निरन्तर सावधानता का व्यवहार करे, तो भी कभी-कभी चित्त के आवेग के कारण उसे दूसरों पर, विशेषकर सुहृद्वर्ग पर प्रकाशित कर देता है। मूलजी ने भी ऐसा ही किया।

उस समय यह बात उनके चित्त में सर्वोच्चपदारूढ़ होगई थी, यह चिन्ता प्रायः सदा उनकी चित्तवृत्ति पर अधिकार किये रहती थी कि किसी प्रकार भी मैं विवाह-सूत्र में आबद्ध नहीं हूंगा। इसलिए कभी-कभी बान्धववर्ग के पूछने पर वह कह दिया करते थे कि विवाह की बात तो दूर है, मुझे तो विवाहित होने की कल्पना से भी विरक्ति है। अथवा कभी बान्धवों के पास जाकर मृत्यु-यन्त्रणा से मुक्ति पाने के उपायों को पूछ बैठते। क्रमशः यह सब बातें कर्शनजी और उनकी पत्नी के कर्णगोचर होने लगीं। उन्होंने तो पहिले से ही मूलजी के मुख की भावभङ्गि को देखकर उनकी मानसिक अवस्था का परिचय पा लिया था, परन्तु इस समय बान्धवों से यह सुनकर कि मूलजी इस प्रकार की बातें कहते फिरते हैं, उन्हें विवाह की शृङ्खला में बांधने के अभिप्राय से शीघ्रता करने लगे।

संसार में वैराग्य, निवृत्तिपरता, संसार-विरक्ति, संसार-वितृष्णा, इत्यादि पवित्र उन्नत और महान् भावों को मनुष्य के मन से उन्मूलित करने के लिए क्या विवाह के समान कोई कालकूट है वा हो सकता है? इसीलिए संसार-विकृतचित्त मनुष्य, यह जानकर कि पुत्र वा अन्य किसी स्वजन के चित्त में उक्त महा-भावों में किसी एक ने आश्रय ले लिया है, उस के उत्पाटन के लिये इसी कालकूट का प्रयोग करता है। इसी-लिए मूलजी के वास्ते भी इसी व्यवस्था का अवलम्बन किया गया। परन्तु मोहाच्छन्न मनुष्य यह नहीं समझ सकता कि सच्चे वैराग्य के सामने विवाह या विवाहित जीवन का प्रलोभन किसी अंश में भी कृतकार्य्य नहीं हो सकता। यह कालकूट अन्य क्षेत्र में चाहे फल-प्रद हो परन्तु वैराग्य की मृत्युञ्जयिनी शक्ति के सामने कुछ भी नहीं है। अस्तु, पुत्र की वैराग्याग्नि को शान्त करने के उद्देश्य से कर्शनजी ने पहिले तो पुत्र को जमेदारी के कार्य्य का भार देना चाहा, परन्तु जब पुत्र उस से सहमत न हुआ तो कर्शनजी और उन की सहधर्मिणी दोनों ने पुत्र का विवाह शीघ्र ही कर देने का सङ्कल्प कर लिया। यहाँ तक कि वागदान का कार्य्य करने के लिए उत्सुक हो गये और यह स्थिर किया कि मूलजी का बीस वर्ष की आयु पूरी होते होते ही विवाह कर देना चाहिए। मूलजी जिस काम को न करने के वास्ते दृढ़प्रतिज्ञ थे उनके माता-पिता दोनों ही उसी के कराने के लिए समुद्यत थे, यह देखकर मूलजी बहुत ही चिन्ताग्रस्त हो गये और बन्धु-बान्धव को पिता के पास लेजाकर अनुनय के साथ यह अनुरोध किया कि वागदान का कार्य्य शीघ्र न होना चाहिए। बंधुवर्ग ने भी इसका अनुमोदन किया और अन्त में कर्शनजी ने वर्ष के शेष भाग तक वागदान के कार्य्य को स्थगित करने का वचन दे दिया। ऐसे सुयोग में काशी में जाकर अध्ययन करने का प्रस्ताव हुआ, परन्तु मूलजी की माता ने उसका किसी प्रकार भी अनु-मोदन न किया, इसलिए वह अग्राह्य रहा। इस विषय में व्यर्थ-यत्न होकर मूलजी ने एक और प्रस्ताव किया कि अमुक ग्राम में अमुक सुपण्डित रहते हैं वहाँ जाकर पढ़ने की अनुमति दीजिये। इसे माता-पिता दोनों ने स्वीकार कर लिया और मूलजी उस अध्यापक के पास जाकर पढ़ने लगे। परन्तु अभी वहाँ निश्चिन्त चित्त होकर थोड़े ही दिन अध्ययन में रत रहने पाये थे कि फिर वही बात—हृदय के उसी सर्वोपरि सङ्कल्प की बात—अर्थात् यह कि विवाह करने की इच्छा नहीं है, मूलजी ने बाध्य होकर एक दिन प्रकट कर दी। और कर्शनजी ने उसे किसी सूत्र से जानकर विना किसी विलम्ब के मूलजी को घर बुला-

लिया। कर्शनजी के कान पुत्र की और सब बातें सह सकते थे, परन्तु पुत्र के मुख से यह बात कि मैं किसी प्रकार भी विवाह न करूंगा, किसी अवस्था में भी सहन न कर सकते थे। यह बात उनके कान में कण्टक के समान चुभी थी।
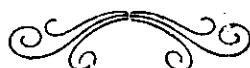
मूलजी ने टङ्कारा में वापस आकर देखा कि विवाहोपयोगी सारा कार्य्य प्रायः प्रस्तुत हो गया है। उन्हें यह मालूम हो गया कि माता पिता उन्हें अब और अधिक ज्ञानालोचना के कार्य्य में रत नहीं रहने देंगे और उन का विवाह किये बिना निश्चिन्त न होंगे। उस समय मूलजी ने इक्कीसवें वर्ष में प्रवेश किया था। जिस वैराग्यवन्हि ने तीन वर्ष पहिले मूलजी के अन्तःकरण में केवल धूम्रमाला का विस्तार किया था अब वह धधक उठी और उनका निवृत्ति का सङ्कल्प अब दृढ़तर और प्रबलतर होगया। उन्हों ने स्थिर कर लिया कि मैं कोई ऐसा काम करूंगा जिस के करने से मुझ में और मेरे विवाह में सदा के लिए एक प्रतिबन्धक हो जाय। ऐसा स्थिर करके उन्होंने एक दिन संध्या समय संवत् १९०३ सन् १८४६ ई० में किसी से कुछ न कह कर सदा के लिए गृह त्याग दिया। * कर्शनजी का जो घर विवाहकार्य्यजनित आनन्द से परिपूर्ण हो रहा था, वह अब विषाद और शोक की समागमभूमि बन गया।

गृहत्याग

* कोई कोई कहते हैं कि दयानन्द ने ज्येष्ठ मास में गृह-त्याग किया था। हम इसे असङ्गत नहीं समझते क्योंकि वह घर से निकल कर शैला आकर रहे और उसके पीछे कोटगङ्गारा में तीन मास और मार्ग में भी कई स्थानों में कुछ दिन रहकर कार्त्तिक मास में सिद्धपुर जाकर कार्त्तिकी के मेले में उपस्थित हुए थे। अतः ज्येष्ठ मास में टङ्कारा ग्राम का त्याग करना असङ्गत नहीं होता।

तृतीय अध्याय

संवत् १६०३—१६१५; सन् १८४६—१८५८

हम पहले ही कह आये हैं कि मूलजी ने बन्धुवर्ग से केवल विवाह से वीतस्पृह होना ही प्रकट नहीं किया था, बल्कि मृत्यु का भय जब-जब प्रबल

योगियों का अनुसन्धान मूर्त्ति धारण करके उनके हृदय में उपस्थित होता था वह तब ही उन बन्धुओं के पास जाकर मृत्यु-यन्त्रणा से निष्कृति का उपाय पूछा करते थे। यह सुनकर पण्डित लोग मूलजी को योगाभ्यास करने का परामर्श दिया करते थे। इसीलिये घर छोड़ने के पश्चात् मूलजी योगियों का अनुसन्धान करने लगें, परन्तु वह केवल २१ वर्ष के युवक थे, इस कारण वह यह कैसे जान सकते थे कि किस स्थान में कौन योगी रहता है ? परन्तु उस समय यह बात काठियावाड़ में सब जगह प्रसिद्ध थी कि शैलानिवासी लालाभक्त * योगी हैं। यह बात मूलजी ने पितृ-गृह में रहते

* लालाभक्त वास्तव में योगी न थे। लालाभक्त चार भाई थे—रामभक्त, टीकमभक्त, लालाभक्त और गोपालभक्त। इनमें से रामभक्त ही योगविद्या से अभिज्ञ प्रसिद्ध थे। लालाभक्त मोरवी के ख्यातनामा जीवा मेता के वंशज थे। लालाभक्त के सम्बन्ध में काठियावाड़ गज़ेटियर नाम ग्रन्थ में पृष्ठ ६४५ पर ऐसा लिखा है:—" Shaila is famous for the temple of Ram Chandra built by Lala Bhagat a celebrated Vaniya Saint who flourished in the beginning of the present century. Here provisions are duly distributed to travellers, ascetics, and others. So famous is the reputation of Lala Bhagat that Shaila is often called the Bhagat's Village." The Kathiavad Gazetteer p. 645.

उल्लिखित अंग्रेज़ी अंश का मर्म्म यह है:—शैला रामचन्द्र के मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है जिसे लालाभक्त ने बनवाया था। लालाभक्त एक बनिया जाति का साधु है; वह उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जीवित था। भक्त के मन्दिर से प्रतिदिन पथिकों, साधुओं और अन्यों को सदाव्रत दिया जाता है। भक्त की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गई थी कि लोग शैला को साधारणतः भक्त का ग्राम कहा करते थे।

हुए सुन रक्खी थी। अतः सन्ध्या समय टङ्कारा त्याग करके उन्होंने शैला की ओर प्रस्थान किया।

यह हम ठीक नहीं कह सकते कि शैला टङ्कारा से कितनी दूर है, परन्तु टङ्कारा से शैला गौजा के मार्ग से जाना होता है, जो टङ्कारा के बांकानेर द्वार से जाना हो तो दक्षिण की ओर जाना चाहिए। परन्तु मूलजी ने ऐसा नहीं किया। वह जामनगर द्वार से होकर पश्चिम की ओर गये थे। यदि यह प्रश्न हो कि इस बात का क्या प्रमाण है कि वह पश्चिम की ओर गये थे, तो इसका उत्तर यह है कि टङ्कारा से चलने के पीछे की घटना के सम्बन्ध में दयानन्द ने लिखा है कि "चार कोस दूर पर एक ग्राम में मैंने रात्रि बिताई, अगले दिन बहुत सवेरे उठकर मैं चल दिया, थोड़ी दूर पर एक हनुमान् के मन्दिर में पहुंचा और कुछ देर आराम किया।" इससे ज्ञात होता है कि घर से निकलने के दूसरे दिन वह एक हनुमान के मन्दिर में पहुंचे थे और वहाँ कुछ देर विश्राम किया था। अब प्रश्न यह है कि हनुमान का मन्दिर टङ्कारा से किस ओर है? काठियावाड़ में हनुमान् के बहुत से मन्दिर हैं, परन्तु यह हनुमान् का मन्दिर ऐसा होना चाहिए जहाँ पथिकों को आश्रय मिल सके। यह निश्चय है कि जब तक कोई मन्दिर बड़ा न हो और उसमें खान-पान की उपयोगी वस्तु मिलने की सुविधा न हो, तो वह किसी प्रकार पथिकों का आश्रय-स्थान और विश्राम-स्थल नहीं हो सकता। अब देखना यह है कि इन लक्षणों वाला कोई मन्दिर टङ्कारा के आस-पास है वा नहीं। ऐसा मन्दिर बड़े रामपुर में है। रामपुर का मन्दिर एक प्रसिद्ध मन्दिर है और उसमें पथिकों के आश्रय-स्थान होने की सब प्रकार से उपयोगिता है। इससे यही अनुमान होता है कि टङ्कारा छोड़ने के दूसरे दिन मूलजी ने रामपुर के हनुमान् के मन्दिर में विश्राम किया था। इस विषय में एक और भी प्रमाण है। रईशाली वासी प्रभुराम आचार्य्य ने जो प्रायः अस्सी वर्ष के वृद्ध ब्राह्मण थे कहा था, "मैंने प्रेमबाई और केशरबाई से सुना था कि दयाराम * टङ्कारा से निकल कर बड़े रामपुर के हनुमान् के मंदिर में रहे थे।" यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि प्रेमबाई और केशरबाई को कैसे मालूम हुआ कि घर से निकल कर दयाराम बड़े रामपुर के हनुमान् के मन्दिर में रहे थे। इसका उत्तर यह है कि जब कर्शनजी सिद्धपुर से वापस आये तो उन्हीं से प्रेमबाई और केशरबाई ने सुना था। कर्शनजी ने सिद्धपुर में भागे हुए पुत्र को पकड़ लिया था और यह बात स्वयं दयानन्द ने अपने आत्म-चरित में लिखी है। यह सहज में ही अनुमान हो सकता है कि जब पिता ने उन्हें सिद्धपुर में पकड़ लिया तो उनसे सारा वृत्तान्त पूछा होगा और उन्होंने अपने भागने का वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया होगा कि वह टङ्कारा से भागकर कहाँ कहाँ रहे और सिद्धपुर कैसे पहुँचे। तब इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है कि घर

* दयानन्द का आदि नाम मूलजी था। परन्तु उनका पुकारने का नाम दयाराम था। काठियावाड़ में यह प्रथा है कि पुत्र वा कन्या के दो नाम रखते हैं। इनमें से एक नाम असली होता है और दूसरा नाम प्यार का वा पुकारने का होता है। यह बात हम पहले ही विस्तारपूर्वक कह आये हैं कि प्रेमबाई मूलजी की भगिनी थी। केशरबाई कर्शनजी की कोई वृद्धा आत्मीया स्त्री थी।

से निकल कर दूसरे दिन वह बड़े रामपुर के हनुमान् के मन्दिर में विश्राम करने के लिये ठहरे थे? यह बात भी उन्होंने पिता को बताई होगी। और यह सर्वथा सम्भव और स्वाभाविक है कि जब भागा हुआ पुत्र एक बार पकड़ा जाकर दूसरी बार फिर भाग गया और पिता चित्त में और भी हताश और शोक-दग्ध होकर टङ्कारा लौट आये तो टङ्कारा के अनेक लोगों ने उनके भागे हुए पुत्र के विषय में उनसे पूछा होगा और उन्होंने पुत्र के मिलने और दुबारा भाग जाने की और पुत्र के मुख से सुनी हुई भागने की कथा सबसे कही होगी। ऐसी दशा में आश्चर्य ही क्या है कि जो कर्शनजी की कन्या प्रेमबाई और उनकी आत्मीया केशरबाई को दयानन्द के रामपुर के हनुमान् मन्दिर में ठहरने की बात मालूम होगई हो? ※

अब यह सहज में ही प्रतिपन्न हो जाता है कि मूलजी टङ्कारा के जामनगर द्वार से ही गये थे क्योंकि वह टङ्कारा छोड़ने के दूसरे ही दिन बड़े रामपुर पहुँचे और रामपुर टङ्कारा से पश्चिम की ओर है। शैला को वह गौजा के मार्ग से न गये, बल्कि टेढ़े रास्ते से गये। इससे उनका क्या अभिप्राय था? जो स्थान पूर्व की ओर था वहां जाने के लिए पूर्व वा दक्षिण के मार्ग से न जाकर उसके बदले ठीक विपरीत मार्ग से अर्थात् पश्चिम के मार्ग से जाने में मूलजी का क्या अभिप्राय था? अभिप्राय दो थे—एक तो बांकानेर वा राजकोट के मार्ग के पास के ग्रामों में बहुत से परिचित लोगों से मिलने की सम्भावना थी, दूसरे, उन्हें यह भी अभिप्रेत था कि वह ऐसे मार्ग से जायँ जिस मार्ग से उन्हें उनके पिता अथवा अन्य भेजे हुए मनुष्य न ढूंढ़ सकें। वह जानते थे कि जब सन्ध्याकाल बीत जाने के बहुत देर तक भी प्रतीक्षा करने के पश्चात् उनके माता-पिता और स्वजन देखेंगे कि वह घर नहीं आये तो उनकी पहली धारणा यही होगी कि सम्भवतः काशी को गये हैं। ऐसी धारणा के उत्पन्न होने के कारण हम पहले लिख चुके हैं। और मूलजी ने विचारा होगा कि जब अधिक रात्रि बीतने पर भी उनके माता-पितादि उन्हें घर पर लौटा हुआ न देखेंगे तो उनकी यह धारणा सम्पूर्णतया स्वाभाविक और सहज होगी। इसके अतिरिक्त मूलजी बालकपन से ही अपनी ज़िद वा दृढ़प्रतिज्ञता का समय-समय पर परिचय देते रहे थे, इससे भी उनके माता पितादि के मन में ऐसी धारणा उत्पन्न होने का आनुकूल्य होगा। और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। टङ्कारा में वा काठियावाड़ में दयानन्द का प्रसङ्ग उठने पर लोगों के मुख से यही सुना गया कि कर्शनजी का पुत्र काशी पढ़ने के लिये गया था। हम समझते हैं कि उन्होंने गृहस्थ छोड़ने से पहले ही इन सब बातों को विचार लिया होगा। उन्होंने विचारा होगा कि गृह-त्याग करने पर माता-पिता की तुरन्त यही धारणा होगी कि वह काशी गया है और इस धारणा के होने पर वह उनके ढूंढने के लिये आदमियों, सिपाहियों और चपरासियों को पूर्व वा दक्षिण की ओर ही भेजेंगे क्योंकि काशी को इन्हीं ओर होकर जाते हैं। ऐसी दशा में यदि वह शैला पहुँचने के लिये पूर्व वा दक्षिण की ओर

※ इसके अतिरिक्त यह भी है कि जब कर्शनजी ने दयानन्द को ढूंढने को सवार भेजे हों वह ढूँढते-ढूँढते रामपुर भी पहुँच गये हों और वहाँ उन्हें पता लगा हो कि अमुक आकृति का एक पुरुष हनुमान् के मन्दिर में ठहरा था और उन्होंने यह बात कर्शनजी से कही और उनके द्वारा उनके कुटुम्बियों और अन्य लोगों को ज्ञात हुई।

[संग्रहकर्त्ता]

से जाते तो यह बहुत ही सम्भव था कि उनके पिता उन्हें रास्ते ही में पकड़ लेते। उन्होंने स्वयम् लिखा है कि "जिस मार्ग से पथिक साधरणतः आते जाते हैं, अथवा जिन ग्रामों में मेरे पहचाने जाने की सम्भावना थी उस मार्ग वा उन ग्रामों का मैंने संस्पर्श भी नहीं किया। ऐसा सावधान होकर चलने से मेरा जो विशेष उपकार हुआ उसे कहना व्यर्थ है।" गृह-त्याग के तीसरे दिन उन्होंने एक सरकारी कर्म्मचारी के मुख से सुना कि कुछ लोग दलबद्ध होकर अश्वारोहियों को साथ लेकर एक पलायित युवक के अनुसन्धानार्थ इधर-उधर फिर रहे हैं। रामपुर छोड़कर वह शैला की ओर क्रमशः अग्रसर होने लगे। कुछ दूर चलने पर मूलजी का ब्राह्मण भिक्षुओं के एक दल से साक्षात् हुआ। उनके विषय में मूलजी ने लिखा है:—"वह लोग मेरी ओर देखकर कहने लगे कि तुम यहां जितना दान करोगे परलोक में उतना ही अधिक तुम्हें लाभ होगा। यह कहकर वह मुझसे जो कुछ रुपया मेरे पास था और मेरे अंगों में जो सोने चाँदी के अलङ्कार थे * उन्हें मांगने लगे। और मैंने वह उसी समय उन्हें दे दिये।" इन वस्तुओं के दान करने का एक विशेष कारण भी था। मूलजी को अलङ्कार धारण किये हुए देखकर इन ब्राह्मणों ने कहा था कि तुम-जैसे लोगों के लिये योगाभ्यास असम्भव है। जिस योगाभ्यास के लिए वह माता-पिता घर-बार को छोड़कर आये थे, जिस के लिए वह परदेश, और बान्धवहीन स्थानों में क्लेश पर क्लेश सहन करने के लिए उद्यत थे, यदि शरीर पर भूषणादि के रहने से वही योगाभ्यास असम्भव हो तो उसी समय उनका परित्याग करना कर्त्तव्य है, यह विवेचना करके उन्होंने उसी समय सारे आभूषण उतार कर दे दिये और उन्हें सब कुछ देकर निश्चिन्त हो गये। "मार्ग में जगह-जगह साधुओं वा भिखारी ब्राह्मणों के मुख से लालाभक्त की सुख्याति सुनकर" मूलजी शीघ्र ही शैला पहुंच गये † और लाला भक्त के पास उपस्थित होकर उनसे योगाभ्यास सिखाने की प्रार्थना की। ‡

---

* एक समय काठियावाड़ प्रदेश में यह प्रथा थी कि बालक, युवा, सब ही अपनी २ अवस्था के अनुकूल शरीर पर नाना प्रकार के आभूषण धारण किया करते थे। किसी किसी जगह अपेक्षाकृत अधिक आयु तक युवकों के शरीर पर अलंकार देखने में आते थे। इसलिए यह आश्चर्य का विषय नहीं है जो उस समय तक दयानन्द के शरीर पर अलंकार थे। इस समय अलंकार धारण करने की प्रथा काठियावाड़ से एक प्रकार से उठ गई है।

† 'The Life and Teachings of Swami Dayanand Saraswati' नामक पुस्तक के प्रणेता बाबा छज्जूसिंह ने उसके २६ वें पृष्ठ प्रथम भाग में लिखा है:—

"While pursuing his flight Dayanand heard that there was a large gathering of Sadhus at Saila × × × Dayanand turned his steps towards this town." अर्थात् पलायन-यात्रा में यह सुनकर कि शैला में साधु-सम्मेलन है दयानन्द शैला को चल दिये। यह बात सर्वथा निर्मूल है। दयानन्द ने आत्मचरित में कहीं नहीं लिखा कि उन्होंने मार्ग में सुना था कि शैला में साधु-सम्मेलन होगा और वास्तव में उस समय वहां कोई साधु-सम्मेलन था भी नहीं; दयानन्द शैला केवल लालाभक्त के कारण से गये थे।

‡ हम पहले ही लिख चुके हैं कि लालाभक्त के योगी होने की प्रसिद्धि निर्मूल थी।

वहाँ की एक दिन की एक घटना के विषय में मूलजी ने लिखा है:-"एक दिन रात्रि के समय एक वृक्ष के नीचे लाला भक्त के पास बैठा हुआ मैं योगाभ्यास कर रहा था कि वृक्ष पर बैठे हुए पक्षियों के विकट शब्द * को सुनकर मैं चित्त में डरने लगा और उसी क्षण मठ के भीतर चला गया।" शैला में मूलजी का अधिक ठहरना नहीं हुआ। क्योंकि वह जिस वस्तु को चाहते थे उन्हें वह लालाभक्त के पास नहीं मिली। शैला में एक और घटना भी हुई। उसके सम्बन्ध में मूलजी ने लिखा है:-"शैला में मेरा एक ब्रह्मचारी से परिचय होगया था। उसने मुझे ब्रह्मचर्य्याश्रम में प्रवेश करने का परामर्श दिया। मैं उससे सहमत होगया। तब उसने मुझे ब्रह्मचारी की दीक्षा देकर मेरा नाम शुद्धचैतन्य रख दिया। इस कारण मुझे ब्रह्मचारियों के समान वर्त्तना पड़ने लगा, साधारण वस्त्र छोड़ने पड़े और पीले और लाल रंग का ब्रह्मचारियों का पहनावा धारण करना पड़ा।" इस प्रकार शुद्ध-चैतन्य नाम रखकर और ब्रह्मचारियों के परिच्छद से सज्जित हो कर मूलजी ने शैला भी त्याग दिया और उन्हों ने कोटगङ्गारा † की ओर यात्रा की। कोटगङ्गारा अहमदाबाद के निकट है और एक छोटे राज्य की राजधानी है। इसके अतिरिक्त वह साधु-संन्यासियों के समागम का स्थान भी है। इस लिए मालूम होता है कि इसी कारण से शुद्धचैतन्य को वहाँ जाने की इच्छा हुई थी। कोटगङ्गारा पहुँच कर शुद्धचैतन्य वहाँ की अवस्था के विषय में लिखते हैं:-"वहाँ पहुँच कर मैंने वैरागियों की एक बड़ी संख्या देखी। वैरागियों के दल में मैंने एक राजकन्या भी देखी, परन्तु वह राजकन्या कहाँ की थी, इस विषय में मैं कुछ नहीं जान सका। कन्या मुझ से परिहासादि का उद्योग करने लगी। परन्तु मैं इस के परिहासादि रूप पाप से अपने को सदा बचा कर चलने लगा। कोटगङ्गारा में तीन मास काटे। तब भी मेरे परिधान में रेशमी किनारे की धोती थी। वहाँ के वैरागी-गण प्रायः ही मेरा ठट्ठा किया करते थे, इस लिए मैंने वह मूल्यवान् वस्त्र फेंक दिये और बाजार से साधा-रण वस्त्र क्रय करके पहन लिये। उस समय मेरे पास कुल तीन रुपये रह गये थे।"

काठियावाड़ के जैसे साधरणतः और भक्त होते हैं लालाभक्त भी वैसे ही थे। काठियावाड़ के भक्तों में त्यागी भी हैं और गृहस्थ भी हैं। गृहस्थों में ऐसे भी हैं जो पुत्र-कलत्र के रहते हुए भी सांसारिक विषयों से बहुत सम्पर्क नहीं रखते। वह प्रायः सदा ही देवमन्दिरों में रहते हैं और अपना अधिकतर समय साधन, भजन और धर्म्मालोचना में लगाते हैं। अन्य भक्त दान करके वा अन्य किसी उपाय से मनुष्यों की सेवा-सत्कार करने में सदा ही उद्यत रहते हैं और धर्म्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता वा द्वेष न रखते हुए उदारता का व्यवहार करते हैं।
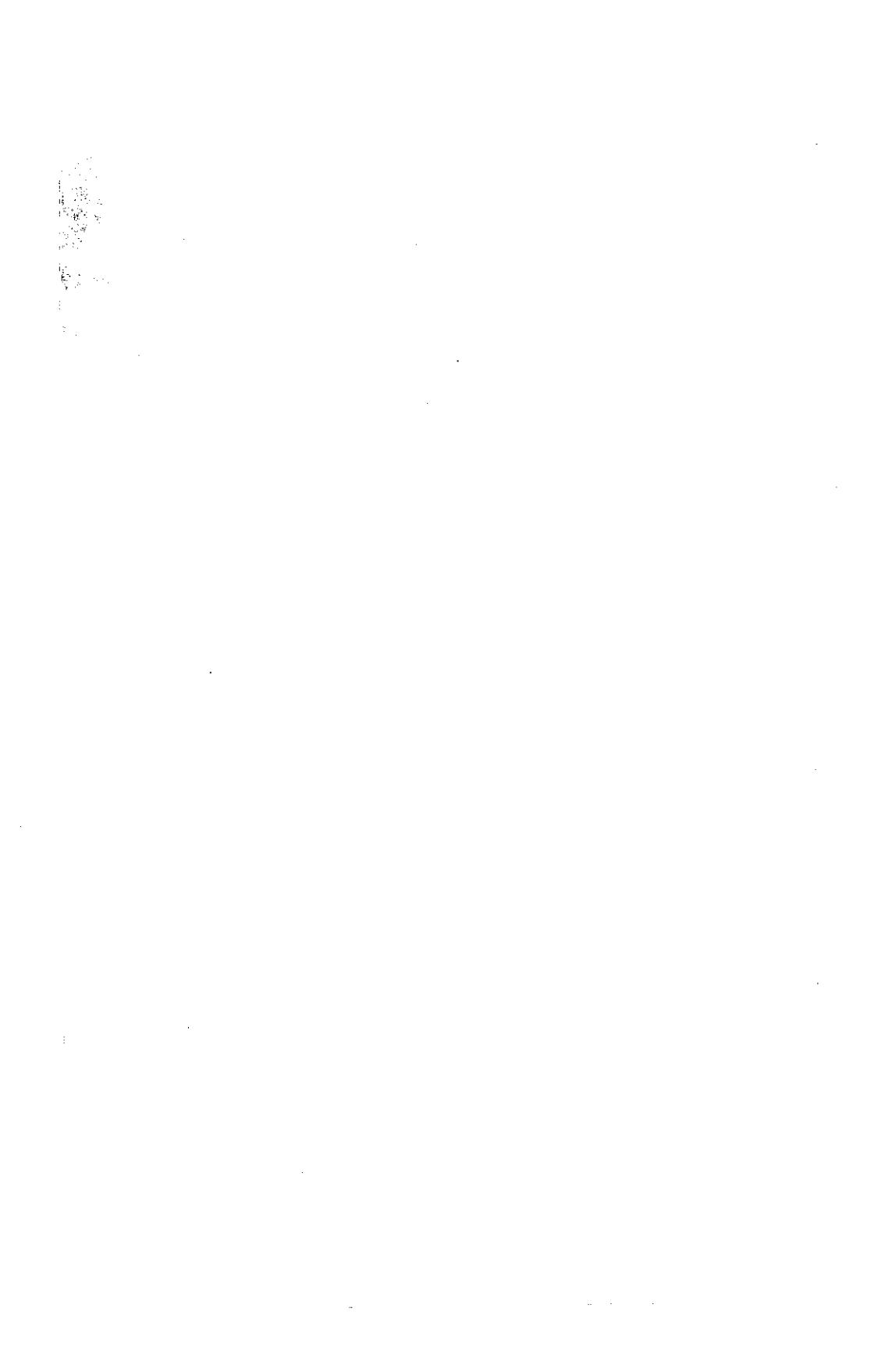
* यह कण्ठरव उल्लुओं का था। उल्लू रात्रि के समय सबको ही भीतिप्रद होते हैं। विशेषकर काठियावाड़ के रहने वाले उन्हें बहुत ही अमङ्गलकर समझते हैं।

† शैला से कोटगङ्गारा जाने के दो मार्ग हैं। एक मार्ग बत्तोयान होकर है, और दूसरा चूड़ालिमडी होकर है। बत्तोयान का मार्ग निरापद नहीं है क्योंकि बत्तोमान काठियावाड़ का द्वार कहलाता है और वहां अनेक लोगों का आवागमन रहता है। इसलिए घर से भागे हुए मूलजी चूड़ालिमडी होकर कोटगङ्गारा गये थे। कोटगङ्गारा जाने के विषय में हमने भावनगर के किसी वृद्ध ब्रह्मचारी के मुख से सुना था कि कोटगङ्गारा जाते हुए मूलजी चूड़ालिमडी में एक रात ठहरे थे।

वहाँ साधु वा वैरागियों में से किसी से वाञ्छित वस्तु के मिलने की सम्भावना न देखकर शुद्धचैतन्य ने सिद्धपुर जाने का सङ्कल्प किया। सिद्धपुर की यात्रा के कारण के सम्बन्ध में शुद्धचैतन्य ने निम्न प्रकार का वर्णन किया है:-"सिद्धपुर में कार्त्तिक का मेला होगा। मेले में बहुत से साधु-संन्यासियों के सत्संग का लाभ उठा सकूंगा।" और सम्भव है कि मैं अपने अभीप्सित विषय में भी कुछ न कुछ प्राप्त कर सकूंगा।" इस आशा से शुद्धचैतन्य अधिक विलम्ब न करके कोटगङ्गारा से सिद्धपुर की ओर चल दिये। सिद्धपुर के मार्ग में एक अप्रीतिकर घटना हुई। उस घटना के सम्बन्ध में उन्हों ने लिखा है:-"दुर्भाग्य से मार्ग में मेरा साक्षात् एक परिचित मनुष्य से होगया। वह मनुष्य एक वैरागी था। और हमारे पास के एक ग्राम का रहने वाला और हमारे परिवार से सुपरिचित था। वह मुझे देख कर जितना विस्मयान्वित होने लगा, मैं उसे देखकर उतना ही हतबुद्धि मनुष्य के समान होने लगा। वह मुझ से पूछने लगा कि इस वेश में इतनी दूर आने का क्या कारण है। मैंने इस से कहा कि पृथ्वी के नाना प्रकार देखने के लिए मैं घर से बाहर आया हूँ। यह सुनकर उसने मुझे बुरा भला कहा और मेरे नये वेश को देखकर मेरा परिहास करने लगा। मुझे हतबुद्धि-भावापन्न देखकर वैरागी यद्यपि मेरे भावी सङ्कल्पों के विषय में समझ गया होगा। परन्तु मैंने उससे कहा कि सिद्धपुर में कार्त्तिक मास का मेला देखने के लिए जा रहा हूँ। यह बात चीत होने के पश्चात् वैरागी चला गया और फिर मैं सिद्धपुर पहुँच कर नीलकण्ठ के मन्दिर में बहुत से संन्यासियों और ब्रह्मचारियों के साथ अवस्थि त करने लगा।"

उस समय सिद्धपुर में मेले का समारोह हो रहा था मेला भूमि सुसजित और सहस्रों मनुष्यों से परिपूरित थी। उन में से हर-एक अपनी-अपनी वाञ्छित वस्तु के अनुसन्धान में लगा हुआ था। कोई मौन धारण किये लौकारण्य के दर्शन कर रहा था, कोई लोक-प्रवाह के बीच में पड़ कर पिसा जाता था, किसी स्थान में कोई प्रणयास्पद व्यक्ति के साथ जी खोलकर वार्त्तालाप कर रहा था और कोई विचित्र सामग्रियों से सुसज्जित पण्यमाला के भीतर प्रविष्ट होकर अपने अभिलषित वस्तु-समूह को क्रय कर रहा था। परन्तु उस लोक-समुद्र का भेदन कर के शुद्धचैतन्य इस अनुसन्धान में इधर-उधर विचर रहे थे कि मेला-भूमि में किस स्थान पर कौन साधु ठहरे हैं, किस स्थान पर कौन महापुरुष हैं, और कहाँ कौन योगीवर योगासन पर उपविष्ट हैं। इस के पश्चात् यदि कहीं किसी साधु महात्मा के दर्शन कर पाते तो उसी क्षण श्रद्धान्वित हृदय के साथ उन के पास बैठ कर विमर्श-परामर्श में सन्निविष्ट हो जाते। इस प्रकार साधु-सङ्ग और परमार्थ-प्रसङ्ग में उनके कई दिन अतिवाहित हो गये। परन्तु उन्हें यह निर्मल और पवित्र सुख अधिक दिन भोगने को नहीं मिला, क्योंकि उल्लिखित वैरागी से संवाद पाकर कर्शनजी कई सिपाहियों को साथ लेकर सिद्धपुर आ पहुँचे और मेला-भूमि में पुत्र का अनुसन्धान करने लगे। अन्त में शुद्ध-चैतन्य जिस-जिस स्थान में जाकर साधु जनों के साथ सदालाप करते थे उस-उस स्थान को उन्हों ने विशेष प्रकार से ढूंढा। एक दिन शुद्धचैतन्य प्रातःकाल नील कण्ठ के मन्दिर में साधु-सज्जनों से परिवृत होकर बैठे हुए थे कि इतने में ही सिपाहियों के साथ कर्शनजी एक दम उनके सामने आकर खड़े होगये। वह अतिशय अनुनय के साथ पिता की कोप-

सिद्धपुर के मेले में शुद्ध चैतन्य बालब्रह्मचारी की पिताजी से अन्तिम भेंट

पिता ने पकड़ लिया

शांति की चेष्टा करने लगे। इस सम्बन्ध में वह कहने लगे कि एक दुष्ट मनुष्य के परामर्श से प्रेरित होकर मैंने ऐसा किया है और इस कारण मैं हृदय में नितान्त अनुतप्त हूँ। मैं घर लौटने का ही उद्योग कर रहा था कि इतने में आप भी दैवात् आकर उपस्थित हो गये। इस लिये चलिये मैं इसी समय आप के साथ घर लौट जाऊंगा। इस प्रकार विनय करने और अपना अपराध स्वीकार करने पर भी पिता का कोपानल सर्वथा शांत नहीं हुआ। उन्होंने क्रोध के आवेश में मेरे पहने हुए वस्त्रों को टुकड़े-टुकड़े कर डाला, मेरे हाथ से तूंबी छीन कर दूर फेंक दी और मुझ पर गालियों की बोछार करने लगे और अंत में मुझे कहा कि तू मातृहन्ता है। उनके साथ घर लौट जाने की इच्छा प्रकट करने पर भी उन्होंने मेरे रक्षण और अवेक्षण का भार कई सिपाहियों को सौंप दिया। सिपाहीगण एक क्षण के लिए भी मुझे न छोड़ते थे। वह दिन-रात मेरे साथ रहने लगे।

पिता की कोपाग्नि को शान्त करने के पक्ष में शुद्धचैतन्य के उपर्युक्त वचनों में कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे सत्य का अपमान होता है। इसमें संशय नहीं कि उनकी यह बातें कि—'एक दुष्ट मनुष्य के परामर्श से प्रेरित होकर मैंने ऐसा किया है,' 'मैं इसी क्षण आपके साथ घर लौट जाने को उद्यत हूँ' इत्यादि सत्य के विरुद्ध हैं। इस प्रकार असत्य का आश्रय ग्रहण करना ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य की विपर्य्यस्त बुद्धि वा युवजनोचित चापल्य का ही परिचायक है, क्योंकि जब वह पिता की प्रकृति को अच्छे प्रकार जानते थे और जब वह इस प्रकार के असत्य से भी क्रुद्ध पिता के कोप को शान्त न कर सकते थे, तो इस प्रकार असत्य बोलने का प्रयोजन ही क्या था? परन्तु वह पिता की आकस्मिक उपस्थिति और पिता के आशा-विरुद्ध रुष्ट और कठोर व्यवहार से इतने भयभीत हो गये थे और उस भय के प्राबल्य से वह बुद्धि और विचार में इतने विपर्यस्त होगये थे कि वह कुछ भी स्थिर न कर सके कि क्या करूं, क्या कहूँ, पिता को कैसे शान्त करूं। ऐसी अवस्था में उन्हें यह देखने और समझने का भी अवसर नहीं मिला कि मिथ्या बोलने से ही पिता शान्तचित्त होंगे। यह सहज में अनुमान होता है कि जैसे मनुष्य कभी कभी किसी आकस्मिक विपद् वा प्रमाद के अभिघात के अवसर पर बुद्धि का परामर्श न लेकर विचारशीलता का अनुशीलन न करके, चित्तवृत्ति के हठात् आवेग में असत्य बोल देता है, ऐसा ही उपस्थित क्षेत्र में मूलजी ने भी किया था। और जैसे बुद्धि-विचार का परामर्श न लेकर आलोचना वा चिन्ता के आलोक से पुनः पुनः विचार न करके यदि कोई असत्य बोल दिया जाता है तो उस का वक्ता वा कर्त्ता बहुत दोषी नहीं हो सकता, वैसे ही वर्त्तमान स्थल में ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य भी मिथ्या को प्रश्रय देने से बहुत दोष के पात्र नहीं हो सकते। इस लिए उल्लिखित त्रुटि के कारण जो समालोचना की तीव्र शलाका लेकर दयानन्द के चरित्र को बींधने पर उद्यत और आनन्दित होते हैं उनसे बारंबार हम यही कहेंगे कि यह घटना केवल युवक दयानन्द की तत्सामयिक प्रमादग्रस्त वा चापल्य-परिचालित बुद्धि की परिचायक है, इसके सिवाय कुछ भी नहीं।

विशेष विनति के साथ क्षमा मांगने पर भी कर्शनजी का क्रोध किसी अंश में भी शान्त नहीं हुआ। इस ओर पुत्र भी पिता को क्रोधान्ध देख और पिता से इस प्रकार

तिरस्कृत हो अपने संकल्प में अचल और अटल हो गये। मैं गृहस्थ होकर नहीं रहूँगा, विवाह की शृङ्खला में नहीं बंधूँगा, जिस उपाय से भी हो उसी उपाय से योगाभ्यास करके मृत्यु-यन्त्रणा से निष्कृति प्राप्त करूँगा, इत्यादि विचार उनके चित्त में इतने प्रबल भाव से बद्धमूल हो गये थे, यह विचार उनके रक्त-मांस में ऐसे मिल गये थे, कि पिता का क्रोध, पिता की ताड़ना, पिता का तिरस्कार, शोककातरा माता का विलाप कुछ भी उन्हें विचलित न कर सका। मालूम होता है कि यदि संसार की कोई और प्रबलतर और तीव्रतर शक्ति भी प्रतिरोधिनी हो उनके सामने आकर खड़ी होती तो वह भी उन्हें विचलित न कर सकती। शरीर की क्षणभङ्गुरता, और संसार की अकिञ्चित्कारिता के भाव मन में साधारणतया वृद्धावस्था, वा विपन्न दशा वा दारिद्र-निपीडित अवस्था में ही उद्दीपित होते हैं; परन्तु एक धनी मानी का पुत्र होकर इक्कीस वर्ष की आयु में, यौवन के प्रथम उच्छ्वास में, भोगप्रलोभन के सुसज्जित भाण्ड के सम्मुख रहते हुए, संसार परित्याग करने का, वैराग्य का, तीव्र भाव उद्बुद्ध होकर उठा हो, यह विरले ही जीवनों में परिदृष्ट होता है। यहाँ एक बात और भी आलोचनीय है। किसी आकस्मिक विपद् के उपस्थित होने पर अथवा किसी अप्रत्याशित प्रबल प्रतिकूलता के सम्मुखीन होने पर, मनुष्य चाहे कितना ही विचारशील क्यों न हो प्रायः किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो कर चलचित्तता का परिचय दे बैठता है। परंतु मूलजी ने ऐसा परिचय नहीं दिया। ऐसी आकस्मिक विपत्ति में पड़कर भी वह एक क्षण के लिए भी अपने सङ्कल्पित विषय से च्युत नहीं हुए और यही नहीं बल्कि वह सदा ही सङ्कल्प-सिद्धि की चिन्ता में मग्न रहने लगे, और सुयोग की प्रतीक्षा करने लगे। पाठक ! देखो सिद्धपुर की मेला-भूमि के एक भाग में कर्शनजी खोये हुए पुत्र-रत्न को पाकर अतिशय आनन्दित हो रहे थे और मन में इस प्रकार की आनन्ददायिनी भावनाएँ कर के प्रसन्न और प्रफुल्लित हो रहे थे कि अब विवाह का आयोजन पूर्ण होगा और पुत्र का विवाह करके मैं संसार में सुखी हूँगा। उसी मेला-भूमि के दूसरे भाग में मूलजी सिपाहियों के पहरे में बैठा हुआ ऐसी चिंताओं से उद्विग्न हो रहा था कि मैं पिता के बन्धनों को पुनः तोड़ कर किस प्रकार निकल सकूंगा और किस प्रकार योग की सिद्धि करके चित्त की शान्ति प्राप्त कर सकूंगा। इस समय की व्यवस्था के विषय में मूलजी लिखते हैं:—"पिता के सङ्कल्प के समान मेरा सङ्कल्प भी अविचलित था। इस लिए मैं सिपाहियों के हाथ से निकलने के संयोग की सदा ही प्रतीक्षा करता रहता था। घटनावश उसी रात्रि को ही वह सुयोग मिल गया। जब रात्रि के तीन बजे तो मेरे रक्षकगण मुझे सोया हुआ समझ कर आप भी सोगये। तब मैं उत्तम सुयोग देखकर धीरे-धीरे उठा और लोटा हाथ में लेकर थोड़ी दूर बैठा बैठा चलकर वहां से निकला और मेरे भागने का समाचार पाने से पहले ही मैं एक मील दौड़ गया। मार्ग में जाते-जाते मुझे एक बड़ का वृक्ष दिखाई दिया। उस वृक्ष के नीचे पहुँच कर मैंने देखा कि उस की कुछ शाखा-प्रशाखाएँ एक देव मन्दिर के ऊपर झूल रही हैं। मैं जल्दी से उस पर चढ़ गया और उसकी जो घनपल्लवावृत शाखा-प्रशाखाएँ मन्दिर के गुम्बज से लगी हुई थीं उन्हीं में छिप कर बैठ गया। और यह प्रतीक्षा करता रहा कि भविष्यत् में और क्या होगा ? उषाकाल होने पर मैंने उस गुम्बज़ के छिद्र से देखा कि सिपाही गण मुझे ढूंढते हुए इधर उधर दौड़ रहे हैं। वह घूमते-घूमते उसी मन्दिर के

भीतर आपहुँचे। मैं इस समय श्वास-प्रश्वास रोक कर सर्वथा सम्पद्-हीन होकर बैठ गया। जब सिपाही गण मन्दिर के बाहर और भीतर अच्छी तरह देख भाल कर मेरा अनुसन्धान पाने में असमर्थ रहे तो यह समझ कर कि वह रास्ता भूल कर उधर चले आये हैं वहाँ से लौट गये। मैंने यह समझ कर कि पीछे कहीं और किसी नई विपत्ति में न फंस जाऊं, सारा दिन गुम्बज के ऊपर बैठे-बैठे काटा। सायङ्काल के होते ही मैं वृक्ष से नीचे उतर कर विरुद्ध मार्ग से चल दिया। मैं प्रसिद्ध रास्ते से नहीं गया और न मैंने मार्ग के विषय में किसी से बहुत जिज्ञासा की। जिस अहमदाबाद में लौटने की मेरी इच्छा न थी उसी अहमदाबाद में मैं घूम फिर कर पहुँच गया। अहमदाबाद पहुँच कर मैं तुरन्त ही बड़ोदा की ओर चल दिया।"

उपर्युक्त वर्णन के पढ़ने से ज्ञात होता है कि पिता के हाथ से छुटकारा पाने और प्रव्रज्या के मार्ग पर पुनर्वार चलने के लिये मूलजी को विशेष कौशल का अवलम्बन और विशेष क्लेश का सहन करना पड़ा। संसार से वीतस्पृह होकर कपिलवस्तु के युवराज प्रव्रजित अवश्य हुए थे, परन्तु उन्हें प्रव्रज्या के मार्ग में इस प्रकार कष्टसहन करने नहीं पड़े थे। जब राजप्रासाद निद्रा की गोद में सो रहा था, राजा-रानी, पुत्र-वधू, परिचारक-परिचारिका, सब ही सुषुप्त थे, और शुद्धोदन का विशाल राज-भवन रात्रि की निस्तब्धता में स्थिर, धीर और प्रशान्त था, ऐसे समय में शाक्यसिंह अपने सेज से उठे और छन्दक नामी भृत्य को साथ लेकर बिना रोक-टोक के प्रव्रज्या के मार्ग पर चल निकले। प्रव्रज्या के मार्ग में भी उन्हें कोई रोक-टोक नहीं हुई। गौतम बुद्ध की प्रव्रज्या का मार्ग कण्टकशून्य था, परन्तु दयानन्द की प्रव्रज्या का मार्ग कण्टकपूर्ण था। और कण्टकपूर्ण होते हुए और बाधाओं से प्रतिहत होते हुए भी टङ्कारा की यह उदीच्य-ब्राह्मण-सन्तान प्रव्रज्या के मार्ग में दृढ़ और अटल रही। उसके लिए उसने कौन सा कष्ट था जो नहीं सहा? सिद्धपुर से पिता के पास से पलायन करते समय थोड़ी दूर तक घुटनियों चलकर गये, एक मील तक दौड़े और एक विशाल वृक्ष पर चढ़कर छिपे बैठे रहे, रात्रि के अवशिष्ट भाग और सारे अगले दिन अर्थात् प्रायः पन्द्रह घण्टे एक आसन, बिना खाये, वृक्ष-शाखाओं में छिपे रह कर, जल की एक बूंद तक न पीकर समय काटते रहे। कोई देख न पावे इस अभिप्राय से सन्ध्या समय वृक्ष से नीचे उतरे और रात्रि में जब कि सारे प्राणी अपने अपने आश्रय-स्थानों में विश्राम करते हैं शुद्धचैतन्य ने यात्रा का आरम्भ किया। मार्ग के सम्बन्ध में किसी से पूछा तक नहीं। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रह कर उन्होंने उसी अहमदाबाद में पदार्पण किया जहाँ जाने का उन्होंने विचार भी नहीं किया था। हमें सन्देह है कि वैराग्य के मार्ग में अविचलित रहने के सङ्कल्प में इस प्रकार क्लेशों को सहन करने का उदाहरण और किसी मनुष्य में देखा जाता है वा नहीं।

अहमदाबाद से वह बड़ोदा आये। बड़ोदा में किसी योगी का सन्धान न पाकर वह वहाँ के एक मठ में गये। उस मठ का नाम था चेतनमठ। मठ में ब्रह्मानन्द आदि संन्यासियों और ब्रह्मचारियों से नवीन वेदान्त पर आलोचना हुई। इस आलोचना का यह फल निकला कि उन्होंने जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार कर ली। इस विषय में शुद्धचैतन्य कहते हैं:—"इस तत्व को कि मैं ही परब्रह्म हूँ ब्रह्मानन्द और अन्य संन्यासियों

ने मुझे उत्तम रूप से समझा दिया। इससे पहिले यद्यपि वेदान्त पढ़ने के समय मैंने कुछ कुछ समझा था अवश्य, परन्तु उनके साथ चर्चा और बात चीत से सर्वतोभावेन सन्देह मुक्त होकर मैं अपने को ब्रह्म समझने लगा"। बड़ोदा में उनको एक स्त्री ने पहचान लिया अतः वह वहाँ से एक निकटवर्त्ती स्थान पर एक विद्वानों के सम्मेलन में चले गये। उस समय बड़ोदा अञ्चल में सच्चिदानन्द परमहंस नाम से एक तत्वज्ञानपरायण और बहुत लोगों के श्रद्धाभाजन परमहंस रहते थे शुद्धचैतन्य इन परमहंस के पास जाकर नाना तत्वज्ञान के विषयों पर उनसे वार्त्तालाप करने लगे। और सच्चिदानन्द के मुख से यह सुन कर कि नर्मदा के तीर पर चाणोद कर्णाली※ की पवित्र भूमि बहुत से साधु संन्यासियों की निवास भूमि है वह चाणोद कर्णाली को चल दिये।

चाणोद कर्णाली पहुंचने के पीछे की घटना के विषय में शुद्धचैतन्य ने लिखा है:— "वहाँ मैंने कई ब्रह्मचारियों, चिदानन्द† प्रभृति संन्यासियों और कई योगदीक्षित साधु-

---

※ चाणोद और कर्णाली एक दूसरे के पास दो अलग-अलग स्थान हैं। दोनों ही नर्मदा के तट पर हैं। चाणोद और कर्णाली के बीच में ओर वा ऊरी नाम की नदी नर्मदा में गिरती है। नर्मदा माहात्म्य में लिखा है कि ऊरी और नर्मदा के सङ्गम के निकट किसी गुप्त स्थान में सरस्वती भी आकर नर्मदा में मिल गई है। इसी कारण से कोई-कोई चाणोद कर्णाली को दक्षिण प्रयाग कहते हैं। चाणोद एक छोटा-सा नगर है। बड़ौदा की स्टेट रेलवे की डाबूई लाईन चाणोद में आकर समाप्त होगई है। चाणोद में एक रेलवे स्टेशन भी है। इसके अतिरिक्त वह बड़ोदा की एक तहसील भी है और गायकवाड़ सरकार के वहाँ वैमटदार, पुलिस आदि भी रहते हैं और जेलखाना प्रभृति भी हैं। कर्णाली किसी अंश में भी नगर नहीं है। परन्तु पवित्रता, कोलाहल-शून्यता और रमणीयता में चाणोद से कर्णाली ही श्रेष्ठ है। उसे शान्त-रसास्पद तपोभूमि भी कह सकते हैं। वहां कुबेरेश्वर, सोमेश्वर, पावकेश्वर आदि के मन्दिर हैं। कुबेरेश्वर के घाट पर खड़े होकर नर्मदा के विशाल वक्ष पर नेत्रपात करके मन में एक इस प्रकार के भाव का समावेश होता है जिसे लिखकर नहीं समझा सकते। यद्यपि नर्मदा के दोनों तटों की भूमि देव-भूमि के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु चाणोद कर्णाली के पास की भूमि और भी पवित्र और देवभावापन्न है। इन्हीं सब कारणों से साधु, संन्यासी, विरक्त और परमहंस प्रभृति में से अनेक लोग चाणोद कर्णाली में आकर रहते हैं और स्वच्छन्द चित्त होकर परमार्थ-चिन्तन करते हैं। एक ओर संन्यासी परमहंस आदि के समागम स्थान होने से और दूसरी ओर वेदान्तादि शास्त्रों के अनुशीलन से चाणोद कर्णाली दक्षिण पथ की काशी गिनी जाती है। ऐसा प्रवाद है कि इस स्थान के पास ही चण्ड-मुण्डासुर मारे गये थे, इसीसे इसका नाम चाणोद हुआ है।

† वेदान्तशास्त्र में विशेष पाण्डित्य के कारण चिदाश्रम "वेदान्त स्वामी" के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। चिदाश्रम के समान वेदान्त-विद्यापरायण और वेदान्ततत्वनिष्ठ संन्यासी उस समय अति दुर्लभ थे। वह वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार तद्गत रहते थे कि जब कोई आगन्तुक व्यक्ति उनके पास जाता तो और अधिक बातचीत उससे न करके वेदान्तविषय में ही

महात्माओं के दर्शन किये। इससे पहले योगदीक्षित साधुओं को कभी नहीं देखा था, प्रथमतः कई दिन के शास्त्रालाप के पीछे मैं एक दिन परमानन्द परमहंस के पास गया और उनसे शिक्षा देने की प्रार्थना की। कुछ महीनों में ही मैंने वेदान्तसार और वेदान्त-परिभाषा के ग्रन्थों को पढ़ लिया।" चाणोद, कर्णाली की अवस्थिति के दिनों में शुद्धचैतन्य के मन में संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गई। किन-किन कारणों से उनमें इन इच्छाओं का उदय हुआ उनके विषय में वह लिखते हैं—"चूंकि मैं ब्रह्मचारी था इस लिये मुझे ही अपने हाथ से भोजन पकाना पड़ता था। इससे अध्ययन में विघ्न होता था, विशेष कर इस कारण से भी कि मैंने उस समय तक अपना नाम नहीं त्यागा था। पितृ-कुल की प्रसिद्धि के कारण कोई बात करने में मुझे पहचान ले और यह जान ले कि अमुक कुल की सन्तान हूं, इससे सदा भयभीत रहता था और अपना नाम बदलने के लिये भी चिन्तित रहता था। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने से यह दोनों अड़चनें मिट जावेंगी अतः मैं संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने के लिये उत्सुक था।"

संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करने पर वह गुरु के निर्वाचन की चेष्टा करने लगे। और ऐसे विचारों से उनका चित्त आन्दोलित होने लगा कि किसको गुरु रूप से वरण करें, किस व्यक्ति के पास संन्यास की दीक्षा ग्रहण करें। उन्होंने एक दक्षिणी पण्डित से अनुरोध किया कि आप मुझे संन्यास की दीक्षा उनसे दिला दें जो चाणोद में रहने वाले योग-दीक्षित साधुओं में शास्त्रदर्शिता में अग्रणी हैं, अर्थात् चिदाश्रम स्वामी से। हम नहीं कह सकते कि उस दक्षिणी पण्डित द्वारा वह अनुरोध स्वीकृत हुआ वा नहीं, परन्तु उल्लिखित योगदीक्षित साधु शुद्धचैतन्य को उनकी छोटी आयु के कारण संन्यास दीक्षा देने में सहमत नहीं हुए❀। इस स्थान में यद्यपि मूलजी को व्यर्थमनोरथ होना पड़ा, परन्तु वह सर्वथा निराश नहीं हुए, क्योंकि वह कहते हैं:—"इस घटना के कई मास पीछे दो विरक्त पुरुष दक्षिणापथ से आकर एक टूटे हुए घर में जो जङ्गल में था ठहरे थे। जहाँ मैं रहता था वहाँ से वह घर प्रायः एक कोस था। उन विरक्त पुरुषों में से एक ब्रह्मचारी और दूसरा संन्यासी था। पूर्वोक्त दक्षिणी पण्डित को इन नवागत साधुओं के दर्शन की अभिलाषा हुई और वह मुझे साथ में लेकर उनके पास पहुँचे। मेरे मित्र वेदान्तशास्त्र में विशेषरूप से पारदर्शी थे। उन्होंने साधुओं के साथ ब्रह्मविद्या की आलोचना प्रारम्भ की। उनकी परस्पर की आलोचना से ज्ञात हुआ कि उन दोनों में से हर एक प्रगाढ़ पण्डित था। उन्होंने कहा कि हम शृङ्गवेरी मठ से आ रहे हैं जो दक्षिणापथ में शङ्कराचार्य्य का स्थापित किया हुआ है और द्वारका को जा रहे हैं। उनमें से एक का नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उनसे अपने लिये सविशेष उपरोध करने के लिए मैंने दक्षिणी पण्डित से कहा।

बात करने लगते थे। चिदाश्रम के प्रभाव से ही चाणोद, कर्णाली में तत्त्वजिज्ञासु संन्यासी परमहंसगण का समागम होता रहता था। चिदाश्रम स्वामी काशी के अतिप्रसिद्ध वेदान्तिक गौड़ स्वामी के गुरु भाई थे।

❀ स्वामी सत्यानन्दजी ने 'दयानन्द-प्रकाश' में लिखा है कि नर्मदा तट पर शुद्धचैतन्य डेढ़ वर्ष रहे। —संग्रहकर्ता.

उसके अनुसार उक्त पण्डित ने मेरे सम्बन्ध में पूर्णानन्द से कहा कि यह एक युवक ब्रह्मचारी हैं। इनकी यह बहुत इच्छा है कि मैं निर्विघ्न होकर वेदान्तशास्त्र पढ़ूँ। पण्डितजी ने कहा कि मैं साक्षी दे सकता हूँ कि इनका स्वभाव, चरित्र बहुत ही शुद्ध और निर्मल है। इन सब कारणों से मेरे विचार में यह संन्यासाश्रम ग्रहण करने के योग्य हैं, यद्यपि संन्यासाश्रम अतीव कठिन और सर्वश्रेष्ठ है। यह कह कर उन्होंने पूर्णानन्द से मुझे संन्यास की दीक्षा देने का अनुरोध किया और उसके साथ यह भी कहा कि संन्यासाश्रम में प्रवेश करके यह सब प्रकार से सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जायंगे और ब्रह्मविद्या की आलोचना के मार्ग पर विना रुकावट के आगे बढ़ सकेंगे। दक्षिणी मित्र के उल्लिखित अनुरोध पर पूर्णानन्द ने पहिले तो आपत्ति की और कहा कि दीक्षार्थी की आयु अधिक नहीं है और यह गुजराती और मैं महाराष्ट्र हूँ, फिर मैं इन्हें कैसे दीक्षा दे सकता हूँ। इन्हें किसी गुजराती स्वामी से ही दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह सुन कर मेरे दक्षिणी मित्र ने कहा कि जब दक्षिणी स्वामीगण गौड़ादि को भी दीक्षित कर सकते हैं तो इन दीक्षार्थी को क्यों दीक्षा नहीं दे सकते? क्योंकि यह तो पञ्च द्राविड़ों के ही अन्तर्गत हैं*। पूर्णानन्द इस पर सम्मत हो गये और तीसरे दिन दीक्षित करके मुझे 'दयानन्द सरस्वती' नाम प्रदान कर दिया। दीक्षा के पश्चात् गुरुदेव की आज्ञा लेकर मैंने दण्ड उनके अर्पण कर दिया क्योंकि दण्ड को पास रखने से दण्डसम्बन्धी कुछ क्रियाओं में व्यापृत रहना पड़ता और उससे ज्ञानालोचना में व्याघात पड़ता।"

यह दक्षिणापथ से आये हुये दोनों साधु चले गए†। चाणोद में कुछ दिन ठहर कर दयानन्द व्यासाश्रम चले गये, क्योंकि उस समय योगानन्द‡ नामी एक योग-विशारद

* ब्राह्मणादि वर्णगत और एक एक वर्ण के भिन्न २ प्रशाखागत पार्थक्य भारतवासियों की प्रकृति में इतना घुस गया है कि जो लोग ज्ञान और धर्म्म में अपने को सर्वोन्नत कहते हैं, जो वर्णाश्रम की सीमा से बाहर जाकर उदार, उन्मुक्त और सर्वतोभावेन असाम्प्रदायिक भूमि के ऊपर खड़े होते हैं, वह भी अवस्थाविशेष वा अनुष्ठानविशेष में इस पार्थक्य को किसी न किसी अंश में मानते हैं। इसलिए संसार-त्यागी संन्यासियों को भी पञ्चगौड़ और पञ्च-द्राविड़ का भेद मानते हुए देखा जाता है। इसलिए कोई गौड़ संन्यासी किसी द्राविड़ दीक्षार्थी को संन्यास दीक्षा देना नहीं चाहते और द्राविड़ स्वामी किसी गौड़ को शिष्य नहीं करते। यह तो हुआ शाखागत भेद, संन्यासी लोग प्रशाखागत भेद को भी अनुसरण करते हैं। इसका प्रमाण ऊपर की घटना है। क्योंकि पूर्णानन्द और दयानन्द दोनों पंचद्राविड़ के अन्तर्गत थे तो भी पूर्णानन्द ने इस कारण कि वह महाराष्ट्र और दयानन्द गुजराती थे कितना इतस्ततः किया। जो विश्व-मित्र हैं और जिन्होंने विश्व के मङ्गल के लिये ही जीवनोत्सर्ग किया है उनके लिए गौड़पन और द्राविड़पन कैसा?

† छज्जूसिंह के पूर्वोक्त अंग्रेज़ी दयानन्दचरित के प्रथम भाग के ३४ पृष्ठ पर लिखा है कि "दयानन्द स्वामी पूर्णानन्द के कुछ दिन पास रहकर और योगाभ्यास करके द्वारका चले गये थे। यह सर्वथा निर्मूल है।

‡ ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य की चाणोद की अवस्थिति और संन्यासग्रहण के विषय में कोई

योगी वहां रहते थे। इस कारण वह आग्रह के साथ व्यासाश्रम जाकर योगानन्द से योग-शिक्षार्थी हुए। इस विषय में वह लिखते हैं:—"योगानन्द के पास मैं योग की शिक्षा भी प्राप्त करने लगा और कुछ योग-क्रियाओं का अनुष्ठान भी करने लगा।" उनके पास योग की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करके दयानन्द छिनूर चले※ गये। छिनूर में कृष्णशास्त्री नामक एक पण्डित से कुछ दिन व्याकरण पढ़कर फिर चाणोद वापस आ गये और उसवार वहाँ कुछ और अधिक समय तक ठहरे। इस वार उनका दो योगियों से साक्षात् हुआ और वह उनके साथ मिल कर योगाभ्यास में लग गये, योग एक दुरूहतर तत्व है और उसमें सिद्धि प्राप्त करना विशेष साधन-सापेक्ष है। इस लिए इस दुरूहतर तत्व की आलोचना के लिए यह तीनों जने समय समय पर एकत्र होने लगे। इन दोनों योगियों में से एक का नाम शिवानन्द गिरी और दूसरे का नाम ज्वालानन्द पुरी था। यह दोनों कुछ दिन पीछे चाणोद से चले गये और दयानन्द से कह गये कि एक मास पीछे अहमदाबाद के दुग्धेश्वर के मन्दिर में उनके साथ साक्षात् हो सकेगा। योगजिज्ञासु दयानन्द ने ठीक ऐसा ही किया। वह एक मास पीछे दुग्धेश्वर के मन्दिर में जाकर उनसे मिले। दुग्धेश्वर के मन्दिर में जाकर साक्षात् करने पर हम तुम्हें "योगविद्या के रहस्य और चरम प्रणाली के विषय में शिक्षा देंगे।" यह बात वह दयानन्द से चाणोद से चलते समय कह गये थे। इस लिये दयानन्द अतीव उत्सुकता के साथ दुग्धेश्वर के मन्दिर में जा पहुँचे। वहाँ इन दोनों योगियों ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। इस सम्बन्ध में स्वामीजी स्वयं लिखते हैं:—"योगविद्या की जो कुछ भी क्रियागत शिक्षा थी वह मैंने उन्हीं दोनों साधुओं से पाई है और मैं उनके कृतज्ञता-पाश में बद्ध रहा हूँ।"

योगशिक्षा

परन्तु योग की क्रियागत चरम शिक्षा को पाकर भी दयानन्द तृप्तचित्त नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि:—"जब मैंने सुना कि अब तक जो शिक्षा जिन योगियों के

कुछ कह सकते हैं वा नहीं यह जानने के लिए देवेन्द्र बाबू चाणोद कर्णाली गये थे, परन्तु दुःख है कि न तो चाणोद में ही और न कर्णाली में ही कोई वृद्ध पुरुष मिला जो उस समय की घटना के सम्बन्ध में कोई संवाद दे सकता। परन्तु कर्णाली के क़िलेदार के मन्दिर में विनायक शास्त्री पण्डित के साथ इस विषय पर उनकी बातचीत हुई थी। यद्यपि शास्त्रीजी दयानन्द की चाणोद-अवस्थिति, अध्ययन, संन्यास ग्रहण के विषय में कुछ न बतला सके तथापि उन्होंने बारम्बार स्वीकार किया कि वह व्यासाश्रम के योगानन्द को जानते थे और योगानन्द एक प्रसिद्ध योगी थे। शास्त्रीजी की बातों से ज्ञात हुआ कि वह तीस वर्ष से अधिक समय से कर्णाली में वास करते हैं।

※ उल्लिखित बाबा छज्जूसिंह ने पूर्वोक्त अंग्रेज़ी पुस्तक के प्रथम भाग के ३४ पृष्ठ पर लिखा है:—"स्वामीजी व्यासाश्रम से चित्तौड़ गये थे।" केवल बाबा छज्जूसिंह ने ही नहीं, लाला लाजपतराय ने भी उल्लिखित हिन्दी चरित में यह बात दुहराई है कि स्वामीजी व्यासाश्रम से चित्तौड़ गये थे। यह विशेष रूप से मालूम होता है कि बाबा छज्जूसिंह और लाला लाजपतराय राय दोनों में से किसी ने भी दयानन्द के स्वलिखित आत्मचरित को मनोयोग देकर नहीं पढ़ा है।

साक्षात् वा सङ्ग से मैंने पाई है उससे भी उच्चतर शक्तिसम्पन्न और योगविद्या में अधिकतर निपुण योगीगण विद्यमान हैं और उनमें से कोई कोई राजपूताना के आबू पहाड़ पर रहते हैं।" तब उन्होंने दुग्धेश्वर के मन्दिर से प्रस्थान करके विना विलम्ब के आबू की यात्रा की। आबू पहुँच कर उन्होंने सब स्थानों में जो पवित्र स्थान प्रसिद्ध थे, अन्वेषण करने आरम्भ किये और भवानी गिरि नामक एक शृङ्ग पर एक महात्मा से साक्षात् किया और उनसे भी योगक्रिया के विषय में कुछ-कुछ शिक्षा प्राप्त की। परन्तु इस से भी उनकी योग-पिपासा की तृप्ति नहीं हुई। अतः एक बार उत्तराखण्ड में भली भांति घूम फिर कर वह देखने के सङ्कल्प से आबू से हरिद्वार की ओर चले गये, इस लिए कि जैसे नर्मदातट संसार से विरक्त साधुगण की आश्रय-भूमि प्रसिद्ध है, ऐसे ही उत्तराखण्ड सिद्ध तापसगण की निवास भूमि प्रसिद्ध है।

नर्मदा तट, आबू पर्वत और दूसरे स्थानों में घूमते फिरते और कहीं कहीं ठहरते-ठहराते दयानन्द के सात आठ वर्ष व्यतीत हो गये। वह संवत् १९११* में आबू से हरिद्वार आकर पहुँचे। उस समय हरिद्वार में कुम्भ का समागम हो रहा था। इस सम्बन्ध में दयानन्द ने लिखा है:—"मैंने हरिद्वार का वह पहिला ही कुम्भ देखा था। मैं ने यह कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कुम्भ के मेले में इतने त्यागी और तत्वदर्शी पुरुष आवेंगे।" जितने दिन मेला रहा उतने दिन वह चण्डी के जङ्गल में रहकर योग का अनुशीलन करते रहे और मेले की समाप्ति पर हरिद्वार से हृषीकेश जाकर योगाभ्यास करने लगे। हृषीकेश में वह कभी अकेले और कभी किसी शुद्धस्वभाव त्यागी के साथ मिलकर योगाभ्यास करते रहे। वहाँ निर्जन प्रदेश में कुछ समय इस प्रकार बिता कर वह टेहरे चले गये। इस समय दयानन्द के साथ एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु थे। टिहरी की घटना के विषय में दयानन्द ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है:—"टिहरी स्थान को मैंने केवल साधुओं और राजपण्डितों से पूर्ण देखा। एक दिन एक राजपण्डित दोपहर के भोजन के लिए मुझे निमन्त्रण दे गया। निर्दिष्ट समय पर उसके घर से एक मनुष्य आया और मैं पूर्वोक्त ब्रह्मचारी को साथ लेकर उस मनुष्य के साथ २ चला गया। परन्तु उसके घर में घुसते ही मैंने सब से पहले देखा कि एक ब्राह्मण कुछ मांस काट रहा है। इसके पश्चात् कुछ और आगे बढ़कर मैंने देखा कि कुछ पण्डित एक मांसराशि, मारे हुए पशु के शिर और दूसरे अङ्ग प्रत्यङ्ग समन्वित, मांस-राशि को आगे धरे हुए बैठे हैं। निमन्त्रणकर्त्ता के आदर अभ्यर्थना करने पर भी मैं वहाँ न ठहर सका और इस आशङ्का से कि मेरे वहाँ रहने से उस पवित्र कार्य में व्याघात न पड़े मैं एक बात भी न कहकर गृहस्वामी से विदा होकर अपने स्थान को लौट आया। कुछ मिनट पीछे ही वह मांसाहारी पण्डित मेरे पास आकर उपस्थित हो गया और मुझ से विनयपूर्वक यह कह कर कि मेरे भोजन के लिये ही उसने वह मांस प्रस्तुत किया था मुझे दुबारा अपने घर ले जाने के लिए बारम्बार अनुरोध करने लगा। मैंने तब उस से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि आप मांसाहारी हैं और मैं एक घोर निरामिष भोजी हूँ, मांस खाना

---

* संवत् १९११ का अन्तिम भाग समझना चाहिये, क्योंकि कुम्भ संवत् १९१२ के आदि में था। अतः संवत् १९११ के अन्त में ही कुम्भ का समारोह होना संभव है। —संग्रहकर्त्ता।

तो दूर रहा, मांस के दर्शन से ही मुझ में अत्यन्त उद्रेक हो जाता है। ऐसी दशा में मेरे भोजन के लिए मांस तैयार करना सर्वथा ही वृथा था। यदि मुझे भोजन कराने की बहुत ही इच्छा है तो कुछ फल, अन्नादि भेज सकते हैं, मैं उसे ब्रह्मचारी द्वारा पकवा कर यहीं भोजन कर लूंगा। यह सुनकर निमन्त्रणकर्त्ता दुःखी सा हो गया और पीछे से उसने कुछ फल, अन्नादि भेजकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।"

टिहरी में रहते समय ग्रन्थ पढ़ने की इच्छा होने पर और पूर्वोक्त राजपण्डित से उसे प्रकट करने पर राजपण्डित बोलाः—यहाँ साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष और तन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ मिल सकते हैं। दयानन्द ने तब तक कोई तन्त्रग्रन्थ नहीं पढ़ा था, यहाँ तक कि तन्त्र ग्रन्थ कैसे होते हैं यह भी उन्हें ज्ञात न था। इसलिए पण्डित से उन्हीं के लाने के लिए उन्होंने अनुरोध किया। पण्डित ने कई तन्त्रग्रन्थ ला कर उपस्थित कर दिये। जब उन्हें पढ़ा तो उनमें अशुद्ध शब्द, अशुद्ध व्याख्या और नाना प्रकार की असङ्गति के दोष देखकर और उनमें अभावनीय अश्लीलता का समावेश देख कर दयानन्द चित्त में डर गये। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं:—"जब मैंने देखा कि तन्त्र-ग्रन्थों में मातृ-गमन, कन्या-गमन, भगिनी-गमन, चाण्डाली-गमन और चमारी-गमन तक का समर्थन किया गया है, नंगी स्त्रियों की पूजा करनी लिखी है, सब प्राणियों के मांसाहार, मत्स्याहार और मद्यपानादि क्रियाओं को ग्रहण किया गया है, एक शब्द में, पञ्चमकारान्तर्गत सारे पैशाचिक अनुष्ठानों की ब्राह्मण से लेकर चमार तक के लिए व्यवस्था की गई है और, इससे भी बढ़कर, इन पैशाचिक अनुष्ठानों को अनन्त मुक्ति का उपाय बताया गया है। यह सब देख कर मुझे इतना विस्मय हुआ जिसकी कोई सीमा नहीं। इन तन्त्र-ग्रन्थों को पढ़ कर मैंने उज्ज्वल रूप से जान लिया कि ऐसे जघन्य ग्रन्थों को लिख कर धूर्त्त और दुष्ट लोगों ने उन्हें धर्म्मशास्त्र के नाम से प्रचरित किया है❀।"

इस प्रकार कुछ समय व्यतीत करके दयानन्द टिहरी से श्रीनगर आये। वहाँ से केदारघाट रमणीय स्थान में पहुँचे और वहाँ के मन्दिर में रहने लगे। तन्त्र ग्रन्थों में घोर

❀ तन्त्रग्रन्थों पर इस प्रकार के आक्रमणों को देखकर एक बङ्गाली ने फ़र्वरी सन् १८८० ई० के थिओसोफ़िस्ट पत्र (The Theosophist) के पृष्ठ ११२ पर जो कुछ लिखा था उसका सारांश यह थाः—"स्वामी दयानन्द ने भ्रान्ति के वशीभूत होकर ही तन्त्रों की इस भाँति निन्दा की है, मालूम होता है कि उन्होंने कृष्ण तन्त्रों (Black Tantras) को देखकर ही अत्यन्त विरक्त होकर तन्त्रों पर इस प्रकार का आक्रमण किया है। तन्त्र ही एक मात्र शास्त्र हैं जिनमें मानव प्रकृति के गूढ़ तत्व निहित हैं, और जिनमें वेद, सांख्य और पातञ्जल प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा योगविद्या की अधिक शिक्षा दी गई है।" बङ्गाली लेखक के लिए ऐसा कहना उपयुक्त ही है, क्योंकि बङ्गाली पण्डितों की धूर्त्तता और कुटिलता-मिश्रित बुद्धि ही से तन्त्र ग्रन्थों की उत्पत्ति हुई है। उपर्युक्त लेख में एक नई और निर्मूल बात पाई जाती है, वह यह है कि कोई कृष्ण तन्त्र या (Black Tantra) हैं। तो क्या शुक्ल तन्त्रों के नाम से भी कोई ग्रन्थ हैं ? जो चौंसठ तन्त्र ग्रन्थ बङ्गाल में प्रचलित हैं उनके विषय में क्या कोई कह सकता है कि उनमें से अमुक शुक्ल तन्त्र हैं और अमुक कृष्ण तन्त्र हैं ?

पैशाचिक क्रियाओं का उपदेश देखकर और विशेष कर इन पाशविक क्रियाओं के उपदेशों से परिपूर्ण ग्रन्थों को धर्म्मशास्त्रों के भीतर परिगणित देखकर, वह विस्मित भी हुए और उत्तेजित भी। और इसीलिये केदारघाट के किसी पण्डित व पुजारी से जब कभी किसी शास्त्रीय विषय पर बात चीत होती तो तुरन्त ही तन्त्रों का उल्लेख करके वह उसे निरुत्तर कर दिया करते। वहाँ एक निर्मलचरित्र साधु गङ्गागिरि नामक से उनका परिचय हो गया। वह परिचय धीरे-धीरे प्रीति में परिणत हो गया। गङ्गागिरि के सम्बन्ध में दयानन्द ने लिखा है:—"जब हम दोनों जने इकट्ठे होते, तो कभी योगतत्व की आलोचना करते वा किसी अन्य तत्व के ऊपर विचार करते और गुप्त रीति से परस्पर वार्त्तालाप करने का आनन्द लेते। मुझे यह मालूम हो गया कि हम दोनों एक दूसरे के योग्य हैं। गङ्गागिरि का संसर्ग इतने आकर्षण की वस्तु हो गई कि मैं उनके साथ दो मास से भी अधिक रहा।" इस प्रकार केदारघाट में वर्षाकाल अतिवाहित करके दयानन्द उसी ब्रह्मचारी और दोनों पहाड़ी साधुओं को साथ लेकर वहाँ से चल दिये और रुद्रप्रयाग और अगस्त्य मुनि के आश्रम आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए शरत्काल समाप्त करके शिवपुरी नामक शैलशृङ्ग पर पहुँचे और वहाँ ही शीतकाल बिताया। शिवपुरी जाते समय वह ब्रह्मचारी और दोनों साधु कहीं चले गये। वहाँ सर्व प्रकार से स्वतन्त्र और अबाध-सङ्कल्प होकर वह शिवपुरी से नीचे उतरे और चारों ओर घूमते हुए और गुप्तकाशी, गौरीकुंड, भीम-गुफा और त्रियुगीनारायण के मन्दिर देखते हुए कुछ दिन पीछे दयानन्द फिर केदारघाट आ पहुँचे। प्राकृतिक रमणीयता के कारण से हो अथवा और किसी कारण से, केदारघाट दयानन्द के लिये एक प्रीतिप्रद स्थान हो गया था। जब तक उनके उपर्युक्त तीनों साथी लौटकर केदारघाट न आगये तब तक वह वहाँ ही रहे। केदारनाथ के मन्दिर के पण्डे और पुजारी जङ्गम-सम्प्रदाय के लोग थे और दयानन्द को उस सम्प्रदाय की रीति-नीति और रहस्य जानने की इच्छा थी, इस कारण वह उन पण्डे और पुजारियों से ख़ूब मेल-जोल रखने लगे और इस प्रकार उन्होंने उक्त सम्प्रदाय के विषय में सब ज्ञातव्य बातें जान लीं।

उस समय यद्यपि शीत ऋतु का अन्त हो गया था, परन्तु पर्वतीय देशों में और विशेष कर हिमालय की ऊँची चोटियों में शीत का सवर्था लोप नहीं हुआ था। पर्वतों के ऊँचे भाग तब तक बरफ़ से ढके हुए थे और निर्मल धवल मूर्त्ति धारण किये हुए विराज रहे थे। दयानन्द केदारघाट में रहकर शैलशृङ्गमाला की ऐसी मनोहारिणी मूर्त्ति का अवलोकन करते थे और सोचते थे कि सम्भवतः इन्हीं दुरारोह और हिममाला-मण्डित हिमालय के शिखरों पर ही योगसिद्ध तापसगण निवास करते हैं। ऐसे विचारों का कारण यह था कि उस समय तक उन के चित्त में सब से ऊँचा स्थान इसी इच्छा का था कि योगसिद्ध तापसों का पता लगाकर उनके संसर्ग में रहें और उनसे योगसाधन सीखें। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं:—"चारों तरफ़ बहुकालव्यापी बरफ़ से ढके हुए और कहीं-कहीं सञ्चरणशील हिमस्तर से परिशोभित पर्वतमालाओं में भ्रमण करने के लिये मैं उत्सुक हो गया, क्योंकि यद्यपि मैंने स्वयम् अपनी आखों से न देखा था तथापि मैंने

सुना था कि उल्लिखित पर्वतमाला में स्थान-स्थान पर महापुरुष-गण अवस्थिति करते हैं और यह निश्चय करने के लिये कि महापुरुष-गण इन स्थानों में अवस्थिति करते हैं कि नहीं मैंने पर्वतमाला में चारों ओर अनुसन्धान करने का सङ्कल्प किया, परन्तु दारुण शीत और पर्वत के भीषण मार्गों की भीषण विघ्न-बाधाओं का चिन्तन करके मैंने पहले पहाड़ी लोगों से इस विषय में पूछ-ताछ की। जिस पहाड़ी से भी मैंने पूछा उसी ने मुझे महामूर्ख अथवा महाभ्रान्त समझा। इस प्रकार बीस दिन तक व्यर्थ इधर उधर घूमकर मैं निरुत्साह हो गया। अन्त में मैंने अकेले ही घूमना आरम्भ किया क्योंकि मेरे साथी ब्रह्मचारी और दोनों साधु केवल दो ही दिन मेरे साथ रहकर दुरन्त शीतातिशय के कारण वापस चले गये थे।"

उत्साह भङ्ग होने पर भी दयानन्द अनुसन्धान-कार्य्य से अलग नहीं हुए। घूमते-घूमते तुङ्गनाथ के शिखर पर जाकर पहुँचे। तुङ्गनाथ के मन्दिर में बहुत से पण्डों और बहुत सी देवमूर्त्तियों को देखकर वह उसी दिन वहाँ से नीचे उतर आये। उतरते समय मार्ग भूल जाने के कारण वह बहुत ही विपन्न हो गये। हम यहाँ उन घटनाओं को लिखे विना नहीं रह सकते जिनका वर्णन उन्होंने स्वयं किया है। इस वर्णन से दयानन्द के चरित्र में अकुतोभयता, असीम साहसिकता और अमोघक्लेशसहिष्णुता का परिचय मिलता है। वह लिखते हैं:—"नीचे उतरते समय मैंने अपने सामने दो मार्ग देखे, एक मार्ग पश्चिम की ओर, दूसरा दक्षिण-पश्चिम की ओर जाता था। मैं यह स्थिर न करसका कि उन मार्गों में से मुझे किस मार्ग से जाना चाहिए। अन्त में मैं उस मार्ग से चल दिया जो जङ्गल की ओर, जाता था। कुछ दूर ही बढ़ा था कि मैं एक घने जङ्गल में घुस गया। जङ्गल में कहीं बड़े-बड़े ऊँचे-नीचे पाषाण-खण्ड थे और कहीं जलहीन छोटी-छोटी नदियाँ थीं। थोड़ी दूर और आगे चलने पर मैंने देखा कि वह मार्ग रुका हुआ है। वहाँ किसी ओर भी कोई मार्ग न पाकर मैं सोचने लगा कि ऊपर चढ़ूं या नीचे उतरूँ। यदि ऊपर चढ़ता हूँ तो अनेक विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण करना होगा और सम्भव है कि ऊपर चढ़ते-चढ़ते ही रात्रि हो जाय। अतः मैंने नीचे उतरना ही युक्तियुक्त समझा और कुछ घास के गुल्म को दृढ़ पकड़ कर मैं धीरे २ नीचे उतरने लगा। थोड़ी देर पीछे मैं एक सूखी नदी के ऊँचे तट पर जा पहुँचा। उसके पीछे मैं एक ऊँची पत्थर की चट्टान पर खड़ा होकर चारों ओर देखने लगा। मैंने देखा कि चारों ही ओर ऊँची-ऊँची भूमि, छोटे-छोटे पर्वत, और मनुष्य के लिए अगम्य और मार्गहीन बनस्थली थी। उस समय दिवाकर भी अस्ताचल की चोटी का अवलम्बन कर रहा था। उस समय यह विचार कर मेरा चित्त बहुत आन्दोलित होगया कि शीघ्र ही अन्धकार फैल जायगा, और उस अन्धकार में मुझे इस भीषण वन में, जहाँ न मनुष्य है, न अग्नि जलाने का कोई उपाय है, अकेले रहना होगा। उस समय सिवाय उत्कट पुरुषार्थ के सहारा लेने के, और कोई उपाय न था। इस लिए यद्यपि उस दुर्गम वन के मार्ग में मेरे वस्त्रादि फट गये थे, शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, पैर कांटों से छिद गये थे और इस कारण मैं लुञ्जों के समान चलता था तथापि मैं केवल प्रबल पुरुषार्थ के प्रभाव से ही उसे पारकर गया। अन्त में एक पर्वत के पादमूल में आकर मैंने एक मार्ग भी देखा। यद्यपि चारों ओर सब कुछ अन्धकाराच्छन्न था तथापि मैंने विशेष सोच-विचार न कर

के वही मार्ग पकड़ लिया और किसी प्रकार भी उसे न छोड़ कर मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा, कुछ दूर आगे बढ़कर मैंने कुछ कुटियों की एक श्रेणी देखी। कुटीवासियों से पूछने पर उन्होंने कहा कि वह मार्ग ओखी मठ की ओर गया है। मैं भी ओखी मठ की ओर चल दिया, और थोड़ी देर पीछे ही वहाँ पहुँच गया।"

ओखी मठ में रात्रि विता कर दयानन्द बहुत सवेरे उठे और शारीरिक क्लेश की कुछ भी परवा न करके पुनर्वार भ्रमण के लिए निकल खड़े हुए। जिस समय का यह वर्णन है उस समय दयानन्द की आयु प्रायः तीस वर्ष की थी। यौवन के पूर्ण विकास से उन की शारीरिक शक्ति विकसित हो रही थी। परन्तु ऐसा होते हुए भी क्या कोई तीस वर्ष का युवक उल्लिखित प्रकार से क्लेश-यन्त्रणा सहन करके दूसरे दिन प्रातः काल ही पर्वत के मार्गों में भ्रमण करने के लिए दुबारा बाहर निकल सकता है? रात्रि में कुछ घण्टे विश्राम करके ही सम्पूर्ण रूप से सुस्थ और सबल हो कर कौन काम करने के योग्य हो सकता है? क्या शारीरिक शक्ति की इस प्रकार की दुर्जेयता केवल खाने के पदार्थों पर ही निर्भर है? ओखी मठ से बाहर निकल कर वह कुछ दूर गये तो सही, परन्तु यह यात्रा उनके लिये प्रीतिदायक न हुई और इस लिए वह कुछ दिन पीछे ही ओखी मठ लौट आये। इस के अतिरिक्त ओखी मठ के मठधारियों और मठवासियों की रीति नीति और कार्य्य-कल्प का पर्य्यवेक्षण करना भी उन के वापस आने का एक कारण था। ओखी मठ एक विशिष्ट मठ है *। इस मठ के विषय में स्वामी जी लिखते हैं :- "ओखी मठ प्रसिद्ध मठ है और धनसम्पत्तिसम्पन्न है। वह धर्म्म और साधुओं के अनेक आडम्बरों से परिपूर्ण है।" इस कारण उन्होंने कुछ दिन वहाँ अवस्थिति की। वह मठ के महन्त और वहां के साधु संन्यासियों से विशेष रूप से परिचित हो गये। वह यह देखने लगे कि मठ का कार्य्य किस प्रणाली के अनुसार होता है और मठवासी साधुता और वैराग्य के नाम पर कहाँ तक कृत्रिमता का अवलम्बन करते हैं। अन्त में महन्त उन से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उनसे शिष्य हो जाने का विशेष रूप से अनुरोध किया और यह प्रबल प्रलोभन भी उन के सामने उपस्थित किया कि उस के पीछे मठ के प्रचुर वित्तैश्वर्य्य के वही स्वामी हो जायँगे। परन्तु महन्त के ऐसा प्रस्ताव करने पर ही दयानन्द बोल उठे कि :—"इस मठ की जितनी सम्पत्ति है उस से मेरे पिता की सम्पत्ति भी किसी अंश में कम न थी।" एक शब्द में, मठाध्यक्ष के इस प्रलोभनात्मक प्रस्ताव को अग्राह्यकरके वह ओखी मठ से चल दिये और जोषी मठ † की ओर चले गये। जोषी मठ में कुछ दक्षिणी शास्त्रियों और संन्यासियों के संसर्ग में कुछ दिन काट कर वहाँ के किसी-किसी योगी से योगविद्या के कुछ तत्वों की शिक्षा ले कर दयानन्द बदरीनारायण के मन्दिर को चले गये। बदरीनारायण का प्रधान पण्डा रावल जी के नाम

* इस मठ की एक विशेषता यह है कि उसमें दुष्प्राप्य और मूल्यवान् ग्रन्थों का बहुत अच्छा सञ्चय है। ओखी मठ के ग्रन्थभण्डार की ख्याति बहुत समय से सुनी जाती है। इन ग्रन्थों का बहुत समय से बहुत से साधु-संन्यासी संग्रह और रक्षण करते आये हैं।

† जोषीमठ ज्योतिर्मठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। वह शङ्कराचार्य्य के स्थापित किये हुए चार मठों में से है।

से प्रसिद्ध है। वेदादि शास्त्र के सम्बन्ध में रावल जी के साथ दयानन्द की चर्चा हुई। वहाँ कुछ दिन रह कर अपनी सर्वोपरि कांक्षित वस्तु के विषय में उन्होंने रावल जी से सब बातें कह दीं। और उनसे पूछा कि आस पास कोई यथार्थ योगी वा सिद्ध पुरुष रहते हैं कि नहीं ? रावलजी ने उत्तर में कहा कि "नहीं"। यह सुनकर स्वामीजी क्षुण्ण हो गये, परन्तु जब रावलजी ने दुबारा कहा "मैंने सुना है कि कभी कभी वह मन्दिर में दर्शन करने आ जाया करते हैं," तो दयानन्द कुछ आशान्वित हुए और उन्होंने आस-पास के स्थानों में विशेषकर शैल प्रदेशों में अनुसन्धान करने की प्रतिज्ञा की। वहाँ से बाहर निकलते ही * उन्हें जैसा विपन्न होना पड़ा ऐसा इससे पहिले अपने जीवन में कभी होना नहीं पड़ा था। इस अप्रत्याशित विपत्-कहानी का वर्णन हम उन्हीं की भाषा में करते हैं:—"एक दिन सूर्य्य के निकलते ही मैं बदरीनाथ के मन्दिर से बाहर निकला और पर्वत के नीचे नीचे चलने लगा। अन्त में अलखनन्दा के तट पर जा पहुँचा। अलखनन्दा के उस पार बड़ा माना ग्राम दिखाई देने लगा, परन्तु उस पार जाने की मेरी इच्छा न थी। मैंने पहाड़ के नीचे-नीचे जो मार्ग जाता था उसे पकड़ लिया और मैं वन की ओर अलखनन्दा के साथ-साथ चलने लगा। पर्वत और पर्वत के नीचे का मार्ग सब ही मोटे बर्फ़ से ढका हुआ था। इस कारण मैंने बहुत ही कष्ट से उस दुर्गम मार्ग का अतिक्रमण किया और जो स्थान अलनखन्दा का उत्पत्ति स्थान प्रसिद्ध है वहाँ पहुँच गया। वहाँ मैंने देखा कि मेरे चारों ओर ही गगनभेदी पर्वत-माला खड़ी है। एक ओर तो वह स्थान मेरे लिए सर्वथा अपरिचित था और दूसरी ओर चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ था। अस्तु, किसी ओर भी मार्ग का कुछ पता न पाकर कुछ देर तक तो मैं इतस्ततः घूमता रहा और फिर कुछ आगे बढ़ कर मैंने देखा कि मार्ग तो क्या, मार्ग का चिन्ह तक भी न था। इस हेतु से मैं थोड़ी देर तक तो किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सा रहा, पीछे नदी के दूसरे तट पर जाकर मार्ग का अनुसन्धान करना ही कर्त्तव्य स्थिर किया।

उस समय मैं साधारण और पतला कपड़ा पहने हुए था और वहाँ का शीत बहुत ही अधिक और असह्य था। इस पर भूख और प्यास से शरीर क्लान्त हो रहा था। भूख मिटाने के लिये मैंने एक बर्फ़ का टुकड़ा गले से नीचे उतारा, परन्तु उससे कुछ भी न हुआ। इसके कुछ क्षण पश्चात् ही अलखनन्दा को पार करने के लिए मैं जल में उतरा। उसका जल किसी स्थान में बहुत ही गहरा था और कहीं बहुत थोड़ा था। परन्तु जहाँ थोड़ा भी था वह भी एक हाथ से कम न था। अलखनन्दा का पाट आठ-दस हाथ होगा। उसकी तली छोटे २ बर्फ़ के टुकड़ों से भरी हुई थी। उन तीक्ष्ण धार वाले बर्फ़ के टुकड़ों के संघर्षण से मेरे नंगे तलवे क्षत-विक्षत हो गये थे। क्षत-विक्षत स्थानों से लोहू चूना आरम्भ होगया

* स्वामीजी के एक विश्वस्त व्यक्ति के मुख से सुना था कि जब उन्हें सच्चे योगियों का पता न मिला और हृदय की वाञ्छित वस्तु के मिलने की कोई सम्भावना उन्होंने न देखी, तो उन्होंने स्थिर किया कि इस मर्त्यभूमि से और सम्बन्ध न रक्खेंगे। वह पांण्डवों के समान सशरीर स्वर्ग में जाने के लिये इस महा-प्रस्थान नामक यात्रा पर गये थे। अलखनन्दा के उत्पत्ति-स्थान पर पहुंच कर जब कोई मार्ग न पाया और चारों ओर पर्वतों से घिरी देखीं तो अगत्या वापस आगये।

था। इधर मैं उस लोहू के बहने से कातर हो रहा था, उधर निदारुण शीत से हतचेतन हो रहा था। मेरे पैर डगमगाने लगे। कई वार उस बर्फ़-माला के ऊपर जा पड़ने का उपक्रम हुआ। उस समय मेरे मन में यह विचार उठने लगा कि सम्भवतः अलखनन्दा के इस असहनीय शीतल गर्भ में गिरकर बर्फ़ में जमकर मेरा जीवन जायगा। वास्तव में मेरा शरीर इतना अवसन्न और शक्तिहीन होगया था कि यदि मैं अलखनन्दा की उस सुदूर विस्तृत बर्फ़माला के ऊपर एक बार भी गिर जाता तो फिर मुझे उस पर से शरीर को उठाना अत्यन्त कठिन हो जाता। अस्तु, अतीव कष्ट और उत्कृष्ट परिश्रम से मैं नदी के दूसरी पार पहुँचा। उस समय की मेरी अवस्था मृतवत् थी। मैंने जल्दी-जल्दी अपने शरीर पर से कपड़े उतारे और उनकी पट्टी बनाकर तलवों से लेकर घुटनों तक बाँधी। मैं उस समय बहुत ही थका हुआ था और भूख से विह्वल था और मुझ में चलने की शक्ति न थी। दूसरे की सहायता की आशा से मैं ललचाती हुई दृष्टि से चारों तरफ़ देखने लगा। परन्तु उस मनुष्यशून्य स्थान में कौन सहायता करेगा और सहायता कहाँ से आवेगी इस विषय में मैं कुछ नहीं जानता था। जब मैंने अन्तिम वार देखा तो कुछ दूर पर मुझे दो मनुष्य आते हुए दिखाई दिये। थोड़ी देर पीछे ही उन दोनों पहाड़ी मनुष्यों ने मेरे पास आकर नमस्कार किया *। उन्होंने कहा कि हमारे घर चलने से भोजन-सामग्री मिल सकेगी और यह कहकर उन्होंने मुझ से अपने साथ उनके घर चलने को कहा। उन्होंने मेरे क्लेश और विपत्ति की कहानी सुनकर मुझे सद्-पत् नामक स्थान तक पहुँचा देने का वचन दिया। परन्तु मुझ में चलने का सामर्थ्य न था, इसलिए मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। उनके बारम्बार अनुरोध करने पर भी मैं अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। उनके अधिक आग्रह करने पर मैंने कहा कि मैं यहाँ चाहे मर भले ही जाऊँ परन्तु मैं उनके अनुरोध को स्वीकार नहीं कर सकता। मरने की बात सोच कर मैं मन में कुछ घबराया, परन्तु फिर तुरन्त ही मैंने सोचा कि यह क्या है? मैं मरने की क्यों इच्छा करता हूं? क्या ज्ञानानुशीलन में रत रह कर ही जीवन का अन्त करना मेरे लिए श्रेष्ठ कर्त्तव्य नहीं है? देखते-देखते ही वह दोनों पहाड़ी मनुष्य पर्वतमाला में कहीं अदृश्य हो गये। कुछ देर विश्राम करने के पश्चात् मैंने वापस

---

* थियोसोफ़िस्ट के सम्पादक ने लिखा है:—"Here the Swamiji skips over one of the most interesting episodes of his travel, unwilling as he is to impart the name or even mention the person who saved him. He tells it to friends, but declines to publish the facts." The Theosophist 1880 p. 25.

इसका अभिप्राय यह है कि इस जगह स्वामीजी अपनी यात्रा की घटनाओं में से एक अतीव मनोरञ्जक घटना को छोड़ जाते हैं क्योंकि वह उस पुरुष को वा उसके नाम को बताना नहीं चाहते जिसने उन्हें बचाया था। उसे वह अपने मित्रों को तो बता देते हैं, परन्तु पत्र में प्रकाशित करना नहीं चाहते।

यह सब ही जानते हैं कि पहले-पहल स्वामीजी का स्वलिखित आत्म-चरित थियोसोफ़िस्ट पत्र में छपा था। उसके सम्पादक का यह अनुमान है कि स्वामीजी की इस सङ्कटमय अवस्था से किसी महात्मा ने प्राण-रक्षा की थी।

जाने का उद्योग किया और वसुधारा नामक पवित्र स्नानतीर्थ में कुछ देर ठहर कर और माना ग्राम * को एक पार्श्व में लेकर मैं चलने लगा और रात्रि के आठ बजे बद्रीनारायण के मन्दिर में पहुँच गया।"

जब दयानन्द बद्रीनारायण के मन्दिर में पहुंचे तो रावलजी और वहाँ के अन्य लोग उन्हें देख कर विस्मित हुए। और जब उनके पूछने पर कि सारा दिन कहाँ रहे उन्हों ने सारे दिन का वृत्तान्त विस्तार पूर्वक उन्हें सुनाया तो वह और भी अधिक विस्मित हुए। इस के पश्चात् कुछ भोजन करने के पीछे उनका शरीर कुछ सबल हुआ और वह सो गये। उस दिन रात्रि को वह एक साधु के आश्रम में रहे और अगले दिन प्रातः काल ही चल पड़े और मार्ग में अनेक पर्वतों और घने जङ्गलों में से होते हुए चिलकिया घाट को पार कर के अंत में रामपुर जा पहुँचे। रामपुर में रामगिरि नाम का एक अद्भुत साधु रहता था। रामगिरि कभी रात्रि में सोते न थे। सारी रात अकेले मठ में रहकर वह कभी अपने आप से ही बात चीत करने लगते थे और कभी रोने लगते थे। उन्हें देख कर स्वामीजी कुछ आश्चर्य्यान्वित हुए और उनके शिष्यों से इस अद्भुत व्यवहार का कारण पूछा तो वह कुछ न बता सके और उन्हों ने यही कहा कि मेरा ऐसा ही अभ्यास है। रामगिरि के इस अद्भुत व्यवहार के सम्बन्ध में दयानन्द कहते हैं—"रामगिरि के साथ बातें करने पर इस अद्भुत अभ्यास का कारण मैं कुछ कुछ जान सका, वह कोई योग-क्रिया नहीं थी, परन्तु यह बात नहीं थी कि रामगिरि योग की एक दो क्रियायें भी नहीं जानते थे। कुछ हो, मैं ऐसे योग का प्रार्थी नहीं था।"

वहाँ से चलकर दयानन्द काशीपुर होते हुए द्रोण सागर आये और वहाँ शीतकाल अतिवाहित करने लगे। इस शीत ऋतु के समय संवत् १९१२

उत्तराखण्ड से अवतरण चलता होगा क्योंकि इससे पहिले कहा जा चुका है कि गतवत्सर अर्थात् संवत् १९११ की शीत ऋतु उन्होंने शिवपुरी के शैलशृङ्ग पर अतिवाहित की थी। अस्तु शीतकाल के अन्त में वह द्रोण-सागर से नीचे उतरे और मुरादाबाद और सम्भल होते हुए गढ़-मुक्तेश्वर को अनुगाङ्ग भूमि में आकर पहुँचे।

इस मनोहर और विस्मयकारक भ्रमण वृत्तान्त से सिद्ध होता है कि प्रकृत योगियों के अन्वेषण में दयानन्द ने उत्तराखण्ड में दो वर्ष से कुछ कम समय लगाया। पहाड़ी मार्गों के क्लेश, बर्फ़ से ढके हुए पहाड़ों की दुर्गमता, हिमाच्छादित पर्वत शिखरों की दुरारोहता, पर्वतीय वनों की भीषणता, अलखनन्दा की हिमावृत तटभूमि की शीतातिशयता, कोई वस्तु भी उन्हें विचलित न कर सकी। श्रान्ति, क्लान्ति, क्षुधा, पिपासा, प्रलोभन कोई वस्तु भी उन्हें अवलम्बित मार्ग से पीछे न हटा सकी। वन के कण्टक वृक्षों ने समय-समय पर उनकी पृष्ठ, हस्ततल, पादतल को क्षत-विक्षत किया, शरीर के अनेक स्थानों से रुधिर की धारा बहादी, परन्तु वह अपनी अनुसन्धित्सा में एक दिन के लिये भी निरस्त नहीं हुए। हमने बहुत प्रकार की मानव प्रकृति की आलोचना की है, परन्तु थोड़े से अस्थि-पञ्जर के भीतर इस प्रकार का अपरिमित मानसिक बल छिपा रह सकता है, यह हमने कभी नहीं सुना, कभी नहीं देखा।

* दयानन्द-प्रकाश में इस ग्राम का नाम मग्रम लिखा है। (संग्रहकर्ता)

इस समय दयानन्द के साथ अन्य धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त हठ-प्रदीपिका, योगबीज और शिवसन्ध्या प्रभृति ग्रन्थ थे। इस समय वह प्रायः इन ग्रन्थों का पाठ किया करते थे। उनके किसी-किसी स्थान में उन्होंने नाड़ी-चक्र का वृत्तान्त देखा था। वह बीच-बीच में यह बात जानने के लिये व्यग्र हो जाते थे कि नाड़ीचक्र की बात कहाँ तक सत्य है। परन्तु इसके लिए उनके सामने कोई सुयोग उपस्थित नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त इन सब ग्रन्थों में नाड़ी-चक्र का वृत्तान्त ऐसी अस्पष्ट रीति से वर्णन किया गया था कि उससे वह कुछ भी नहीं समझ सके थे। एक प्रकार से वह इस विषय की सत्यता में सन्देह करने लगे थे। जब वह उत्तराखण्ड से उतर कर गङ्गा तट पर गढ़मुक्तेश्वर में अवस्थिति करते थे, तब उन्हें इस विषय में अपने संशय निवारण करने का एक सुयोग हाथ आगया। उस विषय में दयानन्द की निज उक्ति इस प्रकार है:—"एक दिन दैवयोग से मैंने देखा कि एक शव गङ्गा के प्रवाह में बहा जा रहा है। उसे देखकर मैंने सोचा कि यह नाड़ीचक्रविषयक सन्देह दूर करने का अच्छा अवसर है। अपने साथ की पुस्तकों को मैंने एक ओर रक्खा और अपने वस्त्र जो मैं पहिने हुए था उतार कर मैं नदी में उतर पड़ा और शव खींचकर तट पर ले आया। मैंने एक बड़ी छुरी ली और जिन ग्रन्थों में नाड़ीचक्र का वर्णन था उन्हें खोल कर सामने रक्खा और खूब सावधानता के साथ शव की चीर-फाड़ आरम्भ की। पहले मैंने हृत्-पिण्ड बाहर निकाल कर परीक्षा की उसके पीछे नाभिदेश से पञ्जर पर्य्यन्त मैंने शव को काट डाला। मस्तक और गले के किसी-किसी भाग को चीरकर देखा और साथ-साथ उनको ग्रन्थों के वर्णन से मिलाकर देखने का यत्न करता रहा। परन्तु जब मैंने देखा कि कुछ भी नहीं मिलता। चीरे हुए शव देह के किसी अंश वा अङ्ग में भी ग्रन्थों में वर्णन किये हुए नाड़ीचक्र का कोई भी चिन्ह न पाया तब मैंने उसी चीरे हुए शवदेह के साथ ही उन ग्रन्थों को भी टुकड़े-टुकड़े करके नदी के प्रवाह में फेंक दिया।

नाड़ीचक्र-परीक्षा

ऐसी प्रणाली से ही सत्य का निर्धारण करना आवश्यक है। जब ग्रन्थों के वर्णन के साथ ग्रन्थोक्त विषयों का सादृश्य न पाया, तब दयानन्द के चित्त में यह धारणा उत्पन्न हुई कि ग्रन्थों के यह वर्णन मिथ्या हैं। उन्होंने उस चीरे फाड़े शव देह के साथ ही उन मिथ्योक्तिपूर्ण ग्रन्थों को भी गंगा में फेंक दिया। यह घटना एक ओर उनकी सत्य के प्रति ज्वलन्त पिपासा की और दूसरी ओर उनकी असत्य के प्रति ज्वलन्त घृणा की परिचायक है।

इसके पश्चात् उनका यह विश्वास हो गया कि सांख्य, पातञ्जल आर्ष ग्रन्थों के सिवाय योग-विषयक अन्य सारे ग्रन्थ मिथ्या हैं। अस्तु, गङ्गातट पर कुछ दिन और विचर कर वह फर्रुखाबाद चले गये और शृङ्गीरामपुर होते हुए कानपुर पहुँचे। उस समय संवत् १९१२ समाप्त हो चुका था। सम्वत् १९१३ के पहिले पाँच मास दयानन्द कानपुर और इलाहाबाद के बीच के स्थानों में घूमते रहे, और भाद्र मास के आरम्भ में मिर्जापुर पहुँचकर विन्ध्याचलेश्वर* के

अनुगांग भूमि विचरण

* दयानन्द-प्रकाश में लिखा है कि मिर्ज़ापुर में स्वामीजी अशोलजी के मन्दिर में रहे थे।—संग्रहकर्त्ता

मन्दिर के समीप एक स्थान में एक मास तक रहे। वहाँ से काशी गये और वरुणा सङ्गम के पास एक गृह में (जो उस समय भूमानन्द स्वामी की गुफा के नाम से प्रसिद्ध था) कुछ दिन रहे और काशी के प्रसिद्ध नामी पण्डित काकाराम और राजाराम प्रभृति विद्वानों से वार्त्तालाप करते रहे। काशी में १२ दिन रह कर चण्डालगढ़ की ओर चले गये। चण्डालगढ़ के पास दुर्गाकौहर के मन्दिर में दस दिन रहकर वह निकट के एक ग्राम में गये। इस ग्राम में एक शिवालय था, रात्रि बिताने के विचार से वह उस शिवालय में चले गये। उस समय स्वामीजी प्रायः योगाभ्यास में ही रत रहते थे। उन्होंने चावल खाना छोड़ दिया था और केवल दुग्धपान ही करते थे। इन दिनों उन्हें भाँग पीने की बान पड़ गई थी। शिवालय में जाने के कुछ देर पीछे ही उन्हें भाँग का नशा चढ़ गया और नींद आगई। सोते-सोते उन्होंने एक स्वप्न देखा जिसके विषय में वह लिखते हैं:—

"महादेव और पार्वती में मेरे विवाह के सम्बन्ध में कथोपकथन हो रहा है। पार्वती कह रही हैं कि इसका विवाह होना उचित है और महादेव कह रहे हैं कि नहीं। इस स्वप्न से मैं अतिशय विरक्त होकर जाग उठा।" उस समय वर्षा हो रही थी। इस कारण स्वामीजी शिवालय के बरामदे में चले गये। बरामदे में वृष देवता नन्दी की एक विशाल मूर्त्ति थी। उसी के ऊपर वस्त्रादि रख कर ध्यानावस्थित हो गये। इसके पीछे जो घटना हुई उसके विषय में स्वामीजी कहते हैं:—"थोड़ी देर के पश्चात् जब मैंने एक बार निगाह की तो मैंने अकस्मात् देखा कि उस प्रतिमूर्त्ति के भीतर एक मनुष्य बैठा हुआ है। उसकी ओर ज्यों ही मैंने हाथ फैलाया त्यों ही वह उठकर भाग गया।" तब स्वामीजी उस नन्दी की मूर्त्ति के भीतर जाकर बैठ गये और शेषरात्रि में वहीं सोते रहे। रात्रि के अन्त में एक कौतुकजनक घटना हुई। उसके विषय में उनके वचन यह हैं:—"प्रातःकाल एक बुढ़िया आई और वृष देवता की, जिसके भीतर मैं बैठा हुआ था पूजा करके चली गई। थोड़ी देर पीछे वह देवता के उपचारार्थ दही और गुड़ प्रभृति पदार्थ लेकर आई। बुढ़िया ने सम्भवतः मुझे ही वृष देवता समझा था। इस लिये उसने वह पदार्थ मेरे ही सामने रख दिये। मैंने उनका किसी प्रकार भी बुरा उपयोग नहीं किया। मैं भूखा था, इस लिये मैंने उन्हें अपने पेट में पहुँचा दिया, भाँग के नशे में दही बहुत ही मीठा लगा। दही के प्रभाव से भाँग का नशा उतर गया और शरीर सुस्थ हो गया।"

इस के पश्चात् नर्मदा की उत्पत्ति का स्थान देखने के अभिप्राय से वह वहां से चल दिये और अदूरवर्त्तिनी पर्वतमाला की ओर प्रस्थान कर दिया। इस यात्रा में दयानन्द को

नर्मदा के स्रोत का अनुसन्धान

जैसे क्लेश सहने पड़े और जैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ा वह वास्तव में बहुत ही भयावह हैं। वह बाहर निकल कर यह प्रतिज्ञा करके कि किसी से मार्ग नहीं पूछेंगे दक्षिण की ओर चल दिये। कुछ देर पीछे एक निर्जन वन में पहुँच गये। वहां बहुत घना जङ्गल था और उस में कहीं-कहीं एक दो पर्णकुटीर भी बनी हुई थीं। यह अनुमान करके कि इन कुटियाओं में मनुष्य रहते होंगे वह एक कुटी के द्वार पर गये और दुग्ध मांगा। वहाँ दुग्ध मिल गया, उसे पीकर उन्होंने फिर चलना आरम्भ कर दिया, परन्तु आधा मील जाने

पर ही रास्ता रुक गया। किसी ओर भी मार्ग का चिन्ह तक ढूंढने से नहीं मिला। तब वह एक बहुत ही सङ्कीर्ण मार्ग से आगे बढ़े, परन्तु शीघ्र ही एक भीषण जङ्गल में प्रविष्ट हो गये। उस जङ्गल में उन्हें मार्ग का कोई निदर्शन तक नहीं मिला। सुतराम् उस जङ्गल-भूमि में खड़े-खड़े यह बात सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये। ऐसे समय में दयानन्द के सामने एक आकस्मिक और भारी विपद् आकर उपस्थित हो गई। उसके विषय में स्वामी जी लिखते हैं:—"एक बहुत बड़ा काला रीछ मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। वह गरज कर अपनी पिछली टांगों पर खड़ा हो गया और मुझे खाने के लिये मुँह खोला। मैं उस समय कुछ क्षण तक स्पन्दहीन अवस्था में खड़ा रहा और अपनी लाठी धीरे-धीरे उसके मुँह पर मारने को उठाई। उसे देखकर न जाने किस कारण से वह रीछ हट कर भाग गया*। इस ओर उस रीछ की विकट गरज सुनकर उपर्युक्त कुटियों के रहने वाले हाथों में मोटे मोटे लट्ठ और साथ में कुत्ते लिये हुए मेरी सहायता के लिये दौड़ते हुए आये।" कुटियों के रहने वाले उन से विशेष अनुरोध करने लगे कि और आगे न जाओ हमारे साथ लौट चलो क्योंकि यह जङ्गल व्याघ्र, रीछ, हाथी, जंगली भैंसे प्रभृति भयानक जंतुओं से भरा हुआ है। यह बात उन्होंने दयानन्द को समझाई और इस भय से कि जङ्गल में आगे बढ़ने से वह कहीं पीछे किसी और नई और गुरुतर विपद् में न फँस जाय, उन्होंने वारंवार अनुनय के साथ दयानन्द से वापस जाने को कहा। परन्तु दयानन्द डरने वाले लोगों में से न थे। वह किसी के अनुरोध व विनय-वाक्यों से अपने अवलम्बित मार्ग से च्युत होने वाले न थे। दयानन्द ने उनके वारम्वार अनुरोध करने पर उनसे कहा कि:—"मेरे लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं सुरक्षित ही रहूँगा, मैं नर्मदा का उत्पत्ति-स्थान देखने का सङ्कल्प करके बाहर निकला हूँ। मैं किसी विपद् के भय से कभी नहीं लौटूँगा।" कुटियों के रहने वाले निरुपाय हो गये, परन्तु फिर भी निश्चिन्त नहीं हो सके। वह स्वामीजी की भावी विपदों की चिन्ता मन से दूर न कर सके। तब वह विवश होकर वापस चले गये, परन्तु दयानन्द को आत्मरक्षा के लिए एक मोटा लट्ठ दे गये। इस सम्बन्ध में दयानन्द लिखते हैं:—"मैंने उन का दिया हुआ लट्ठ ले तो लिया, परन्तु दूसरे ही क्षण में उसे फेंक दिया।" उनके दिये हुए लट्ठ को दयानन्द के लेलेने और दूसरे क्षण में उसे फेंक देने का क्या कारण था ? इस में सन्देह नहीं है कि जब उन वनस्थ मनुष्यों ने बहुत ही आग्रह किया तो स्वामीजी ने उनके सम्मान को स्वीकार करने के अभिप्राय से उस लट्ठ को पहले तो ले लिया, फिर दूसरे ही क्षण उनके मन में आया कि इस भीषण जन्तु-परिपूर्ण निविड़ बन मार्ग में मेरा एक मात्र सहाय परमेश्वर ही है, वही मेरा सब प्रकार से आश्रय-स्थल है, उसके द्वारा ही मैं सुरक्षित हूँ। इसलिए किसी अन्य की सहायता किसी

* कर्नल आल्कट और मेडम ब्लेवैट्स्की आदि थियोसोफ़िकल सोसाइटी के सदस्य इस घटना को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत करते हैं, कि दयानन्द योगी थे। वह कहते हैं कि क्या योग की शक्ति का प्रयोग किये विना दयानन्द केवल एक पतली सी छड़ी से एक बड़े भारी रीछ को जो आक्रमण करने पर उद्यत हो डरा कर भगा सकते थे ? इसमें सन्देह नहीं है कि इस घटना से दयानन्द की योगशक्तियों का परिचय मिलता है।

अंश में भी मेरे लिए अवलम्बनीय नहीं, अतः वह उस लट्ठ को फेंके विना निश्चिन्त नहीं हो सके। अस्तु, उसी पतली छड़ी को साथ में लेकर और विधाता की रक्षा में अपने को सुरक्षित समझकर और भग्नोद्यम न होकर उस निविड़ और दुर्गम वन में आगे बढ़े। वह बहुत दूर तक चले गये, परन्तु कहीं भी उन्हें मनुष्य का चिन्ह तक दिखाई नहीं दिया। मार्ग में कहीं-कहीं उन्हें हाथियों के उखाड़े और तोड़े हुए वृक्ष मिले। आगे चल कर वह उससे भी अधिक घने जंगल में जा पहुँचे। उस जङ्गल का दयानन्द इन शब्दों में वर्णन करते हैं—"असंख्य फूल के वृक्षों और अनेक प्रकार की कटीली झाड़ियों से वह जंगल भरा हुआ था। किसी ओर भी उसमें से निकलने का उपाय नहीं था। वहाँ से छुटकारा पाना मेरे लिए कठिन हो गया। कुछ दूर तक बैठे २, कुछ दूर तक घुटनियों के बल चलना पड़ा। थोड़ी देर के पीछे यद्यपि मैंने अपने को इस नई विपत्ति से मुक्त तो कर लिया, परन्तु मेरे वस्त्र धज्जी-धज्जी हो गये, और कांटे लगने से मेरे शरीर के बहुत से स्थानों से रक्त की धारा बहने लगी।" देह से लोहू के बहने और भूख-प्यास के प्रबल वेग से दयानन्द का शरीर अवसन्न हो गया। उधर सूर्य्य देवता अस्ताचल की ओर गमन करने लगे, और सायङ्काल का अन्धकार धीरे-धीरे पृथ्वी पर फैलने लगा। परन्तु दयानन्द को अब भी विराम नहीं मिला, अन्धकार के छा जाने पर भी वह उस विषम वनमार्ग में चलते ही रहे। जिस मनुष्य को अपने भले-बुरे का ज्ञान होता है, वह आने वाली विपत्तियों की सम्भावना देखकर पहले से ही सावधान हो जाता है। परन्तु दयानन्द इस ओर देखते तक नहीं। यह जानते हुए भी कि बहुत ही शीघ्र उस जंगल पर रात्रि का अन्धकार छा जायगा उन्हें एक पल के लिये भी चिन्ता न हुई। उनकी अलौकिक मानसिक शक्ति के सामने संसार की कोई विपद् मानो विपद् ही नहीं थी। उनकी अद्वितीय निर्भयता के सामने पृथ्वी का कोई भय मानों भय ही नहीं था। अस्तु, थोड़ी देर पीछे ही उनका मार्ग रुक गया, क्योंकि वह एक ऐसे स्थान पर पहुंच गये जो चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ था। वहाँ दयानन्द ने कुछ देर खड़े होकर चारों ओर की पहाड़ियों के ऊपर दृष्टि डाली, तो देखा कि उनका कोई भाग तो वृक्षों और बेलों से पूर्ण है और कहीं मनुष्यों के रहने के चिन्हस्वरूप पर्णकुटियाँ विद्यमान हैं, किसी किसी पर्णकुटी के चारों ओर गोबर का ढेर लगा हुआ है, किसी कुटिया के भीतर से धुँधले प्रकाश की रेखा बाहर निकल रही है और कहीं एक छोटी सी नदी है जिसके तट पर बकरियाँ चर रही हैं। सुतराम् उसी स्थान पर उन्होंने रात्रि बिताने का संकल्प कर लिया और वह उन झोंपड़ियों के पास के एक वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। इसके पीछे की घटनाओं के विषय में दयानन्द लिखते हैं:—"मैं उस नदी में हाथ पैर धोकर सन्ध्या उपासना करने के लिये बैठने का उद्योग कर रहा था कि मेरे कान में ढोल के बजने का शब्द आया। थोड़ी देर पीछे मैंने देखा कि उस पहाड़ी ग्राम के स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका इकट्ठे होकर और अपने गौ आदि पशुओं को साथ लेकर मानो किसी धर्मोत्सव मनाने के लिए जा रहे हैं। वह मुझे एक विदेशी समझकर चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। उनमें से एक बूढ़ा मेरी ओर बढ़ा और उसने पास आकर मुझ से पूछा तुम कहाँ से आरहे हो? मैंने कहा कि मैं काशी से आरहा हूँ और नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान को देखने के लिये जा

रहा हूँ। यह सुन कर वह सब के सब चले गये। तब मैं सन्ध्या-उपासना करने लगा। प्रायः आध घण्टा पीछे ही उनका एक मुखिया पुरुष दो पहाड़ियों को साथ लेकर मेरे पास आकर प्रतीक्षा करने लगा। ऐसा मालूम होता था कि वह दोनों पहाड़ी ग्रामवालों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे गये थे। सन्ध्योपासना समाप्त होते ही वह मुझे अपनी कुटिया में लिवा ले जाने का अनुरोध करने लगे, परन्तु मैंने यह कहकर कि वह मूर्त्तिपूजक हैं उनके अनुरोध को स्वीकार नहीं किया। फिर उसने यह आज्ञा देकर कि सारी रात मेरे पास खूब आग जला रखना, उन दोनों पहाड़ियों को मेरी रक्षा और देख-भाल के लिए नियत कर दिया और मेरे खाने पीने की बात पूछी। मैं ने कहा कि मैं दुग्ध के सिवाय और कुछ नहीं खाता। यह सुनकर उसने मेरा कमंडलु माँगा और शीघ्र ही उस में दुग्ध भरकर ले आया। मैंने उसमें से थोड़ा सा पिया। इसके पीछे वह उन दोनों पहाड़ियों को मेरी रक्षा के लिये छोड़ कर चला गया। रात्रि को गहरी नींद में बिताकर मैं प्रातःकाल ही उठा और सन्ध्या-उपासना करके भविष्यत् के लिए प्रस्तुत होने लगा"।

स्वामीजी ने एक बार शिवराम पांडे से कहा था कि जब वह पर्य्यटन किया करते थे तो एक बार ४-५ दिन तक भोजन न मिलने के कारण बहुत ही बुभुक्षित हो गये थे। उनका यह नियम था कि वह भोजन के लिए किसी से याचना नहीं करते थे। वह इसी क्षुधातुर अवस्था में थे कि एक मनुष्य ने आकर स्वयं ही उनसे भोजन करने का प्रस्ताव किया। स्वामी जी उसके साथ उसके घर गये और उसके दिये हुए सत्तु को खाकर तृप्त हुए। तत्पश्चात् उस मनुष्य ने स्वामी जी से कहा कि उसकी पुत्रवधू भूताक्रान्त है, आप अनुग्रह करके उसका भूत उतार दें। स्वामीजी उसके साथ उसके घर के भीतर गये और उसकी पुत्रवधू को अपनी लाठी दिखाई। गृहस्थ ने कहा कि और कुछ भी कीजिये। महाराज ने उत्तर दिया कि हमारी लाठी देख कर ही भूत भाग जायगा। वस्तुतः ऐसा ही हुआ भी। गृहस्थ की पुत्रवधू नीरोग हो गई। गृहस्थ स्वामीजी का बड़ा कृतज्ञ हुआ और कई दिन तक स्वामीजी की सेवा में रह कर उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहा।

इस घटना के पीछे स्वामीजी पर्य्यटन करते २ एक सन्ध्या को एक गृह में जाकर ठहरे। उस गृह के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध था कि उसमें भूत निवास करते हैं और इस भय से कोई मनुष्य उस घर में नहीं टिकता था। स्वामीजी से भी किसी २ मनुष्य ने कहा कि आप इस भूताक्रान्त गृह में न ठहरें परन्तु स्वामीजी ने नहीं माना और उसी घर में रात्रि यापन की। स्वामीजी की देखा देखी एक और मनुष्य भी उस घर में ठहर गया। रात्रि में वह मनुष्य किसी कार्य्य-वश उठकर जाना चाहता था कि किसी ने उसे जबरदस्ती पकड़ लिया तब वह चिल्ला उठा। स्वामीजी भी उठे। तब उस मनुष्य का छुटकारा हुआ। लोग कहने लगे कि स्वामीजी महात्मा थे इसलिए उनका भूत कुछ न कर सका, परन्तु यह साधारण मनुष्य था इस कारण भूत ने इसे दबा लिया।

इस समय संवत् १९१३ का कार्त्तिक वा आग्रहायण मास होगा। यहाँ पर ही स्वामीजी के स्वलिखित आत्म-चरित की समाप्ति हो जाती है। इसके पीछे उन्होंने क्या किया, कहाँ गये इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा। परन्तु यह तो अवश्य ही अनुमान होता है

कि जब वह नर्मदा के उत्पत्ति-स्थल को देखने के अभिप्राय से ही बाहर निकले थे, और उस अभिप्राय की प्राप्ति के मार्ग पर वह असीम दृढ़ता के साथ चले और विशेष कर जब उपर्युक्त विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी उन्होंने एक पैर भी पीछे को नहीं हटाया बल्कि जो पैर बढ़ाया वह आगे को ही बढ़ाया और इतनी दूर आभी पहुँचे, तो वह नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान की ओर दिन प्रति दिन आगे ही बढ़ते रहे होंगे। परन्तु इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते कि नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान के दर्शन करने के पश्चात् उन्होंने क्या किया, कहाँ-कहाँ गये, किस-किस नये योगाभ्यास के उद्देश्य से किस-किस योगी के पास गये। वस्तुतः इस पहाड़ी ग्राम के वृक्ष के नीचे रात्रि भर विश्राम करके जब अगले दिन वह सन्ध्योपासन के पोछे आगे जाने को उद्यत हुए उसके पीछे का उनका जीवन न केवल हमारे ही लिए अन्धकार में छिपा हुआ है बल्कि संसार के लिए ही अज्ञात है।*

---

* पण्डित लेखराम अपनी कल्पना के बल पर लिख गये हैं कि नर्मदा के उत्पत्तिस्थान के दर्शन करने के बाद दयानन्द तीन वर्ष तक नर्मदा के तट पर भ्रमण करते रहे थे और अनेक साधु-महात्माओं के साथ मिले थे। वह बुन्देलखण्ड से ही मथुरा आये थे। इस विषय को पण्डितजी के स्वकपोलकल्पित होने के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। जो लोग किसी प्रमाण वा भित्ति का आश्रय न लेकर अपनी कल्पना के आवेग में चाहें सो प्रचरित कर जाते हैं, उन्हें ऐतिहासिक न कह कर औपन्यासिक कहना ही क्या युक्तियुक्त नहीं है ?

हम देवेन्द्र बाबू की इस सम्मति से सहमत नहीं हैं। देवेन्द्र बाबू के समान पण्डित लेखराम भी सत्यान्वेषी थे। वह कोई स्वकपोलकल्पित बात नहीं लिख सकते थे। उन्हें ऐसी सूचना किसी न किसी से मिली होगी। उर्दू—दयानन्दचरित को वह पूर्ण न कर सके और यही कारण है कि बहुत सी बातों के प्रमाण का उसमें उल्लेख नहीं है, परन्तु केवल इसी बात से हम उन बातों को प्रमाणशून्य नहीं कह सकते। यह दूसरी बात है कि जो प्रमाण उन्हें मिले वह कहाँ तक विश्वसनीय थे और कहाँ तक नहीं। —संग्रहकर्त्ता

चतुर्थ अध्याय

संवत् १९१६-१७—१९२३; सन् १८५९-६०—१८६६

मथुरा आगमन

उसके पश्चात् तीन वर्ष बीत गये। विरजानन्द की पुण्य-कीर्त्ति और विद्वत्ता की ख्याति दयानन्द को पहले ही स्वामी पूर्णाश्रम से विदित हो चुकी थी, इसलिए वह उनसे मिलने के लिए अति उत्सुक थे। इसीलिए वह मथुरा के लिए चल दिये। मार्ग में हाथरस ठहरे वहां उन्हें समाचार मिला कि स्वामी विरजानन्द का मुरसान में किसी पण्डित से शास्त्रार्थ होने वाला है, अतः उन्होंने तुरन्त ही मुरसान के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ जाकर ज्ञात हुआ कि शास्त्रार्थ तो हो चुका, अतः वह स्वामी विरजानन्द के विपक्षी पण्डित से जाकर मिले और उससे अनुरोध किया कि मुझे विरजानन्द के पास ले चलो। पण्डित की बातों से वह समझ गये कि पण्डितजी विरजानन्द से परास्त हो गये हैं, अतः दयानन्द ने उस पण्डित को उत्तेजना दी कि चलो देखें तो सही कि कैसे तार्किक हैं। परन्तु पण्डित ने उत्तर दिया कि विरजानन्द कोई साधारण विद्वान् नहीं हैं, उनका अष्टाध्यायी और महाभाष्य पर पूर्ण अधिकार है। दयानन्द ने पण्डित से फिर कहा कि चलो विरजानन्द के पास चल कर देखें तो सही। परन्तु पण्डित ने कहा कि विरजानन्द तो मथुरा चले गये, क्योंकि उनका नियम है कि रात्रि को मथुरा के बाहर नहीं रहते। वह सायङ्काल से पूर्व ही मथुरा लौट आते हैं। अतः दयानन्द ने मथुरा जाकर ही विरजानन्द से साक्षात् करने का सङ्कल्प किया। स्वामीजी मथुरा जा पहुँचे, मथुरा में होली दर्वाज़े से विश्रान्त-घाट को जो सड़क जाती है उसके एक पार्श्व में एक साधारण गृह है। उसकी अट्टालिका में एक वृद्ध ब्राह्मण रहते थे। दयानन्द उनके ही पादमूल में विद्यार्थी रूप से जाकर बैठे। दयानन्द के मथुरा आगमन के सम्बन्ध में मथुरावासी और स्वामीजी के सहाध्यायी स्वर्गीय पं० युगलकिशोर ने यह वर्णन किया था कि 'दयानन्द मथुरा में संभवतः वैशाख वा ज्येष्ठ मास में आये थे। उस समय पश्चिमोत्तर प्रान्त के प्रायः सब ही प्रदेश दारुण निदाघ के ताप से तप्त थे। ग़दर से उत्पन्न हुई अशान्ति और अराजकता भी कहीं कहीं विराज रही थी। दारुण दुर्भिक्ष के कारण

इस प्रान्त के बहुत से स्थानों के बहुत से मनुष्य भोजन का क्लेश उठा रहे थे। दयानन्द कुछ दिन तक पहले रङ्गेश्वर के मंदिर में रहे फिर दण्डीजी के पास गये। उस समय दयानन्द संन्यासी के वेष में थे। उनके ललाट पर भस्म की रेखा और गले में रुद्राक्ष की माला थी और गेरुए वस्त्र पहने हुए थे और हाथ में एक लोटा था।

सरकारी रिपोर्ट के पढ़ने से मालूम हुआ कि यह दुर्भिक्ष जिसका पण्डित युगलकिशोर जी ने वर्णन किया है पश्चिमोत्तर देश में नवम्बर सन् १८६० से आरम्भ होकर अक्तूबर सन् १८६१ तक रहा था। संवत् के हिसाब से यह संवत् १९१७ से संवत् १९१८ के कुछ भाग तक समझना चाहिये। अतः पण्डित युगलकिशोर के कथनानुसार स्वामीजी के मथुरा आने का समय संवत् १९१७ और १९१८ के बीच का कोई न कोई समय होना चाहिये।

जो दयानन्द-चरित पं० लेखराम ने उर्दू भाषा में लिखा है और जो पञ्जाब आर्य-प्रतिनिधि सभा की ओर से प्रकाशित हुआ है उसके २५७वें पृष्ठ पर लिखा है:—"स्वामीजी मथुरा संवत् १९१७ के कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया अथवा सन् १८६० के नवम्बर की १४ तारीख को आये थे*।" हम पंडित लेखराम के इस कथन को निर्मूल समझते हैं, क्योंकि वह किसी प्रमाण के ऊपर स्थित नहीं है। स्वामीजी उस समय अपनी कोई डायरी (रोज़नामचा) नहीं रखते थे, दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में भी इस बात को लिखकर रखने की कोई रीति नहीं थी कि कौन विद्यार्थी कब और कहाँ से आकर उसमें प्रविष्ट हुआ है और न उस पाठशाला में कोई ऐसा रजिस्टर ही रक्खा जाता था जिसमें किसी विद्यार्थी का नाम, धाम और आगमन उस समय लिखा जाता हो। तब पंडितजी किस आधार पर ऐसा लिख गये कि "दयानन्द मथुरा में सम्वत् १९१७ के कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को आये थे"?

मथुरा आने के संवत् के सम्बन्ध में हम जैसे पंडित युगुलकिशोरजी के कथन से सहमत नहीं हैं, ऐसे ही पंडित लेखराम के विश्वास से भी सहमत नहीं हैं। हम यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं कि दयानन्द मथुरा में संवत् १९१७ के किसी न किसी भाग में आये थे। वृन्दावन में जिस स्थान पर अब शाहजी का मन्दिर बना हुआ है वहाँ पहले हिम्मत बहादुर की कचहरी थी। उसी कचहरी में संवत् १९१७ में दण्डी विरजानन्द के साथ वासुदेव स्वामी का शास्त्रार्थ हुआ था और दयानन्द उस शास्त्रार्थ में उपस्थित थे,—ऐसा सुनने में आया है। यही बात कुछ वर्ष पहले दण्डीजी के दूसरे शिष्य पण्डित

---

* जब स्वामीजी ने आर्य्यसमाज स्थापित कर दिये और उनका वेदभाष्य छपकर प्रचरित होने लगा तब तो उनके विषय में यह समाचार कि वह कब किस स्थान को जायँगे और कहाँ कितने दिन रहेंगे, उनके क्रमशः प्रकाशित होने वाले वेदभाष्य के अङ्कों पर अथवा किसी समाचार पत्र में छपने लगा था। परन्तु जिस समय वह योगशिक्षा के अभिप्राय से कभी उत्तराखण्ड के पर्वत-में और कभी नर्मदा तट पर विचरण करते थे, जिस समय वह दण्डीजी से अध्ययन करने के लिए मथुरा आये थे, उस समय अपने संबन्ध में कोई समाचार लिखकर नहीं रखते थे और न उसे किसी पत्र-पत्रिका में ही छपाते थे। उस समय दयानन्ददिवाकर अनुदित अवस्था में था, और उस का समाचार जानने के लिये संसार का कोई मनुष्य व्यस्त न था।

पुरुषोत्तम चौबे से भी सुनी थी। इससे ज्ञात होता है कि स्वामीजी संवत् १९१७ से पहले ही मथुरा आकर दण्डी विरजानन्दकी पाठशाला में प्रविष्ट होगये थे।

पण्डित वनमाली चौबे भी दण्डीजी के एक विद्यार्थी थे। उनका कथन था कि "मैं संवत् १९१७ में दण्डीजी की पाठशाला में प्रविष्ट हुआ था। दयानन्द मेरे प्रविष्ट होने के पहले ही प्रविष्ट हो चुके थे।" इससे सिद्ध होता है कि स्वामीजी ने मथुरा में संवत् १९१७ से पहले ही पदार्पण किया था। मथुरा के कोई-कोई वृद्ध पुरुष यह कहते भी सुने गये हैं कि दण्डीजी की पाठशाला में पाणिनि-युग के प्रवर्तित होने※ के पीछे ही दयानन्द उनके पास पढ़ने के लिए गये थे। अतः हमारा विश्वास है कि संवत् १९१६ के किसी-न-किसी समय में ही दयानन्द मथुरा अध्ययन करने के लिए आये थे। हमारा यही विश्वास है।†

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि १२-१३ वर्ष योगियों के अनुसन्धान और योगविद्या के अनुशीलन में व्यय करके दयानन्द पुनः अध्ययन के लिए मथुरा क्यों आये? योग विद्या के ग्रन्थों में लिखी हुई और क्रियात्मक शिक्षा को नाना प्रकार से नाना योगियों से पाकर वह अन्त में दण्डी विरजानन्द के पास पढ़ने को क्यों आये? जो स्रोत निरन्तर १२-१३ वर्ष तक एक ही भाव से, एक ही ओर और एक ही उद्देश्य से प्रवाहित रहा उस में सहसा क्यों परिवर्तन हो गया? प्रथमतः यद्यपि उनके जीवन के १२-१३ वर्ष प्रधानतः योगविद्या में विशेष रूप से पारङ्गत होने में अवश्य अतिवाहित हुए थे, परन्तु उनके चित्त से ज्ञान-स्पृहा और ज्ञानान्वेषण की लालसा एक वार भी विलुप्त नहीं हुई थी। जब कभी योगियों के अन्वेषण-समय में वा योगसाधन के समय में उन्हें सुयोग मिलता था तभी वह ज्ञानोपार्जन के विषय में यत्न किया करते थे। व्यासाश्रम से छिनूर जाकर उन्होंने कृष्ण शास्त्री से व्याकरण पढ़ा था। चाणोद में परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार और वेदान्त-परिभाषा आदि ग्रंथों का अभ्यास किया था, टिहरी में जाकर तंत्रादि ग्रंथों की आलोचना की थी। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि उनके संन्यासाश्रम ग्रहण करने का प्रधान कारण ज्ञान-लालसा ही थी। जब उस दक्षिणी पण्डित ने दयानन्द को संन्यास की दीक्षा देने के लिए पूर्णानन्द सरस्वती से अनुरोध किया तो उसने भी अनुरोध करते समय कहा था कि "यह (दयानन्द) संन्यास के लिये नितान्त इच्छुक हैं, क्योंकि ऐसा करने से यह वेदान्तादि शास्त्र की निर्विघ्न होकर

※ पाणिनियुग संवत् १९१५ के अन्तिम वा संवत् १९१६ के आरम्भ में प्रवर्तित हुआ था, ऐसा प्रमाणित होता है।

† मेरी सम्मति में देवेन्द्र बाबू की युक्तियों से यह सिद्ध नहीं होता कि दयानन्द मथुरा संवत् १९१७ से पहले ही आये थे। वासुदेव स्वामी से दण्डीजी के शास्त्रार्थ की अथवा वनमाली चौबे के दण्डीजी की पाठशाला में प्रविष्ट होने की तिथि अज्ञात है। सम्भव है दयानन्द मथुरा संवत् १९१७ के आरम्भ में ही आ पहुँचे हों और उपर्युक्त दोनों घटनाएँ उनके आगमन के पश्चात् संघटित हुई हों। पण्डित लेखराम की पुस्तक में दयानन्द के मथुरा पहुँचने की जो तिथि दी है वह ज्ञात नहीं किस आधार पर दी गई है, अतः उसके स्वीकार करने में अवश्य संकोच होता है।

—संग्रहकर्त्ता

आलोचना कर सकेंगे।" वह संन्यासाश्रम में इसी वास्ते प्रविष्ट हुए थे कि ब्रह्मचारी रहने की दशा में उन्हें अपने हाथ से भोजन पकाना पड़ता था और इससे अध्ययन में व्याघात होता था। इसके अतिरिक्त वह स्वयं कह गये हैं कि उन्होंने ज्ञानोपार्जन करने की इच्छा के कारण ही आसन्न-मृत्यु के ग्रास बनने से अपनी रक्षा की थी। जब वह अलखनन्दा के परिभ्रमण के समय उसके तुषाराकीर्ण तट पर मुमूर्षु अवस्था में पड़े थे तो उस समय का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है:—"एक वार मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इसी हिमराशि में पड़े रह कर ही मैं अपने प्राणों का अन्त कर दूँ, किन्तु थोड़ी ही देर पीछे मेरी ज्ञानलालसा इतनी प्रबल हो उठी कि मैंने यह विचार छोड़ दिया।"

इस सम्बन्ध में एक और बात की आलोचना करनी आवश्यक है। जब शिवरात्रि का व्रतभङ्ग करके रात्रि के तीसरे पहर दयानन्द जड़ेश्वर के मन्दिर से घर वापस आये तो उनका मूर्त्तिपूजा के ऊपर से विश्वास उठ गया था। हम समझते हैं पाठक इस बात को भली भांति जानते हैं और यह हम पहले ही लिख आये हैं कि उपवासादि वाह्यानुष्ठानों में उसी समय से उनकी श्रद्धा नहीं रही थी। इससे सिद्ध होता है कि दयानन्द उसी समय से हिन्दूधर्म की प्रचलित प्रणाली के प्रति आस्थाहीन हो गये थे। परन्तु इसके साथ ही वह हिन्दूधर्म की प्रकृत प्रणाली को जानने के लिये भी उत्सुक हो गये थे। यह औत्सुक्य १३ वर्ष की आयु से ही उनके हृदय में उद्दीपित रहता चला आया था। फिर यदि यह औत्सुक्य उनके पिछले जीवनकाल में क्रमशः स्थायी हो गया तो इसमें सन्देह की कौन सी बात है ? इसलिये यह स्वीकार करना होगा कि दयानन्द का जीवन योगलालसा के समान ज्ञानलालसा से भी परिचालित था। जब वह योगियों के अनुसन्धान में नर्मदा की तट-भूमी को खोज रहे थे, जब वह उत्तराखण्ड में एक स्थान से दूसरे स्थान में, एक मठ से दूसरे मठ में जाते थे और इसी प्रकार उन्होंने अपने १३ वर्ष बिताये थे, तब भी उन्होंने एक दिन के लिये भी अपनी ज्ञानोपार्जन की लालसा को नहीं त्यागा था। हम तो यहाँ तक कहने को उद्यत हैं कि उनके अन्तःकरण में योगपिपासा की अपेक्षा ज्ञानपिपासा अधिक प्रबल थी, क्योंकि जब योगपिपासा उनके अन्तःकरण में उद्दीपित हुई तब उनकी आयु १८ वर्ष की थी और जब ज्ञानपिपासा उत्तेजित हुई थी तब उनकी आयु १३ वर्ष की थी। अतः यदि वह प्रबल ज्ञानपिपासा की तृप्ति के उद्देश्य से मथुरा में दण्डी विरजानन्द की सेवा में उपस्थित हुए तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

हाँ ! एक प्रश्न रहता है। भारतभूमि के बहुत से स्थानों में अनेकों आचार्यों के रहते हुए दयानन्द इस अन्धे आचार्य्य के पास क्यों आये ?

पं० लेखरामनिर्मित उर्दू दयानन्द-चरित में लिखा है कि दयानन्द ने नर्मदातट-परिभ्रमण के समय किसी से विरजानन्द की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी थी और इसी से वह दण्डीजी के पास विद्या ग्रहण करने के लिये आये थे। सम्भव है कि ऐसा ही हुआ हो, परन्तु अधिक सम्भव यह मालूम होता है कि दयानन्द को विरजानन्द के अपूर्व पाण्डित्य का समाचार उत्तराखण्ड की यात्रा से पूर्व ही ज्ञात हो गया था*।

---

* श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के मन्त्री मथुरा निवासी स्वर्गीय पं० मोहनलाल

यद्यपि यह बात कि पूर्णाश्रम स्वामी पाणिन्यादि आर्ष ग्रन्थों के प्रचार के पथप्रदर्शक थे सर्वसाधारण को विदित नहीं है, तथापि यह सत्य हो सकता है। यह तो निश्चित ही है कि उस समय पूर्णाश्रम स्वामी अपनी असाधारण शास्त्रदर्शिता और आर्ष ग्रन्थों के पक्ष के लिए साधु-मण्डली और पण्डित-मण्डली में विशेष ख्याति रखते थे।

हमारा अनुमान है कि दयानन्द पूर्णाश्रम के पास उत्तराखण्ड की यात्रा आरम्भ करने से पूर्व ही गये होंगे। जब दयानन्द अलखनन्दा के हिमाच्छादित तट पर मुमूर्षु दशा को प्राप्त होकर मरने की इच्छा करने लगे थे तो तत्काल ही उनके मन में यह विचार उदित हुआ था कि ऐसे मरने से क्या लाभ, यदि मरना ही है तो ज्ञानोपार्जन करके मरना चाहिये। पूर्णाश्रम से विरजानन्द की प्रशंसा सुनकर उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि उनके लिये ज्ञान-पिपासा की शांति के साधन विद्यमान हैं और इसी कारण उन्होंने मरने का विचार त्याग दिया था।

यहाँ एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब दयानन्द ने केवल ज्ञानोपार्जन के लिये ही प्राणान्त करने का सङ्कल्प छोड़ा था, जैसा कि वह स्वयं लिखते हैं कि उस समय "एक क्षण में ही ज्ञानलालसा नितान्त प्रबल हो उठी" तो वह उसके पश्चात् तुरन्त ही विरजानन्द के पास विद्याग्रहणार्थ क्यों नहीं चले गये? इसका यही उत्तर है कि यद्यपि वह विरजानन्द से विद्याप्राप्ति का उत्तराखण्ड की यात्रा से पहले ही सङ्कल्प कर चुके थे, परन्तु उनकी अभिलाषा थी कि एक बार काशीप्रभृति स्थानों में अन्वेषण करलें और नर्मदा के उत्पत्तिस्थान के दर्शन करलें और तब निश्चिन्त होकर अध्ययनकार्य में प्रवृत्त हों। इसीलिये वह काशी आदि स्थानों में घूमने और नर्मदा के उद्गम को देखने के पश्चात् ही मथुरा में दण्डी विरजानन्द की सेवा में शिष्यभाव से उपस्थित हुए।

परन्तु यह सब अनुमान ही है। वास्तव में तो हमारे पास कोई सामग्री ऐसी नहीं है जिसके आधार पर हम इस प्रश्न का, कि दयानन्द को विरजानन्द का संवाद उत्तराखण्ड की यात्रा से पहले मिला वा नर्मदातट-परिभ्रमण के समय मिला, निश्चित रूप से उत्तर दे सकें।

दण्डी विरजान्द से मिलन

मथुरा पहुँच कर पहले दयानन्द कुछ दिन रङ्गेश्वर के मन्दिर में ठहरे और एक दिन विरजानन्द की सेवा में उपस्थित होकर प्रणाम किया और अपना सङ्कल्प उन पर प्रकट किया। विरजानन्द जो अन्य विद्यार्थियों से कहा करते थे वही उन्होंने दयानन्द से भी कहा। विरजानन्द ने कहा—आज तक जो कुछ तुमने मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों में पढ़ा है वह सब भूल जाओ, क्योंकि जब तक मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों का प्रभाव रहेगा आर्ष ग्रन्थों का

विष्णुलाल पंड्या ने देवेन्द्र बाबू से कहा था—"पढ़ने के लिये मैं पहले हरिद्वार में पूर्णाश्रम स्वामी के पास गया था, परन्तु वह उस समय बहुत वृद्ध हो गये थे और उन्होंने मौन व्रत धारण कर रक्खा था, इसलिये वह मुझे पढ़ाने पर सम्मत नहीं हुए। जब मैंने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने एक काग़ज़ पर लिख दिया कि यदि तुम मथुरा में जाकर विरजानन्द से पढ़ो तो तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा।" —संग्रहकर्त्ता
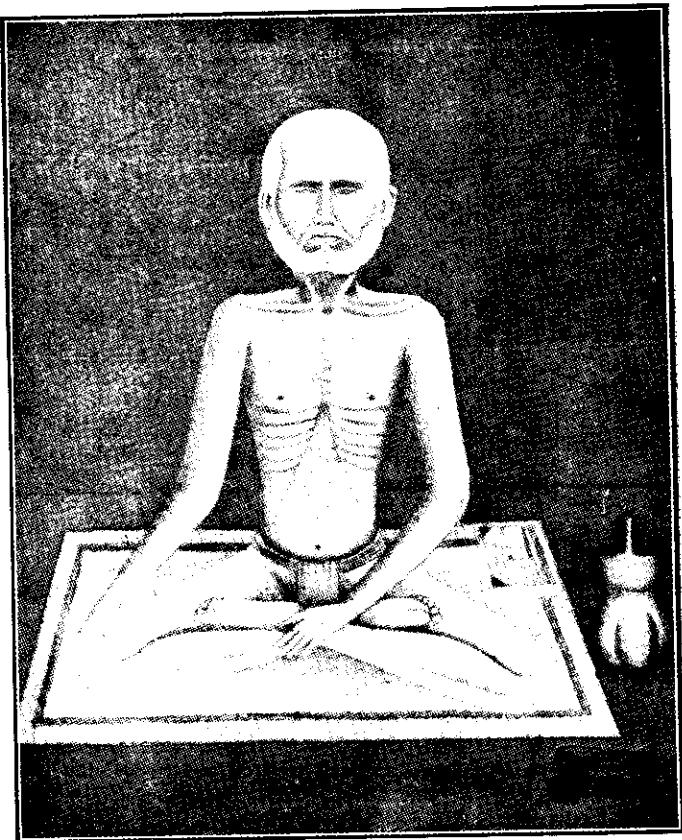
प्रकाश तुम्हारे चित्त में प्रवेश न कर सकेगा। और यदि कोई मनुष्यप्रणीत ग्रन्थ तुम्हारे पास हो तो उसे यमुना के प्रवाह में फेंक आवो। एक और बात है, तुम संन्यासी हो, मैं कभी किसी संन्यासी को विद्यार्थी रूप से ग्रहण नहीं करता हूँ, क्योंकि जिस के भोजन और रहने के स्थान की स्थिरता न हो वह मनोयोग के साथ विद्याभ्यास कैसे कर सकता है? इसलिये पहले तुम अपने खाने-पीने और रहने के स्थान की व्यवस्था कर आओ और फिर मेरे पास आकर विद्याभ्यास में लगो।"

यह बात नहीं है कि हिन्दूशास्त्रराशि में हर एक ग्रन्थ ही ऋषिप्रणीत है, बल्कि उनके पढ़ने से अधिकाँश मनुष्यप्रणीत मालूम होते हैं। ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को छोड़कर और किसी ग्रन्थ के प्रति विरजानन्द आस्थावान् नहीं थे। वह किसी मनुष्यप्रणीत ग्रन्थ को प्रामाणिक रूप से ग्रहण नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्यप्रणीत वा अनार्ष ग्रन्थों के प्रचार से ही भारत-भूमि का अनेक प्रकार का अनर्थ हुआ है। और उनकी धारणा थी और अवलम्बन था कि इस प्रलीयमान आर्य जाति के पुनरुत्थान का एक मात्र उपाय आर्षग्रन्थों का पुनः प्रचार करना ही है। शेखर, मनोरमादि व्याकरण के खण्डन में स्वयं विरजानन्द ने एक ग्रन्थ वाक्यमीमाँसा नाम से रचा था और पाणिनि के प्रायः आधे भाग का एक भाष्य भी प्रणयन किया था; परन्तु इस आशङ्का से कि लोक समाज में उनके ग्रन्थ का प्रचार हो जावे और उनके भाष्य की उपस्थिति में मूल ग्रन्थों में लोगों की प्रवृत्ति न हो, और इस प्रकार मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों की ही संख्या में वृद्धि हो जाय और भारत भूमि का अधिक अकल्याण हो, उन्होंने स्वरचित मीमाँसा और पाणिनि भाष्य को अपने एक शिष्य को देकर उन्हें यमुना में फिंकवा दिया। इससे अनुमान होता है कि विरजानन्द श्रुति-प्रतिपादित धर्म्म के ही पक्षपाती थे। वह वैदिक धर्म्म को ही सत्य और सनातन धर्म्म मानते थे। यद्यपि उनकी आयु अस्सी वर्ष से भी अधिक हो गई थी। शरीर जराभार से आक्रान्त हो गया था, तथापि वह सदा इसी चिन्ता में निमग्न रहते थे कि समस्त भारत में वैदिक धर्म्म पुनः प्रतिष्ठित कैसे हो। समय २ पर विरजानन्द इतने उत्तेजित हो जाते थे कि वैदिक धर्म्म के पुनरुत्थान और आर्ष ग्रन्थों के पुनः प्रचार के उपाय सोचने में ही लगे रहते थे। इसी उद्देश्य से वह एक सार्वभौम सभा स्थापन करने पर उद्यत हुए थे। जयपुराधीश महाराजा रामसिंह से भी उन्होंने इस सभा का प्रस्ताव किया था और महाराजा रामसिंह ने उसका अनुमोदन भी किया था और उसके लिये विशेष प्रयत्न करने का भी वचन दिया था।

यद्यपि दण्डी विरजानन्द प्रायः जन्मान्ध थे तथापि सब शास्त्र उनकी जिह्वा पर नृत्य करते थे। उनकी बुद्धि का सारे शास्त्रों में प्रवेश था, उनकी दृष्टि सर्व-शास्त्र-प्रचारिणी थी,

दण्डी विरजानन्द

उनकी विचार शक्ति शास्त्रों के पढ़ाने में असाधारण थी, विशेषकर शब्दशास्त्र के कर्म्मों के अवधारण और मीमांसा करने में तो उनकी प्रतिभा अलौकिक ही थी। इस कारण से सर्व साधारण उन्हें 'व्याकरण-सूर्य' के नाम से अभिहित करते थे। विरजानन्द का पाण्डित्य अपूर्व था, उनकी प्रतिभा असाधारण थी और उनकी स्मृतिशक्ति विस्मयकारक थी। किसी

गुरु श्री दण्डी विरजानन्दजी महाराज (पृ० ६०)

श्लोक वा सूत्र को एक अथवा अधिक से अधिक दो बार सुनने से वह उसे अभ्यस्त विषय के समान बिना किसी क्लेश के दुहरा सकते थे। इन कारणों से उनका नाम श्रुतिधर होना सर्वतोभावेन उपयुक्त था। विरजानन्द के असाधारणत्व के सम्बन्ध में बहुत सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं परन्तु उनका विस्तार पूर्वक उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक है॥।

चक्षुहीन होने के कारण कोई उन्हें सूरदास कोई धृतराष्ट्र और कोई प्रज्ञाचक्षु के नाम से पुकारते थे।

यह हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि ऋषिप्रणीत ग्रंथों के प्रचार और वैदिकधर्म्म के विस्तार में विरजानन्द का दृढ़ अनुराग और अटल विश्वास था। इससे यह सहज में ही समझ में आ सकता है कि पाठशाला स्थापित करने के मूल में और अध्यापन कार्य करने की तह में उनका कोई विशेष लक्ष्य था। विरजानन्द की पाठशाला अन्य पाठशालाओं के समान साधारण पाठशाला न थी और न उनके अध्यापन का अन्य गुरुओं के अध्यापन के समान केवल कुछ वैयाकरण, कुछ नैयायिक अथवा कुछ वेदान्तिक तैयार करना उद्देश्य था। जैसे उनकी पाठशाला का उद्देश्य सब से विलक्षण था ऐसे ही उनका अध्यापन भी अन्यों से निराला ही था। इस कारण से विरजानन्द अपने विद्यार्थियों से प्रायः कहा करते थे—"आज मैं जिस अग्नि को धूमाकार में तुम्हारे भीतर प्रविष्ट करता हूँ कल वह महाग्नि में पर्य्यवसित होकर भारतभूमि के भ्रान्त मत और भ्रान्त विश्वास के जञ्जाल को भस्मीभूत कर डालेगी।"

दण्डीजी के वचन को सुनकर दयानन्द पाठशाला से बाहर निकले और आहार और निवासस्थान के स्थिर प्रबन्ध के विषय में चिन्तित हो गये। मथुरा में कोई उनका परिचित न था, वह अपरिचित स्थान में और अपरिचित मनुष्यों के बीच में थे, न कोई बन्धु था, न मित्र। सहायता के लिये किस के आगे हाथ फैलावें और यह किससे आशा करें जो उनके स्थिररूप से रहने और खान-पान का भार अपने ऊपर लेले। यदि यह प्रबन्ध नहीं होता है तो उनकी जन्म भर की आशाओं पर जिनके सहारे वह इतने कष्ट और क्लेशों का सहन करते आये हैं पानी फिर जाता है। ज्ञानपिपासु ज्ञानस्रोत के तट पर बैठा है। परन्तु वह पान करके अपनी तृष्णा को नहीं बुझा सकता। प्यासे के मुंह से पानी का कटोरा हटाया जा रहा है, भूखे के सामने से भोजन का थाल सरकाया जा रहा है। कैसा दुःखप्रद दृश्य है! दयानन्द के हृदय पर नैराश्य की घटा छाने लगी और वह 'किं करोमि क गच्छामि' कह कर चिन्ता से व्याकुल हो गये। इतने में ही आशा की किरण दिखाई दी, नैराश्य की घटा फट गई।

जिस समय की हम कथा लिख रहे हैं उस समय मथुरा में एक परोपकारी और उदारचित्त गुजराती ब्राह्मण रहते थे। उनका नाम था अमरलाल जोषी। मथुरा में कभी उनका कोई पूर्व पुरुष आया था और वहीं बस गया था। उन्हें लोग जोशी बाबा † कहा

॥ देवेन्द्र बाबू ने विरजानन्द की भी जीवनी लिखी है। उसका आर्य्य भाषा में अनुवाद होकर आर्य्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० ने छपा दिया है। —संग्रहकर्त्ता

† ज्योतिष् शास्त्र में पारदर्शिता के कारण ही अमरलाल को जोषी बाबा की पदवी मिली

करते थे। वह उदीच्य श्रेणी के ब्राह्मण थे। घटनावश उनसे दयानन्द का परिचय होगया। दयानन्द ने अपनी विपद् कहानी उन्हें कह सुनाई और उन्होंने दयानन्द के भोजन का भार सहर्ष अपने ऊपर ले लिया और उनके भोजन का स्थिर प्रबन्ध होगया। ※अमरलाल के विषय में दयानन्द ने लिखा है:—"आहार और गृह आदि की मुक्तहस्त से सहायता करने के कारण मैं अमरलाल का नितान्त आभारी हूँ। भोजन के सम्बन्ध में वह इतने यत्नपर रहते थे कि जबतक मेरे भोजन का प्रबन्ध न हो जाता था तबतक वह स्वयं भोजन न करते थे। वस्तुतः अमरलाल एक महदन्तः करण के मनुष्य थे। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।" इसके पीछे दयानन्द के रहने के स्थान का भी प्रबन्ध हो गया। विश्रामघाट पर लक्ष्मी-नारायण का जो मन्दिर है उसके नीचे की मंज़िल में एक कोठरी उन्हें रहने के लिए मिल गई। यह कोठरी मन्दिर के द्वार के एक पार्श्व में थी और यद्यपि वह कुछ बड़ी न थी तथापि एक मनुष्य के रहने के लिए पर्य्याप्त थी। उसका मौक़ा बहुत ही अच्छा था। मन्दिर के गवाक्ष के पास खड़े होते ही यमुना की तरङ्ग-भङ्गिमय श्याम सलिलराशि पर दृष्टि पड़ती थी। यमुना के दूसरी पार कहीं शुभ्रोज्ज्वल सैकत भूमि, कहीं लतापादप-परिपूर्ण छोटी-छोटी वनस्थली के दर्शन करके मनुष्य आनन्द से पुलकित होजाता था। अमरलाल ने इस निःसहाय संन्यासी की सहायता करके अपने को अमर कर लिया था। कौन जानता था कि वह संन्यासी एक दिन वैदिक धर्म्म का पुनरुद्धारक और आर्य्य जाति का उन्नायक होगा। अमरलाल को क्या ख़बर थी कि वह उक्त अपरिचित संन्यासी का पालन-पोषण करके भारत के ही नहीं, प्रत्युत सारी पृथ्वी के, धर्म्मबुभुक्षुओं को अन्न दे रहा है। अमर-लाल तुझे धन्य है। दयानन्द दिवाकर में जो तेजःपुञ्ज था उसके सञ्चय में तेरा भी भाग है और जिन्होंने उस दिवाकर के प्रकाश से अपने हृदयाविष्ट तिमिर राशि को छिन्न-भिन्न किया है तू भी उनकी श्रद्धाञ्जलि का अधिकारी है।

जब भोजन और घर का इस प्रकार स्थिर रूप से प्रबन्ध हो गया तो दयानन्द दण्डी जी की पाठशाला में पढ़ने के लिये प्रविष्ट हुए। वहाँ जाकर उन्होंने क्या देखा? उन्होंने देखा कि जैसे सूर्य्य-मण्डल से अविश्रान्त तेजोराशि निःसृत होती है, अथवा जैसे झरने से अनवरत वारिधारा झरती है, ऐसे ही विरजानन्द के वागिन्द्रिय से नाना शास्त्रों के नाना प्रसङ्ग अनवरत रूप से निकलकर शिष्यमण्डली को विभावित कर रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि चक्षुहीन होते हुए भी दण्डीजी अपनी प्रज्ञाचक्षु † द्वारा सारे शास्त्रों के सारे स्थानों को देखकर जिज्ञासित विषय का सुचारुरूप से सिद्धान्त कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त

थी। ज्योतिष में उनका विशेष पाण्डित्य देखकर महाराजा सिन्धिया ने उन्हें १०-१२ ग्राम दे दिये थे। उनकी ही आय से अमरलाल का निर्वाह होता था। अमरलाल प्रति दिन प्रायः एक सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया करते थे।

※ अमरलाल के घर भोजन का प्रबन्ध होने से पहले दयानन्द ने कुछ दिन तक दुर्गा प्रसाद खत्री के घर भोजन किया था।

† दयानन्द विरजानन्द को प्रज्ञाचक्षु के नाम से अभिहित करते थे और इसी नाम से उन्होंने अपने ग्रन्थों में दण्डीजी का वर्णन किया है।

यह भी देखा कि दण्डीजी की देहयष्टि यद्यपि केवल अस्थियों के पञ्जर में पर्य्यवसित हो गई थी तथापि वह युवजनोचित उत्साह और तेजस्विता के साथ पढ़ाने के कार्य्य में रत हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य्य का यह विषय था कि जन्म भर किसी ग्रन्थ वा किसी ग्रन्थ के पत्रों का दर्शन न कर सकने पर भी दण्डीजी अपनी सर्व-विषयग्राहिणी स्मृतिशक्ति के प्रभाव से व्याकरण, दर्शन, साहित्य, संहिता, वेद तथा वेदान्त सब विद्याओं के सब प्रकार के तत्वों को बातों-बातों में ही समझा देते हैं। परन्तु जैसे दयानन्द ने विरजानन्द के समान आचार्य्य कभी नहीं देखा था, ऐसे ही दयानन्द के समान कोई शिष्य भी कभी पहले विरजानन्द के पास नहीं आया था।

नये आचार्य्य के पास नई पद्धति के अनुसार दयानन्द ने पढ़ना आरम्भ किया। पहले वह पाणिनिसूत्रों का अध्ययन करने लगे। विरजानन्द की अध्यापनरीति कुछ अपूर्व थी। उसके प्रभाव से विद्यार्थी-गण अपेक्षाकृत थोड़े समय में अष्टाध्यायी पर अधिकार प्राप्त कर सकते थे। दयानन्द इससे पहले ही एक प्रकार से व्याकरण-शास्त्र में व्युत्पन्न हो गये थे। इसके अतिरिक्त अपनी अत्युज्ज्वल मेधा और दण्डी विरजानन्द की अपूर्व अध्यापन शैली के मिलने से उन्होंने अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में व्युत्पन्नता प्राप्त करली। उच्चारण की शुद्धि पर विरजानन्द की तीव्र दृष्टि थी। कोई विद्यार्थी भी उनके सामने किसी श्लोक वा शब्द का अशुद्ध उच्चारण करके बच नहीं सकता था। वस्तुतः अध्यापक-समाज में विरजानन्द के समान शुद्ध और यथायथ आवृत्ति करने वाला अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता था। यद्यपि दयानन्द ने इससे पहले अनेक अध्यापकों से पढ़ा था, परन्तु उनका उच्चारणगत दोष सर्वथा दूर नहीं हुआ था। अब विरजानन्द के पास पढ़ने से उनका यह दोष धीरे-धीरे दूर होने लगा। अष्टाध्यायी की समाप्ति के पश्चात् दयानन्द ने महा-भाष्य आरम्भ किया। व्याकरणशास्त्र में जैसे अष्टाध्यायी अद्वितीय है, वैसे ही पाणिनि के सूत्रों के सार को विशद रूप से खोलने और अष्टाध्यायी के सब स्थलों को सुस्पष्ट करने में महाभाष्य भी अद्वितीय है। कौमुदी आदि व्याकरणों के ज्ञान को परिपक्व और प्रबुद्ध करने के लिये जैसे भट्टिकाव्य के आयोजन की आवश्यकता है ऐसे ही अष्टाध्यायी में प्रवेश पाने और उसके ज्ञान को हृदयंगम करने के लिये महाभाष्य अपरिहार्य है। पुराणकथित समुद्र-मन्थन जैसे गुरुतर कार्य में सुमेरु पर्वत ने मन्थन-दण्ड का कार्य किया था, संस्कृत और वैदिक भाष्यरूप शास्त्र-समुद्र के मन्थन करने के लिये महाभाष्य ही मन्थन-दण्ड का काम दे सकता है। जिसने अष्टाध्यायी और महाभाष्य पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है, उसने मानों शब्द-साम्राज्य में सम्राट् की पदवी प्राप्त करली है। दयानन्द ने दण्डीजी के पास अष्टाध्यायी और महाभाष्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। इसी कारण पूना और काशी के व्याकरणविशारद पण्डितगण का उनके सामने शिर नीचा रहता था। विशेषकर महाभाष्य में तो वह ऐसे व्युत्पन्न होगये थे कि सारा ग्रन्थ उनकी जिह्वा पर था।

विरजानन्द विद्यार्थियों को बड़े प्रयत्न के साथ पढ़ाते थे और वह विद्यार्थियों को स्नेह की दृष्टि * से देखते थे। और जिससे कि विद्यार्थियों का कल्याण साधन हो उसके करने में सदा यत्नशील रहते थे।

---

* पण्डित लेखराम ने लिखा है कि दण्डी विरजानन्द ने दयानन्द को एक दिन सारा

जैसे दण्डीजी यह बात जान गये थे कि दयानन्द के समान कोई अध्येता इससे पहले कभी उनकी पाठशाला में पढ़ने के लिये नहीं आया था वैसे ही दयानन्द भी यह

भी था और उस चोट के चिन्ह को दयानन्द लोगों को दिखाया करते थे और विरजानन्द दयानन्द से यमुना से जल के घड़े मंगवाया करते थे। देवेन्द्र बाबू के मत में यह घटनाएं अलीक हैं। वह कहते हैं कि विरजानन्द विद्यार्थियों से सदा स्नेह का व्यवहार करते थे और विद्यार्थियों को क्लेश और विपद् में यथाशक्ति सहायता देते थे। एक बार मथुरा के विख्यात सेठ गुरुसहायमल ने स्वयं ही बिना किसी की प्रेरणा के विरजानन्द के विद्यार्थियों को कुछ रुपया देने का प्रस्ताव किया था तो दण्डीजी ने विद्यार्थियों के गौरव-रक्षणार्थ उसे स्वीकार नहीं किया था और यह कह दिया था—"क्या हमारे विद्यार्थी भूखे हैं जो तुमसे रुपयों की सहायता लेवें"। उनका किसी विद्यार्थी को प्रहार करना और विशेषकर दयानन्द को पीटना वा उनसे यमुना से जल के घड़े मंगवाना युक्ति और कल्पना दोनों के विरुद्ध है। विरजानन्द के पास रुपये की कमी नहीं थी। सेवा-शुश्रूषा के लिये उनके पास सेवकों का अभाव नहीं था। ऐसी अवस्था में वह दयानन्द से अपने लिये यमुना से जल के घड़े क्यों मंगवाते ? दण्डीजी के विद्यार्थियों में से चौबे रङ्गदत्त, चौबे पुरुषोत्तम और पण्डित युगलकिशोर ने दण्डीजी के चरित्र में इस मिथ्या दोषारोपण की बात को सुनकर बहुत दुःख प्रकट किया था और दोषारोपण करने वाले की बहुत निन्दा की थी।

देवेन्द्र बाबू की सम्मति कुछ हो, परन्तु हमारी सम्मति में यह दोनों बातें ऐसी नहीं हैं, जिनसे दण्डीजी के चरित में कुछ दोष आता हो। यह असम्भव नहीं है कि दण्डीजी कभी २ भृत्यादि की अनुपस्थिति में दयानन्द से यमुना से जल मंगवा लेते हों और यदि ऐसा हुआ तो उससे उनके चरित में कुछ दोष नहीं आता। गुरुसेवा शास्त्रविहित है। रही यह बात कि विरजानन्द ने दयानन्द को मारा था या नहीं, यह भी कोई असम्भव बात नहीं है। पं० लेखराम ने यह घटना स्वयं तो घड़ी नहीं, किसी अन्य से ही सुनकर लिखी है। पं० ब्रह्मशंकर देवशंकर ग्वालियर वाले ने स्वयं देवेन्द्रबाबू से कहा था कि विरजानन्द दुर्गापाठ किया करते थे एक बार दयानन्द ने उसका प्रतिवाद किया तो विरजानन्द दण्ड लेकर उन्हें मारने को उठे। विरजानन्द क्रोधशील तो थे ही, यदि वे ऐसा कर बैठे हों तो आश्चर्य ही क्या है। —संग्रहकर्त्ता.

पं० लेखराम कृत दयानन्द जीवन-चरित में इतना विशेष और है:—

एक जन गोवर्द्धन सर्राफ़ दयानन्द को चार आने मासिक तेल के लिये दिया करता था जिसे वह रात्रि में जलाकर अपनी सन्था याद किया करते थे। हरदेव पत्थर वाला उन्हें दो रुपया मासिक दूध के लिये दिया करता था। एक दिन दयानन्द से दण्डीजी अप्रसन्न हो गये और उनके लाठी मारी जिससे दण्डीजी का हाथ दर्द करने लगा। तब दयानन्द ने उनसे कहा कि महाराज आप मुझे न मारा करें, मेरा शरीर वज्र के समान कठोर है। उस पर प्रहार करने से आप के कोमल हाथों को दुःख होगा। इसी चोट का चिन्ह दयानन्द के शरीर पर अन्त समय तक रहा जिसे देख कर वह दण्डीजी के उपकारों को स्मरण किया करते थे।

फिर एक बार दण्डी ने अप्रसन्न होकर दयानन्द के सोटा मारा। नैनसुख जड़िये ने दंडीजी से कहा कि दयानन्द हमारे समान गृहस्थी नहीं है वह संन्यासी है उसे न मारना चाहिये। तब दण्डीजी ने कहा कि आगे को प्रतिष्ठा के साथ पढ़ावेंगे। पाठशाला के बाहर आकर दयानन्द नैनसुख

समझ गये थे कि इससे पहले वह कभी कहीं विरजानन्द जैसे अध्यापक के पास पढ़ने के लिये नहीं गये थे। अतः विरजानन्द-सरीखे अध्यापक और दयानन्द-सरीखे अध्येता का यह समागम इस प्रकार से असाधारण ही था।

से बोले कि तुमने मेरी सिफ़ारिश क्यों की? दण्डीजी तो सुधार के लिये ही मारते हैं, द्वेष से नहीं मारते, जैसे कुम्हार मिट्टी को पीट पीट कर घड़ा बनाता है। यह तो उनकी कृपा है। तुमने बुरा किया जो उन्हें मारने से निषेध कर दिया।

विद्या-समाप्ति में १५, २० दिन रह गये थे। उसके पश्चात् दयानन्द मथुरा से जाने वाले थे। दण्डीजी ने दयानन्द से कहा कि ऊपर जहां हम बैठा करते हैं झाड़ू लगादो। उन्होंने झाड़ू लगा कर कूड़ा एक जगह इकट्ठा कर दिया। घटनावश ऐसा हुआ कि टहलते २ दण्डीजी का पैर उस कूड़े पर जा पड़ा। इस पर दण्डीजी ने दयानन्द को बुरा-भला कहा और उनकी ड्योढ़ी बन्द करदी अर्थात् पाठशाला से निकाल दिया। इससे दयानन्द को बहुत दुःख हुआ। नन्दन चौबे और नैनसुख जड़िये की सिफ़ारिश से फिर उनको पाठशाला में आने की आज्ञा मिल गई।

नैनसुख जड़िया कुछ पढ़ा लिखा न था परन्तु दण्डीजी की पाठशाला में जाया करता था और जो कुछ दण्डीजी विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे उसे सुन २ कर ही उसे संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो गया था।

एक दिन दयानन्द यमुना की रेती में ध्यानावस्थित बैठे थे। एक देवी यमुना में स्नान करके आई और उसने दयानन्द के चरणों पर मस्तक रख कर उन्हें अत्यन्त श्रद्धा से नमस्कार किया। दयानन्द कभी स्त्री-स्पर्श न करते थे। वह एक दम चौंक पड़े और माता-माता कहते हुए उठ खड़े हुए। स्त्री-स्पर्श का प्रायश्चित्त करने के लिये वह गोवर्द्धन की ओर गये और एक निर्जन स्थान में तीन रात और तीन दिन निराहार और ध्यान में रत रहकर उन्होंने प्रायश्चित्त किया। जब वह पाठशाला में वापस आये तो गुरुदेव ने उनसे इतने दिन अनुपस्थित रहने का कारण पूछा। तब उन्होंने व्रत-भङ्ग और प्रायश्चित्त की सब कथा सुनाई जिसे सुनकर दण्डीजी ने उनकी बहुत २ प्रशंसा की। (दयानन्द प्रकाश)

एक दिन दण्डीजी का कोई दूर का सम्बन्धी मथुरा आया। उन दिनों दण्डीजी ने यह आज्ञा दे रक्खी थी कि पाठशाला में विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य कोई न आने पावे। आगन्तुक को दण्डीजी के दर्शनों की बड़ी लालसा थी परन्तु वह यत्न करने पर भी दर्शन न कर सका था। उसने दयानन्द से प्रार्थना की कि किसी न किसी तरह मुझे दण्डीजी के दर्शन करा दीजिये। दयानन्द ने बहुतेरा कहा कि यदि मैं आपको अपने साथ पाठशाला में ले जाऊँगा तो गुरुजी बहुत अप्रसन्न होंगे। परन्तु वह आग्रह करता ही रहा। उसके अनुनय-विनय पर दयानन्द का मन भी पसीज गया और वह उसे अपने साथ पाठशाला में ले गये। थोड़ी देर के पश्चात् दयानन्द और वह चुपके से पाठशाला से चले आये। वह सीढ़ी उतर ही रहे थे कि उनका एक सहाध्यायी मिल गया उन्होंने उसे संकेत से समझा भी दिया कि दण्डीजी से कुछ न कहना, परन्तु उसने कह ही दिया कि महाराज आज दयानन्द के साथ एक पंजाबी सा कौन आया था? दण्डीजी दयानन्द पर बहुत अप्रसन्न हुए और उनकी ड्योढ़ी बन्द करदी। दयानन्द ने बहुत क्षमा-प्रार्थना की, परन्तु उस समय स्वीकार न हुई। अन्त में नैनसुख जड़िये की सिफारिश से उनकी ड्योढ़ी खुली। (दयानन्द प्रकाश)

अस्तु। अष्टाध्यायी और महाभाष्य पर पूर्ण रूप से आयत्व कर लेने के पश्चात् दयानन्द अन्यान्य ग्रन्थों के अध्ययन में प्रवृत्त हुए, परन्तु उन्हों ने किस-किस ग्रन्थ की आलोचना की इस विषय में हम निश्चयपूर्वक कोई बात नहीं कह सकते। दयानन्द ने विरजानन्द के पास वेदान्तादि दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ पढ़े थे कि नहीं, वेदानुष्ठान ※ के भीतर किसी वेद को नियम पूर्वक अध्ययन किया था कि नहीं अथवा वह रामायण और महाभारत की आलोचना में प्रवृत्त हुए थे कि नहीं, इतिहासादि के विषय में उन्हों ने कुछ ग्रन्थ विचारे थे कि नहीं, इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में हम कोई बात नहीं कह सकते। परन्तु यह हमने अवश्य सुना है कि उन्हों ने निरुक्त, निघण्टु प्रभृति वैदिक ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थ प्रज्ञाचक्षु से पढ़े थे। यह भी अनुमान होता है कि वेदों के प्रकृत अर्थों को समझने के लिए वा वैदिक साहित्य का पूर्ण अधिकारी बनने के लिए जिन-जिन शास्त्रों का अध्ययन और आलोचना विशेष रूप से आवश्यक है उन्हें पढ़ाए बिना विरजानन्द कभी शान्त हुए भी न होंगे। परन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि दयानन्द ने विरजानन्द से अष्टाध्यायी और महाभाष्य † विशेष रूप से पढ़े थे।

विरजानन्द की पाठशाला में दयानन्द साधारण विद्यार्थियों के समान नहीं थे।

दयानन्द-प्रकाश में लिखा है, जिसका सारांश यह है:—

दयानन्द की धारणाशक्ति अलौकिक थी। वह पाठ को एक दो वार सुनने पर ही स्मरण कर लेते थे। परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की प्रयोग-सिद्धि उन्हें विस्मृत हो गई, अतः उन्होंने उसे दण्डीजी से दुबारा पूछा। दण्डीजी ने न बताई और कहा कि जाओ और स्मरण करके लाओ, हम बार बार बताने के लिये नहीं हैं। दयानन्द ने बहुतेरा प्रयत्न किया परन्तु सफलता न हुई। वह फिर गुरुदेव के पास गये और कहा महाराज मैं तो बहुत यत्न कर चुका परन्तु वह प्रयोग स्मृति-पथ पर नहीं आता। दण्डीजी अपनी हठ के पक्के थे। शिष्य की प्रार्थना पर उन्होंने कान न दिया, बल्कि डाट कर बोले कि जब तक पहला पाठ न सुनाओगे तुम्हारा पाठ आगे को न चलेगा। यदि तुम्हें वह प्रयोग याद नहीं आता तो यमुना में भले ही डूब मरना परन्तु मेरे पास न आना। दयानन्द को गुरुजी के वचन तीर के समान चुभे उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि या तो पाठ स्मरण करूंगा नहीं तो यमुना में डूबकर प्राणान्त कर दूंगा। यह संकल्प करके वह विश्राम-घाट के समीप सीता-घाट के शिखर पर चढ़कर समाधिस्थ होगये कि यदि पाठ उपस्थित न हुआ तो यहीं से यमुना में कूद पड़ूंगा। परन्तु समाधि अवस्था में ही उन्हें पाठ स्मरण हो आया और वह विपत्ति दूर हो गई।

※ स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने आने से पहिले दयानन्द ने यजुर्वेद को छोड़कर कोई अन्य वेद पढ़ा मालूम नहीं होता। विरजानन्द के पास भी उन्होंने किसी वेद की आलोचना नहीं की थी। यह भी नहीं मालूम होता कि उन्होंने यजुर्वेद नियमपूर्वक पढ़ा था। पिता के घर में रहते हुए उन्होंने यजुर्वेद कण्ठस्थ किया था और कण्ठस्थ करते हुए कुछ कुछ अर्थबोध भी कर लिया होगा। परन्तु इससे अधिक वेदों के विषय में उनकी आलोचना का पता नहीं लगा।

† दयानन्द-प्रकाश में लिखा है कि स्वामीजी के लिए नगर से चन्दा करके ३१) में महाभाष्य की पुस्तक मंगवाई गई थी। —संग्रहकर्त्ता

दयानन्द के साथ विरजानन्द वैसा व्यवहार नहीं करते थे जैसा वह अन्य विद्यार्थियों के साथ किया करते थे। दयानन्द विरजानन्द की विशेष प्रीति के पात्र होगये थे पढ़ाते हुए विरजानन्द दयानन्द को 'कालजिह्व' और 'कुलक्कर' कहा करते थे। यह उनके प्यार के नाम थे। 'कालजिह्व' के अर्थ हैं जिसकी जिह्वा असत्य के खण्डन और भ्रान्तिजाल के छेदन में काल के समान कार्य्य करे। 'कुलक्कर' के अर्थ हैं खूँटा अर्थात् जो खूँटे के समान दृढ़ और अविचलित रह कर विपत्ती को पराभूत कर सके। दयानन्द को इन नामों से पुकार कर वह बहुत प्रसन्न होते थे। पाठशाला और पाठप्रसङ्ग को छोड़ कर विरजानन्द का अन्य विद्यार्थियों के साथ और कोई सम्बन्ध न रहता था। परन्तु दयानन्द के साथ उनके पाठ-प्रसङ्ग को छोड़ कर अन्य विषयों की भी आलोचना हुआ करती थी। गुरुदेव के साथ उन का विशेष वार्त्तालाप हुआ करता था। यह वार्त्तालाप किस विषय पर हुआ करता था पता नहीं, क्योंकि जब कभी वह होता था एकान्त में ही होता था। उस समय गुरु-शिष्य के अतिरिक्त और कोई रहने न पाता था। परन्तु फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि इस विशेष वार्त्तालाप के क्या २ विषय रहे होंगे। पढ़ाते-पढ़ाते दण्डीजी को यह ज्ञात हो गया था कि दयानन्द केवल विद्यार्थी ही नहीं है, बल्कि भारत का सुधारप्रार्थी है। वह यह भी समझ गए थे कि जैसे कोई योद्धा समरभूमि में पदार्पण करने से पहले अस्त्र ग्रहण करने के लिए अस्त्रागार में आता है, ऐसे ही शास्त्र के रणक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले दयानन्द योद्धा शास्त्रागार रूपी पाठशाला में आया है। यह जान कर दण्डीजी प्रसन्न हुए क्योंकि इतने समय तक वह जिसको ढूंढ रहे थे मथुरा की पाठशाला में आज उन्हें वही प्राप्त हो गया। विरजानन्द को यह बड़ी चिन्ता रहती थी कि वैदिक धर्म्म के प्रचार और आर्य्यावर्त्त के अभ्युत्थान रूपी महायज्ञ में अपने पीछे वह किसे होता पद पर नियुक्त करके जावेंगे, जिस आर्ष ग्रन्थ प्रचार रूपी पताका को वह इतने दिन से अपने कन्धे पर रखे चले आरहे हैं अपने देह त्याग के पीछे किसे देकर जावेंगे, उनके मरने के पीछे उनके बहुवत्सर-लालित व रक्षित संकल्प, राज्य का कौन उत्तराधिकारी होगा। इस चिन्ता से उन में उत्कण्ठा का उद्दीपन होगया था और उत्कण्ठा ने अशान्ति उत्पन्न करदी थी। इसी अशान्ति में इस वृद्ध ब्राह्मण की रात्रि के पीछे रात्रि व्यतीत होती थी। अब वह अशान्ति का काँटा उनके हृदय से निकल गया और उनकी उत्कण्ठा पूरी होगई। इस विद्यार्थी के आने पर वह चित्त में शान्त हो गये। उन्होंने सोचा कि उनके सङ्कल्प-राज्य का उत्तराधिकारी बनने का यह संन्यासी विद्यार्थी सब प्रकार से योग्य है। सत्य शास्त्र निर्धारण के लिये विरजानन्द ने अष्टाध्यायी महाभाष्य रूपी कुञ्जी दयानन्द के हाथ में देदी। शास्त्रसंस्कार और धर्म्म-संस्कार रूपी भावी संग्राम में अजेय रहने के लिये उन्हों ने दयानन्द को आर्ष ज्ञान के अक्षय कवच से अलंकृत कर दिया। निघण्टु और निरुक्तादि वैदिक ग्रन्थों में निपुण कर-के वेद-व्याख्यान और वेद के प्रकृत अर्थों के अवधारण की रीति विरजानन्द ने बतला दी और उस के सारे संशयों को अपने उपदेश से धीरे-धीरे दूर कर दिया। शिष्य ने जब पाठ समाप्त किया तो पूर्ण तृप्ति प्राप्त की। इस विषय में दयानन्द ने आगरा में पण्डित सुन्दर-लाल से बातों के प्रसङ्ग में स्वयं कहा था कि बहुत दिन तक ज्ञान का अन्वेषण करके और बहुत से स्थानों में भ्रमण करके अन्त में विरजानन्द के पास आने से मेरी तृप्ति हुई।
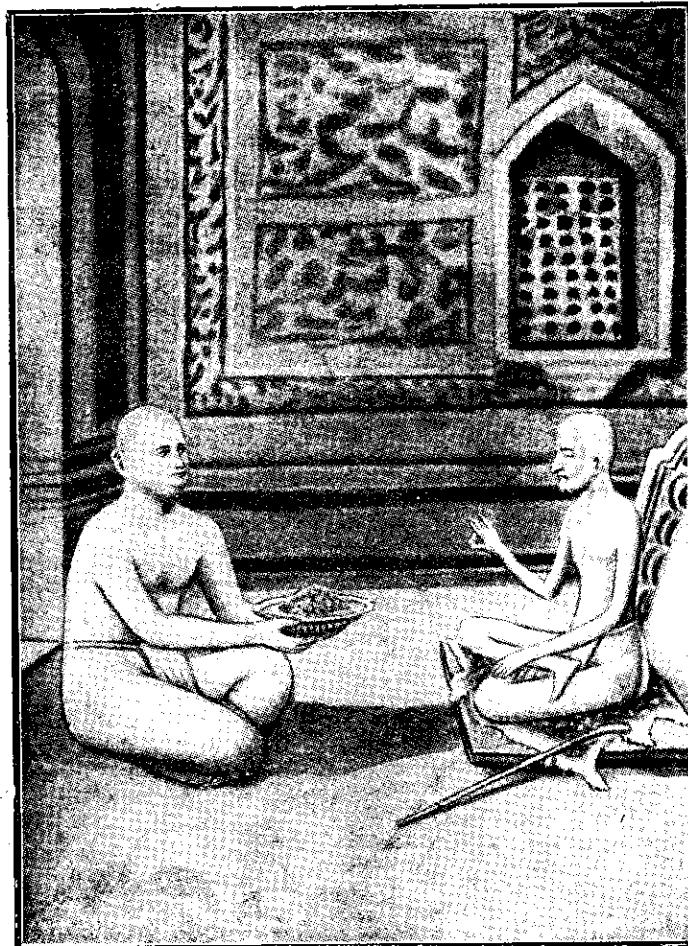
दयानन्द का तीन वर्ष में पाठ समाप्त हुआ। हमारा अनुमान है कि दयानन्द का विरजानन्द की पाठशाला में अध्ययन-काल प्रायः तीन वर्ष था। परन्तु हम निःसंशय होकर नहीं कह सकते कि दयानन्द ने उनकी पाठशाला में कितने दिन पढ़ा था ※। विरजानन्द के पास अध्ययन करने से पहले दयानन्द जैसे थे, पाठ समाप्त करने के पीछे वैसे नहीं रहे। यदि दयानन्द विरजानन्द की शिक्षा और संसर्ग न पाते तो न जाने उनका जीवन कैसा होता। अब दयानन्द ने उत्तरकाल में अपने को भारत के आदर्श सुधारक के पद पर प्रतिष्ठित किया। परन्तु यदि उन्हें विरजानन्द के सत्सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त न होता तब भी वह इस पद के योग्य बनते वा केवल एक कमण्डलुधारी संन्यासी ही बने रहते, कुछ नहीं कहा जा सकता। यह निःसन्देह है कि विरजानन्द के साथ दयानन्द का अति घनिष्ठ सम्बन्ध था। शोणित-सम्बन्ध न होते हुए भी वह शोणित-सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक निकट था। जैसे पुत्र की प्रकृति के भीतर पिता प्रच्छन्न भाव से विद्यमान रहता है, शिष्य की प्रकृति में आचार्य्य भी वैसे ही निगूढ़ भाव से स्थित रहता है। अस्तु, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान सब प्रकार से अविच्छिन्न होता है। दयानन्द की जिस प्रदीप्त वन्हि ने इस देश के कुसंस्कारों की राशि को भस्मीभूत कर दिया है, दयानन्द रूपी जो महाप्रवाह भारत की समस्त आवर्जनाओं को बहा लेजाने के लिये प्रवाहित हुआ है, दयानन्द रूपी जिस महीयसी प्रतिभा ने सायण महीधरादि वेदविख्याताओं को अप्रतिम करके वैदिक ऋषि-महर्षियों के समान महत्ता को सर्वोपरि स्थापित किया है, विरजानन्द की शिक्षा और संसर्ग ही उस प्रदीप्त वन्हि का इन्धनस्वरूप, उस महाप्रवाह का प्रस्रवणस्वरूप और उस महीयसी प्रतिभा का प्राणस्वरूप है। इससे अधिक विस्तार हम क्या करें ?

विद्या-समाप्ति, और गुरु-दक्षिणा

इस देश में यह प्रथा चली आती है कि शिक्षा-समाप्ति पर शिष्य गुरु को दक्षिणा दिया करता है। अध्ययन-समाप्ति पर विद्यार्थीगण अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार गुरु को दक्षिणा देते हैं। शिष्यों से पढ़ाने की कोई दक्षिणा ग्रहण करनी वा किसी अन्य प्रकार से अर्थ ग्रहण करना विरजानन्द के सङ्कल्प के विरुद्ध था। वह अपने शिष्यों से कोई दक्षिणा नहीं लिया करते थे। विशेष कर दयानन्द से तो वह क्या दक्षिणा लेते। यह तो संन्यासी थे , फूटी कौड़ी तक पास न थी; इन के पास दक्षिणा के लिए रुपया कहाँ से आता ? जब दयानन्द गुरु विरजानन्द के पास विदा होने को गये † तो गुरु देव ने प्रेम के साथ कहा "सौम्य ! मैं तुम से किसी प्रकार के धन की दक्षिणा नहीं चाहता हूँ। मैं

※ पण्डित लेखराम ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द दण्डी विरजानन्द के पास दो वर्ष और छः महीना पढ़े थे। इस प्रकार से दयानन्द का अध्ययनकाल निश्चित करने के विषय में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि विरजानन्द की पाठशाला में कोई लेखा नहीं रहता था।

† कहते हैं कि दण्डीजी को लवङ्ग बहुत प्यारी थी। अतः गुरुदक्षिणा के रूप में दयानन्द ने आध सेर लवङ्ग दण्डीजी के अर्पण की थीं।
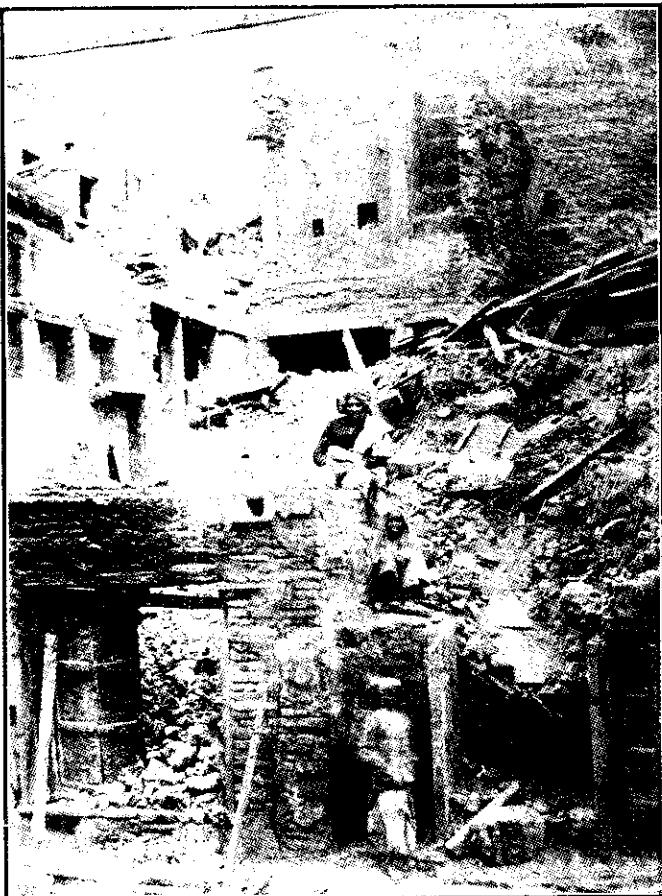
गुरु-दक्षिणा (पृ० ६८)

मथुरा में दण्डी विरजानन्दजी की पाठशाला और आश्रम
(भग्न दशा में)

तुम से तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चहाता हूँ। तुम प्रतिज्ञा करो कि जितने दिन जीवित रहोगे उतने दिन आर्य्यावर्त्त में आर्ष ग्रन्थों की महिमा स्थापित करोगे, अनार्ष ग्रन्थों का खण्डन करोगे और भारत में वैदिक धर्म्म की स्थापना में अपने प्राण तक अर्पण कर दोगे। दयानन्द ने इसके उत्तर में केवल एक शब्द कहा। "तथास्तु।" यह कह कर गुरु-देव के चरणों में प्रणत हो गये और फिर उन्हों ने मथुरा से प्रस्थान कर दिया। ※

दयानन्द ने गुरु की आज्ञा के सामने शिर झुका दिया। कुछ इतस्ततः नहीं किया, कोई आपत्ति खड़ी नहीं की, कोई बहाना नहीं ढूंढा। उत्तर देने के लिए कोई समय नहीं मांगा। हमें कहीं दो पैसे भी देने होते हैं, देने से पहले बीस बातें सोचते हैं। गुरु विरजा-नन्द शिष्य दयानन्द से जीवन मांगते हैं और शिष्य निःसंकोच होकर उसे अर्पण कर देता है। कैसी गुरु भक्ति है? कैसी अनन्य-साधारण उदारता है? कौन कह सकता है कि दयानन्द ने अपमे जीवन का उद्देश्य क्या सोचा था? कौन जाने इतना ज्ञानोपार्जन और इतना योगसाधन करने के पश्चात् वह अपने जीवन का लक्ष्य क्या बनाना चाहते थे? उन्हों ने इस पर कितना सूक्ष्म विचार किया होगा, क्या क्या सोचा होगा? वह सब कुछ निष्फल हो गया। और एक क्षण में गुरु के आदेश से उन का जीवन-लक्ष्य सदा के लिये स्थिर होगया।

दयानन्द जीवन दान करके संसार को जीवन प्रदान करने के लिए गुरुदेव से विदा हुए।

दयानन्द मथुरा से आगरा पहुँचे। इस समय संवत् १९२१ का प्रारम्भ और ग्रीष्मकाल था। आगरा पहुँचकर बालूगञ्ज के पास यमुना के तट पर सेठ गुल्लामल के बाग़ में टिके। इस बाग़ को सेठ रूपचंद का बाग़ भी कहते हैं। सेठ रूपचंद गुल्लामल के पिता थे। कोई-कोई कहते हैं कि स्वामीजी मथुरा से आकर आगरा में पहले एक मास तक किसी और जगह रहे थे यह बाग़ साधु-संन्यासियों की सेवा के लिए ही बनाया गया था। कोई साधु वा संन्यासी वहाँ आश्रय ले सकता था। आने वाले साधु संन्यासियों की सेवा शुश्रूषा करने के लिए बाग़ में एक ब्रह्मचारी रहता था। और उसके सिवाय एक माली भी रहता था। आने वाले अतिथियों के निवासार्थ बाग़ में छोटी २ कोठरियाँ बनी हुई थीं।

आगरा-गमन

उस समय पण्डित सुन्दरलाल नामक एक सज्जन आगरा के सम्भ्रान्त पुरुषों मे से थे। वह डाक-विभाग में एक उच्चतर पद पर प्रतिष्ठित थे। परन्तु उनका बड़प्पन केवल उन के उच्च पद के कारण से ही न था वलिक इस हेतु से था कि वह एक धार्मिक और धर्म्म-पिपासु सज्जन थे। उन के साथी उन के दो मित्र और थे। उन में से एक का नाम पं० बाल-मुकुन्द और दूसरे का नाम दयाराम था। यह दोनों भी डाक-विभाग के ही कर्मचारी थे।

※ देवेन्द्र बाबू दयानन्द-चरित की सब सामग्री एकत्रित करके ग्रन्थ लिखने बैठ गये थे। वह यहीं तक लिख पाए थे कि उन पर फ़ालिज गिर गया और उसी में उनका देहान्त हो गया। आगे जो कुछ लिखा गया है वह उनके नोटों का संग्रह मात्र है। कहीं २ मेरा भी लेख है। मैंने पं० लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्दजी की एकत्रित सामग्री का भी सन्निवेश कर दिया है। स्वामी सत्यानन्दजी के दयानन्द प्रकाश में बहुत सी बातें देवेन्द्र बाबू के नोटों से ली गई हैं।

और दोनों पं० सुन्दरलाल के समान ही धर्म-पिपासु थे। इसी कारण से यह तीनों ही साधु-संन्यासियों की सेवा द्वारा शान्ति लाभ करने के उद्देश्य से उन की सेवा के लिए सदा उत्सुक रहा करते थे। उन का यह नियम था कि दफ़्तर से घर वापस आकर प्रायः प्रति दिन ही सायङ्काल को सेठ रूपचन्द के बाग़ में जाया करते थे। जब कभी वह सुन लेते कि कोई नया साधु-महात्मा आया है तो आग्रह और उत्कण्ठा के साथ उस के दर्शनों को जाते और उस से धार्मिक विषयों पर बात चीत करते। इसी लिए उन्होंने बाग़ के प्रबंधकर्त्ता ब्रह्मचारी से भी कह रक्खा था कि जब कभी कोई उन्नत-चरित्र और विरक्त पुरुष आवे तो उन्हें उस का संवाद पहुँचादे। इस के अनुसार एक दिन ब्रह्मचारी ने सुन्दरलाल के घर पर आकर यह सूचना दी कि आज कल एक विद्वान् संन्यासी मथुरा से आकर बाग़ में ठहरे हुए हैं। यह सुन कर यह तीनों मित्र उसी दिन सायङ्काल को बाग़ में पहुँचे। वहाँ उन्हों ने देखा कि एक साधु कुटिया में बैठे भोजन कर रहे हैं। यह देखकर वह कुटिया से बाहर यमुना की रेती में बैठ गए और साधु की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर पीछे साधु कुटिया से बाहर निकले और एक श्लोक पढ़ते हुए उन के पास आये। इन तीनों मित्रों में से बालमुकुन्द को संस्कृत में कुछ प्रवेश था। वह साधु के श्लोकपाठ को सुन कर मन में कहने लगे कि यह साधु साधारण कोटि का विद्वान् नहीं है। वह साधु से बातचीत करने लगे और थोड़ी ही देर में उन की बातों से तृप्त-चित्त होगये। इस के पश्चात् फिर तो वह प्रतिदिन सायङ्काल को बाग़ में जाते और संन्यासी के साथ सदालाप करने लगे। धीरे-धीरे उन में और संन्यासी में आत्मीयता के भाव उत्पन्न होगये। एक दिन संन्यासी ने उन से कहा—"इस प्रकार सम्मिलन दोनों के लिए ही विशेष फलदायक नहीं है, कोई ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिस से दोनों का उपकार हो"। यह कह कर संन्यासी ने अपने सम्बन्ध में कहा कि "अध्ययन-समाप्ति के पश्चात् जब गुरु-दक्षिणा देने का समय आया तो मैंने गुरुदेव से निवेदन किया कि मैं एक संबलहीन संन्यासी हूँ, मैं दक्षिणा देने का सामर्थ्य कहाँ से लाऊँ। इतना सुनकर गुरुदेव बोले मैं तुझ से धन नहीं माँगता बल्कि तेरा जीवन चाहता हूँ। तू अपना जीवन मुझे दक्षिणा में दे और प्रतिज्ञा कर कि जितने दिन जीवित रहेगा उतने दिन वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने और भारत के अज्ञानान्धकार को नष्ट करने का यत्न करेगा। इस के अनुसार गुरुदेव से प्रतिज्ञाबद्ध होकर मैंने यह व्रत धारण किया है। मैं ज्ञान के अनुसन्धान में बहुत स्थानों में बहुत दिन तक फिरा हूँ, परन्तु मेरी तृप्ति अन्त में गुरु विरजानन्द के चरणों में बैठ कर ही हुई है"।

यह बातें सुन कर सुन्दरलाल ने दयानन्द से अष्टाध्यायी और भगवद्गीता पढ़नी आरम्भ की और अष्टाध्यायी के चार अध्याय पढ़े। इन तीनों पुरुषों के लिए दयानन्द का संसर्ग इतना प्रीतिजनक और आकर्षक होगया था कि वह दफ़्तर से लौट कर हाथ मुँह धोते ही, बिना किसी विलम्ब के, बाग़ में पहुँच जाया करते थे और घंटों दयानन्द से धर्म-सम्बन्धी विषयों पर बातचीत करते रहते थे।

पं० बालमुकुन्द से सुना गया है कि दयानन्द ने सुन्दरलाल को शिवलिङ्ग की पूजा और उन्हें दुर्गाष्टक का पाठ करने का उपदेश दिया था। परन्तु पं० सुन्दरलाल के पुत्र से पूछा गया तो उन्हों ने कहा कि "मैं यह तो नहीं कह सकता कि पिताजी स्वामीजी की

शिक्षा के अनुसार ही शिवलिङ्ग की पूजा किया करते थे वा नहीं, परन्तु यह मैं कह सकता हूँ कि वह पार्थिव लिङ्ग की पूजा स्वामीजी के मिलने के पहले से ही किया करते थे और स्वामीजी इस बात को जानते थे" ।

स्वामीजी सुन्दरलाल से इतनी प्रीति करने लगे थे कि जब वह आगरा से जाने लगे तो उन्होंने सुन्दरलाल को अपने गले से रुद्राक्ष की माला उतार कर देदी थी। सुन्दरलाल इस माला को बड़े यत्न से सुरक्षित रखते थे। इस के अतिरिक्त स्वामीजी ने सुन्दरलाल को कुछ योग की क्रियाएँ भी सिखाई थीं। सुन्दरलाल को बहुत दिन से शिरः पीड़ा रहती थी और उसके कारण नाना प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो गये थे। उनकी आंखों की ज्योति भी कम होगई थी। बड़े-बड़े डाक्टरों से चिकित्सा कराने पर भी वह इन रोगों से मुक्त नहीं हुए थे। अन्त में जब स्वामीजी ने उन्हें नेती धोती की क्रिया सिखाई और उन्होंने उनका अभ्यास किया तो उनके यह रोग दूर होगये और उनके नेत्र पूर्व के समान ज्योतिष्मान् होगये। दयानन्द जब इस बाग़ में रहते थे तो अपना अधिक समय योगाभ्यास में ही व्यय किया करते थे। वह प्राणायामादि योग के अङ्गों के साधन में विशेषरूप से रत रहते थे। कभी-कभी वह अठारह-अठारह घण्टे तक एक आसन पर ध्यानावस्थित होकर बैठे रहते थे। उस सयय अनार्ष ग्रन्थों की निकृष्टता प्रतिपादन करने और भागवत का खण्डन करने के अतिरिक्त और कोई खण्डन-मण्डन विशेष भाव से नहीं करते थे। वह आगरा नगर के भीतर बहुत कम जाते थे। कभी-कभी सुन्दरलाल के घर भोजन करने चले जाते थे। योग-साधन से जब अवकाश पाते थे तो पुस्तकें मंगा कर पढ़ा करते थे। सायङ्काल को आगरा के बड़े-बड़े पण्डित उनके पास जाया करते थे और स्वामीजी पण्डितों के साथ किसी न किसी ग्रन्थ के अर्थों के विषय पर आलोचना किया करते थे। कभी-कभी स्वामीजी योग-वासिष्ठ वा भगवद्गीता की व्याख्या करने लगते थे। उन की व्याख्या ऐसी अपूर्व और सरल होती थी कि उसे पण्डित से लेकर साधारण मजदूर तक सभी समझ जाते थे*।

दयानन्द की अवस्थिति के समय स्वामी कैलाश पर्वत भी सेठ रूपचन्द के बाग़ में ही ठहरे हुए थे, परन्तु उन का दयानन्द के साथ कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ था, हाँ सुना गया है कि शास्त्रार्थ की चर्चा अवश्य हुई थी। एक दिन स्वामीजी ने साधुओं का भण्डारा किया था। स्वामी कैलाश पर्वत दयानन्द से मन में द्वेष भाव रखते थे। उन्होंने रसोइयों से मिल कर भोजन को निःस्वाद करने के उद्देश्य से उस में बहुत अधिक मात्रा में लवण मिलवा दिया।

उस समय तक दयानन्द दण्डी विरजानन्द के आदेशानुसार सुधार का कार्य करने को उद्यत नहीं हुए थे, परन्तु उस की तैयारी कर रहे थे। पण्डित विष्णुलाल मोहनलाल पण्ड्या ने आगरे में ही उनसे इस विषय में पूछा था तो उन्होंने यह उत्तर दिया था कि "मैं अभी विचार कर रहा हूँ"। इस के पश्चात् भी एक वार पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या का मेरठ के प्रसिद्ध कुण्ड सूरज-कुण्ड पर दयानन्द से साक्षात् हुआ था। दयानन्द कुण्ड

---

* दयानन्द ने भगवद्गीता की कथा भी की थी जिस में एक मास से अधिक लगा था। वह देवी भागवत से भी अच्छे-अच्छे उपदेश सुनाया करते थे। —लेखरामकृत दयानन्द-चरित।

में उस समय वस्त्र धो रहे थे। दयानन्द मेरठ आगरा से ही किसी कार्यवश गये थे। पण्ड्याजी को देख कर दयानन्द ने उन से दण्डीजी की कुशल पूछी। उत्तर में पण्ड्याजी ने कहा कि दण्डीजी दुःख प्रकट करते हैं कि उनके किसी शिष्य ने भी यहाँ तक कि आपने भी कुछ नहीं किया। इस पर दयानन्द ने कहा कि देखा जायगा परमात्मा क्या करता है। पण्ड्याजी के पुनः प्रश्न करने पर दयानन्द ने कहा कि मैं अभी विचार और विचरण कर रहा हूँ"। जब कभी यह विषय उन के सम्मुख उत्थापित किया जाता था तो वह प्रायः यही कह दिया करते थे कि जब तक मैं सम्पूर्ण रूप से वेदों की आलोचना नहीं कर लूंगा तब तक गुरुदेव के आदेश को पूर्णतया कार्य में परिणत नहीं कर सकूँगा। पण्डित सुन्दरलाल ने दयानन्द के कहने पर जयपुर राज्य के पुस्तकालय से ऋग्वेद की पुस्तक मँगा कर उन्हें दी थी।

इस समय दयानन्द का मन सन्देहदोला में झूल रहा था। उनके मन में अनेक सङ्कल्प-विकल्प उठते थे, अनेक शङ्काएँ उठती थीं। और जिन का वह समाधान नहीं कर सकते थे बीच २ में मथुरा जाकर गुरुदेव से उनका समाधान कर आते थे, कभी-कभी पत्र लिख कर भी शङ्काओं की निवृत्ति कर लेते थे।

कौन जाने यह शङ्काएँ कैसी होती थीं और दण्डीजी उन का क्या समाधान करते थे। परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि शङ्काएँ भी असाधारण होती होंगी और उनका समाधान भी असाधारण होता होगा। आह! यदि कोई हमें शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तरों को बता सकता तो उनसे संसार का कितना लाभ होता कितनी दार्शिनिक गुत्थियाँ सुलझ जातीं, कितने वेद और आर्ष ग्रन्थों के गूढ़ तत्वों का रहस्य खुल जाता, व्याकरण के कितने सन्दिग्ध और विवादास्पद-स्थल सुस्पष्ट होजाते, दण्डीजी की अलौकिक प्रतिभा के आलोक से धर्म के कितने गुहाप्रविष्ट तत्व आलोकित हो उठते। उन पत्रों में से भी किसी का पता नहीं जो दयानन्द गुरुदेव को लिखा करते थे। वह भी होते तो उन से कम से कम शङ्काओं का तो पता लग जाता। इतना ही क्या कम लाभ होता?

दयानन्द आगरे में दो वर्ष रहे। आगरे से वह ग्वालियर चले गये। * जाते

ग्वालियर आगमन

समय अपने ग्रन्थादि सब सामग्री पं० सुन्दरलाल के यहाँ रख गये और उन से कह गये कि जब तक तुम्हें हमारा पुनः संवाद न मिले तब तक सब वस्तुओं को अपने पास रखना। इन वस्तुओं में दो शीशियाँ भी थीं। इन में से एक में अभ्रक भस्म थी, उस पर एक काग़ज़ चिपका हुआ जिस पर संवत् १९२० लिखा हुआ था जिससे प्रकट होता था कि वह संवत् ९९२० में तैयार की गई थी। दूसरी शीशी में भी अभ्रक भस्म ही थी, परन्तु वह पूर्ण रूप से तैयार नहीं हुई थी। †

---

* पं० लेखराम कृत उर्दू जीवन-चरित में लिखा है कि दयानन्द आबू से ग्वालियर गये थे, परन्तु यह ठीक नहीं है वह आगरा से ही ग्वालियर गये थे।

† पं० लेखराम के दयानन्द-चरित में इतना और विशेष उल्लेख है:—

एक दिन स्वामी कैलास पर्वत ने गीता के "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इस श्लोक की व्याख्या की, परन्तु उनके अर्थों से श्रोताओं की तृप्ति नहीं हुई तो लोगों ने

ग्वालियर गमन

जिस समय दयानन्द ने आगरा से ग्वालियर ※ के लिए प्रस्थान किया, उस समय ग्वालियर नरेश महाराज जियाजीराव सिंधिया ने एक सौ आठ भागवत पाठ का आयोजन कर रक्खा था। उस के लिए मण्डपादि बनाये जा रहे थे। विद्वान् पण्डितों को ग्वालियर में बुलाने के लिए

※ पं० लेखराम कृत दयानन्द-चरित में लिखा है कि आगरे से दयानन्द वेदों की खोज में पहले धौलपुर गये और वहां १५ दिन ठहर कर ग्वालियर गये। —संग्रहकर्ता.

स्वामीजी से प्रार्थना की कि आप भी इस श्लोक के अर्थ समझाने की कृपा करें। इस पर उन्होंने उसके ऐसे सुन्दर अर्थ किये कि सब लोग चकित होगये और कैलास पर्वत ने भी कहा कि इन की विद्या बहुत अच्छी है। और कहा यदि कोई पढ़ना चाहे तो यही एक शरीर है जो पढ़ा सकता है। उस समय स्वामीजी कृष्ण भागवत का खण्डन करते थे और महाभारत विचारा करते थे। खोई और धुस्सा ओढ़ते थे, अबरा बाँधते थे, जूता पहनते थे। सायं प्रातः समाधि लगाया करते थे।

एक दिन कुछ लोगों ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि आप कोई ग्रन्थ बाँचें तो काल व्यतीत हो और हम लोगों का भी लाभ हो। उन्होंने विद्यारण्यस्वामीकृत पञ्चदशी बाँचने को कहा। महाराज ने इसे स्वीकार कर लिया। बाँचते-बाँचते उसमें ऐसा आया कि कभी-कभी ईश्वर को भी भ्रम हो जाया करता है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह मनुष्यकृत ग्रन्थ है और फिर उसे नहीं बाँचा। हाँ, गीता की कथा करते रहे। यह कथा आश्विन के मास से दीवाली के एक मास पश्चात् तक हुई।

एक बार स्वामीजी के पैरों पर फुंसियाँ निकल आईं। उन्होंने कहा कि उदर में कुछ विकार है। अतः वह तीन-चार मनुष्यों को साथ लेकर यमुना पर न्यौली क्रिया करने को चले गये। वहाँ जल में बैठ कर तीन बार मूलद्वार से जल खींचा और बाहर आकर नाभिचक्र को घुमा कर उसे बाहर निकाल दिया और उदर शुद्ध होगया। इससे वह कुछ निर्बल होगये थे। डेरे पर आकर दाल-भात खाया और अपने साथियों से कहा कि हमने यह क्रिया नर्मदा के किनारे एक कनफटे योगी से सीखी थी। इन क्रियाओं के सीखने में उनके मस्तिष्क पर शीत का प्रभाव होगया था। उसके निवारणार्थ वह कभी २ अभ्रक भस्म खाया करते थे। अभ्रक भस्म बनाने की विधि उन्होंने पं० सुन्दरलाल को भी बताई थी।

स्वामीजी के उपदेश से सेठ रूपलाल ने सन्ध्या पुस्तक छपवाई जिसके अन्त में लक्ष्मी सूक्त था। उसकी ३०,००० प्रतियां छपी थीं और –) प्रति पुस्तक की दर से बेचीगई थीं। उस पर सेठ रूपलाल का १५००) व्यय हुआ था।

स्वामीजी उन दिनों भी मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते थे। आगरे के प्रसिद्ध सज्जन पंडित चेतूलाल व कालिदास ने स्वामीजी के तर्कों को सुनकर यह स्वीकार करलिया था कि मूर्त्तिपूजा अवैदिक है, परन्तु उन्होंने कहा कि गृहस्थ होने के कारण वह उसका प्रकट रूप से प्रतिवाद नहीं कर सकते। यह बात सुनिश्चित रूप से नहीं कही जासकती कि स्वामीजी उन दिनों भी मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करते थे ; भागवत का खण्डन वह अवश्य करते थे। यह भी निःसन्देह है कि

महाराजा ने पूना, सतारा, नासिक, काशी आदि स्थानों में आदमी भेज रक्खे थे। जो पण्डित-वर्य आगये थे महाराजा उनका बड़े प्रेम से सत्कार कर रहे थे।

महाराजा जियाजी राव बड़े ही धर्मनिष्ठ थे। एक बार उन्होंने एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया था और चातुर्मास में वह ब्राह्मण-दम्पतियों को प्रति वर्ष भोजन कराया करते थे और उनकी सेवा-पूजा करके बड़े प्रसन्न होते थे। उन्होंने वृन्दावन में ब्रह्मचारी का मन्दिर बनवाने और उस में मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा कराने में एक लाख रुपये से अधिक व्यय किया था।

भागवती पण्डितों की खोज में महाराजा के आदमी आगरा भी आये थे और, संभव है, उनसे ही भागवत की कथा का समाचार सुन कर दयानन्द ने ग्वालियर जाने का विचार किया हो। दयानन्द भागवत के कट्टर विरोधी थे और अवसर मिलने पर उस का खण्डन करने से न चूकते थे। ग्वालियर में देश के प्रमुख भागवती पण्डितों का जमाव होने वाला था। यह समझ कर कि भागवत के विषय में शास्त्रार्थ करने का इस से अच्छा अवसर नहीं मिल सकता उन्हों ने ग्वालियर जाने का निश्चय किया हो तो इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

महाराज जियाजी राव ने भागवत की कथा के विषय में बड़े बड़े ज्योतिर्विद् पण्डितों से परामर्श किया था। उन्होंने स्थिर किया था कि माघ शुक्ला ९ सवंत् १९२२ में पाठ आरम्भ होना और माघ की पूर्णिमा को समाप्त होना चाहिए। यह निश्चय होते ही कथा के उपकरणों को प्रस्तुत करने के लिये बड़े वेग से आयोजन होने लगा। निर्दिष्ट तिथि को प्रातः काल तोपध्वनि हुई और माङ्गल्यसूचक बाजे बजने लगे जिन से सारा ग्वालियर नगर अनुनादित हो उठा। नियत समय पर पाठ आरम्भ होगया।

दयानन्द ग्वालियर में पहले महारुद्र मोटेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे थे। उनके पहुँचते ही उनके ग्वालियर पधारने का समाचार सारे नगर में फैल गया। यह हम पहले ही कह आये हैं कि उनके ग्वालियर पदार्पण करते समय भागवत के अष्टोत्तरशत पाठ का तीव्र और तुमुल आयोजन हो रहा था। दयानन्द ने प्रसिद्ध शास्त्रियों के आगमन से लाभ उठाना चाहा, परन्तु इस में उन्हें सफलता न हुई ❀।

मूर्त्तिपूजा में उनकी आस्था नहीं थी, परन्तु वह उसका खण्डन प्रचार रूप से करते थे संशयास्पद है।
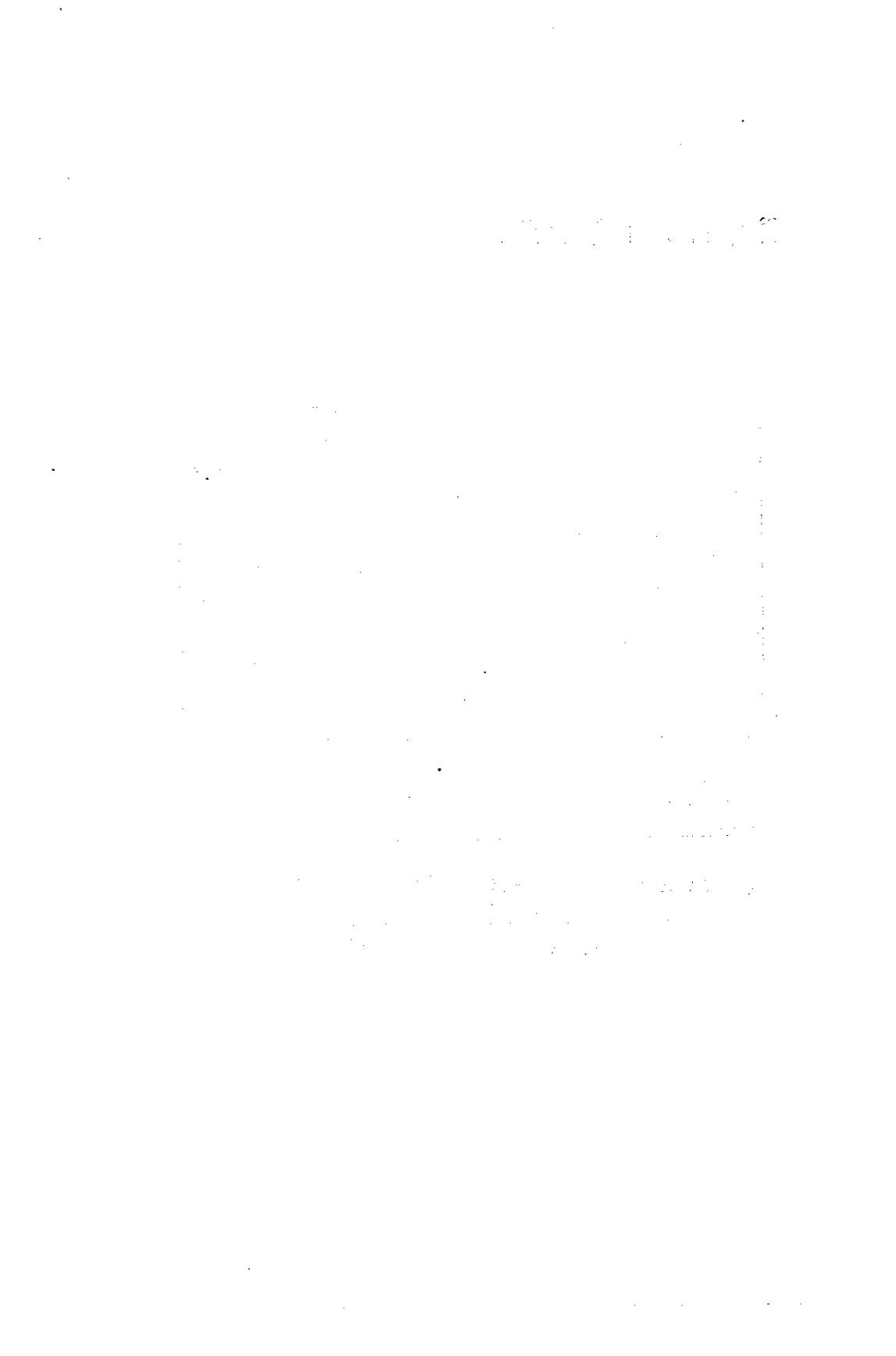
उस समय दयानन्द लोई और धुस्सा ओढ़ते, अबरा बांधते और जूता पहनते थे। रज़ाई के अतिरिक्त सिला हुआ कपड़ा नहीं पहनते थे, सायं और प्रातः समाधि लगाया करते थे।

पं० चेतूजी व कालीदास ने वेद के कुछ पत्रे दयानन्द को दिये थे, परन्तु वह थोड़े थे। उन्हें देखकर दयानन्द ने कहा था कि इनसे काम नहीं चलेगा।

एक अपठित ब्राह्मण जो योग के ६४ आसन लगाना जानता था आगया था, उसे स्वामीजी ने धोती धोने आदि के कार्य्य पर रख लिया था और जब कभी मौज होती आसन लगवाकर देखा करते थे। —संग्रहकर्त्ता.

❀ इस विषय में पं० लेखराम-कृत उर्दू दयानन्द-चरित में लिखा है कि दयानन्द ने गंगाप्रसाद दफ़ेदार को पं० सीताराम शास्त्री के पास यह सन्देश लेकर भेजा कि मैं बड़े-बड़े शास्त्रियों के दर्शन करना चाहता हूँ और इसी उद्देश्य से मैं यहाँ आया हूँ। यदि शास्त्री लोग

इस स्थान पर महर्षि ने संवत् १९२१ वि० में महाराजा जियाजीराव सिंधिया के
राज्यकाल में वैदिक धर्म्म प्रचारार्थ निवास किया था,
स्थान रामकुई लश्कर (ग्वालियर)

हनुमन्ताचार्य और रामाचार्य आदि राजपण्डित स्वामीजी से शास्त्र-चर्चा करने आया करते थे, परन्तु हनुमन्ताचार्य सदा एक साधारण मनुष्य के वेश में आया करते थे। उस समय महाराजा की सभा में बड़े बड़े विद्वान् थे जिन में मुख्य दक्षिणी पण्डित हनुमन्ताचार्य थे। वह बड़े नैयायिक और तीक्ष्णबुद्धि थे और मध्वाचार्य के सम्प्रदाय के थे। वह नवद्वीप के प्रसिद्ध पण्डित गोलोक न्यायरत्न के शिष्य थे और महाराजा उन का बड़ा सम्मान करते थे। उनके विषय में दयानन्द ने अपने आत्मचरित्र में लिखा है:— "ग्वालियर में अनुमन्ताचार्य ※ नामक एक माध्व शास्त्रालाप सुनने के लिए मेरे पास प्रायः आया करते थे और जब कभी कोई अशुद्ध शब्द मेरे मुख से निकल जाता था तो वह उसी क्षण मुझे बता दिया करते थे। मैंने उनसे बहुत बार पूछा कि आप कौन हैं और किस पद पर नियत हैं, परन्तु वह सदा यही कह दिया करते थे कि मैं एक साधारण कारकुन हूँ और कुछ नहीं, मैंने जो कुछ सीखा है लोगों से सुन कर सीखा है। एक दिन व्याख्यान में तिलक आदि का खण्डन करते हुए मैंने कहा कि यदि ललाट पर एक रेखा खींचने से वैष्णवों को मोक्ष मिल जाता है तो सारे मुख को काला करने से तो उन्हें मोक्ष की अपेक्षा भी कोई उच्चतर वस्तु मिल सकती है। यह सुनकर वह बड़े रुष्ट हुए और मेरे पास से चले गये। पीछे अनुसन्धान करने पर मुझे मलूम हुआ कि वह अनुमन्ताचार्य्य थे।"

ग्वालियर में स्वमीजी की दिनचर्य्या यह थी कि प्रातःकाल उठकर स्नान करके सूर्य्य को अर्घ्य देते थे † और फिर १२ बजे तक मकान में बन्द रहकर प्राणायाम करते

मेरे पास न आ सकें तो मैं स्वयं उनके पास चला आऊंगा। परन्तु इसका परिणाम उलटा निकला। गंगाप्रसाद पं० सीताराम को साथ लेकर बापू शास्त्री के पास गये और उनसे कहा कि दयानन्द भागवत का खण्डन करते हैं। इससे लश्कर में बड़ा कोलाहल खड़ा होजायगा। उन्होंने यह बात महाराजा के कानों तक पहुँचादी। महाराजा ने पं० विष्णुदीक्षित को स्वामीजी के पास भेजकर भागवत-सप्ताह बंचवाने का माहात्म्य पूछा। दयानन्द ने हँसकर उत्तर दिया कि सिवाय दुःख और क्लेश के और कोई फल नहीं होगा, चाहे कराके देखलो। महाराजा दयानन्द का उत्तर सुनकर चित्त में खिन्न हुए, परन्तु उन्होंने अप्रसन्नता प्रकट न की, केवल इतना ही कहा कि स्वामी बड़े समर्थ हैं जो चाहें सो कहें अब तो हम सब तैयारी कर चुके हैं, दूर दूर से बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित आगये हैं, अब कैसे हो सकता है कि न करें। इसके पश्चात् भी विद्वानों के कहने पर कि ऐसे महात्मा को यज्ञ में अवश्य निमंत्रित करना चाहिये महाराजा ने दयानन्द के बुलाने को पण्डित भेजे, परन्तु उन्होंने जाना स्वीकार नहीं किया।

※ वास्तव में उनका नाम हनुमन्ताचार्य था, अनुमन्ताचार्य नहीं था।

† इससे प्रकट होता है कि स्वामीजी उस समय शैव मत की ओर झुके हुए थे। अतः हो सकता है कि पं० बालमुकुन्द के कथनानुसार उन्होंने पं० सुन्दरलाल को शिव-पूजा का उपदेश दिया हो। कम से कम यह तो असंदिग्ध ही है कि यह जानते हुए भी कि पं० सुन्दरलाल पार्थिव पूजा करते हैं उन्होंने पण्डितजी को उससे रोका नहीं। कुछ ही हो, है यह बात विचित्र कि बालक मूलशङ्कर तो शिव-पूजा के प्रति आस्थाहीन हो और युवा दयानन्द इतना ज्ञानोपार्जन करने के पश्चात् उसका विश्वासी हो।

थे। बारह बजे बाहर आकर आधसेर दूध पीते थे और अपराह्न में शास्त्रालाप करते थे। सायङ्काल को फिर स्नान करके सूर्य्य को अर्घ्य देते थे और फिर दो रोटी और मूँग की दाल भोजन करके शिवसहस्रनाम का पाठ करते थे। स्वमीजी मोटेश्वर महादेव के मन्दिर में रहते थे, परन्तु वहां भोजन नहीं खाते थे, क्योंकि मोटेश्वर की मूर्त्ति कृत्रिम थी। वह नर्मदेश्वर वा राधाकुण्ड के मन्दिरों का भोग खाते थे। त्रिपुण्ड्र का समर्थन करते थे। वैष्णवों का और विशेषकर चक्राङ्कितों का खण्डन करते थे ॐ।

महाराजा जियाजीराव के पास स्वामीजी का संवाद पहुँचा था, परन्तु वह भागवत पाठ के कार्य में लगे हुये थे और स्वामीजी भागवत का खण्डन करते थे, इसलिये महाराजा स्वामीजी के पास नहीं आये। मोटेश्वर के मन्दिर में कुछ दिन रहने के पश्चात् स्वामीजी अनन्तनारायण के मन्दिर में चले गये थे। यह मन्दिर बापुआड़ का बनाया हुआ था जो ग्वालियर के सेनापति थे †। बापुआड़ के मन्दिर से उठकर स्वामीजी यादो साहब के बाग़ में कुछ दिन रहे और वहाँ से करौली चले गये।

ग्वालियर की अवस्थिति के समय स्वामीजी दुर्गासप्तशती को मानते थे और उन्हों ने एक पुस्तक शोधकर बालाप्रसाद मोटेश्वर मन्दिर के पुजारी को दी थी जिसमें अनेक स्थलों पर 'ऋषिरुवाच' पद कटा हुआ था और वह पुस्तक देवेन्द्र बाबू ने स्वयम् अपनी आँख से देखी तो उसमें यह पद कटा हुआ था। बालाप्रसाद के पिता जगन्नाथ को अधिक चरस पीने से श्वास का रोग होगया था, उसे स्वामीजी ने कुञ्जर क्रिया बताई थी। उससे जगन्नाथ का रोग शांत होगया था। स्वामीजी स्वयम् भी सप्ताह में एक बार यह क्रिया करते थे। स्वामीजी ने उक्त पुजारी को कच्छ और लिङ्ग पुराण पढ़ने का उपदेश दिया था।

करौली

स्वामीजी करौली जाकर गोपालसिंह के बाग़ में ठहरे जो भद्रवती नदी के तट पर है। उस समय उनके साथ दो साधु और दो और मनुष्य थे। करौली के महाराजा मदनपाल ने उनके आने का समाचार पाकर उनके भोजन आदि का प्रबन्ध करदिया था।

कोई कोई कहते हैं कि स्वामीजी की गंभीर विद्वत्ता को देख कर करौली के पण्डितों ने महाराजा से जाकर शास्त्रार्थ का अभिप्राय प्रकट किया। उस समय राजसभा में पण्डित मणिराम सबसे श्रेष्ठ पण्डित समझे जाते थे, परन्तु वह इस भय से कि कहीं दयानन्द से

ॐ पण्डित लेखराम के दयानन्द-चरित में लिखा है कि स्वामीजी से कथा आरम्भ होने से पहले किसी ने उसकी चर्चा की थी, तो उन्होंने कह दिया था कि उससे राज्य का अनिष्ट ही होगा, इष्ट नहीं होगा। यह भविष्यवाणी पूरी भी हो गई कि महाराणी का ४ मास का गर्भपात हो गया और ५ वर्षीय राजकुमार का देहान्त होगया इत्यादि। हम नहीं कह सकते यह कहां तक सत्य है।

† कहते हैं कि स्वामीजी के भागवत-खण्डन की बात सुनकर महाराजा उनसे रुष्ट होगये थे और जब उन्होंने सुना कि स्वामीजी बापुआड़ के मन्दिर में रहते हैं, तो उन्होंने बापुआड़ से कहा कि ऐसे मनुष्य को तुमने अपने मन्दिर में क्यों ठहरने दिया।

परास्त न हो जायँ स्वयम् उनके सामने नहीं गए थे। बल्कि अपने शिष्य दक्षिणीदत्त को उन से शास्त्रार्थ करने भेजा था। कोई यह कहते हैं कि उस समय पण्डित मणिराम करौली में थे ही नहीं और इस कारण से दक्षिणीदत्त शास्त्रार्थ के लिए गया था।

परन्तु वास्तव में बात यह है कि करौली में स्वामीजी का किसी पण्डित से शास्त्रार्थ ही नहीं हुआ। पण्डित मणिराम करौली में ही थे। एक दिन ऐसा हुआ कि स्वामीजी भी उपस्थित थे और मणिराम महाराजा मदनपाल को संकल्प का मन्त्र बता रहे थे। पण्डित मणिराम ने उक्त मन्त्र में 'करिष्ये' की जगह 'करिस्ये' बोला। इसे सुनकर स्वामीजी ने महाराजा की ओर देखकर कहा कि आप के यह पण्डित मूर्ख हैं और आप की सभा मूर्ख-सभा है, फिर इस में शास्त्रार्थ ही कौन करेगा यह कह कर स्वामीजी वहाँ से उठ कर चले आये।

इसके अतिरिक्त एक और कारण से महाराजा मदनपाल स्वामीजी से असन्तुष्ट हो गये थे। स्वामीजी की उपस्थिति में एक पण्डित ने आकर महाराजा को आशीर्वाद दिया और उन्हें 'अन्नदाता' शब्द से सम्बोधन किया। इसे सुनकर स्वामीजी ने कहा कि यह क्या है ? अन्नदाता तो परमेश्वर है, मनुष्य अन्नदाता कैसे हो सकता है ? ※

उस समय करौली में एक कबीरपन्थी साधु रहते थे उसके साथ स्वामीजी की कुछ बात-चीत हुई थी। उसके सम्बन्ध में स्वामी ने स्वरचित आत्मचरित में लिखा है:—"ग्वालियर

※ करौली हाईस्कूल के पण्डित अर्जुनदत्त ने अपने पिता बलदेव और अन्य पण्डितों की बनाई हुई एक पुस्तक 'सोमवंशकल्पद्रुम' नामक में से स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थसूचक एक श्लोकाष्टक सुनाया था। उस श्लोकाष्टक में ऐतिहासिक घटना को ज्यों की त्यों नहीं वर्णन किया गया था, बल्कि उसमें कवि-कल्पनाओं का समावेश करके उसे काव्य का रूप दे दिया गया था। ऐतिहासिक सत्य को कल्पना की छटा से मिश्रित करके एक काव्य-कथा बना दिया गया था। पंडित अर्जुनदत्त से इस श्लोकाष्टक की प्रतिलिपि मांगने पर उन्होंने देने से इनकार किया कि अभी इस पुस्तक का महाराजा ने अनुमोदन नहीं किया है और इसी कारण से अभी तक यह पुस्तक मुद्रित नहीं हुई है। उन श्लोकों का सारांश यह था:—स्वामी दयानन्द करौली में आकर गोपालसिंह के बाग़ में ठहरे। उस समय पंडित मणिराम करौली में नहीं थे। इस कारण से दक्षिणीदत्त के साथ स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ तीन दिन तक होता रहा, परन्तु उभय पक्ष में से किसी ने भी जय पराजय स्वीकार नहीं किया। तीन दिन पीछे मणिराम आगये और फिर उनसे शास्त्रार्थ होने लगा। जब मणिराम की कोई बात स्वामीजी की समझ में न आती तो वे उसे बार बार पूछने लगते। मणिराम यद्यपि उसका यथावत् उत्तर दे देते थे, परन्तु स्वामीजी फिर उसी बात को पूछने लगते। अन्त में वह थोड़ी ही देर में रुष्ट होगये और मणिराम को मूर्ख कह दिया। इस पर महाराजा नाराज़ होगये और सभा भङ्ग हो गई। स्वामीजी को राजप्रासाद से चले जाने को कहा। जब स्वामीजी करौली से चलने लगे तो महाराजा ने उन्हें २००) रुपया और एक दुशाला भिजवाया, परन्तु स्वामीजी ने उसे स्वीकार न किया।

इसमें सत्य तो थोड़ा ही है शेष सब कल्पना मात्र है। महाराजा मदनपाल की संवत् १९२६ वि० में मृत्यु हुई।

से मैं करौली गया वहाँ एक कबीरपन्थी साधु मिला। उसने कबीर शब्द का अर्थ किया एक-वीर। उसने यह भी कहा था कि एक कबीर-उपनिषद् भी है"। इस साधु का नाम गुदड़िया बाबा था। यद्यपि महाराजा कबीरपन्थी न थे तथापि इस साधु का बहुत सम्मान करते थे❀।

स्वामीजी करौली सात आठ दिन रहकर खुशहालगढ़ चले गये और एक दो दिन खुशहालगढ़ ठहरे। सुनते हैं कि वहां के ब्राह्मणों ने उनका यथोचित सत्कार किया और अपनी शास्त्रानभिज्ञता के कारण स्वामीजी से किसी शास्त्रीय विषय पर विचार वा शास्त्रार्थ नहीं किया। खुशहालगढ़ से प्रस्थान करके स्वामीजी जयपुर पहुंचे।

खुशहालगढ़

जयपुर पहुंचकर स्वामीजी भवानीराम बोहरे के बाग़ में उतरे वहाँ से धूलेश्वर महादेव के मन्दिर में चले गये और कुछ दिन पीछे माली रामपुण्य दारोगा के बाग़ में चले गये। [कोई कहते हैं कि स्वामीजी पहले गन्दी भीरी के पास रामकँवार मोदी की बग़ीची में ठहरे थे] जब स्वामीजी माली रामपुण्य दारोगा के बाग़ में ठहरे हुए थे तो गोपालानन्द परमहंस ने उन्हें यह प्रश्न लिखकर भेजे कि ईश्वर और जीव परतन्त्र हैं वा स्वतन्त्र। स्वामीजी ने इसका उत्तर लिखकर भेजा जिसे देखकर गोपालानन्दजी इतने प्रसन्न हुए कि अपना निवासस्थान छोड़कर स्वामीजी के ही पास आ ठहरे। उस समय स्वामीजी के साथ तीन ब्राह्मण थे, एक का नाम सच्चिदानन्द, दूसरे का चेतनराम और तीसरे को ब्रह्मचारी नाम से पुकारते थे। वह लोग कुछ अधिक पढ़े लिखे न थे, केवल सेवा के लिए स्वामीजी के साथ थे। इन में से सच्चिदानन्द को स्वामीजी ने सूर्य्य के मंत्र का उपदेश कर रक्खा था। वह नित्य सूर्य्य के सम्मुख खड़ा हो उसका जप किया करता था।

जयपुर

लक्ष्मणनाथजी एक व्यक्ति श्रवणनाथजी के शिष्य थे, उन्हें महाराजा रामसिंह ने जोधपुर से बुलाया था। व्रजानन्दजी के मन्दिर में स्वामीजी से उनका सम्भाषण हुआ। लक्ष्मणनाथजी स्वामीजी की विद्वत्ता को देखकर उनसे कहने लगे कि आप साम्प्रदायिक शास्त्रार्थ में हमारी सहायता कीजिए और इसी मन्दिर में आ विराजिए। परन्तु स्वामीजी ने कहा कि यदि शास्त्रार्थ में मुझे बुलाया भी गया तो मैं अपनी सम्मति के अनुकूल ही कथन करूंगा और उस मन्दिर में न गये।

जयपुर की संस्कृत पाठशाला के पंडितों के पास स्वामीजी ने १५ प्रश्न उत्तर के लिए भेजे। परंतु पंडितों ने उत्तर देने के बदले स्वामीजी को दुर्वचन लिख भेजे। इन पंडितों में हरिश्चन्द्र दिल्ली वाले भी थे। स्वामीजी ने प्रत्युत्तर में पंडितों के कथन में आठ प्रकार के दोष दिखाकर फिर पत्र भेजा। पंडितों को स्वामीजी के पत्र से बहुत क्षोभ हुआ, परन्तु उन्होंने फिर कोई उत्तर न दिया। वह सीधे व्यास बख्शीराम के समीप गये और उनसे प्रार्थना की कि हमारा स्वामीजी से शास्त्रार्थ करा दीजिए। व्यासजी के अनुरोध से स्वामीजी

❀ गुदड़िया बाबा का मन्दिर भद्रवती नदी के किनारे था। स्वामीजी प्रतिदिन उसी मन्दिर के निकट जङ्गल में नित्यकर्म करने जाया करते थे।

राजराजेश्वर के मन्दिर में पधारे वहाँ ही सब पंडित लोग भी आगये और पंडित हरिश्चन्द्र ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि क्या यह प्रश्न आपके ही लिखे हुए हैं? स्वामीजी ने कहा, हाँ मेरे ही लिखे हुए हैं। उन १५ प्रश्नों में से केवल दो प्रश्नों का पता चला है जो इस प्रकार थे—

१—कल्मच किं भवति ?

२—येन कर्म्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत्कर्म ?

पंडितों ने पहले प्रश्न का उत्तर देने का उद्योग किया। परन्तु स्वामीजी ने तुरन्त ही उन के कथन का खण्डन कर दिया। इस पर पंडितों ने कहा कि यदि हमारी व्याख्या ठीक नहीं है तो आप कीजिए। यहाँ क्या देर थी, स्वामीजी ने व्याख्या करदी। इस पर एक मैथिल पंडित ओझा ने जो पंडितों में प्रधान था स्वामीजी से पूछा कि आपका अर्थ कहाँ लिखा हुआ है। स्वामीजी ने कहा कि महाभाष्य में। इस पर उस ओझा पंडित ने कहा कि महाभाष्य की व्याकरण में गणना नहीं है। यह सुनते ही स्वामीजी को रोष आगया। उन्हें ऋषिप्रणीत ग्रन्थों की निन्दा कैसे सह्य हो सकती थी! उन्होंने कहा कि यह सभा विद्वानों के बैठने योग्य नहीं है। जहाँ महाभाष्य की व्याकरण में गणना न होती हो वहाँ क्या बात-चीत की जाय ? स्वामीजी ने कहा कि यदि आप की ऐसी ही धारणा है कि महाभाष्य की गणना व्याकरण में नहीं है तो इसे लिख दीजिए। इसे सुनकर पंडित लोग बड़े लज्जित हुए।

व्यास बख्शीराम ने इस भय से कि आगे पंडितों की और क़लई खुले, मन्नालालजी से कहा कि भाई इस अग्नि को शान्त करो। तब मन्नालालजी ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि आप को बाहर पधारना है और नगर के दरवाज़े बन्द होने वाले हैं, इस कारण इस विवाद को समाप्त कीजिए। स्वामीजी ने फिर भी कहा कि पण्डित जन यह लिख तो दें कि महाभाष्य की गणना व्याकरण में नहीं है। परन्तु कोई उद्यत न हुआ और स्वामीजी वहाँ से अपने निवासस्थान को चले गये।

उस समय जयपुर में ओसवाल वैश्यों के गुरु श्री पूज्य जतीजी नामक निवास करते थे। उन्हें भी अपनी विद्या का कुछ अभिमान था। जब उन्होंने पण्डितों की सभा का वृत्तान्त सुना तो स्वामीजी के पास अपने आदमी भेजकर प्रार्थना की कि जतीजी आप से वार्तालाप करने के इच्छुक हैं। स्वामीजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि हम प्रस्तुत हैं। जब उनकी इच्छा हो पधारें। इस पर जतीजी ने कहला भेजा कि हमारे आने से ओसवाल लोगों में हमारी प्रतिष्ठा भङ्ग हो जायगी, इसलिये यदि कभी कहीं मिलने का अवसर प्राप्त हुआ तो दर्शन करेंगे। स्वामीजी ने इस पर वही १५ प्रश्न जतीजी के पास भेजे, परन्तु उनका उत्तर उन्होंने कुछ न दिया। परन्तु ८ प्रश्न जैन-मतविषयक स्वामीजी के पास भेज दिये। स्वामीजी ने उनका उत्तर भी दे दिया और साथ जैन मत पर ८ प्रश्न भी कर दिये। परन्तु जतीजी उन प्रश्नों को लेकर मौन होगये।

अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंहजी साधु-संन्यासियों के सत्सङ्ग के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने जब स्वामीजी की विद्वत्ता की चर्चा सुनी तो उन्हें स्वामीजी से मिलने की बड़ी इच्छा हुई। उन्होंने जोषी रूपराम को स्वामीजी की सेवा में भेजा कि स्वामीजी को देख

कर आवें कि कैसे साधु हैं। जोषी रूपराम स्वामीजी की विद्या, वेदान्त-निष्ठा, त्याग, वैराग्यादि गुणों को देख कर मोहित होगये और वापस आकर ठाकुर साहब से स्वामीजी की बहुत प्रशंसा की। ठाकुर साहब ने स्वामीजी को भोजन के लिए निमन्त्रित किया और उन की सवारी के लिये अपनी बहल भेजी। परन्तु स्वामीजी उस पर सवार न हुए और पैदल ही ठाकुर साहब की हवेली पर पधारे। उन दिनों स्वामीजी कच्ची रसोई केवल ब्राह्मण के हाथ की बनी खाते थे। अतः ठाकुर साहब ने पक्की रसोई बनवाई थी। ठाकुर साहब स्वामीजी से सम्भाषण करके उनके भक्त बन गये और उन से नम्र भाव से प्रार्थना की कि आप जब तक जयपुर में विराजमान रहें मेरे बाग़ में रहें। स्वामीजी ने यह आतिथ्य स्वीकार कर लिया। बाग़ में निवासस्थान कुछ सङ्कीर्ण था इस लिए ठाकुर साहब ने नवीन स्थान और बनवा दिया और स्वामीजी ठाकुर साहब के बाग़ में जो गङ्गापोल दरवाज़े के बाहर बदनपुरे में है जा ठहरे। स्वामीजी की चर्चा शहर में फैल गई और अनेक विद्यार्थी उनसे पढ़ने के लिए उन की सेवा में उपस्थित होने लगे। स्वामीजी भी उन्हें प्रेमपूर्वक अष्टाध्यायी, महाभाष्य, धातुरूपावलि आदि पढ़ाने लगे।

स्वामीजी उन दिनों देवी भागवत का मण्डन और कृष्ण भागवत का खण्डन करते, शरीर पर भस्म लगाते, रुद्राक्ष पहनते थे, मुख्य शिक्षा मनुस्मृति, भगवद्गीता आदि की करते थे। ठाकुर साहब के बड़े पुत्र लक्ष्मणसिंह को स्वामीजी ने भगवद्गीता पढ़ाई थी और ठाकुर साहब उनसे तत्त्वबोध, निरालम्बोपनिषद्, बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् और देवीभागवत सुना करते थे।

उन दिनों जयपुर में शैव और वैष्णवों का घोर विवाद चल रहा था। महाराजा रामसिंहजी शैवमत की ओर झुके हुए थे और व्यास बख़्शीराम और उनके भाई कान्हजी शैवमत के स्थापन करने के लिए अधिष्ठाता नियत थे। व्यासजी ने स्वामीजी के पाण्डित्य से प्रभावित होकर उनसे वैष्णवों को परास्त करने के लिए सहायता मांगी। और महाराज से भी स्वामीजी की प्रशंसा की। स्वामीजी की ठाकुर साहब अचरौल ने भी महाराज साहब से प्रशंसा की तो महाराज ने उनसे स्वामीजी के मिलने को कहा। और यह बात निश्चित होगई कि महाराज साहब और स्वामीजी की भेंट राजराजेश्वर के मन्दिर में हो। एक दिन स्वामीजी उक्त मन्दिर में महाराज से मिलने पधारे, परन्तु मन्दिर में जाकर मूर्त्ति को नमस्कार न किया। किसी ने व्यास बख़्शीराम के कानों में यह बात फूंकदी कि यदि तुम स्वामीजी को महाराज से मिला दोगे तो तुम्हारा रंग महाराज के ऊपर से उतर जायगा, क्योंकि स्वामीजी बड़े चालाक और विद्वान् हैं। व्यासजी के मन में यह बात घर कर गई और उन्होंने यह ढोंग रचा कि जब स्वामीजी मन्दिर में पधारें तो एक चेले * से कहला दिया कि महाराज साहब को इस समय अवकाश नहीं है, आज भेंट न हो सकेगी। स्वामीजी को व्यासजी के षड्यन्त्र का कुछ पता न चला था, वह वापस चले आये और दूसरे दिन पीनस में सवार होकर फिर उसी मन्दिर में पहुँचे। उस दिन व्यासजी ने यह

* चेले के अर्थ हैं गोला। गोला एक जाति का नाम है जिसके स्त्री-पुरुषों को दासों के बराबर ही समझना चाहिए।
—संग्रहकर्त्ता.

कहला दिया कि महाराज साहब सैर के लिये सवार होगये हैं, तब स्वामीजी को व्यासजी की लीला का कुछ-कुछ पता लगा। उस के पश्चात् लोगों के अनुरोध करने पर भी स्वामीजी महाराज साहब से मिलने के लिए नहीं गये। स्वामीजी ने जयपुर-निवास के समय वैष्णव मत का खूब खण्डन किया और शैवमत का प्रचार किया। इसके विषय में उन्होंने अपने आत्म-चरित में लिखा है:—"वहाँ (जयपुर में) मैंने प्रथम वैष्णवमत का खंडन कर के शैवमत की स्थापना की। जयपुर के राजा महाराज रामसिंह ने भी शैवमत को ग्रहण किया। इससे शैवमत का फैलाव होकर सहस्रों रुद्राक्षमाला मैंने अपने हाथ से दीं। वहाँ शैवमत इतना पक्का हुआ कि हाथी-घोड़े आदि के गलों में भी रुद्राक्ष की मालाएँ पड़ गईं"।

जयपुर में वैष्णव और शैवमत के विरोध ने बड़ा भयङ्कर रूप धारण कर लिया था। यह विरोध संवत् १९२१ से संवत् १९२७ तक चलता रहा। कहते हैं कि महाराजा रामसिंह वैष्णवों के दुराचार से बहुत असन्तुष्ट होगये थे। उनके मन्दिरों में व्यभिचार बहुत होने लगा था। चक्राङ्कित लोग शूद्र तक को जो चक्राङ्कित होजाता था मन्दिर के भीतर जाने और पूजा करने का अधिकार देते थे, परन्तु ब्राह्मण तक को भी यदि वह चक्राङ्कित नहीं होता था यह अधिकार प्राप्त नहीं होता था। इससे जयपुर के ब्राह्मण चक्राङ्कितों के बहुत विरुद्ध होगये थे। महाराज रामसिंह के असन्तुष्ट होने का एक अन्य कारण यह भी था कि यदि कोई अपराधी अपराध करके वैष्णव मन्दिर की शरण लेलेता था तो उसे वह लोग दण्ड पाने के लिए राज्य के न्यायालयों के सपुर्द नहीं करते थे। व्यास बख्शीराम ने जिसकी पहुँच महाराजा तक होगई थी उन्हें और भी भड़का दिया था और वह वैष्णवों के विरुद्ध होगये थे। इस पर महाराजा ने वैष्णवों और शैवों के शास्त्रार्थ का आयोजन किया। महाराज ने जोधपुर से लक्ष्मणनाथ को और दिल्ली से पण्डित हरिश्चन्द्र व अन्यान्य पण्डितों को अन्य स्थानों से बुलाया। उधर वैष्णवों ने भी बाहर से अपने पक्ष-समर्थन के वास्ते प्रसिद्ध २ पण्डितों को एकत्र किया। वृन्दावन से रङ्गाचार्य ने पण्डित सुदर्शनाचार्य को भेजा। दोनों ओर से एक दूसरे के खण्डन में ग्रन्थ लिखे जाने लगे और शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा। महाराजा संवत् १९२१ में कलकत्ता गये थे। पण्डित हरिश्चन्द्र उनके साथ थे। उस समय जयपुर के एक पण्डित शिवराम शास्त्री काशी में रहते थे। जब महाराजा कलकत्ता जाते हुए काशी में ठहरे तो पंडित शिवराम इनसे मिलने को आये। महाराजा ने उन पर काशी के पण्डितों से शैवमत के पक्ष में व्यवस्था प्राप्त करने का भार अर्पण किया। वहाँ क्या था? काशी के पंडितों से चाहे जो व्यवस्था लेलीजिए। वहाँ तो रुपए की बात है। व्यवस्थाओं का खुल्लम-खुल्ला सौदा होता है। जो अधिक देता है उसी को उसी के अनुकूल व्यवस्था मिल जाती है। अस्तु, काशी के अढ़ाई सहस्र पंडितों ने अपने हस्ताक्षर करके लिख दिया कि शैवमत वेदविहित और वैष्णवमत वेदविरुद्ध है। यह व्यवस्था माघ मास में पंडित शिवराम जयपुर लेकर पहुँचे। काशी की व्यवस्था के कवच से रक्षित होकर शैव लोग रणक्षेत्र में आस्फालनपूर्वक वैष्णवों को ललकारने लगे। जहाँ राजा एक पक्ष का समर्थक हो वहाँ दूसरे पक्ष का पराजय होना कोई दुष्कर नहीं है। वैष्णवों की हार होगई वा समझी गई। महाराजा ने स्वयम् अनेक वैष्णवों को वैष्णवमत के त्यागने और शैवमत स्वीकार करके

रुद्राक्ष वा त्रिपुण्ड्र धारण करने की प्रेरणा की। उन्होंने कहा कि जब वैष्णवमत वेदविरुद्ध है तो वैष्णवों को इस प्रकार प्रायश्चित्त करना चाहिए। बहुतों ने ऐसा किया भी। दूसरों ने जो अपने अन्तःकरण को राजा की प्रसन्नता के बदले नहीं बेचना चाहते थे ऐसा करना अस्वीकार कर दिया। ※

महाराजा के वैष्णवों से चिढ़जाने का एक और कारण भी हो गया था। एक दिन महाराजा ने वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिर के अध्यक्ष को मिलने के वास्ते बुलाया था। वह जिस समय महाराजा से वार्त्तालाप कर रहे थे, घटनावश उसी समय महाराजा के मन्त्री सर फ़ैज़अलीखां भी आकर उसी फ़र्श पर बैठ गये जिस पर महाराजा और अध्यक्ष महाशय बैठे हुए थे। जब अध्यक्ष मन्दिर को वापस आये तो उन्होंने इस पाप का कि वह और एक मुसलमान एक ही फ़र्श पर बैठे थे प्रायश्चित्त किया और उसके उपलक्ष में उपवास किया। यहाँ यार लोगों को एक चुटकला हाथ आया और उन्होंने अपनी ओर से नोन-मिरच लगा कर महाराजा से यह बात जड़दी, कि देखिए महाराज इस वल्लभाचारी की धृष्टता! वह यह समझता है कि आप चूंकि शैव हैं इसलिए आपके साथ एक फ़र्श पर बैठने और बातचीत करने से उसे पातक लग गया है और अब वह मन्दिर में बैठा हुआ उपवास कर रहा है और आप को शाप दे रहा है। महाराजा लोग अपनी आंखें और कान तो रखते ही नहीं हैं जैसा किसी ने दिखा दिया वैसा देख लिया और जो सुना दिया सुन लिया, उन्होंने सब कुछ जो उन्हें बताया गया था सत्य समझ लिया और वैष्णवों पर उनकी दृष्टि और भी क्रूर हो गई। उधर नगर में यह जनरव फैल गया कि महाराजा वैष्णवों को जयपुर से निकालना और मन्दिरों की जागीरें जब्त करना चाहते हैं। उस समय जयपुर में चार सम्प्रदाय के वैष्णव थे। वल्लभ-सम्प्रदाय वालों के दो मन्दिर थे, एक गोकुल चन्द्रमा का और दूसरा मदनमोहन का। चक्राङ्कितों का लक्ष्मीनारायण का मन्दिर था और मध्वाचार्य्य के सम्प्रदाय वालों का श्री जी का मन्दिर था।

यद्यपि महाराजा की ओर किसी मन्दिर के साथ कोई क्रूर व्यवहार नहीं किया गया था तथापि लोग अनेक भयावह जनरवों के कारण भयभीत हो गये थे। इसलिए जिन वैष्णवों ने शैव मत ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया था वह भय के कारण जयपुर छोड़कर जाने लगे। गोकुल चन्द्रमा और मदनमोहन की मूर्त्तियों को भी उक्त मन्दिर के पुजारी उठा कर ले गये और कितने ही दिन तक जयपुर से बाहर दो मील पर उन्हें रक्खे रहे।

※ जो लोग वैष्णव मत छोड़कर शैव बनते थे वह शूद्रसंसर्ग और चक्राङ्कणजनित पाप का प्रायश्चित्त करते थे। उनके प्रायश्चित्त का प्रबन्ध रूपनिवास बाग़ में होता था। वह तिलक छोड़कर त्रिपुण्ड्र धारण करते थे और कण्ठी तोड़कर रुद्राक्ष की माला पहनते थे और फिर हाथियों पर सवार होकर बड़े समारोह के साथ 'जय सदा शिव' और 'जय हरिहर' बोलते हुए नगर के बाज़ारों में निकलते थे। एक एक दिन में पचास पचास सौ सौ पुरुषों का प्रायश्चित्त हो जाता था। रुद्राक्ष की असंख्य मालाएँ वितरण होती थीं। एक गोसाईं ने केवल रुद्राक्ष की मालाओं ही की दुकान खोल ली थी। वह किसी-किसी दिन दो-दो और पांच-पांच सहस्र माला तक बेच लेता था। प्रायश्चित्त का कार्य्य एक वर्ष तक चलता रहा, परन्तु छः मास तक खूब ज़ोर से चला। प्रायश्चित्त का सब व्यय महाराजा ही वहन करते थे।

जिस दिन वह लोग मूर्तियों को उठाकर ले गये उस दिन नगर में बड़ा कोलाहल हुआ। सहस्रों नर-नारी उनके पीछे रोते और शोक मनाते गये।

महाराजा से बहुत से लोगों ने जाकर इस विषय में प्रार्थना की तो उन्होंने कहदिया कि हमने उन्हें मूर्तियां उठा लेजाने को नहीं कहा, उन्होंने अपनी इच्छा से ऐसा किया है और यदि वह वापस आना चाहें तो आ सकते हैं, हमारी ओर से कोई रोकटोक नहीं है। महाराजा ने किसी मन्दिर की जागीर भी जब्त नहीं की थी।

यह विवाद इतना बढ़ गया था और उससे इतना आन्दोलन उत्पन्न हो गया था कि पोलिटिकल एजेन्ट तक को अपनी वार्षिक शासन-रिपोर्ट में उसका सविस्तार उल्लेख करना पड़ा था। वह रिपोर्ट सन् १८६५-६६ के जयपुर के शासनसम्बन्धी तारीख २० मार्च सन् १८६७ की लिखी हुई है।

हम उनकी रिपोर्ट का अनुवाद नीचे देते हैं—

"गत वर्ष महाराजा ने अपने राजप्रासाद में कई शास्त्रार्थ कराये हैं जिन में जयपुर नगर के मन्दिरों के अध्यक्ष उपस्थित थे। शास्त्रार्थ का विषय वैष्णवों की साम्प्रतिक पूजा विधि थी जिसे महाराजा शास्त्रविरुद्ध समझते हैं। जयपुर के मुख्य २ मन्दिरों के अध्यक्षों का मत इसके विरुद्ध था और उनके और लोगों के मन में जो वैष्णव मन्दिरों में जाते हैं इससे क्षोभ और भय उत्पन्न हुआ और नगर में यह जनरव फैल गया कि महाराजा उन्हें जो महाराजा के मत के विरुद्ध मन्तव्य रखते हैं निकालना चाहते हैं। यद्यपि महाराजा ने उचित समयों पर मन्दिराध्यक्षों और जनता के मन पर यह बात अङ्कित करनी चाही कि उनका विचार ऐसा नहीं है और कहा कि यद्यपि हम इस विषय पर कि सत्य हिन्दू धर्म क्या है अपनी स्वतन्त्र सम्मति रखते हैं, परन्तु अन्य लोगों को अपने मन्तव्यानुसार चलने की पूरी स्वतन्त्रता है।

परन्तु सहिष्णुता (Toleration) का ऐसा विश्वास दिलाने पर भी लोगों का भय बढ़ता ही रहा और जुलाई के महीने में गोकुलजी के मन्दिर का अध्यक्ष मूर्ति को साथ लेकर नगर से बाहर चला गया और नगर के सहस्रों लोग उसके पीछे रोते चिल्लाते गये और रो २ कर अपना दुःख और भीति प्रकाशित करने लगे कि नगर पर भारी आपत्ति आई है। अध्यक्ष एक सप्ताह तक जयपुर से दो मील पर डेरा डाले पड़ा रहा और उसके अनुयायी उससे वापस चलने का अनुरोध करते रहे, परन्तु उसने कहा कि मैं लौट जाता यदि महाराजा की ओर से मुझे कुछ आश्वासन मिलता।

महाराजा से जब इस विषय में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि वह स्वयम् नगर छोड़ कर गया है और स्वयम् ही वापस भी आ सकता है। उसके साथ कुछ हस्तक्षेप नहीं होगा।

जयपुर के अन्य वैष्णव मन्दिरों के पुजारी भी चुपचाप सताये जाने के भय से नगर छोड़ कर चले गये हैं।

महाराजा ने जो भाग इन शास्त्रार्थों में लिया है उनके विषय में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उन्होंने इसे स्वयम् एक पुस्तक में वर्णन किया है जिसे मैं अपनी चिट्ठी नं० १६३-१०१ ता० २४।११।६६ के साथ भेज चुका हूं।

इस विवाद के विषय पर बनारस, मथुरा आदि के पण्डितों में भी विचार हो चुका है और भारतवर्ष के पत्रों में भी इस पर आन्दोलन हो चुका है। और यह जनरव फैल गया है कि महाराजा का वैष्णव मतानुयायियों के साथ कठोर बर्त्ताव रहा है और मन्दिराध्यक्ष नगर छोड़ कर गये हैं। उन्हें या तो निकाला गया है या वह सताये जाने के भय से भागे हैं। परन्तु महाराजा ने भी मुझे विश्वास दिलाया है और अन्य लोगों ने भी जो सब घटनाओं से परिचित हैं मुझ से यही कहा है कि यह जनरव ठीक नहीं है।

महाराजा इस आन्दोलन में बहुत ही सहिष्णु रहे हैं। यद्यपि यह कहा जाता है कि महाराजा की मृत्यु के लिए प्रार्थनाएँ की गईं और तदर्थ यन्त्र-मन्त्रों का भी उपयोग किया गया, परन्तु जो ग्राम मन्दिरों को दिये हुए हैं और उनके साथ में जो और रिआयतें हैं वह अभी तक जारी हैं। मन्दिरों के पुजारियों वा उनके नौकरों पर कोई दबाव नहीं डाला गया। जो नगर छोड़ कर गये हैं वह स्वयम् अपनी इच्छा से गये हैं और जब उनका जी चाहे वापस आ सकते हैं।"

ऐसा जान पड़ता है कि महाराजा रामसिंह वैष्णवों को पराजित करके भगाने में कुछ राजनैतिक उद्देश्य रखते थे। मन्दिरों के भीतर मन्दिराध्यक्षों को पूर्ण आधिपत्य था। वहाँ वह लोगों को यथेच्छ दण्ड देते थे और यदि कोई अपराधी मन्दिरों में शरण ले लेता था तो उसे राज्य-कर्म्मचारी पकड़ नहीं सकते थे। इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर महाराजा शैवमत का अवलम्बन करके वैष्णवों के विपक्ष में खड़े हुए थे।

स्वामीजी की शिक्षा को ठाकुर रणजीतसिंहजी अचरौल वालों के अतिरिक्त और भी कई सम्भ्रान्त लोगों ने ग्रहण किया था। उनमें मुख्य ठाकुर इन्द्रसिंहजी दूदूवाले थे।

इस समय स्वामीजी कृष्ण भागवत का खंडन करते थे। इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि शैवमत का पोषण करते थे। यह उन्होंने स्वलिखित आत्म-चरित में स्वीकार

---

* हीरालाल कायस्थ कामदार, ठाकुर अचरौल, मद्य पिया करते थे। एक दिन ठाकुर साहब अचरौल ने उन्हें स्वामीजी को बुलाने भेजा। परन्तु वह मद्य की तरङ्ग में उनके पास जाना भूल गये। इत्तिफ़ाक़ से वह स्वामीजी के निवासस्थान की ओर किसी कार्य्यवश जा निकले। वहां उन्हें स्वामीजी को निमन्त्रण देने का ध्यान आया, तो वह स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। स्वामीजी उस समय मनुस्मृति का प्रायश्चित्ताध्याय बांच रहे थे और मांस-भक्षण, सुरा-पान आदि का दण्ड-विधान श्रोताओं को समझा रहे थे—हीरालाल के चित्त पर उनके उपदेश का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि उसी क्षण उन्होंने मद्य-पान और मांस-भक्षण को छोड़ने की प्रतिज्ञा करली और उसके पश्चात् वह प्रतिदिन श्री महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उनके उपदेशामृत से अपने चित्त को शान्त करते रहे। स्वामीजी ने उनसे कहा कि मूर्त्ति-पूजा अच्छी नहीं, परमात्मा तो हृदय में है। हृदय में उसका ध्यान धरो। स्वामीजी ने उन्हें 'विश्वानि देव सवितः' का उपदेश दिया और यज्ञोपवीत लेने को कहा, फिर उसने यमुना के तट पर जाकर यज्ञोपवीत लिया। स्वामीजी ने अचरौल के ठाकुर को गायत्री का उपदेश दिया। उनके लिये दशोपनिषद् बम्बई से मंगवाये गये थे। ठाकुर साहब ने उनके उपदेश से मूर्त्ति पूजा छोड़दी। एक परचा तत्त्व-बोध का ठाकुर साहब को और एक हीरालाल को दिया। वह परचा पं० लेखराम ने देखा था चैत्र शुक्ला ५ बुधवार संवत् १९२३ का लिखा हुआ था।

किया है। भस्म और रुद्राक्ष भी धारण करते थे, परन्तु मूर्त्तिपूजा का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। एक भी साक्षी ऐसी नहीं मिलती जिससे सिद्ध होता हो कि उन्होंने स्वयम् कभी भी मूर्त्तिपूजा की हो। शिव मन्दिरों में महीनों ठहरे, परन्तु लिङ्ग पर एक बार भी जल नहीं चढ़ाया। न उसके सामने दण्डवत् की वा मस्तक नवाया। इस समय भी निर्भर उनका केवल वेद पर ही था और लोगों को सन्ध्या गायत्री का ही उपदेश देते थे।

कोई २ कहते हैं कि जयपुर में वैष्णव मत का खण्डन स्वामीजी ने विरजानन्दजी के आदेशानुसार ही किया था।

साढ़ेचार मास रह कर स्वामीजी चैत्र बदी ५ को पुष्कर की ओर रवाना हुए। ठाकुर साहब अचरौल ने तीन ब्राह्मण उनके साथ कर दिये और सवारी का प्रबन्ध कर दिया और अपने कामदार रूपराम को भी उनके साथ इस अभिप्राय से भेजा कि वह महाराज को पुष्करस्नान कराने के पश्चात् जयपुर वापस ले आवे।

मार्ग में स्वामीजी दो दिन बगरू, दो दिन ठाकुर इन्द्रसिंह के ग्राम दूदू में और ६, ७ दिन किशनगढ़ ठहरे। उस समय किशनगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह गद्दी पर विराजमान थे। वह वल्लभ-सम्प्रदाय के लोग थे, परन्तु विद्याप्रेमी थे और सब साधु-संन्यासियों की सेवा-शुश्रूषा का उन में भाव था। स्वामीजी सुखसागर पर जाकर ठहरे। सुखसागर एक कूप का नाम है। उस का जल बहुत मीठा है। उसके पास ही एक मन्दिर है और वटादि वृक्षों की सघन छाया है। इस कारण वहां ठहरने में साधु-संन्यासियों को बहुत सुभीता रहता है। स्वामीजी के साथ उस समय दो संन्यासी और थे। उनके आगमन का समाचार पाकर महाराज पृथ्वीसिंह ने उनके भोजनादि का प्रबन्ध कर दिया। राजा ने उनका संवाद लाने के लिए अपने पंडित विट्ठलदास को भेजा। स्वामीजी ने उनके ललाट को रेखातिलक आदि से रञ्जित देखकर तिलक आदि का खंडन करना प्रारंभ करदिया। नाम पूछने पर जब पंडित ने विट्ठलदास बताया तो विट्ठल शब्द पर ही शास्त्रार्थ करना आरंभ कर दिया और कहा कि दास शब्द तो शूद्रत्व का ज्ञापक है और विट्ठल शब्द विष्ठा का अपभ्रंश है। विट्ठल वल्लभाचार्य के पुत्र का नाम था। विट्ठल शब्द सब प्रकार से ही बुरे अर्थों का बोधक है। इसी प्रकार दूसरे राजपण्डित देवीदत्त से भी जो महाराजा को कौमुदी पढ़ाया करते थे देव शब्द पर शास्त्रार्थ किया। दिवु क्रीड़ने आदि व्याकरण के प्रयोग लेकर विचार करने लगे। स्वामीजी के साथ दो चार मिनट तर्क-वितर्क करके पण्डित देवीदत्त भी परास्त होगये। दोनों ही राजपंडित स्वामीजी से परास्त होकर अपना सा मुँह लेकर महाराजा के पास पहुँचे और उनकी भर पेट निन्दा की कि वह भागवत का खण्डन करता है और वैष्णवों का परम शत्रु है। इसी ने जयपुर में महाराजा रामसिंह से उन्हें पीड़ित कराया है। महाराजा पृथ्वीसिंह इस तरह की बातें सुनकर स्वामीजी से चिढ़ गये और आज्ञा दी कि वह तुरन्त किशनगढ़ छोड़ दें। परन्तु इस धमकी पर उन्होंने भ्रूक्षेप भी नहीं किया और कहा कि हमारे चारों ओर के एक २ गज परिमित स्थान से हमें उठा देने की शक्ति किसी में नहीं है। ५-६ दिन तक स्वामीजी ठहरे रहे। उसके पश्चात् [अजमेर जाकर दौलतराम के बाग में चार दिन ठहर कर] पुष्कर चले गये।

पुष्कर में जाकर स्वामीजी ने ब्रह्मा के मन्दिर में निवास किया। ब्रह्मा की पूजा

पुष्कर

सारे भारतवर्ष में केलव पुष्कर में ही होती है। वहाँ भी उन्होंने मूर्त्तिपूजा और वैष्णव मत का खण्डन प्रारम्भ कर दिया उससे ब्राह्मणों में बड़ी खलबली मची। उन दिनों पुष्कर में एक विद्वान् दक्षिणी पंडित व्यंकट शास्त्री रहते थे ब्राह्मण लोग उनके पास दौड़े गये। उनका गुरु एक घोरी था जो लोगों को पत्थरों से मारता और गाली दिया करता था और चिता में से मुर्दा निकाल कर खाजाया करता था, परन्तु संस्कृत का अच्छा पंडित था। वह पुष्कर के पहाड़ में अगस्त को गुफ़ा में रहता था।

व्यंकट शास्त्री यह निश्चित हो जाने पर भी कि वह शास्त्रार्थ करने स्वामीजी के पास आवेंगे न आये। तब स्वामीजी स्वयं ही उनके पास गये। शास्त्रीजी ने कहा 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'। स्वामीजी ने उत्तर दिया 'विद्यावतां भागवते अपरीक्षा'—एक घन्टे तक संस्कृत में बात चीत होती रही। एक बार शास्त्रीजी ने 'देवासुर' शब्द का प्रयोग किया तो स्वामीजी ने कहा 'दैवासुर' होना चाहिये। शास्त्री निरुत्तर हो गये और कहने लगे आप की विद्या बहुत प्रबल है। फिर वह स्वामीजी को अपने गुरु अघोरी के पास ले गये उससे वार्त्तालाप हुई और उसने स्पष्ट कह दिया कि स्वामीजी जो कहते हैं वह सत्य है। व्यंकट शास्त्री बड़े नैयायिक थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि आप का किसी से शास्त्रार्थ हो तो मुझे बुला लेना। स्वामीजी मार्कण्डेय ऋषि की गुफा से विभूति के गोले मंगा कर शरीर पर रमाते थे और रुद्राक्ष की माला जिसमें बीच २ में एक श्वेत कांच का मनका था, पहनते थे। उस समय वह उपनिषदों का अभ्यास करते थे।

एक दिन स्वामीजी ने मन्दिर के पुजारी से कहा कि तेरे पास यह ढाई मन के पत्थर की मूर्ति पारस-पथरी है, साधुओं को खूब लड्डू खिलाया करो और रण्डी-भडुओं से बचते रहो।

पं० लेखराम के नाम से प्रकाशित दयानन्द-चरित में स्वामीजी के पुष्कर-निवास की निम्न लिखित घटनाएं और वर्णित हैं।

स्वामीजी कहा करते थे कि प्रचलित स्तोत्र जिन आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं उनके बनाये हुए नहीं हैं, बल्कि और लोगों ने बनाकर आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध करदिये हैं, ताकि प्रचलित हो जावें।

स्वामीजी ने एक रत्नगिरि नामक साधु से कहा कि विद्या में ही परिश्रम करो, खीर-पूरी के जाने का सोच मत करो। खीर-पूरी भी विद्या से ही अधिक मिलेगी।

एक दिन स्वामीजी ने पुष्कर के एक रईस से कहा कि कंठी मत बांधो। उन्होंने कहा कि यदि संन्यासियों में विद्वान् ब्राह्मणों के सिवाय अन्य कोई न हो तो हम कंठी बांधनी छोड़ दें। स्वामीजी ने कहा हम क्या करें यह तो आकाश फट गया है। यदि हमसे कोई पूछे तो हम स्पष्ट कहदें कि विद्वान् ब्राह्मण के सिवाय अन्य किसी को संन्यास ग्रहण करने का अधिकार नहीं है।

एक दिन स्वामीजी ने एक ब्राह्मण की कंठी उतार दी, वह बहुत बिगड़ा और स्वामीजी को लेकर व्यंकट शास्त्री के पास गया। शास्त्रीजी ने कहा कि स्वामीजी जो कहते हैं सच है, परन्तु इनकी बात तब चल सकती है जब कोई राजा इनके पक्ष का अनुयायी

हो जाय। और लोगों ने भी शास्त्रीजी से स्वामीजी की उनकी कंठी उतारने की बात कही। उस पर भी उन्होंने पूर्वोक्त ही उत्तर दिया।

पुष्कर की रीति के अनुसार पूर्णिमा के दिन लोगों ने अन्य संन्यासियों की भाँति स्वामीजी की पूजा की।

स्वामीजी रामानुजसम्प्रदाय वालों के इस वाक्य का 'तप्ततनुः स्वर्गंगच्छति' खण्डन करते थे और कहते थे कि इसके सत्य अर्थ यह हैं कि व्रत, तप, नियम से शरीर को तपाने और मन को विषयों से रोक कर जप आदि में लगाने से सुख प्राप्त होता है, यह नहीं कि शरीर को दग्ध करने से स्वर्ग मिलता है।

पुष्कर में एक ब्राह्मण था जो सब संन्यासियों का पुरोहित था। उसने स्वामीजी से निवेदन किया कि एक पुरोहिताई का श्लोक बना दो, स्वामीजी ने हँस कर कहा कि क्या हमारे भी पुरोहित बनना चाहते हो और उसे टाल दिया।

स्वामीजी लोगों को अर्द्धपुण्ड्राकार और ऊंचा तिलक लगाने से निषेध करते थे और सीधा तिलक लगाने को कहते थे।

ब्रह्मा के मन्दिर का एक पुजारी था जिसका नाम शिवदयालु था। जब वह ब्रह्मा की मूर्त्ति की पूजा करता तो स्वामीजी उससे कहते अरे शिवदयालु क्या तेरा ब्रह्मा मुँह से बोलता है और तुझ से बातें करता है? नक्कारा बजाने पर कहते कि चमड़ा कूटने से क्या लाभ है? शिवदयालु ने कहा—महाराज मारवाड़ में पाखंड बहुत फैल रहा है वहाँ जाकर सुधार करो। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यदि वहाँ का कोई कामदार हमें बुलायगा तो अवश्य जायंगे। शिवदयालु ने स्वामीजी से पूछा कि ईश्वर के किस नाम का जप किया करूँ, तो स्वामीजी ने सच्चिदानन्द का जप करना बतलाया था।

स्वामीजी शिव वा विष्णु की पूजा का उपदेश नहीं करते थे, केवल ईश्वर की उपासना का आदेश करते थे।

शिवदयालु की कण्ठी भी उतरवादी थी और उससे घाटों पर मांगना छुड़वा दिया था। उसने अन्त में स्वामीजी के उपदेश से पुजारी का कार्य्य छोड़ दिया और वह डाकखाने में नौकरी करके जीवन-निर्वाह करने लगा।

गौ घाट पर एक द्राविड़ संन्यासी रहता था। वह पुराणों की कथा कराया करता था और कथा की समाप्ति पर ब्रह्मभोज किया करता था। एक दिन स्वामीजी उससे शास्त्रार्थ करने गौघाट पर गये। उसे शास्त्रार्थ के लिये बहुतेरा बुलाया, परन्तु वह न आया।

ब्रह्मा के मन्दिर का बड़ा पुजारी गोसाईं मानपुरी स्वामीजी को दुग्ध पिलाया करता था। एक दिन उसने मूर्ति को भोग लगाया हुआ दूध स्वामीजी को पिला दिया। यह बात स्वामीजी को विदित हो गई तो दुःखित हुए और पुजारी से कहा—अरे पत्थर को भोग लगाकर दुग्ध हमें पिला दिया। स्वामीजी के मुख से ब्रह्मा को पत्थर शब्द से अभिहित होता हुआ सुन कर पुजारी को बहुत क्रोध आया और फिर उसने स्वामीजी को दूध पिलाना छोड़ दिया।

पं० गंगाराम एक ब्राह्मण भागवत की कथा कहा करते थे। उनसे स्वामीजी ने कहा कि भागवत व्यास का नहीं वरन वोपदेव का बनाया हुआ है। इससे पंडितजी चिढ़ गये

और चार दिन तक स्वामीजी से नहीं मिले। तब फिर एक दिन स्वामीजी ही उनके पास गये और उनका हाथ पकड़ लिया। पं० जी ने कहा कि महाराज ज़ोर करो। महाराज ने कहा कि घर की लुगाइयाँ माइयाँ कहेंगी कि उंगलियाँ तोड़ दीं। इस पर स्वामीजी ने अपने रसोइया गोविन्द से कहा कि तू पंडितजी से ज़ोर कर और उसका ज़ोर करने में पंजा आहत हो गया। और वह रोटी पकाने के योग्य न रहा।

वह केवल सच्चिदानन्द परमेश्वर को मानते थे। एक दिन पं० गंगाराम ने पूछा आप शिव को मानते हैं ? स्वामीजी ने कहा कि शिव कल्याण का नाम है उसे हम मानते हैं, परन्तु पार्वती के पति शिव को नहीं मानते।

स्वामीजी ने इतने लोगों की कंठियाँ उतरवा दी थीं कि ब्रह्मा के मन्दिर में एक बालिश्त ऊंचा कंठियों का ढेर लग गया था।

एक बार जोधपुर का एक वकील भी स्वामीजी के दर्शनों को आया था और उसने स्वामीजी से मारवाड़ जाने की प्रार्थना की थी। शिवदयालु पुजारी ने नागौर के पास मूँडवा ग्राम में जाकर वहाँ के हाकिम से स्वामीजी को मारवाड़ में बुलाने को कहा। उसने स्वामीजी के लिये सवारी भी भेजी, परन्तु जब वह पुष्कर पहुंची तो स्वामीजी वहाँ से अजमेर के लिये प्रस्थान कर चुके थे।

स्वामीजी पुष्कर में लोगों को शैव मत का उपदेश देते और वैष्णव मत का खंडन करते रहे। जिस वैष्णव को शास्त्रार्थ में परास्त करते उसके गले से तुलसी की माला उतरवा देते और तिलक के वास्ते उसे विभूति अपने पास से दे देते। अभी स्वामीजी पुष्कर में ही विराजमान थे कि पूर्णिमा का मेला आ पहुँचा। उस समय उन्होंने बहुत से लोगों को शैव मत की दीक्षा दी और तुलसी की माला उतरवा कर रुद्राक्ष पहनने का आदेश किया। दो महीने के लगभग पुष्कर रह कर वह अजमेर पधारे।

जब स्वामीजी अजमेर पधारे तो १८६६ का जून मास था। वह वंशीधर सरिश्तेदार के बाग़ में ठहरे थे। उस समय उनके कण्ठ में रुद्राक्ष की माला, मस्तक पर विभूति थी।

अजमेर

तब वह दयानन्द के नाम से इतने प्रसिद्ध नहीं थे जितने दण्डीजी के नाम से थे। उनके विषय में यह जनरव था कि वेद भारतवर्ष से लुप्त हो गये थे दण्डीजी के प्रभाव से उनका पुनः प्रचार हुआ है। उस समय वह शैवमत का पक्ष-पोषण करते थे और कहते थे कि विष्णु की उपासना की अपेक्षा शिव की उपासना श्रेष्ठ है। उसमें एक यह युक्ति दिया करते थे कि शिव ही आदिदेवता है। विष्णु ने अनेक अवतार लिये परन्तु शिव ने कोई अवतार नहीं लिया।

स्वामीजी का अजमेर में अनेक लोगों से शास्त्रार्थ हुआ। एक दिन एक मौलवी से धर्म्म विषय पर बात चीत हुई और मौलवी निरुत्तर होकर चला गया। पादरी जान राबसन से भी विचार हुआ जिसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक हिन्दुधर्म्म व ख्रीस्तधर्म' (Hinduism and Christianity) में किया है। यह वर्णन कदापि निष्पक्ष भाव से लिखा हुआ ज्ञात नहीं होता क्योंकि उन्होंने अपना ही पक्ष प्रबल रहने का उल्लेख किया है। जिन लोगों ने उस शास्त्रार्थ को अपनी आँखों से देखा और कानों से सुना उनकी साक्षी इसके

सर्वथा प्रतिकूल है। हम राबसन साहब के पत्र से कुछ अंश नीचे उद्धृत करते हैं जो उन्होंने तारीख़ ८ सितम्बर, सन् १९०३ को देवेन्द्र बाबू को लिखा था।

"उनका शरीर विशाल और सुगठित और दर्शनीय था। एक गेरुआ वस्त्र उनके कटिप्रदेश में और एक ढीले ढंग पर उनके शरीर पर पड़ा हुआ था। मुझे वह तीक्ष्ण-बुद्धि और प्रभावशाली व्यक्ति प्रतीत हुए और यह अच्छी भाँति समझ में आ गया कि अपने अनुयायियों को वह क्यों आकृष्ट करते थे। उस समय ज्ञात होता था कि उन्होंने पौराणिक हिन्दुओं से सर्वथा सम्बन्ध त्याग नहीं किया था और वेदान्तके सिद्धान्त में उन्हें सन्देह नहीं था। परन्तु एकेश्वरवाद की ओर उनका नैसर्गिक झुकाव था। उन्होंने कहा था कि वह सत्य के खोजी हैं और जहाँ कहीं भी उन्हें सत्य मिलेगा वह उसका अनुगमन करेंगे। सत्य से उनका अभिप्राय सच बोलने से नहीं वरन् वास्तविक पदार्थ Reality से था।........मनुस्मृति वर्णित वर्ण-व्यवस्था में उनका विश्वास था........वेदों में उनका दृढ़ विश्वास था। उस समय वह केवल यजुर्वेद ही से परिचित थे।........वह कहते थे— "मेरा विश्वास है कि वेदों में एक भी भ्रान्तिमूलक बात नहीं है और यदि तुम मुझे कोई ऐसी बात दिखा भी दोगे तो मैं यही कहूँगा कि वह किसी चालाक धूर्त्त की मिलाई हुई है।"

"मेरा उनसे जीव ब्रह्म की एकता पर वार्त्तालाप हुआ था, जिसका वह प्रतिपादन और मैं खण्डन करता था"।

पादरी साहब कहते हैं—"जब मैंने जीव की चेतनता की नींव पर वाद-विवाद किया तो उन्होंने माया का अवलम्बन किया; फिर मैंने ईश्वर के विभुत्व को दर्शाने वाला संस्कृत का शब्द 'सर्वव्यापक' लेकर यह युक्ति उपस्थित की कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक है तो वह स्वयं 'सर्व' नहीं हो सकता। इस पर वह कुछ देर तक तो विवाद करते रहे, परन्तु फिर उन्होंने इस विषय का परित्याग कर दिया"।

पादरी साहब फिर लिखते हैं—"मुझे सन्देह था कि उन्होंने वेद पढ़े भी थे या नहीं। मैंने अपने पंडित से कुछ मन्त्रों की टीका के विना प्रतिलिपि करने को कहा और फिर उन्हें दंडीजी के सामने रक्खा और कहा कि इनमें ऐसे-ऐसे सिद्धान्त हैं जो मेरे विचार में असत्य हैं। उन्होंने उन्हें देखा और उनके अर्थ लगाने का यत्न किया और अन्ततः स्वीकार किया कि उन्होंने ऋग्वेद नहीं पढ़ा है और बड़ी सरलचित्तता से मान लिया कि उनके लिये ऐसे पुस्तक के निर्भ्रान्त होने पर आग्रह करना जिसे उन्होंने कभी नहीं पढ़ा था, ठीक नहीं था। मैक्समूलर का ऋग्वेद का संस्करण उन्होंने ने प्रथम बार ही देखा था। इसके पश्चात् उन्होंने तुरन्त ही उसकी एक प्रति अपने लिये मंगाली। परन्तु इस सम्बन्ध में विनोदकारक यह बात है कि उन्होंने ईश्वरीय पुस्तक का सातवाँ नियम यह स्थिर किया है कि 'उसका ज्ञान ऐसी भाषा में होना चाहिये जो धरातल पर कहीं न बोली जाती हो'। जब मैं भारत में १९९०–९१ में आया और मैंने जिस किसी आर्य्य से ऐसे नियम का कारण पूछा तो उसने हर बार इसी बात की ओर सङ्केत किया कि वेदों की भाषा उस संस्कृत से भिन्न है जो लिखी और बोली जाती है। हमारा ख्रीस्त-धर्म्म के मन्तव्यों पर भी कुछ विचार हुआ था, परन्तु, चूंकि अजमेर आने से पहले उनके पास खिस्ती-धर्म्म की पुस्तकें नहीं थीं, इस कारण वह विचार करने पर प्रस्तुत नहीं थे। उन्होंने मुझ से खिस्तियों

के मोक्षविषयक सिद्धान्त का वर्णन करने को कहा और निम्न लिखित वह वर्णन है जो मैंने उस समय उस घटना का लिखा था:—

मैंने मनुष्य के पापी होने से आरम्भ किया। जब यह बात दण्डीजी से कही गई तो वह चौंक से गये और कहने लगे कि क्या तुम पादरी होकर भी पापी हो ? क्या मैं पापी हूँ ? मैंने उत्तर दिया—"निश्चय ही मनुष्य पापी हैं"। वह इस पर भी बहस करने को उद्यत मालूम देते थे, परन्तु वह चुप रहे और मुझे आगे चलने को सङ्केत किया। वह अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनते रहे और इसी प्रकार सारा जनसमूह भी सुनता रहा जब तक मैं ख्रीस्त के कार्य्य का वर्णन करता रहा; परन्तु जब मैं ख्रीस्त के पुनरुत्थान पर पहुँचा तो उन्होंने मुझे फिर रोका और पूछा कि क्या ख्रीस्त का शरीर फिर उठा था, क्योंकि उन्होंने ऐसी घटना पहिले कभी नहीं सुनी थी। मैंने कहा कि आपने ख्रीस्त-धर्म के मर्म-स्थल पर अंगुली रक्खी है और मैंने स्पष्टतया उनके सम्मुख यह बात रक्खी कि हमारे धर्म्म की स्थिति एक घटना पर है और वह ख्रीस्त का पुनरुत्थान है। फिर मैंने यथाशक्य संक्षेप से उसकी साक्षी का वर्णन किया कि उसकी साक्षी ऐसे लोगों ने दी है जिन्हें उसका प्रतिफल प्रतिष्ठा या पुरस्कार मिलने वाला नहीं था बल्कि अपमान, अत्याचार और मृत्यु था। दण्डीजी ने मेरे किसी कथन पर आक्षेप नहीं किया, बल्कि यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ऐसा पुनरुत्थान उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु मैंने उस पर विचार करने से निषेध किया क्योंकि इससे फिर वही प्रश्न विचारास्पद होते थे जिन पर हम पहिले ही विचार कर चुके थे। इसके पश्चात् मैं विदा लेकर चला आया। अब तक श्रोतृवर्ग बड़े चुपचाप रहकर मनोलग्नता से सुनते थे। परन्तु अब वह खड़े होगये और टीका-टिप्पणी, सम्मतियों से एक कोलाहल मच गया। बहुतों ने दण्डीजी से असन्तोष प्रकट किया कि उन्होंने जब ख्रीस्त-धर्म का मर्मस्थल उनके सम्मुख रक्खा गया तो उस पर आक्रमण करने से आना कानी की........।

दण्डीजी ने ख्रीस्त-धर्म्म के प्रचारकों से यह भी इच्छा की कि हम उनके साथ सरकार में मूर्त्तियों और मूर्ति-पूजा के दमन करने के लिए प्रार्थना करने में सम्मिलित हो जावें। हमने उत्तर दिया कि यद्यपि हम उनके दृष्टिगत आशय से पूर्णतया सहानुभूति रखते हैं, परन्तु हमारे विचार में किसी मनुष्य के धर्म्म में हस्तक्षेप करना सरकार के कार्य्य-क्षेत्र से बाहर है और हम इसका साधन केवल समझाने बुझाने को ही मानते हैं।"

हमें राबसन साहब के वर्णन पर आश्चर्य भी होता है और हँसी भी आती है। आश्चर्य्य तो इसलिये कि उन्होंने संवाद को उसके अवास्तविक रूप में प्रकट करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं किया। नवीन वेदान्त की युक्तियों के सामने अब भी कोई पादरी नहीं ठहर सकता और राबसन साहब यह दिखलाना चाहते हैं कि स्वामीजी उनसे इतने पछड़े कि उन्होंने विषय ही का परित्याग कर दिया। पादरी साहब की कौनसी युक्ति ऐसी प्रबल थी जिसका उत्तर नवीन वेदान्ती न दे सकते हों या स्वामीजी न दे सके हों। हँसी इसलिये आती है कि ख्रीस्त के पुनरुत्थान की कथा को सुनकर महाराज-सा मूर्तिपूजा के दुर्ग पर आक्रमण करने वाला वीर कोई आक्रमण न कर सका और वह उसे सुनकर उत्तर के लिए बग़लें झांकने लगा। पुनरुत्थान की साक्षी

का तो अब सर्वथा भाँडा फूट गया है और सिद्ध होगया है कि वह इन्द्रजाल सर्वांश में पीछे से घड़ा गया है, वास्तव में ख्रीस्त का शूली पर प्राण वियोग नहीं हुआ था और वह जीवित ही क़ब्र में से निकाल लिया गया था। परन्तु इस प्रमाण के सम्मुख न होते हुए भी वह हर प्रकार से अनुभवविरुद्ध, युक्तिशून्य और केवल कल्पनात्मक है। दयानन्द के लिये ऐसी बालविनोद की कथा का निराकरण करना कुछ भी कठिन न था। बात यह है कि पादरी साहब दयानन्द की वाणवर्षा से इतने भयभीत हुए कि रणस्थल को ही छोड़ भागे। उसके पश्चात् विजयदुन्दुभि बजाना बहुत ही सहज है। जो लोग उस समय उपस्थित थे उनकी साक्षी यह है कि पादरी साहब परास्त हुए और फिर स्वामीजी के सम्मुख ठहरने का साहस न कर सके।

दूसरी बात यह कि महाराज ऋग्वेद के मंत्रों का अर्थ न कर सके और उन्होंने मुक्तहृदय से स्वीकार कर लिया कि उनके पक्ष में वेदों के निर्भ्रान्त होने पर आग्रह करना ठीक न था। यह सब पादरी साहब की मन घड़न्त है। स्वामीजी उनका अर्थ न कर सके हों कदापि समझ में नहीं आता। पादरी साहब ने यह नहीं बतलाया कि वह कौन से मन्त्र थे। यदि ऐसा करते तो स्पष्ट ही उनके कथन की असत्यता प्रकट हो जाती।

अन्त में पादरी साहब लिखते हैं। "उस समय उनकी बुद्धि और धार्मिक विचारों के विकास का परिपाक हो रहा था। आत्मा और धर्म्मसम्बन्धी प्रबल विश्वासों ने उनकी सारी प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर लिया था और प्रचलित धार्मिक पद्धति का अविश्वासी बना दिया था। वह दर्शनों और अपने देश के शास्त्रों की ओर इस दृष्टि से गये कि वहां भी उन्हें 'सत्य' मिल सकता है वा नहीं और वह उस समय वेदों का स्वाध्याय आरम्भ कर रहे थे। उनके पश्चात्कालीन व्यवहार से मुझे ज्ञात होता है कि उन्होंने वेदों से अपनी शिक्षाओं का जोड़ मिलाने और उनसे अपने विश्वासों की संगति लगाने का मन से यत्न किया, परन्तु यह बहुत अंशों में ऐसा ही था जैसा पुरानी बोतलों में नये मद्य का भरना होता है"।

यह कोई अनूठा आक्षेप नहीं है। आर्य्यसमाज के सारे विरोधी विशेष कर ख्रिस्ती लोग यही कहते हैं कि स्वामीजी ने खींचातानी करके वेदों के अर्थ अपने विचारों के अनुकूल किये हैं। आगरा कालेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल मिस्टर टामसन भी यही कहा करते थे कि "स्वामीजी ने पहले तो एकेश्वरवाद वेद में भरा और अब उसे वेदों में से निकाल रहे हैं *। इतना हम मानने को तैयार हैं कि उस समय उनके मन्तव्यों के विकास का परिपाक हो रहा था और उस समय तक उन्होंने सब वेदों को मननपूर्वक नहीं पढ़ा था।

पं० लेखरामकृत दयानन्द-चरित में लिखा है कि यह शास्त्रार्थ पादरी ग्रे, राबसन और शूलब्रेड से हुआ था। प्रथम तीन दिन ईश्वर, जीव, सृष्टिक्रम और वेद विषय पर बातचीत हुई, चौथे दिन ईसा के ईश्वर होने और मर कर पुनर्जीवित होने पर। इस शास्त्रार्थ में पादरियों ने एक संस्कृत वाक्य को यह कहकर प्रस्तुत किया था कि यह वेदमन्त्र है, परन्तु जब उनसे कहा गया कि इसे वेद में दिखाओ तो न दिखा सके।

दयानन्द-प्रकाश में लिखा है कि किसी आक्षेप पर चिढ़कर शूलब्रेड ने कहा कि ऐसी

---

* "First he read monotheism into the Vedas and then was reading it out of them."

बातों से आप कभी कारावास में चले जायंगे। दयानन्द ने उत्तर दिया कि आप यदि ऐसा कष्ट दिलायेंगे तो मुझे तनिक भी चिन्ता न होगी। मैं कारावास जाने के भय से सत्य को नहीं छोड़ सकता।

सम्भवतः इसी समय की स्वामीजी की सिद्धि की एक कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है:–

श्यामलालसिंह एक व्यक्ति Accountant General of Railways के कार्यालय में क्लर्क थे, उनको स्वामीजी में अत्यन्त भक्ति हो गई थी। एक दिन उन्होंने स्वामीजी के लिए अपने घर से दुग्ध भिजवाया। उनकी माता को यह बात बुरी मालूम हुई और उसने क्रोध करके कहा कि इस मुंडिया (संन्यासी) को दूध क्यों पिलाता है। जब श्यामलालसिंह का भृत्य दूध लेकर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुआ तो उन्होंने तिरस्कार-पूर्वक उससे कहा कि यह दूध ले जाओ मुझे ऐसा चिन्तायुक्त दूध नहीं चाहिये और आगे से मेरे लिए ऐसी अनिच्छा से भेजा हुआ दूध कभी मत लाना। श्यामलालसिंह को इस पर बहुत खेद हुआ और जब घर में जाकर पूछा तो उन्हें अपनी माता की इस कृपणता का वृत्तान्त मालूम हुआ।

उन दिनों अजमेर में रामसनेहियों के एक महन्त ठहरे हुए थे। स्वामीजी उनके निवासस्थान के पास होकर निकले तो उन्होंने देखा कि उसके भीतर बहुत सी स्त्रियाँ जा रही हैं और बाहर आती हैं। स्वामीजी ने जोशी रूपराम को भेजा कि देखो क्या बात है। उन्होंने आकर समाचार दिया कि वहाँ रामसनेहियों के महन्त ठहरे हुए हैं और यह स्त्रियाँ उनकी चेली हैं, भेंट लेकर उनके दर्शनों को आती हैं। फिर स्वामीजी ने रूपराम द्वारा महन्तजी से कहला भेजा कि आप हमसे शास्त्रार्थ कर लीजिये, परन्तु महन्तजी ने इन्कार किया कि हम से और स्वामीजी से उठने-बैठने में न बनेगी। स्वामीजी ने उत्तर में कहला भेजा कि आप इसकी चिन्ता न करें आप गद्दी पर बैठे रहें हम नीचे बैठ जायंगे, फिर शास्त्रार्थ में जिसकी जीत हो वही गद्दी पर बैठ जाय और एक पत्र रामसनेहियों के मत-खण्डन विषयक लिखकर उनके पास भेजा, परन्तु महन्तजी ने हँस कर कहा कि हम शास्त्रार्थ नहीं करते। महन्तजी इतने भयभीत हुए कि रात्रि में अजमेर से अपनी मण्डली को साथ लेकर कहीं चले गये।

पं० लेखराम के नाम से प्रकाशित दयानन्द-चरित में अजमेर-निवास के सम्बन्ध में निम्नलिखित घटनाओं का उल्लेख है:—

शिवदयाल ब्राह्मण पुष्कर से ही स्वामीजी के साथ आया था। वह स्वामीजी से अष्टाध्यायी पढ़ा करता था। ठाकुर रणजीतसिंह ने जोशी रूपराम को स्वामीजी को जयपुर लिवा लाने के लिए पुष्कर भेजा था। वह भी स्वामीजी के साथ थे। अजमेर पहुंच कर स्वामीजी ने जोशीजी और शिवनारायण द्वारा मार्गों पर विज्ञापन लगवा दिये कि जिस किसी को मूर्त्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करना हो करले। इस पर अजमेर के पण्डितों ने शास्त्रार्थ के लिये बातचीत की। स्वामीजी ने पुष्कर पं० व्यंकट शास्त्री को कहला भेजा कि यहाँ शास्त्रार्थ होने वाला है हम आपको मध्यस्थ करेंगे। व्यंकट शास्त्री ने स्वामीजी से कहा था कि जब आवश्यकता हो हमें बुलाइये हम आपकी सहायता करेंगे। परन्तु अन्त में अजमेर के पण्डित शास्त्रार्थ से जी चुरा गये और व्यंकट शास्त्री को बुलाने की आवश्यकता न हुई।

के पोलिटिकल एजेण्ट कर्नल ब्रक्स से ऋषि दयानन्द का गोरक्षा पर वार्तालाप। (पृष्ठ ९३)

एक दिन स्वामीजी मेजर ए० जी० डेविडसन डिपुटी कमिश्नर अजमेर से मिलने गये। स्वामीजी ने उनसे कहा कि राजा प्रजा का पिता होता है और प्रजा पुत्र होती है। जब पुत्र कोई दुष्कर्म करने लगे तो माता-पिता का कर्त्तव्य है कि उसे बचावे। मतमतान्तर वादी आपकी प्रजा को लूट रहे हैं! आप इसका प्रबन्ध करें। डि० कमिश्नर ने कहा कि यह धार्मिक विषय है इसमें सरकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती, यदि कोई अन्य विशेष बात हो तो हम सहायता करने को उद्यत हैं।

कहते हैं कि स्वामीजी अपटन साहब असिस्टेन्ट कमिश्नर से भी मिले थे।

एक दिन स्वामीजी वंशीलाल के बाग़ में कुर्सी पर बैठे हुए थे। सामने होकर कर्नल ब्रुक, एजेंट गवर्नर जनरल निकले। वह गेरुआ वस्त्र वालों से बहुत चिढ़ते थे। पं० वृद्धिचन्द्र जो स्वामीजी से अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़ते थे स्वामीजी से बोले कि महाराज आप कुर्सी दूसरी ओर करलें यह साहब लोग संन्यासियों से बहुत जलते हैं। स्वामीजी ने कहा हम तो यही चाहते हैं और कुर्सी को और आगे को करके बैठ गये। ब्रुक साहब बाग़ के भीतर चले आये। स्वामीजी उन्हें बाग़ में प्रवेश करता देख इस विचार से कि यदि कुर्सी पर बैठे रहेंगे तो उनके सम्मान के लिये उठना पड़ेगा, पहले से ही कुर्सी से उठकर टहलने लगे। वृद्धिचन्द्र ने कहा कि मैं आप से पहिले ही कहता था आपने न माना। स्वामीजी ने कहा कुछ परवाह नहीं। ब्रुक साहब ने आकर अपनी टोपी उतारी और स्वामीजी से हाथ मिलाकर स्वामीजी के सामने की कुर्सी पर बैठ गये और बातें करते रहे जो इस प्रकार थीं।

स्वा०—आप धर्म्म का स्थापन करते हैं वा खंडन ?

ब्रु०—धर्म्म-स्थापन करना तो हमारे यहां भी अच्छा है, परन्तु जिसमें लाभ हो वह करते हैं।

स्वा०—आप लाभ की नहीं प्रत्युत हानि की बात करते हैं।

ब्रु०—कैसे ?

स्वा०—देखिये एक गौ से कितना लाभ होता है और उससे कितने मनुष्यों का पालन होता है। फिर आप बतलाइये गो-बध में आप को लाभ है या हानि ?

ब्रु०—होतो तो हानि है।

स्वा०—तो आप गोबध क्यों करते हैं ?

ब्रु०—यह बात आप की हमें स्वीकार है आप हमारे बंगले पर पधारें, हम वहां बातें करेंगे।

यह कह कर ब्रुक साहब चले गये।

दूसरे दिन स्वामीजी को ब्रुक साहब की गाड़ी लेने के वास्ते आई। स्वामीजी जोशी रूपराम को साथ में लेकर गये और साहब से पौन घंटे तक गो-रक्षा विषय पर बातचीत हुई और उन्होंने स्वीकार कर लिया कि गो-बध हानिकारक है, परन्तु उसको बन्द करना मेरे अधिकार में नहीं है, आप लाटसाहब से मिलें। ब्रुक साहब ने उन्हें एक चिट्ठी लिखकर दी कि आप यह चिट्ठी लाटसाहब को दिखलावें आप से अवश्य मिलेंगे। एक चिट्ठी उन्होंने महाराजा रामसिंह को भी भेजी कि शोक है कि आपने ऐसे वेदवक्ता विद्वान् से बातचीत न की।

कहते हैं कि इस चिट्ठी के पहुँचने पर महाराजा को बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने ठाकुर साहब अचरौल से स्वामीजी के बुलाने को कहा। ठाकुर साहब ने कहा कि मैंने उन्हें जयपुर लिवा लाने के लिये मनुष्य भेजे हैं, वह अवश्य जयपुर पधारेंगे। तब मैं श्रीमानों से निवेदन करूँगा।

कहते हैं कि डि० कमिश्नर ने भी एक चिट्ठी स्वामीजी को दी थी। स्वामीजी भागवत को भडुआ पुराण और मन्दिरों को अड्डा कहा करते थे। मालाओं को गले में काष्ठ का भार बतलाते थे। मूर्त्तिपूजा और भागवत का खण्डन करने के कारण ब्राह्मण उनके शत्रु हो गये थे।

एक दिन कुछ ब्राह्मणों ने शिव बाग़ में स्वामीजी से शास्त्रार्थ करना निश्चित किया। उन लोगों का विचार था कि इस मिस से स्वामीजी को उस बाग़ में बुलाकर पीटें। स्वामीजी ने पहले से कुछ मनुष्यों को शिव बाग़ में जाकर वहाँ का हाल देखने को भेज दिया था। उन्होंने जाकर देखा कि वहाँ कोई लिखा पढ़ा मनुष्य नहीं है, केवल शिव बाग़ के पुजारी और कुछ भंगड़ ब्राह्मण लट्ठ लिए खड़े हैं। यह बात उन्होंने स्वामीजी से आकर कही। स्वामीजी शिव बाग़ में जाने को तैयार थे और कमरे से बाहर आगये थे। परन्तु वहाँ का हाल सुनकर फिर वहाँ नहीं गये।

एक पटवारी ने स्वामीजी से दस प्रश्न लिखकर पूछे कि संन्यासी को एक स्थान में तीन दिन से अधिक न ठहरना चाहिये और बग्घी आदि में सवार न होना चाहिए, इत्यादि। इन प्रश्नों का स्वामीजी ने उत्तर दिया और लिखा कि संन्यासी को एक स्थान में तीन दिन से अधिक न ठहरने की बात सत्य है, परन्तु जहाँ अन्धकार हो वहाँ तीन दिन से अधिक उपदेश के लिये ठहरना ठीक है।

ब्राह्मणों ने कहा कि आप भागवत का खण्डन करते हैं, उसकी अशुद्धियाँ लिखकर दीजिये। स्वामीजी ने तीन चार पत्रों पर उसकी अशुद्धियाँ संस्कृत में लिखकर दी थीं।

पं० वृद्धिचन्द्र और छगनलाल के पास एक भडुआ भागवत का पुस्तक था जिसके अन्त में ज्येष्ठ द्वितीय ९ = ७ जून १८६६ बृहस्पतिवार लिखा था।

अजमेर-निवास के दिनों में ही दो तैलिंगी वा महाराष्ट्र साधु नाग पर्वत के जंगल से स्वामीजी से मिलने आये। वह संस्कृत बोलते थे और आर्य्य भाषा नहीं जानते थे। वह स्वामीजी के दर्शनों को दो बार आये थे। दूसरी बार उन्होंने स्वामीजी से प्रसङ्गवश बातचीत करते हुए कहा कि हम सर्वथा शान्त हैं। स्वामीजी ने उनसे कहा कि आपने अभी अहंकार को नहीं जीता है। उन्होंने कहा कि हमने जीत लिया है। स्वामीजी ने अपने ब्रह्मचारी को सङ्केत कर दिया। जब वह स्वामीजी से विदा होकर बाहर गये तो स्वामीजी का ब्रह्मचारी किसी बात पर उन से उलझ पड़ा और आपस में वह और ब्रह्मचारी गुत्थम-गुत्था हो गये, इस पर कोलाहल हुआ। उनको स्वामीजी ने समझाकर अलग किया और कहा कि आप तो कहते थे हमने अहंकार को जीत लिया है। इस पर वह लज्जित हुए और स्वामीजी से क्षमा माँगी और नमोनारायण कहकर विदा होगये। और लोग भी स्वामीजी से नमोनारायण ही करते थे और स्वामीजी उसका उत्तर नमोनारायण ही से देते थे।

दिल्ली वाले पं० हरिश्चन्द्र के एक गुरु भाई दिल्लीनिवासी पं० से स्वामीजी का वार्त्ता-

लाप हुआ था। स्वामीजी ने मनुस्मृति और उपनिषदों के प्रमाणों से उसे निरुत्तर कर दिया था। वह स्वामीजी के पाण्डित्य और वाक्-चातुर्य्य से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने एक दिन स्वामीजी को भोजन कराया।

बब्बूलाल जैनी से तीन दिन तक धर्म्म विषय पर स्वामीजी का वार्त्तालाप हुआ। अन्त में उसने स्वामीजी को नमस्कार करके कहा कि महाराज आप जो कहते हैं वह ठीक है।

धन्नालाल व अमृतसिंह जैनियों से भी वार्त्तालाप हुआ था। धन्नालाल ने कुछ प्रश्न स्वामीजी से किये। स्वामीजी ने उसे समझाया, परन्तु वह हठ करता रहा। स्वमीजी ने उसकी पुस्तक रखली और कहा कि तुम नास्तिक हो, तुम फिर यहाँ आना, हम तुम को भली भांति समझा देंगे। परन्तु वह फिर न आया और डि० कमिश्नर के पास गया और कहा कि स्वामीजी ने मेरी पुस्तक छीन ली है। साहब ने राय दौलतराम से कहा और उन्होंने स्वामीजी से उसकी पुस्तक दिलवादी।

अजमेर में भी स्वामीजी ने लोगों की कंठियाँ उतरवाई थीं। अजमेर के निकट सावर के ठाकुर साहब उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे और उनके उपदेश से अपनी कंठी उतार दी थी।

"स्वामीजी के विचार उस समय तक परिपक्व नहीं हुए थे। यह ठीक है कि उस प्रसिद्ध शिवरात्रि से उनके मन में मूर्त्तिपूजा के प्रति अश्रद्धा होगई थी, परन्तु ऐसा मालूम नहीं होता कि वह मूर्त्तिपूजा को पीछे आकर भी सर्वथा त्याज्य ही समझते रहे थे। ऐसा मालूम होता है कि उनके पैतृक संस्कार एक बार पुनः जागृत हो उठे थे और थोड़े समय के लिए वह शैवमत के पक्षपाती होगये थे। हम नहीं कह सकते कि मथुरा में गुरु विरजानन्द के पास रहते हुए उनके धार्मिक विश्वासों की क्या अवस्था थी। स्वयम् विरजानन्द के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। यह तो अवश्य मालूम होता है कि प्रचलित रीति की मूर्त्तिपूजा में उनका विश्वास न था, परन्तु वह इस विश्वास को कभी उत्कट रूप से प्रकट नहीं करते थे। विरजानन्द के पास आने के समय भी स्वामी दयानन्द त्रिभूति लगाते थे और रुद्राक्ष की माला पहनते थे। इससे प्रतीत होता है कि वह उस समय तक शैवमतानुयायी थे। विरजानन्द भी दुर्गा-सप्तशती का पाठ किया करते थे और इसे दयानन्द भी ग्वालियर की स्थिति के समय तक करते रहे। आगरा में रहने के समय भी स्वामीजी के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वहाँ उन्होंने अपने गले में से रुद्राक्ष की माला उतार कर प्रीति के चिन्ह के तौर पर पण्डित सुन्दरलालजी को दी थी और या तो पार्थिव पूजा का उपदेश दिया था, या यह जानते हुए कि पंडित सुन्दरलाल पार्थिव पूजा करते हैं उन्हें ऐसा करने से रोका नहीं था। ग्वालियर में भी वह शिव-सहस्रनाम का पाठ करते रहे थे और दुर्गा-सप्तशती, लिङ्गपुराण, शिवपुराण के पठन का भी उपदेश करते रहे थे। यहां यह ठीक है कि वह शिव की कृत्रिम मूर्त्ति के विरोधी थे और इसी कारण वह महारुद्र मोटेश्वर के मन्दिर का प्रसाद भी नहीं ग्रहण करते थे, परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कठिन है कि वह उस समय मूर्त्तिपूजा के सर्वांश में और सर्वथा विरोधी थे। हमारे अनुमान में उस समय वह शिव की अकृत्रिम मूर्त्ति की पूजा को छोड़कर शेष सब प्रकार की मूर्त्तिपूजा के विरोधी थे। एक बात अवश्य ऐसी है जिसे इस प्रमाण में प्रस्तुत किया जा सकता है कि स्वामीजी मूर्त्तिपूजा का खण्डन ही करते थे, मण्डन नहीं करते थे

और वह यह है कि किसी ने कभी भी और कहीं भी स्वामीजी को शिवलिङ्ग की पूजा करते नहीं देखा। वह बहुधा शिवमन्दिरों में जाकर ठहरे। परन्तु उन्होंने कभी शिव-लिङ्ग पर जल तक नहीं चढ़ाया। पंडित लेखरामकृत जीवनचरित में जयपुर के वृत्तान्तर्गत लिखा है कि वह परमात्मा को शिव नाम से मानते थे। परन्तु पार्वती के पति शिव का कभी ज़िक्र न करते थे, बल्कि उसके विरोधी थे। परन्तु जब उन्होंने स्वयम् लिखा है कि मैंने (जयपुर में) शिवमत का समर्थन किया,, तो उसमें कुछ सन्देह नहीं रहजाता कि उस समय तक वह शैव थे। यह हो सकता है कि उनके विचार साधारण शैवों से किन्हीं अंशों में विलक्षण हों। परन्तु यह कहना कि यह शैव नहीं थे ठीक प्रतीत नहीं होता। इस बात को छोड़कर यह स्पष्ट है कि वह संध्या-गायत्री का उपदेश करते थे। आर्ष ग्रन्थों की महिमा को मानते थे। सूर्य्य को अर्घ देने में भी उन्हें विश्वास था और यह तो बहुत दिनों तक रहा प्रतीत होता है, क्योंकि संवत् १९३१ में जो संध्या का पुस्तक उन्होंने संस्कृत में लिखा था उसमें सूर्य्य को अर्घ देना सन्ध्योपासना का एक अङ्ग रक्खा है। उक्त पुस्तक में लिखा है:—

पुनः सूर्य्योदये सति परमेश्वरेणैव सूर्य्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थस्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा गायत्रीमन्त्रेण अर्घत्रयं सूर्य्याभिमुखं प्रक्षिप्य परं ब्रह्म प्रार्थयेत् ॥"

इसके अर्थ यह हैं कि फिर सूर्य्योदय के होने पर परमार्थ स्वरूप पर ब्रह्म का चिन्तन करे कि परमेश्वर ने ही सूर्य्यादि सब जगत् रचा है और सूर्य्य के सामने गायत्री मन्त्र से तीन अर्घ देकर परम ब्रह्म से प्रार्थना करें।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि इसका अभिप्राय सूर्य्य को उपास्य भाव से अर्घ देने का नहीं है। यह हम भी मानते हैं, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण में स्वयम् लिखा है कि सूर्य्यादि सब जगत् परमेश्वर ने ही रचा है और इस लिये सूर्य्य को जो अर्घ देना है वह सूर्य्य को उपास्य-देव मान कर अर्घ देना नहीं है। परन्तु किसी भाव से हो, अर्घ देना तो स्पष्ट ही लिखा है। यह नहीं लिखा कि यह अर्घ किस प्रयोजन के लिये देने चाहियें। अतः इसमें ननु-नच का कोई स्थल नहीं है कि अभी तक स्वामीजी अनेक आवश्यक विषयों पर अपने सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सके थे। आगरे में जब पण्डित विष्णुलाल मोहनलाल पण्ड्या ने स्वामीजी से पूछा कि विरजानन्द से जो प्रतिज्ञा आप करके आये हैं उसके विषय में क्या कर रहे हैं, तो उसका उन्होंने यही उत्तर दिया था कि जब तक मैं सब वेदों को सम्यक् रूप से नहीं विचार लूंगा तब तक गुरुजी से की हुई प्रतिज्ञा कार्य में परिणत न हो सकेगी। यही उत्तर इन्हीं पण्ड्याजी को स्वामीजी ने इसी प्रश्न के उत्तर में मेरठ में दिया था। अस्तु, स्वामीजी स्वयम् जानते थे कि जो कार्य्य विरजानन्द ने उन्हें सौंपा है अभी वह उसके योग्य नहीं हैं। उनको बीच-बीच में जो संशय होते रहते थे उन्हें वह लिख कर वा स्वयम् मथुरा जाकर विरजानन्द से निवृत्त कर आते थे। यह बात स्वामीजी ने आत्म-चरित में स्वीकार की है। वस्तुतः स्वामीजी इस समय अपने भावी कार्य्य के लिए, जो संसार में एक नया युग लाने वाला था, तैयारी कर रहे थे।

स्वामीजी अजमेर से लौटते हुए किशनगढ़ आये और सुखसागर पर ठहरे। वहां

किशनगढ़

पं० कृष्णवल्लभ जोषी अच्छे विद्वान् थे। एक दूसरे सज्जन महेशदास राजा की माता के दीवान थे। यह दोनों स्वामीजी से बहुत प्रीति करते थे। किशनगढ़ के महाराजा पृथ्वीसिंह वल्लभकुल सम्प्रदाय के अनुयायी थे और स्वामीजी उसके कट्टर वैरी थे, अतः वह स्वामीजी से द्वेष करते थे। किशनगढ़ पहुँचने से दूसरे दिन ठाकुर गोपालसिंह ३०-४० मनुष्यों और ५-७ राज-पण्डितों को साथ लेकर स्वामीजी को अप्रतिष्ठित करने के अभिप्राय से स्वामीजी के डेरे पर आये। सम्भव है इस में महाराजा का भी परामर्श वा सङ्केत रहा हो। वृद्धिचन्द्र और रूपराम स्वामीजी के साथ थे। सायङ्काल के ५ बजे थे। स्वामीजी ने वृद्धिचन्द्र से कहा कि पहिले शौच से निवृत्त होलें फिर इन लोगों से बातचीत करेंगे। शौचादि से लौटकर स्वामीजी ने स्नान किया और विभूति लगा कर एक काष्ठ के तख्त पर विराजमान होगये। वह लोग जाजम बिछा कर बैठे हुए थे। स्वामीजी ने पूछा कि आप लोग क्यों आये हैं? इसके उत्तर में एक वल्लभकुलीय पण्डित ने एक पुस्तक के कुछ पत्रे स्वामीजी के सम्मुख रक्खे। स्वामीजी ने कहा तुम ही पढ़ो, हम उत्तर देंगे। उन में वल्लभकुल की प्रशंसा लिखी थी। सुनकर स्वामीजी ने वल्लभकुल के मत का खण्डन करना आरम्भ किया। इस का वह पण्डित उत्तर न देसका। इस पर वह लोग स्वामीजी के ऊपर आक्रमण करने पर उद्यत हुए। स्वामीजी यह देखकर तख्त पर खड़े होगये और कहा कि तुम मुझे अकेला मत समझो और मैं अकेला भी तुम्हारे लिये पर्य्याप्त हूँ। यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहो तो शास्त्रार्थ के लिये उद्यत हूँ। इतने में ही कुछ लोग जो संन्यासियों के श्रद्धालु थे आगये और उन्हें देखकर वह लोग चले गये। ५ दिन किशनगढ़ ठहर कर स्वामीजी दूदू पहुँचे और ठाकुर साहब के महल में ठहरे। तीन दिन विश्राम करके और उपदेश देकर बागरू गये। वहाँ केवल एक रात एक बगीचे में टिके और वहां से चलकर अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंहजी के बाग में जा उतरे।

जयपुर दूसरी बार

ठाकुर रणजीतसिंह ने स्वामीजी के जयपुर पधारने का समाचार महाराजा रामसिंह जी से निवेदन किया। महाराजा ने व्यास बख्शीराम से कहा कि स्वामीजी को महलों में लिवा लाओ। व्यासजी ने स्वामीजी की सेवा में उपस्थित होकर महाराजा की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने कहा कि हमारी इच्छा महलों में जाने की नहीं है। यदि महाराजा को हम से सम्भाषण करने की इच्छा है तो किसी समय यहां ही पधारें। यह बात व्यासजी ने महाराजा से जा कही। तब उन्होंने ठाकुर रणजीतसिंह से कहा कि स्वामीजी को महलों में अवश्य लाना चाहिए। इस पर ठाकुर रणजीतसिंह कई प्रतिष्ठित सरदारों के साथ स्वामीजी की सेवा में आये और अनेक आग्रह-अनुरोध करके स्वामीजी को महलों में पधारने पर राजी कर लिया। तब उनके साथ चलकर वह मौज-मन्दिर में विराजमान हुए, परन्तु दैवयोग से उसी समय महाराजा अन्तःपुर में चले गये और एक चेले ने आकर कहा कि अब महाराजा बाहर नहीं पधारेंगें। इस पर सब सरदार और स्वामीजी वापस चले आये और फिर महाराजा के अनेक यत्न करने पर भी महलों में जाने को उद्यत नहीं हुए।

आधे आश्विन तक स्वामीजी जयपुर में रहे फिर वहाँ से हरद्वार के विचार से उन्हों

ने प्रस्थान का इरादा किया तो रामदयालु कामदार और सरदार रणपतसिंह रोने लगे। स्वामी जी ने कहा कि हमने तुम्हें रोने के लिये उपदेश नहीं दिया है, किन्तु हँसने के लिये दिया है।

कार्त्तिक ब० ९, संवत् १९२३ के निकट महाराज आगरा पहुँचे। उन दिनों वहाँ लार्ड लॉरेन्स के दरबार का उपक्रम होरहा था। कहते हैं कि यह दर्बार लार्ड कैनिंग के दरबार से तड़क-भड़क में दूसरे नम्बर पर था। दरबार १० नवम्बर से १९ नवम्बर तक होने वाला था, परन्तु १९ नवम्बर को लार्ड लारेन्स के रुग्ण होजाने के कारण २० नवम्बर को समाप्त हुआ। स्वामीजी दरबार में आये हुए लोगों को धर्म्म-उपदेश देते रहे और एक लघु पुस्तक ७, ८ पृष्ठ की श्री वैष्णवों के खण्डन में लिख कर छपवाई और उसकी कई सहस्र-प्रतियाँ आगरे में बाँटीं और शेष हरद्वार में बाँटने के अभिप्राय से साथ लेगये।

आगरे से महाराज मथुरा पधारे। स्वामीजी ने विरजानन्द की सेवा में उपस्थित होकर दो अशरफ़ी और एक मलमल का थान उनको भेंट किया और वह पुस्तिका उन्हें सुनाई और निवेदन किया कि मैं धर्म्मोपदेश के लिये हरद्वार जाता हूँ। दण्डीजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। स्वामीजी ने दण्डीजी से अपने सन्देह निवृत्त किये और कई दिन गुरु सेवा में रह कर बिदा हुए और मेरठ पहुँच कर सूर्य्यकुण्ड पर देवी के मन्दिर में ठहरे। मेरठ में वहाँ के सुप्रसिद्ध रईस पं० गंगाराम डाकवाले से साक्षात् हुआ। उन दिनों स्वामीजी दोशाला ओढ़ते, जुराब पहनते थे, और गले में स्फटिक की माला धारण करते थे। गोरक्षा और वेद के पठन-पाठन पर बल देते थे। पंडित गंगाराम से गोरक्षा में सहायता देने के लिये स्वामीजी ने कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि राजाओं की निज सम्मति इस विषय में लादो तो मैं भी सहायता करूंगा। पं० गंगाराम ने स्वामीजी से कहा कि एक ब्रह्मचारी ने मुझे कृष्ण अभ्रक दिया था जिससे बुढ़ापे में जवानी की शक्ति आजाती है। स्वामीजी ने कहा कि हमारे पास भी है लेलेना और एक पुड़िया उन्हें बांध कर दी। पं० गंगाराम ने कहा कि मुझे सब दिखलादो। उनके आग्रह पर जितना कृष्ण अभ्रक उनके पास था, सब दिखला दिया, और उसमें से यथेच्छ उनको देदिया। फिर पंडित गंगाराम ने स्वामीजी से कहा कि इससे तो कामदेव बढ़ता है, आप इससे कैसे बचे। उन्होंने कहा इसकी युक्ति है,—एकान्तसेवी रहो, नाच तमाशे मत देखो, प्रणव का रात दिन जप करो, जब अत्यन्त आलस्य प्रतीत हो तब सोओ, इस से गहरी निद्रा आती है और मनुष्य स्वप्न नहीं देखता, निद्रा खुलने पर भजन में रत होजाओ, न बुरा देखो, न बुरा सुनो और चित्त की वृत्तियों को चलायमान मत होने दो। पं० गंगाराम ने स्वामीजी से कीमिया बतलाने को कहा। उन्होंने कहा एक साधु ने हमें बतलाई थी, परन्तु हमने की नहीं है। उसकी युक्ति यह है कि एक भिलावे के वृक्ष को जो एक हाथ ऊंचा हो लो, उसमें तले तक बरमें से छिद्र करो, उसमें पहिले पारा डालो फिर फिटकरी और फिर पारा, इसी प्रकार उसे भरो और चारों ओर से उसे खोद कर पत्तों सहित जलालो, तो उसमें से चांदी की डली निकल आवेगी। यदि हम से होगया तो हम तुम्हें सूचना देंगे और तुम से होजाय तो तुम हमें सूचना देना, परन्तु हम समझते हैं इसमें प्रयत्न करना निष्फल होगा।

फिर वह हरद्वार को चले गये और वहां फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९२३ अर्थात् १२ मार्च सन् १८६६ को पहुंच गये।

हरद्वार में कुम्भप्रचार के अवसर पर ऋषि दयानन्द सरस्वती
का पाखण्ड खण्डिनी पताका गाड़ कर पाखण्ड
खण्डन का आन्दोलन

पञ्चम अध्याय

संवत् १९२४ वि०—सन् १८६७ ई०

हरद्वार पहुँच कर स्वामीजी सप्तसरोवर पर ठहरे जो हृषीकेश और हरद्वार के बीच में हरद्वार से तीन कोस पर है। वहाँ बाड़ा बाँधकर और ८–१० छप्पर डालकर उन्होंने डेरा किया और एक पताका गाड़दी, जिस पर 'पाखण्ड-खण्डन' शब्द लिखे हुए थे। उस समय १५-१६ संन्यासी और ब्राह्मण उनके साथ थे, उनके वस्त्र गेरुआ थे, गले में रुद्राक्ष की माला थी जिस में एक स्फटिक का मनका पड़ा हुआ था।

खण्डन-पताका

स्वामीजी ने प्रति दिन उपदेश देना आरंभ किया जिस में उन्हों ने मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, भागवत, तीर्थ, तिलक, छाप, कंठी, चक्रांकण आदि का प्रबल खण्डन किया, जिस की चर्चा सारे मेले में फैल गई और सैंकड़ों मनुष्य इस अद्भुत संन्यासी को, जो हिन्दू (पौराणिक) धर्म्म के आधारभूत पुराणों और मूर्त्तिपूजा का खण्डन करता था, देखने के लिये आने लगे और उनके डेरे पर हर समय मेला सा लगा रहने लगा। दर्शकों में सभी प्रकार के लोग होते थे। कोई आते और उनके विचित्र उपदेश को सुनकर चकित रह जाते और चुपचाप चले जाते। किन्हीं के मन में उनका उपदेश घर कर जाता, ज्ञान चक्षु खुल जाते, भ्रम दूर होजाते और उन के अनुयायी बन जाते। प्रचलित धर्म्म के ठेकेदार भी आते, स्वामीजी की युक्तियों का उत्तर न दे सकते तो खिज कर उन्हें नास्तिक आदि कुवाक्य कह कर अपनी राह लेते। कुछ संस्कृतज्ञ लोग भी शास्त्रचर्चा करने आते, परन्तु उत्तर न दे सकने पर मौन होकर चले जाते। इस प्रकार महाराज का उपदेशप्रवाह बहता रहा। काशी के प्रसिद्ध पण्डित स्वामी विशुद्धानन्द भी मेले में उपस्थित थे। उन्हों ने यजुर्वेद अध्याय ३१ के ११ वें मन्त्र—

अद्भुत संन्यासी

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत ॥

का यह अर्थ किया था कि ब्राह्मण परमेश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य उरु से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। स्वामीजी ने उसका खण्डन किया और कहा कि यदि इस का यही अर्थ है तो मुख से तो खखार भी उत्पन्न होता है। इस का शुद्ध अर्थ कर के उन्होंने बतलाया कि ब्राह्मण समाज में मुख के, क्षत्रिय भुजाओं के, वैश्य उरु के और शूद्र पैरों के समान हैं।

इस घटना से स्पष्ट है कि स्वामीजी उस समय भी वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार ही मानते थे, जन्मगत नहीं मानते थे।

स्वामीजी ने एक पुस्तक भागवत के खण्डन में लिखी थी। उसकी सहस्रों प्रति वह छपवाकर अपने साथ लाये थे और वह मेले में बँटवाई गई थीं।

बहुत से श्रद्धालु जन फल, मेवा, मिष्टान्न, पकवान महाराज के लिये लाते थे। सायङ्काल तक वह अच्छी मात्रा में इकट्ठे होजाते थे। महाराज वह सब पदार्थ दीन-दरिद्रों को बाँट देते थे, अपने लिये कुछ भी न रखते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवसर पर स्वामीजी का किसी प्रसिद्ध पण्डित से शास्त्रार्थ नहीं हुआ था, परन्तु ऐसी किंवदन्ती है कि कुछ प्रसिद्ध पण्डित और धर्म्माचार्य प्रच्छन्न रूप से स्वामीजी का उपदेश सुनने आया करते थे और कुछ अपने विद्यार्थियों को भेज दिया करते थे और वह महाराज से मतामत पूछकर चले जाया करते थे।

एक दिन गोसाइयों और स्वामी विशुद्धानन्द में कुछ झगड़ा होगया। गोसाइयों ने उन पर न्यायालय में अभियोग कर दिया। गोसाई लोग समझते थे कि स्वामीजी विशुद्धानन्द के विरुद्ध हैं, अतः उन्होंने स्वामीजी से सहायता माँगी। परन्तु महाराज ने स्पष्ट कह दिया कि हम न तुम्हारे पक्षपाती हैं और न स्वामी विशुद्धानन्द के; हम तो सत्य के पक्षपाती हैं और जो वेद में लिखा है उसके अनुयायी हैं।

एक दिन निर्मला साधु सन्तसिंह ने महाराजा से चित्सुखी की एक पंक्ति के अर्थ पूछे। उन्होंने अर्थ तो कर दिये, परन्तु यह कह दिया कि यह अनार्ष ग्रन्थ है, हम इस को प्रमाण नहीं मानते हैं।

स्वामी महानन्द दादूपंथी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने वेदों के प्रथम बार दर्शन स्वामीजी के पास ही किये थे। वह महाराज के उपदेश से इतने प्रभावित हुए कि वैदिक धर्म के अनुयायी और प्रचारक बन गये। देहरादून के आर्यमन्दिर में महानन्द पुस्तकालय उन्हीं के नाम पर स्थापित है।

सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा

महाराज ने कुम्भ पर देखा कि जनता अन्धकार में फँसी हुई है। संस्कृत के विद्वान् स्वार्थान्ध होकर लोगों को धर्म्म के नाम पर लूट रहे हैं। जिन लोगों का कार्य्य गृहस्थों को धर्म्मोपदेश करना था वह स्वयं ही उन्हें असत्य सिद्धान्तों की कीचड़ में फँसाकर धर्म्म-विमुख बनारहे हैं। साधु-समाज की भी वैसी ही हीन दशा है। वह अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त है। नाम को तो साधु हैं, परन्तु गृहस्थों से गये बीते हैं। कौन सा दुर्व्यसन है जो गृहस्थों में है और उनमें नहीं है? अन्यों में शान्तिस्थापन तो दूर रहा, साधु-संन्यासी स्वयं ही आपस में अनेक प्रकार के कलह-विवाद उठाकर अशान्त हो रहे हैं। धर्म्म केवल आडम्बर का नाम

रह गया है। ऐसी दशा में स्वामीजी के मनमें देश-हित और समाज-कल्याण की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि इस प्रकार अन्य साधुओं की भांति रहने-सहने से काम नहीं चलेगा। उन्हें संसार की मोह-वासना से सर्वथा ऊँचा उठना चाहिये। जो ज्ञान उन्हें गुरु विरजानन्द की कृपा और वेदादि सत्य शास्त्रों के अवगाहन और अनुशीलन से प्राप्त हुआ है उसका निर्भय होकर प्रचार करना चाहिये। जो सामग्री,—वस्त्र, पुस्तक, धन आदि उनके पास थी वह भी उनके मार्ग में बाधाजनक प्रतीत होने लगी। इन विचारों का उनके मन में स्फुरण हो ही रहा था कि एक दिन व्याख्यान देते-देते वह एक बार ही गद्गद होगये और 'सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा' कह कर उठ खड़े हुए और उठते के साथ ही जो कुछ संवल उनके पास था उसे लोगों को बाँटने लगे। स्वा० कैलासपर्वत ने उनसे कहा भी कि आप ऐसा क्यों करते हैं? तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि हम सब कुछ स्पष्ट २ कहना चाहते हैं और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक हम अपनी आवश्यकताओं को कम न करें। केवल एक लंगोट रखकर शेष सब सामग्री को जिस के योग्य देखी उसे देदी और यह प्रण करके, कि जब तक हमारी इष्टसिद्धि न होगी गङ्गा तट पर विचरण और संस्कृत भाषण करेंगें, उठ खड़े हुए। यह मेला-समाप्ति के १०-१२ दिन पीछे की बात है।

स्वामीजी ने हरद्वार से एक पत्र ठाकुर रणजीतसिंह अचरौल वाले को भेजा था। उस पर ठाकुर साहब ने जोशी रूपराम को हरद्वार इस अभिप्राय से भेजा कि स्वामीजी को अपने साथ जयपुर लिवा लावें और दो अशरफ़ी स्वामीजी की भेंट के लिये भेजीं। परन्तु जब जोशीजी हरद्वार पहुँचे तो उन्हों ने देखा कि स्वामीजी सब कुछ लोगों को बाँट रहे हैं। स्वामीजी ने उन्हें भी १०) और दुर्गापाठ की पुस्तक और एक माला देनी चाही। पुस्तक और माला तो उन्हों ने लेली, परन्तु रुपये नहीं लिये। स्वामीजी ने पं० दयाराम के हाथ महाभाष्य का पुस्तक, ३५) और एक मलमल का थान दण्डी विरजानन्द की सेवा में भेज दिया।

दयानन्द मौनी

स्वामीजी ने वस्त्रों का भी त्याग कर दिया और मौन व्रत धारण कर लिया। परन्तु यह व्रत उन का चला नहीं, क्योंकि एक मनुष्य ने एक दिन उन की कुटी के द्वार पर आकर यह वाक्य पढ़ा कि 'भागवतं निगमतरोर्गलितं फलम्' इसे स्वामीजी सहन न कर सके और तुरन्त उसका खण्डन करने लगे। हरद्वार से वह ५-६ दिन के लिये हृषीकेश गये, वहाँ से हरिद्वार लौट आये और गङ्गा तट पर विचरण करने के लिये चल खड़े हुए।

गंगातट-विचरण

कनखल होते हुए लँढौरा, ज़ि० सहारनपुर पहुँचे। यहाँ उन्हें तीन दिन तक निराहार रहना पड़ा। एक खेत वाले को संकेत किया। उसने उन्हें तीन बैंगन दिये। उन्हीं को खाकर क्षुधानिवृत्ति की। शुक्रताल होते हुए मीराँपुर ज़िला मुज़फ़्फ़रनगर पहुँचे। यहाँ किसी पण्डित से दो दिन तक शास्त्रार्थ किया। एक दिन मुहम्मदपुर ज़िला बिजनौर में एक पीपल के वृक्ष के नीचे बसेरा किया। फिर परीक्षितगढ़ ज़िला मेरठ होते हुए गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। वहाँ कई दिन रहे। वहाँ भी तीन दिन तक निरन्न रहे, तब एक माँझी ने अपनी रोटी में से आधी रोटी तोड़ कर उन्हें दी और वह उसी को खाकर

माँझी की आधी रोटी

रह गये। स्वामीजी का यह नियम था कि किसी से कुछ माँगते न थे, जो कोई उन्हें कुछ दे देता था उसी को खाकर रह जाते थे। गढ़मुक्तेश्वर में वह गङ्गा की रेती में पड़े रहते थे। इसी प्रकार गङ्गातटवर्त्ती स्थानों में विचरते हुए स्वामीजी कर्णवास पधारे। कर्णवास गङ्गा के दक्षिणतट पर अनूपशहर से १२ मील की दूरी पर क्षत्रियों की बस्ती है। यहाँ वह एक ही दिन रहे। दो विद्यार्थियों ने देखा कि एक विशालकाय परमहंस जिन के मुखमण्डल पर एक अनूठी ज्योति विराजमान थी गङ्गापुलिन पर आसन लगाये बैठे हैं। दोनों विद्यार्थी उन की ओर आकृष्ट हुए और उनके समीप जाकर प्रेम-पूर्वक गङ्गा-रज उनके शरीर से लगाने लगे। परमहंस के पूछने पर कि क्या पढ़ते हो, उन्हों ने कहा कि भागवत और कौमुदी पढ़ते हैं। परमहंस ने उन्हें मनुस्मृति पढ़ने और उसके अनुसार चलने तथा अष्टाध्यायी पढ़ने का आदेश किया।

कर्णवास

एक दिन रह कर परमहंस आगे को चल दिये। ज्येष्ठ संवत् १९२४ में फर्रुखाबाद पहुँच कर ला० जगन्नाथ रईस के स्थान पर ठहरे।

इस समय फर्रुखाबाद में उनकी कोई विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई। जो पुरुष दर्शनों को गये उनके प्रश्नों का उत्तर देने के अतिरिक्त उन्होंने कोई उपदेशादि नहीं दिये। एक सज्जन ने उन से पूछा कि गङ्गा और सूर्य कैसे पदार्थ हैं ? तो उन्होंने कहा जड़ पदार्थ हैं।

फर्रुखाबाद

ला० मन्नीलाल और जगन्नाथ उनके दर्शनों को गये। उस समय वह समाधिस्थ थे। यह लोग जाकर चुप-चाप बैठ गये। जब उनकी समाधि भङ्ग हुई तो इन्होंने पूछा कि गायत्री-जाप का क्या फल है ? तो उन्होंने कहा कि इस से बुद्धि शुद्ध होती है और सन्ध्या में सब द्विजों को गायत्री का जप करना चाहिये।

फर्रुखाबाद स्वामीजी केवल तीन दिन ठहरे। वहाँ से वह विचरते हुए अनूपशहर आये।

अनूपशहर में स्वामीजी आठ दिन ला० गौरीशङ्कर कायस्थ की बाँसों की टाल पर रहे। उन दिनों वह कुछ रुग्ण थे। तुलसीदल और कालीमिर्च घुटवाकर और मूँग की दाल में सोंठ डालकर पकवा कर पीं, और स्वस्थ हो गये। उस समय अनूपशहर में राजा बूँदी के गुरु रामदास वैरागी रहा करते थे। वह मूर्त्ति-पूजक नहीं थे अतः उन से स्वामीजी की प्रीति होगई थी। उन्हीं दिनों अनूपशहर में एक दक्षिणी स्वामी, सूरजपुरी और मौज बाबा परमहंस भी रहते थे। रामदास ने दक्षिणी स्वामी से कहा कि यहाँ दयानन्द आये हैं। वह यद्यपि हमारे तुम्हारे मत की बात कहते हैं, परन्तु गृहस्थों के प्रतिकूल हैं। दक्षिणी स्वामी ने सूरजपुरी को भेज कर कई प्रश्न पुछवाये। स्वामीजी ने सब के युक्तियुक्त उत्तर दिये। परन्तु दक्षिणी स्वामी की समझ में न आये, उन्होंने बार बार वही प्रश्न किये। तब स्वामीजी ने उन्हें कहला भेजा कि तुम्हारी बुद्धि मोटी है, तुम्हारी समझ में हमारी बात नहीं आसकती। यदि चीनी को रेत में मिला दिया जाय तो हाथी चीनी के कणों को नहीं निकाल सकेगा, परन्तु चिउंटी निकाल लेगी। स्वामीजी बाँसों की टाल से उठ कर नगर के समीप दूसरी ओर जाने लगे,

अनूपशहर

तो बाबा रामदास ने कहा कि नगर में भागवत की कथा हो रही है और तुम भागवत का खण्डन करते हो, कोई रोटी को भी न पूछेगा। स्वामीजी ने कहा हमें इस की कोई परवाह नहीं, हमारा प्रारब्ध हमारे साथ है। यह कह कर स्वामीजी नर्म-

नवलजंग पहलवान

देश्वर के पास सती की मढ़ी में आ विराजे। मढ़ी से अनतिदूर नवलजंग पहलवान का अखाड़ा था। वह सदाचारी, सुशील, बलवान् था। उस की एक ब्रह्मचारिणी बहिन भी थी। दोनों भाई-बहिन तैरने में ऐसे निपुण थे कि बरसात की चढ़ी गङ्गा को तैर कर पार कर जाया करते थे। श्रीचरणों में नवलजंग की अगाध प्रीति हो गई थी। वह गङ्गा-रज लाकर और चन्दन की भाँति रगड़ कर बड़े प्रेम से उनके शरीर पर लगाया करता था। उसने महाराज के लिये फूँस डाल कर एक चटाई डाल दी थी और रात्रि में उनके ऊपर कम्बल डाल दिया करता था।

वामी गुंडे

एक दिन कुछ वामी मदिरा पिये ऊल-जलूल बकते स्वामीजी के आसन के पास आये और बकने लगे कि अरे दयानन्द बाहर निकल, तुझे वारुणी पिलाकर शुद्ध करें। जब महाराज ने देखा कि यह लातों के भूत हैं बातों से नहीं मानेंगे तो उन्होंने नवलजङ्ग को पुकारा। वह स्वामीजी का शब्द सुनते ही दौड़ा आया। स्वामीजी ने उस से कहा कि यह वामी कुछ उपद्रव किया चाहते हैं, तनिक इन का नशा उतार दो। वह उनकी ओर ऐसा झपटा जैसा श्येन कपोत पर झपटता है। उसे आता हुआ देख कर उनका सब नशा हिरन होगया।

बुद्धा से बुद्धिसागर

एक सुपठित ब्राह्मण बुद्धा नामी ने भी स्वामीजी से शास्त्र-चर्चा की। कुछ देर तक तो वह धाराप्रवाह संस्कृत बोलता रहा, परन्तु फिर पीछे रह गया और अन्त को उसने स्वामीजी के कथन की सत्यता स्वीकार करली उस दिन से वह उन का प्रीतिभाजन बन गया था और स्वामीजी उसे बुद्धा के बदले बुद्धिसागर कहने लगे थे।

तत्कालीन उपदेश

अनूपशहर से महाराज गढ़मुक्तेश्वर की ओर गये और वहां से लौट कर फिर सती की मढ़ी में आ ठहरे। उस समय उनका रेत का बिस्तर और ईंटों का तकिया रहता था। उन के पास केवल एक कौपीन था। अनेक लोग उन्हें वस्त्र देना चाहते थे, परन्तु वह ग्रहण नहीं करते थे। वह अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। उस समय वह विशेष खण्डन मण्डन नहीं करते थे। उनका विशेष आग्रह ब्राह्मणों के उठाने पर था। अतः वह ब्राह्मणों को सन्ध्या, गायत्री, अग्निहोत्र करने को शिक्षा देते थे और मथुरा जाकर दण्डीजी की पाठशाला में व्याकरण पढ़ने का अनुरोध करते थे। वह किसी को रात्रि में अपने पास नहीं ठहरने देते थे। किसी से कुछ इच्छा नहीं करते थे, जो कोई अपनी इच्छा से उन की सेवा में भोज्य सामग्री ले आता था उसे ही प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेते थे और यदि कुछ बच रहती थी तो भिक्षुक आदि को देदेते थे। बहुत सवेरे उठकर शौच, स्नान, ईश्वराराधना से निवृत्त होकर बैठ जाते थे और आगन्तुकों से बात चीत करते रहते थे।

एक दिन एक मनुष्य ने आकर स्वामीजी से प्रश्न किया कि मेरा एक मित्र घर से कहीं चला गया है उसका पता नहीं मिलता, तो स्वामीजी ने हाथ से इशारा किया। जो

पण्डित वहाँ बैठे थे उन्हों ने ब ताया कि कहते हैं कि रामेश्वर की ओर गया है। यदि कोई वेदानुकूल कोई बात कहता था तो उसे स्वीकार कर लेते थे और पुराणादि की वेद विरुद्ध बातों को सुनकर कह दिया करते थे 'गप्पाष्टकम्, मनुष्याणां कोलाहलः'।

एक दिन एक पण्डित स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आया। वह अपना वक्तव्य एक कागज पर लिख लाया और उन्हें सुनाने लगा। स्वामीजी ने कहा कि क्या अपने पुत्र का लग्न पत्र लाये हो। यह सुनकर वह इतना घबराया कि फिर एक शब्द भी उसके मुंह से न निकला।

चासी,—नन्दराम चक्राङ्कित

अनूपशहर से स्वामीजी चासी ज़िला बुलन्दशहर के जंगल में जा विराजे। चासी जाने का विशेष कारण था। कर्णवास में उन्हों ने पूर्वोक्त विद्यार्थियों से सुना था कि चासी में नन्दराम नामक ब्राह्मण चक्राङ्कित है और वह अन्य लोगों को भी चक्राङ्कित सम्प्रदाय में सम्मिलित होने की प्रेरणा करता है। उसने खन्दोई ग्राम परगना अहार के कुछ जाटों को उक्त सम्प्रदाय में प्रवेश करने के लिये पक्का भी कर लिया था। चक्राङ्कित मत के स्वामीजी पहले से ही विरुद्ध थे और यथावसर उसका खण्डन करते रहते थे। अतः उन्हों ने उन लोगों को चक्राङ्कित बनने से रोकना अपना कर्त्तव्य समझा। जब वह चासी पहुँचे और लोगों को उनके आगमन का समाचार विदित हुआ तो बीस-पच्चीस ब्राह्मण और कुछ जाट नन्दराम को साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में इस अभिप्राय से पहुँचे कि स्वामीजी के सामने वह अपने मत का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करें। परन्तु अभी एक बात भी न होने पाई थी कि नन्दराम चुपके से खिसक कर गङ्गा की परली बड़ी धार पर भाग गया। स्वामीजी वरली छोटी धार पर थे। उसे बहुतेरा बुलाया पर वह न आया और अहार चला गया इसी से उसकी सब पोल खुलगई और कोई भी चक्राङ्कित न हुआ।

थारपुर, रामघाट, दयानन्द का प्रथम शिष्य टीकाराम

चासी से स्वामीजी थारपुर गये और वहाँ कुछ दिन निवास करके रामघाट चले गये। वहाँ वह एक पर्णकुटी में ठहरे। पं० टीकाराम, एक सुविज्ञ ब्राह्मण, जो कर्णवास के रहने वाले थे, उन दिनों रामघाट में रहते थे। एक जन केशवदेव ब्रह्मचारी भी वहाँ रहता था। उसने पं० टीकाराम से स्वामीजी की विद्या की बड़ी प्रशंसा की। अतः वह आषाढ़ शु० ५ सं० १९२४ को वनखण्डी महादेव पर ब्रह्मचारी को साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में पहुंचे। उन्होंने पं० टीकाराम से पूछा, तो पं० जी ने कहा कि गायत्री कण्ठस्थ है। स्वामीजी ने उसे सुनाने को कहा तो पं० जी बोले, कि गुरुजी ने गायत्री सुनाने से निषेध कर दिया है। परन्तु स्वामीजी ने कहा कि संन्यासी ब्राह्मणों का गुरु होता है, अतः हमारे सामने सुनाने में कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी केशवदेव ने भी स्वामीजी का समर्थन किया तो पं० जी ने गायत्री मंत्र सुनाया। स्वामीजी उनके शुद्ध उच्चारण पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सन्ध्या का पाठ उन्हें स्वयं लिख कर दिया, फिर तो पं० जी का स्वामीजी से प्रतिदिन धर्मालाप होने लगा जिसका फल यह हुआ कि पं० जी के सारे संशयों का समूल उच्छेद हो गया, उनका समस्त भ्रमजाल कट गया। मूर्त्तिपूजा पर से विश्वास उठ गया और वह पूर्णरूप से स्वामीजी के

अनुगामी हो गये। उन्होंने अपनी देवमूर्त्तियाँ गङ्गा में फेंक दीं। पं० टीकाराम के हाथ विद्या और धर्म का अपरिमित कोष आ गया। उन्होंने इस कोष को एक कृपण के समान छिपा कर नहीं रक्खा। वह खुशी २ कर्णवास दौड़े गये और अपने यजमान ठा० गोपालसिंह आदि से स्वामीजी की अगाध विद्या की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि स्वामीजी मूर्त्तिपूजा, अवतार, तीर्थ, कण्ठी, माला, तिलक, छाप, भागवत आदि का खण्डन करते हैं, केवल एक निराकार परमेश्वर की उपासना का उपदेश करते हैं, सन्ध्या, गायत्री, बलिवैश्वदेव हवन पर बल देते हैं, मैंने भी उनके उपदेश से मूर्त्तिपूजा छोड़ दी है, अब मैं आप के मन्दिर में पुजारी का कार्य नहीं करूँगा। क्षत्रिय लोग इस अद्भुत संन्यासी की अश्रुत-पूर्व बातें सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए और उनके मन में उसके दर्शनों की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उन्होंने पं० टीकाराम को उसे कर्णवास लिवालाने के लिये रामघाट भेजा। इधर तो पं० जी रामघाट गये और उधर स्वामीजी कर्णवास आकर गङ्गा के पक्के घाट पर एक मढ़ी के आगे जो नागा बाबा की मढ़ी के नाम से प्रसिद्ध थी, बसेंदू के वृक्ष के नीचे आसन लगा कर विराजमान हो गये। पं० भगवानदास भागवती पण्डित ने भोजन से उनका सत्कार किया। अगले दिन पं० टीकाराम ने रामघाट से लौट कर सब लोगों से स्वामीजी के कर्णवास पधारने का समाचार कहा। क्षत्रियवर्ग तथा अन्य लोग स्वामीजी के दर्शनों को आये और उनकी भव्य मूर्त्ति के दर्शन और उनके दिव्य उपदेशों को श्रवण करके परम तृप्त और सन्तुष्ट हुए। पहले ही मिलन में महाराज के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा का बीज वपित हो गया, जो शीघ्र अङ्कुरित होकर दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। महाराज की ख्याति-चन्द्रिका दिन प्रतिदिन आस-पास के ग्रामों में फैलने लगी। एक दिन महाराज ने साधारण रूप से पं० भगवानदास से कण्ठी, तिलक आदि धारण करने का निषेध किया, उस समय तो उन्होंने कुछ न कहा, परन्तु मन में स्वामीजी से बहुत खिज गये, यहाँ तक कि उन्होंने स्वामीजी का भोजन से सत्कार करना भी बन्द कर दिया।

कर्णवास

महाराज को कर्णवास में निवास करते हुए अषाढ़ से आश्विन आ गया। लोगों में उनके प्रति श्रद्धा के भाव बढ़े, किन्तु भगवानदास आदि इसे देख कर कुढ़ने लगे। आश्विन में अनेक लोग कर्णवास में गङ्गास्नान करने आते हैं। उन्होंने महाराज के दर्शन और उपदेश श्रवण किये तो उन्हें बड़ा अचंभा हुआ, क्योंकि अभी तक किसी ने ऐसा संन्यासी न देखा था जो मूर्त्ति-पूजा आदि का खण्डन करता हो। इन लोगों ने अपने २ निवास स्थानों पर वापस जाकर स्वामीजी की चर्चा की। फिर तो यह दशा हुई कि लोग चारों ओर के समीपवर्त्ती स्थानों से कर्णवास आने लगे और महाराज के स्थल पर हर समय भीड़ रहने लगी। भगवानदास आदि को महाराज की बढ़ती हुई लोकप्रियता असह्य हो गई। उन्होंने सोचा कि उनके मार्ग से दयानन्दरूपी कंटक तभी दूर हो सकता है जब उसे शास्त्रार्थ में परास्त किया जावे।

उपदेश का प्रभाव

अतः वह अनूप शहर निवासी पं० अम्बादत्त पर्वती को जो संस्कृत में बहुत व्युत्पन्न समझे जाते थे स्वामाजी से शास्त्रार्थ करने के लिये बुला लाये। पं० अम्बादत्त से शास्त्रार्थ हुआ। परिणाम यह निकला

प्रथम शास्त्रार्थ

कि पण्डितजी परास्त हुए ❀ और उन्होंने एक सत्यप्रिय मनुष्य की भाँति भरी सभा में मुक्त-कंठ से कहा कि जो कुछ स्वामीजी कहते हैं वह सत्य है, मूर्त्तिपूजा अवैदिक और त्याज्य है† ।

इतना सुनते ही महाराज के अनुयायियों के हृदय-कमल विकसित होगये और पौराणिक वृन्द की आशाओं पर ओस पड़ गई। पं० अम्बादत्त जो पौराणिक धर्म के स्तंभ समझे जाते थे रेत की दीवार निकले। पौराणिक दल पर नैराश्य की घटा छागई। उन्होंने परामर्श किया कि दयानन्द का मुख यदि कोई बन्द कर सकता है तो पं० हीरावल्लभ कर सकते हैं, क्योंकि वह वेदज्ञ और पूर्ण वैयाकरणी हैं। अतः उनको बुलाकर दयानन्द से शास्त्रार्थ कराना चाहिये।

पं० अम्बादत्त के पराजय से स्वामीजी की ख्याति को चार चाँद लग गये और शतशः लोग उनकी ओर आकृष्ट होगये। क्षत्रिय तो बहुत बड़ी संख्या में उनके अनुगत होगये और बीसियों ने यज्ञोपवीत धारण करके उनकी उपदिष्ट पद्धति के अनुसार नित्यकर्म करने आरम्भ कर दिये।

कर्णवास से स्वामीजी अहार गये और वहाँ दो दिन हीरावल्लभ की कुटी में ठहरे। १५ दिसम्बर सन् १८८९ को वह स्थान पं० लेखराम ने देखा था। उस समय कुटी गिर

अहार

चुकी थी केवल एक टीला सा शेष रह गया था। अहार से स्वामी जी चासी पधारे।

वहाँ वह एक कुटिया में ठहरे। स्वामीजी जहाँ जाते थे वहाँ ही उनके पास मेला सा

चासी

लग जाता था। और यह समय तो कार्त्तिक-स्नान का था। उन दिनों वहाँ यात्रियों का बहुत ही समागम था। सहस्रों मनुष्य गङ्गास्नान कर पुण्य कमाने आये हुए थे। स्वामीजी के स्थल पर हर समय दर्शकों और जिज्ञासुओं की भीड़ रहती थी। और वह सबको निर्भयता पूर्वक धर्मोपदेश देते और मूर्त्तिपूजा, तीर्थस्नान आदि का खण्डन करते थे। पास ही एक वैरागी का स्थल था। उसे महाराज के उपदेश बहुत खलते थे। वह चाहता था कि किसी प्रकार स्वामीजी वहाँ से अन्यत्र चले जायँ, परन्तु भय के कारण उनसे कुछ कह न सकता था। उस समय स्वामीजी का यह नियम था कि जो कोई सब से पहले उनके लिए जैसा भी भोजन ले

❀ कहते हैं कि शास्त्रार्थ के समय पं० अम्बादत्त का श्वास फूल गया था और वह हांपने लगे थे। वह वृद्ध थे और संस्कृत बोलने का अभ्यास न था। स्वामीजी ने उनकी यह दशा देख कर उन से कहा कि मुझे संस्कृत बोलने का अभ्यास है, आपको नहीं है, आप चुप हो जाइये, मैंने जान लिया कि अनूपशहर में आपके समान पण्डित नहीं है।

† दयानन्दप्रकाश में लिखा है कि यह शास्त्रार्थ अनूपशहर में हुआ था, हमारी धारणा यह है कि कर्णवास में ही हुआ था। दयानन्दप्रकाश में कर्णवास में भी दूसरे शास्त्रार्थ का अम्बादत्त से होना लिखा है। परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। यदि अनूपशहर में शास्त्रार्थ हुआ था और उसमें अम्बादत्त की यह दशा हो गई थी कि वह घबराकर हांपने लगे थे तो क्या फिर उनका यह साहस होता कि वह दुबारा शास्त्रार्थ करने कर्णवास चले आते ?

आता था, उसे ही प्रसन्नता पूर्वक पा लेते थे। बैरागी ने यह बात जान ली और उसने यह धूर्तता करनी आरम्भ कर दी कि सबसे पहले दो चार जले भुने टिक्कड़ स्वामीजी को दे देता। वह उन्हें ही पा लेते और उससे कुछ न कहते। जब कई दिन तक उसने ऐसा किया तो उन्होंने समझ लिया कि बैरागी हमारे यहाँ रहने से अप्रसन्न है और वह उस कुटिया को छोड़कर दूसरे स्थान पर जा ठहरे।

जहाँगीराबाद जि० बुलन्दशहर निवासी ओङ्कारदास बोहरा एक समृद्ध पुरुष था।

दयानन्द की बल परीक्षा

वह व्यायामशील और दंडपेल जवान था। वह भी गङ्गास्नानार्थ वासी आया था। स्वामीजी के उपदेश सुनकर वह उनका भक्त बन गया और इसलिये कि उनकी सत्संगति से अधिक से अधिक लाभ उठाने का अवसर मिले उसने अपना डेरा दूसरी जगह से उठाकर उनके समीप ही गाड़ लिया। एक दिन उसके जी में स्वामीजी के शारीरिक बल की परीक्षा करने की आई तो वह उनसे प्रार्थी हुआ कि मुझे श्री चरणों के दबाने की आज्ञा दी जाय। स्वामीजी ने कहा कि हमारे चरण तो दबे दबाये हैं, परन्तु वह न माना और चरण दबाने ही लगा। उसे यह प्रतीत हुआ कि उनके पैर लोहे की लाट हैं, पूरा बल लगाने पर भी उनमें उँगलियाँ नहीं धसीं, अन्त में वह पसीना पसीना होगया और थक कर बैठ रहा।

पं० गङ्गाप्रसाद महाराज के एक भक्त और थे। वह स्वामीजी के उपदेश से लोगों को यज्ञोपवीत धारण करने की प्रेरणा करते थे और गायत्री जपने को कहते थे। एक दिन

यज्ञोपवीत उतारा भी जाता है

उन्होंने महाराज से कहा कि मैंने बहुत से पुरुषों को यज्ञोपवीत धारण कराया है। महाराज इसे सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, परन्तु उन्होंने कहा कि यज्ञोपवीत देते ही जाते हो, किसीका उतारते भी हो। यह सुनकर पंडितजी कुछ विस्मयान्वित हुए और बोले कि क्या यज्ञोपवीत उतारा भी जा सकता है। महाराज ने कहा कि यदि कोई अधर्म करे तो उसका यज्ञोपवीत उतार लेना चाहिये।

पं० गङ्गाप्रसाद के गुरु भी स्वामीजी के पास आया करते थे। एकदिन उन्होंने अपने वस्त्र उतार कर कुटिया पर रक्खे और गङ्गा-स्नान को जाने लगे। महाराज ने देखा कि उनकी भुजा पर अनन्त बंधा हुआ है। महाराज तुरन्त उनके पास गये और उनसे पूछा कि यह क्या है? उन्होंने कहा कि अनन्त है। महाराज ने उसे उँगलियों से नाप कर कहा कि यह तो इतने अँगुल है। यह अनन्त कैसा? इस पर उन्होंने तत्काल उसे उतार कर फेंक दिया।

खंदोई ग्राम का छत्रसिंह जाट नवीन वेदान्ती था। स्वामीजी नवीन वेदान्त का प्रबल प्रतिवाद करते थे। एक दिन वह महाराज से नवीन वेदान्त पर वार्तालाप करने लगा। जब वह उनकी युक्तियों का उत्तर न दे सका तो उसने कहा कि महाराज आप चाहे जो कहें, परन्तु सत्य तो यही है कि जगत् मिथ्या है। महाराज ने इसका कोई उत्तर न

चपत द्वारा नवीन वेदान्त खण्डन

दिया, परन्तु आगे बढ़ कर उसके कपोल पर एक चपत लगा दिया। इस पर उसे रोष आया और वह कहने लगा कि महाराज आप जैसे ज्ञानी पुरुष को केवल मतभेद से चिढ़ कर चपत लगाना नहीं चाहिये था। महाराज ने कहा कि चौधरीजी जब जगत् मिथ्या है

और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं तो वह कौन है जिसने आपके चपत लगाया ? छत्रसिंह जो युक्ति से न माना था चपत खाकर सीधा हो गया। उस की ज्ञान-चक्षु खुल गई और उसने स्वामीजी के चरण पकड़ कर कहा कि महाराज आपने मेरी आँखें खोल दीं। वेदान्त-वाद अनुभव-विरुद्ध बौड़ाहे मनुष्यकी बड़बड़ाहट है !

धुनिये को उपदेश

एक धुनिया नित्य श्रीसेवा में उपस्थित हुआ करता था और बड़े चाव और श्रद्धा से महाराज के उपदेश सुना करता था। बेचारा था अनपढ़। उसने एक दिन अत्यन्त विनम्र भाव से निवेदन किया कि महाराज कोई विधि ऐसी भी है जिससे मुझ जैसे अज्ञानी जीव का कल्याण हो। महाराज ने परम दयालुता से उसे 'ओ३म्' का जप करने का आदेश किया और कहा कि व्यवहार में सच्चे रहो, जितनी रुई कोई तुम्हें धुनने को दे उसे उतनी ही रुई धुन कर लौटा दो, इसी से तुम्हारा कल्याण हो जायगा।

चाँदोख जि० बुलन्दशहर के निवासी ठाकुर महावीरसिंह श्रीदर्शनों को जाया करते थे और महाराज से धर्म विषय पर बात चीत किया करते थे। धर्म के लक्षण पूछने पर महाराज ने उन्हें मनुस्मृति के अनुसार दस लक्षण बतलाये थे और अधर्म के विषय में कहा था कि भारत के दण्डविधान की धाराओं को पढ़ने से तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि अधर्म्म क्या है। स्वामीजी उस समय वेदादि ग्रन्थों को मानते थे। उन्होंने ठाकुरजी को विष्णुसहस्रनाम और भगवद्गीता का पाठ करने को कहा था। उस समय स्वामीजी जीव ब्रह्म का पृथकत्व मानते थे। पुराणों की जगह ब्राह्मण ग्रन्थ पढ़ने को कहते थे। यह भी उपदेश करते थे कि वेद जानने वाले को ब्राह्मण और सत्योपदेष्टा को गुरु मानो।

चासी में जीवित पितरों का श्राद्ध

चासी में स्वामीजी ने शफ़ीपुर के मयाराम जाट से कहा था कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध किया करो और इसकी पद्धति बनाकर वह पं० ज्वाला-प्रसाद को देगये थे। पं० ज्वालाप्रसाद से पं० लेखराम मिले थे। आश्चर्य है कि पं० लेखराम ने पं० ज्वालाप्रसाद से इसके विषय में कुछ नहीं पूछा। यह बात बड़ी आवश्यक थी क्योंकि अनेक लोग यह कहते हैं कि स्वामीजी पहिले मृतक पितरों के श्राद्ध को मानते थे। यदि यह पद्धति उपस्थित होती तो इस लाञ्छन के निराकरण में एक अकाट्य प्रमाण सिद्ध हो जाती। स्वामी जी को एक मनुष्य ने अपना हाथ दिखलाया, स्वामीजी ने उसे देखकर कहा इसमें चर्म, अस्थि और रुधिर है और कुछ नहीं है। किसी ने जन्मपत्र का प्रसङ्ग उठाया तो स्वामीजी ने कहा—'जन्मपत्रं किमर्थम् कर्म्मपत्रं श्रेष्ठम्'। यदि कर्म्म की विधि मिल जावे तो मानो, नहीं तो गप्पाष्टक जानो।

कोई २ कहते हैं कि स्वामीजी चासी में कार्त्तिक से फाल्गुन वा चैत्र तक रहे। परन्तु हमें यह ठीक प्रतीत नहीं होता। वह चासी से रामघाट गये और वहाँ से बेलौन होकर कर्णवास आये।

इसके पश्चात् मार्गशीर्ष सं० १९२४ में हम स्वामीजी को रामघाट में गङ्गातट पर पद्मा-

रामघाट

सनस्थ पाते हैं। १० बजे दिन से सायङ्काल तक एक ही आसन से बैठे हुए हैं। शरीर में कोई गति नहीं, किसी अङ्ग में स्पन्दन नहीं, किसीसे बोलते भी नहीं। एक पुराने मूर्त्तिपूजक का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होता है। यह साधारण मूर्त्तिपूजक नहीं है। इसकी पूज्य मूर्त्तियों का भार २० सेर से कम नहीं है। जहाँ भी यह जाता है उन्हें घोड़े पर लाद कर साथ लेजाता है। हाथों पर और गले में रुद्राक्ष की बड़ी २ मालाएँ पहने हुए है, मस्तक पर त्रिपुण्ड्र विराजमान है, अन्य अङ्ग भी चन्दन से लिप्त हैं, जिह्वा पर इष्ट-देव का नाम है। परन्तु इसे अभी तक यह पता नहीं कि वह दिव्य-देहधारी संन्यासी मूर्त्तिपूजा का परम शत्रु है। कदाचित् उसे यह ज्ञात होता तो वह उसकी ओर भ्रूपात भी न करता। यह अपने एक साथी को लेकर संन्यासी के समीप जाता है ताकि उससे पूछे कि भिक्षा की है वा नहीं। यह एक श्लोक का एक चरण—

घोर मूर्त्तिपूजक

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः'

पढ़ता हुआ संन्यासी के सामने जाता है। संन्यासी मुसकराता है और 'हूँ' शब्द करता है। इसके अनुरोध पर संन्यासी घाट से उठकर बनखंडीश्वर महादेव में चला आता है। वहाँ दो पण्डित संस्कृत में विवाद कर रहे थे, संन्यासी भी उसमें सम्मिलित हो जाता है, दोनों विवादकर्त्ता संन्यासी के अनर्गल सरल और सुमधुर संस्कृत भाषण को सुनकर चकित हो जाते हैं। रात्रि हो जाती है, एक जन संन्यासी को भोजन करा देता है।

प्रातःकाल होता है। संन्यासी स्नान करके, ईश्वर का ध्यान करता है। लोगों को ज्ञात होता है कि वह संन्यासी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। वह दयानन्द है जो मूर्त्तिपूजा, अवतार, तीर्थ आदि सब पौराणिक प्रपंच का खण्डन करता है। पुराणों में परम प्रसिद्ध भागवत को भी नहीं मानता। इन दिनों रामघाट पर एक और संन्यासी रहते हैं जिनका नाम कृष्णानन्द है और वाममार्गी हैं। उनकी संस्कृतज्ञ होने की बड़ी ख्याति है। लोग कृष्णानन्द से कहते हैं कि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित करके हिन्दू धर्म की टेक रक्खो। दयानन्द के नाम में कुछ ऐसा जादू है कि बड़े २ पण्डित उससे शास्त्रार्थ करते घबराते हैं। कृष्णानन्द भी उन्हींकी कोटि का है। वह इनकार करता है, परन्तु लोग उसे बाध्य करते हैं, शास्त्रार्थ आरम्भ होता है। वह भी एक अनोखे ढंग से। एक मनुष्य कृष्णानन्द से आकर पूछता है कि महाराज महादेव पर जल चढ़ा आऊँ। कृष्णानन्द उत्तर देने नहीं पाता कि दयानन्द बोल उठते हैं कि यहाँ महादेव नहीं, यहाँ तो पत्थर है, महादेव तो कैलास पर है।

कृष्णा०—क्या महादेव यहाँ नहीं है?

दया०—वह महादेव तो मन्दिर के अतिरिक्त यहाँ भी है। वहाँ जाना व्यर्थ है।

कृष्णानन्द से शास्त्रार्थ

कृष्णा०—यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥गीता॥

दया०—ईश्वर निराकार है, देह धारण नहीं करता, यह तो जीव का धर्म है।

कृष्णा०—कोई उत्तर न देकर वही श्लोक पढ़ता है और दयानन्द की ओर न देख कर श्रोताओं की ओर देखता है और घबराहट के कारण मुँह में झाग आ जाते हैं।

दया०—आप लोगों से शास्त्रार्थ करते हैं वा मुझ से, मेरी ओर मुख करके बातें कीजिये।

कृष्णा०—(विक्षिप्त सा हो जाता है और 'गंधवती पृथ्वी, धूमवान् अग्निः' कह कर न्याय का विषय उठाता है। तीन दिन तक बातें होकर) लक्षण का भी लक्षण होता है।

दया०—लक्ष्य का लक्षण होता है, लक्षण का लक्षण नहीं होता। पूज्य का पूज्य वा आटे का आटा नहीं हो सकता।

इस पर सब लोग हँस पड़ते हैं और कृष्णानन्द सभास्थल से उठ जाता है।

घोर मूर्त्तिपूजक की मूर्त्तियाँ गंगा में

इस शास्त्रार्थ का और स्वामीजी के उपदेश का उस मूर्त्तिपूजक पर यह प्रभाव पड़ा कि उसने अपनी मूर्त्ति पूजा का बोझा गङ्गा के सुपुर्द कर दिया जिसे ढोते २ उसके घोड़े की पीठ भी क्षत-विक्षत हो गई थी। इसका नाम ब्रह्मचारी क्षेमकरण था जिसने पीछे संन्यास ग्रहण कर लिया था।

हमारे तो तुम ही शालिग्राम हो

स्वामीजी भोजन के पश्चात् तुलसी की पत्ती खाया करते थे। कारण पूछने पर कहते थे कि इससे मुँह सुगंधित रहता है। लोगों को तुलसी का पौधा अपने घरों में लगाना चाहिये। इसमें से अच्छी वायु निकलती है। एक गुसाईं स्वामीजी को तुलसी की पत्ती लाकर दिया करता था और देते समय विनोद में कहा करता था कि महाराज हमारे तो आप ही शालिग्राम हैं। उन दिनों स्वामीजी के मसूढ़ों में पीड़ा थी अतः वह उन पर तमाकू मला करते थे। महाराज का नाम यहाँ कोलाहल स्वामी पड़ गया था, क्योंकि जब बातचीत में दो चार लोग एक साथ बोलने लगते थे तो वह कह दिया करते थे कि यह कोलाहल है। एक दिन एक व्यक्ति ने गुरु की अत्युक्ति पूर्ण प्रशंसा की तो महाराज ने कहा कि गुरुसमेत गङ्गा में प्रवेश करना चाहिये।

उन दिनों स्वामीजी सब को सन्ध्या, गायत्री, बलिवैश्व देव करने और मूर्त्तिपूजा, तीर्थयात्रादि त्यागने का उपदेश करते थे। पं० टीकाराम, पं० बालमुकुन्द, ब्रह्मचारी आनन्दकिशोर आदि बीसियों मनुष्यों ने स्वामीजी के उपदेश से मूर्त्तिपूजा करनी छोड़ दी थी और अपनी देवमूर्त्तियाँ गङ्गा में फेंक दी थीं।

बेलौन

रामघाट से स्वामीजी बेलौन ज़ि० बुलन्दशहर पधारे। वहाँ खेरानामक स्थान पर एक पीपल के वृक्ष के नीचे उतरे। वहाँ एक तख्त पड़ा हुआ था उसी पर वह बैठा करते थे। भक्तजन ने तख्त पर एक सिरकी डलवा दी थी और गद्दा डाल दिया था। लोगों को सन्ध्या-गायत्री का उपदेश देते थे। जो कोई उनके पास आता उससे पूछते कि गायत्री जानते हो यदि वह कहता कि नहीं तो उसे गायत्री सिखाते और लिख कर दे देते थे। पण्डित इन्द्रमणिने गायत्री की बहुत सी प्रतियाँ लिखकर उनके पास रख दी थीं। वह किसी को कोई प्रति देते तो उसके नीचे १००० का अङ्क लिख देते थे कि १००० बार जप करो। इस प्रकार उन्होंने लगभग ५० मनुष्यों को गायत्री की प्रतियाँ बाँटीं। एक पण्डित ने उनसे पूछा कि श्रीराम और श्री कृष्ण अवतार थे कि नहीं; तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह अवतार नहीं थे। ईश्वर अवतार धारण नहीं करता, वह केवल प्रतापी राजा थे। उसने कहा कि श्रीकृष्ण

ने गोपियों से रासलीला की तो उन्होंने कहा कि यह मिथ्या है, इससे तो वह साधारण मनुष्य सिद्ध होते हैं न कि अवतार। एक व्यक्ति के पूछने पर कहा कि गङ्गा केवल एक नदी है। एक दिन एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज दण्डवत् तो उन्होंने कहा कि तुम्हीं दण्डवत् हो।

कर्णवास

स्वामीजी बेलौन में ३-४ दिन ठहर कर कर्णवास चले गये। महाराज के कर्णवास पधारते ही आस पास के ग्रामों में उनके आगमन का समाचार फैल गया और चारों ओर से लोग उनके स्थल पर आकर धर्मोपदेश सुनने और अपनी शङ्काएँ मिटाने लगे।

पौराणिकों को हीरावल्लभ के साथ शास्त्रार्थ

पं० अम्बादत्त के पराजय की कालिमा धोने की चिन्ता थी ही। वह अनूप शहर गये और पं० हीरावल्लभ को बुलाकर लाये। पौष मास की किसी तिथि को पं० हीरावल्लभ कर्णवास आये और बड़े ठाठ से आये। वह अपने आराध्य देवों की मूर्त्तियों को एक सुन्दर सिंहासन में सजा कर साथ लाये। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। उसमें पं० हीरावल्लभ प्रवृत्त हुए तो अनोखे ढङ्ग से। देवमूर्त्तियों का सिंहासन सामने रखकर और यह प्रतिज्ञा करके कि मैं इन देव मूर्तियों को दयानन्द के हाथ से भोग लगवा कर उठूँगा। छः दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा, नियम और न्यायपूर्वक होता रहा। छठे दिन पं० हीरावल्लभ ने अस्त्र-शस्त्र डाल दिये, अपनी हार स्वीकार की, वाणी से भी और कर्म से भी। पण्डितजी ने महाराज को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और साथ ही देवमूर्तियों को भी सदा के लिये हाथ जोड़ कर गङ्गाजल में प्रविष्ट कर दिया। उन देवमूर्तियों को जिन्हें वह दयानन्द के हाथ से भोग लगवाने की प्रतिज्ञा करके शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुए थे स्वयं भोग लगाना छोड़ कर शास्त्रार्थ से निवृत्त हुए। सभा में २००० मनुष्य उपस्थित थे। स्वामीजी पं० हीरावल्लभ की न्यायप्रियता देख कर गद्‌गद होगये। और उन्होंने पण्डितजी की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। निष्पक्ष मनुष्यों ने भी उन्हें हृदय से साधुवाद कहा। सब के मुख-मण्डल हर्ष से खिल उठे। मूर्तिपूजकों के हृदय शोक से सन्तप्त और उनके मुख विषाद से तेजोहीन हो गये और वह आह करते और ठण्ढे सांस भरते सभा से उठकर चले गये। इस शास्त्रार्थ का यह प्रभाव हुआ कि सैकड़ों मनुष्यों की आस्था मूर्तिपूजा के ऊपर से उठ गई और बीसियों लोगों ने पं० हीरावल्लभ का अनुकरण करते हुए अपनी देवमूर्त्तियाँ गङ्गा के प्रवाह में डाल दीं।

श्रद्धा की बाढ़

फिर तो कर्णवास तथा अन्य ग्रामों के लोगों की श्रद्धा श्रीचरणों में इतनी बढ़ी कि वह हृदय से महाराज के अनुगामी बन गये और अनेकों ने महाराज के कर-कमलों से यज्ञोपवीत धारण किये और महाराज से सन्ध्या-गायत्री की शिक्षा प्राप्त करके अपना जन्म सफल किया। स्वामीजी के स्थल पर ही यज्ञ-वेदी रची गई और विधि और समारोह पूर्वक यज्ञ समाप्त हुआ। इस अवसर पर लगभग ४० पुरुष शिक्षित और दीक्षित हुए।

क्षत्रियों के कुलगुरुओं ने भी अपने शिष्यों का अनुकरण करते हुए मूर्त्तिपूजा छोड़ दी और कण्ठी तोड़ डाली।

इस समय स्वामीजी आठ गप्पों का खण्डन और आठ सत्यों का मण्डन करते थे। इनका विस्तृत वर्णन आगे आवेगा।

एक नौमुसलिम रईस

एक दिन धर्मपुर के नौमुस्लिम रईस ने स्वामीजी से पूछा कि महाराज क्या हम भी किसी प्रकार शुद्ध हो सकते हैं। महाराज ने उत्तर दिया कि यदि धर्म का आचरण करोगे तो अवश्य शुद्ध हो जाओगे।

हम उच्छिष्ट नहीं खायंगे

एक दिन एक एक ब्राह्मण ने महाराज को भोजन का निमन्त्रण दिया। महाराज ने उसे स्वीकार कर लिया। उस ब्राह्मण ने भोजन में से ठाकुरों को भोग लगाकर उसे महाराज के सामने रक्खा। परन्तु उन्होंने यह कह कर कि हम किसीका उच्छिष्ट नहीं खाते उसे ग्रहण नहीं किया।

सूर्यग्रहण के समय भोजन

माघ कृ० १५ सं० १९२४ को सूर्यग्रहण था। सैकड़ों सहस्रों-नर-नारी गङ्गास्नान के लिये कर्णवास आये हुए थे। किसी ने स्वामीजी से पूछा कि महाराज ग्रहण का सूतक कबतक मानना चाहिये तो उन्होंने कहा कि सूतक कोई वस्तु नहीं है। उसने फिर पूछा कि भोजन कब करना चाहिये तो कहा कि जब क्षुधा लगे। ग्रहण के दिन उनलोगों ने जो ग्रहण के कारण गङ्गास्नान के लिये आये थे तीन बजे तक न तो स्नान किया और न भोजन किया। उन्हें यह ज्ञात न था कि ग्रहण किस समय पड़ेगा। प्रतीक्षा करके उन्होंने स्नान किया और भोजन करने लगे। परन्तु उनके ऐसा करते ही ग्रहण पड़ने लगा। इसपर स्वामीजी जोर से हँसे और कहने लगे कि इन लोगों की विचित्र गति है कि ग्रहण से पूर्व तो स्नान और भोजन न किया, परन्तु अब ग्रहण के समय कर रहे हैं।

दिनचर्य्या

कर्णवास में स्वामीजी माघ के अन्त वा फाल्गुन के आरम्भ तक रहे। ठाकुर गोपालसिंह ने स्वामीजी के लिये एक कुटिया अलग बनवा दी थी और एक तख़्त डलवा दिया था। स्वामीजी रात्रि के दो बजे उठ कर गङ्गातट पर दूर चले जाते थे और वहाँ शौचादि से निवृत्त हो कर समाधिस्थ हो जाते थे। समाधि खुलने के पश्चात् व्यायाम करते और फिर कुटिया में आकर तख़्त पर विराजमान हो जाते थे। इतने में एक घण्टा दिन चढ़ जाता था और आगन्तुकों की भीड़ लग जाती थी। फिर वह लोगों की शङ्काओं के समाधान और उपदेश में प्रवृत्त होजाते थे। शरीर पर रज लगाते और संस्कृत बोलते थे, एक लंगोट के अतिरिक्त कोई वस्त्र वा पात्र न रखते थे। शीत काल में भी कोई वस्त्र न ओढ़ते थे। रात्रि में केवल पियार ऊपर डाल लेते थे, ईंटों का तकिया करते थे।

९० वर्ष की वृद्धा का धर्मप्रवेश

ठा० गोपालसिंह की ९० वर्ष की वृद्धा एक ताई थी जिस का नाम हंसा ठकुरानी था। वह ५-६ ग्रामों की स्वामिनी थी, परन्तु उसका जीवन बड़े संयम का था। जौ की रोटी और मूँग की दाल उसका नित्य का भोजन था जिसे वह स्वयं बनाया करती थी। परिवार में उसका बड़ा मान था। जब उसने अपने परिवार के पुरुषों के जीवन में स्वामीजी के उपदेशों से एक आश्चर्यजनक परिवर्तन देखा तो उसके मन में भी उनके दर्शनों की लालसा उत्पन्न हुई। ठा० गोपालसिंह द्वारा उसने उनकी सेवा में उपस्थित होने की अनुमति माँगी। महाराज ने

थोड़ी देर सोचकर अनुमति प्रदान कर दी। वह आई और उपदेश ग्रहण की इच्छा प्रकट की। महाराज ने उसे 'ओ३म्' और 'गायत्री' का जप बताया और मूर्त्ति-पूजा छोड़ने का आदेश किया। उसने आदेश स्वीकार किया और अपने जीवन के शेष दिनों में वह उसका पालन करती रही।

कर्णवास से स्वामीजी ने एक विद्यार्थी को मथुरा में दण्डी विरजानन्द के पास पढ़ने के लिये भेजा था।

यज्ञोपवीत की आवश्यकता

स्वामीजी द्विजमात्र के लिये यज्ञोपवीत का लेना आवश्यक समझते थे और कहते थे कि विना उपवीत हुए किसी को वैदिक कर्म करने का अधिकार नहीं है। संस्कारों के करने पर भी बल देते थे। संस्कारों के लाभ के विषय में एक जिज्ञासु के पूछने पर उन्होंने कहा था कि इस से जन्म प्रबल होता है। इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि एक उपवीत मनुष्य अशुभ कर्म करे और दूसरा अनुपवीत मनुष्य शुभ कर्म करे तो उनमें कौन उत्तम है। उन्हों ने कहा था कि उत्तम तो वही है जो उत्तम कर्म करे परन्तु उपनयन संस्कार आवश्यक है।

एक दिन पं० इन्द्रमणि ने स्वामीजी से कहा कि आप अवधूत होकर खण्डन-मण्डन के बखेड़े में क्यों पड़े हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि मेरे लिये बखेड़ा नहीं है, प्रत्युत यह ऋषि-ऋण का चुकाना है। स्वार्थी लोगों ने ऋषि सन्तान को कुरीतियों में फँसा रक्खा है, मुझ से उसकी यह दीन दशा देखी नहीं जाती। मैंने उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रण कर लिया है।

बुलन्दशहर के कलक्टर

एक दिन बुलन्दशहर के कलक्टर भी महाराज की कुटिया पर आये थे। उस समय महाराज कुटिया के भीतर थे। कलक्टर साहब ने अपने आगमन की सूचना दी तो महाराज ने कहला भेजा कि इस समय हमें उन से मिलने का अवकाश नहीं है। फिर उन्होंने पुछवाया कि आप को कब अवकाश होगा। महाराज ने इसका तो कोई उत्तर न दिया उल्टा कलक्टर साहब से ही पुछवाया कि आप को कब अवकाश होगा। कलक्टर साहब ने कहा कि चार घण्टे के पश्चात् मुझे अवकाश ही अवकाश है। यह सुनकर महाराज कुटिया से बाहर निकल आये और कलक्टर साहब को आसन देने के पश्चात् उन्हें राज-धर्म का उपदेश दिया और कहा कि जिस मनुष्य पर एक परिवार के भरण-पोषण का भार होता है उसे शिर खुजलाने का भी अवकाश नहीं मिलता। आपके ऊपर तो सहस्रों मनुष्यों के संकट-निवारण का भार है, मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि आप को चार घण्टों के पश्चात् अवकाश ही अवकाश है।

विना युद्ध पहलवान परास्त

रतिराम नामी एक पहलवान था जिसे अपने बल पर बहुत घमण्ड था। एक दिन वह महाराज के स्थल पर आया और महाराज को देख कर तिरस्कार पूर्वक बोला, कि अरे यह बाबा तो बड़ा हृष्ट-पुष्ट है। महाराज ने उत्तर में कुछ न कहा, परन्तु उस पर अपने नेत्रों की इस प्रकार ज्योति डाली, कि उसका सारा घमण्ड चूर्ण होगया और उस पर ऐसा आतङ्क छाया, कि वह श्रीचरणों में लोटता ही दिखाई दिया और हाथ जोड़ कर अपने अशिष्ट व्यवहार के लिये क्षमा प्रार्थी हुआ।

एक दिन पन्द्रह बीस पण्डित जिन में पं० कमलनयन और सुखदेव अच्छे विद्वान् थे कुछ अतिक्लिष्ट प्रश्न पूछने के अभिप्राय से महाराज के स्थल पर पहुँचे। उस समय महाराज गङ्गा पर गये हुए थे। वह लोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर में ही महाराज वहाँ से आगये, तो सब लोगों ने उठ कर उन्हें प्रणाम किया। महाराज बैठ कर थोड़ी देर तो ध्यानावस्थित होगये। जब उन्होंने आखें खोलीं तो आगन्तुकों से कहा कि जो कुछ पूछना हो पूछिये। उन्होंने एक वार कहा, दो वार कहा, परन्तु किसी के मुख से एक शब्द भी न निकला। तब स्वामीजी ने उपदेश करना आरम्भ कर दिया। वह लोग सुनते रहे और 'सत्य है सत्य है' कहते रहे। थोड़ी देर के पश्चात् वह लोग चले गये। मार्ग में जाते हुए वह लोग कहने लगे, कि न जाने दयानन्द में कौन सी शक्ति है कि हम सब के मुख पर उस के सामने जाकर ताले लग गये और जो प्रश्न हम सोच कर गये थे उन में से एक भी न पूछ सके।

विना शास्त्रार्थ पण्डितगण पर विजय

एक दिन पं० नन्दकिशोर अध्यापक स्वामीजी के पास जारहे थे। मार्ग में एक खेत में श्याम की फलियाँ देख कर उन्होंने कुछ फलियाँ तोड़लीं और स्वामीजी के सामने जा रक्खीं। उन्होंने कहा कि नन्दकिशोरजी आप यह फलियाँ चोरी करके लाये हैं। यह शब्द सुन कर वह कुछ सिटपिटाये और बोले कि महाराज मैंने किसकी चोरी की है? महाराज ने हँसकर कहा कि सच कहिये क्या आप यह फलियाँ खेत के स्वामी की आज्ञा से तोड़कर लाये हैं? इस पर पं० नन्दकिशोर लज्जित हुए और अपने कर्म पर पश्चात्ताप किया। महाराज ने वे फलियाँ ग्रहण नहीं कीं।

तुमने फलियाँ चुराई हैं

स्वामीजी ने द्वन्द्वों को जीत लिया था, उन्हें न जाड़ा सताता था न गर्मी। माघ में एक दिन प्रातःकाल अत्यन्त शीतल वायु चल रही थी। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। लोग गदेले और लिहाफ़ों को छोड़ कर बाहर न निकलना चाहते थे। ग़रीब अमीर सब ही घरों में बैठे अग्नि ताप रहे थे। परन्तु स्वामीजी के कुछ भक्त ऐसे थे जो वर्षा हो या आँधी, जाड़ा हो या गर्मी, महाराज के उपदेश के अलभ्य लाभ से वञ्चित रहना न चाहते थे और महाराज भी उपदेश कार्य से छुट्टी न लेते थे। उस दिन भी सदा की भाँति महाराज पद्मासन लगाये उपदेश कार्य में रत थे। स्वर वा शरीर में कोई प्रकंप न था, उन पर शीतातिशय्य का कोई प्रभाव न था। परन्तु श्रोता रूई और ऊन के वस्त्र पहने हुए, रजाई और कंबल ओढ़े हुए भी ठिठुरे जाते थे, उनकी बत्तीसी कटाकट बज रही थी। ठा० गोपालसिंह ने महाराज से पूछा, कि आप पर शीत का कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। उन्हों ने कहा कि ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इस का कारण है। ठाकुर महाशय ने कहा कि हम कैसे जानें, तो महाराज ने अपने हाथों के अँगूठे दोनों घुटनों पर रख कर दबाये और तत्काल सारे शरीर से पसीना चू निकला। लोग देख कर चकित रह गये और उन्हें महाराज के योग बल में पूरा विश्वास हो गया।

द्वन्द्वातीत दयानन्द

एक दिन एक मनुष्य ने स्वामीजी से पूछा कि क्या आप गङ्गा को मानते हैं? तो

उन्होंने कहा, कि जो कुछ दिखाई देती है। फिर उसने पूछा कि क्या दिखाई देती है ? उत्तर दिया कि तुम्हें क्या दिखाई देती है ? उसने कहा कि मुझे तो जल दिखाई देता है। महाराज ने कहा। यही हमें दिखाई देता है।

अंगद शास्त्री का पत्र

कर्णवास की स्थिति के समय अङ्गद शास्त्री ने पीलीभीत से स्वामीजी के पास एक चिट्ठी संस्कृत में भेजी थी जिस में अत्युक्तिपूर्ण आत्मश्लाघा की गई थी। महाराज ने उसके उत्तर में एक लंबा पत्र लिखा था जिस में उनकी भाषा और भागवत में अनेक अशुद्धियाँ दिखाई थीं। वह पत्र बड़ा ही मनोरञ्जक और सुन्दर था। उसका अङ्गद शास्त्री से कोई उत्तर न बना।
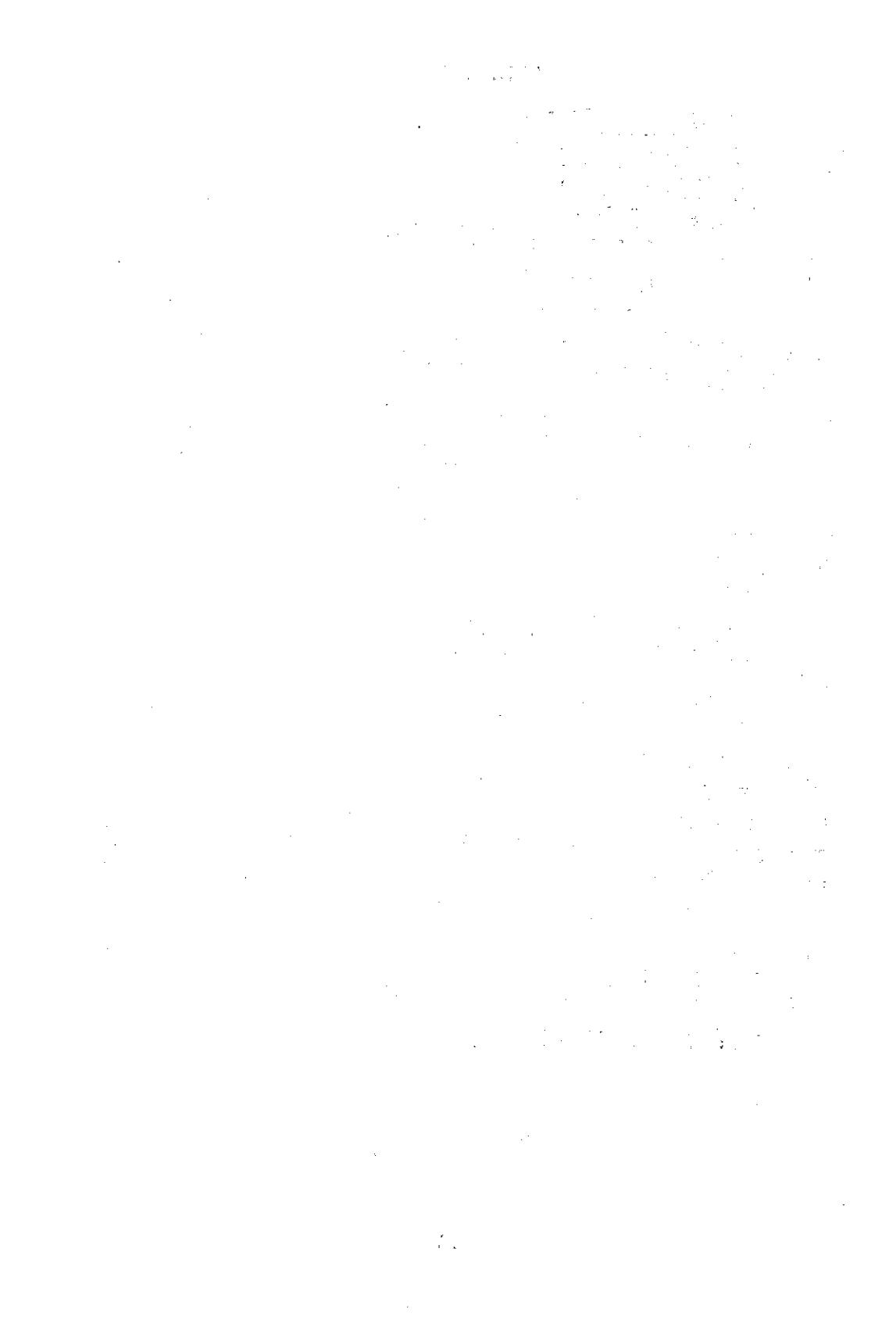
रात्रि में दो योरुपियन से साक्षात्

एक दिन जो जी में आई तो महाराज किसी को सूचना दिये बिना ही कर्णवास से चल खड़े हुए और गङ्गातट पर विचरने लगे। वह कहाँ कहाँ घूमे इसका कुछ पता नहीं चला। इसके पश्चात् एक दिन रात्रि के समय हम उन्हें गङ्गा के दूसरे तट पर गङ्गा की सिकता में समाधिस्थ पाते हैं। चाँदनी छिटक रही थी, शीत अपना साम्राज्य जमाये हुये था। घटनावश दो अंग्रेज उधर आ निकले। इतनी रात्रि बीतने के समय उनका वहाँ आना आखेट के कारण ही हो सकता था। वह एक साधु को ऐसे शीत में विवस्त्र दशा में गङ्गा की ठण्डी बालुका में बैठा देखकर आश्चर्य में निमग्न होगये और टकटकी लगा कर उसकी ओर देखते रहे। जब साधु ने आँखें खोलीं तो वह उसके पास गये। उन में से एक बदायूँ का कलक्टर था और दूसरा उसका एक मित्र पादरी था। कलक्टर साहब ने कहा कि हमें बड़ा आश्चर्य है कि आप नदी के तट पर, ठण्डी रेत में रात्रि के समय, केवल एक लँगोट लगाये ऐसे शीतकाल में बैठे हैं। स्वामीजी अभी कुछ कहने न पाये थे कि उनका मित्र पादरी बोल उठा कि यह माल खाकर मुटा गये हैं, इन्हें जाड़ा कैसे लग सकता है। स्वामीजी ने कहा कि हम दाल रोटी के खाने वाले क्या माल खा सकते हैं। माल तो आप खाते हैं, मांस, अण्डे और मदिरा उड़ाते हैं। यदि शीत का लगना न लगना मालखाने न खाने पर ही निर्भर हो, तो आइये वस्त्र उतार कर थोड़ी देर मेरे साथ बैठ जाइये। इस पर वह लज्जित होगया और विषय बदल कर कहने लगा, कि अच्छा तो क्या कारण है कि आपको शीत नहीं लगता। महाराज ने कहा कि इसका मुख्य कारण अभ्यास है, आप का मुख सदा खुला रहता है इससे इस समय भी आपको उसे ढकने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कलक्टर साहब ने अपने मित्र को संकेत से कुछ आगे कहने से रोक दिया और दोनों नमस्कार करके चले गये।

स्वामीजी इस प्रकार भ्रमण करते हुये गढ़ियाघाट पहुँचे।

षष्ठ अध्याय

संवत् १९२५ (चैत्र-मार्गशीर्ष)

गढ़ियाघाट

भक्त बलदेवगिरि

सोरों जिला एटा जिसका नाम संस्कृत में शूकर-क्षेत्र है हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसकी विशेषता यह है कि यहाँ वराह का मन्दिर है जो सारे भारतवर्ष में पुष्कर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। यहाँ पर्वादि के अवसर पर सहस्रों नर-नारी एकत्र होते हैं। सोरों के पास ही गढ़ियाघाट है, गढ़ियाघाट में जब स्वामीजी पहुँचे तो चैत्र संवत् १९२५ था। सोरों में बलदेवगिरि गोसाईं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे उन्होंने पहले से स्वामीजी की प्रशंसा सुन रक्खी थी और उनके दर्शनों के लिये लालायित थे। जब उन्हें स्वामीजी के आने का समाचार ज्ञात हुआ तो वह पं० नारायण चक्रांकित तथा अन्य पण्डितों को साथ में लेकर स्वामीजी के दर्शनों को अपने स्थान अम्बागढ़ से गढ़िया-घाट आये। नारायण पण्डित से स्वामीजी का शास्त्र-विषय पर विचार हुआ, परन्तु वह कुछ मिनटों में ही निरुत्तर होगये। गोसाईंजी को महाराज की विचार-शैली इतनी भाई और उनके विद्या, तप और तेज से वह इतने मुग्ध हुए कि प्रतिदिन सेवा में उपस्थित होने लगे और उनके लिये भोजन भी अपने ही स्थान से भिजवाने लगे।

उजड्ड ठाकुर

एक दिन ऐसा हुआ कि एक ठाकुर और तीन उसके साथी स्वामीजी के स्थान पर आये; उन में से दो के हाथ में तलवार और दो के हाथ में लाठी थीं। वह वास्तव में स्वामीजी को आघात पहुँचाने आये थे। कारण यह था कि सोरों चक्राङ्कितों का गढ़ था। महाराज उनके मत का तीव्र खण्डन करते थे और भागवत को अशुद्ध और त्याज्य बताते थे। यही कारण स्वामीजी से चक्राङ्कितों के विरोध का था। यह ठाकुर भी निम्बार्क सम्प्रदाय का था। इसके ललाट पर भी निम्बार्कों का तिलक था, गले में कंठी बँधी थी। बलदेव भक्त उस समय भी स्वामीजी के पास बैठे हुए थे। वह ठाकुर आकर उजड्डता से महाराज के बराबर बैठ गया। बलदेव-गिरि ने उसे रोका, परन्तु वह न माना। महाराज ने भी उसका असभ्य व्यवहार देखकर उसे

समझाया पर वह दुष्टता करता ही गया। इस पर स्वामीजी उठकर दूसरी मढ़ी में जा बैठे। उसने अपने आदमियों को संकेत किया, कि यह आदमी (बलदेवगिरि) कौन है इसे पकड़ लो, यह क्या बकता था। उसके आदमी उनकी ओर लपके परन्तु वह थे डण्डपेल जवान, दाव-घात से परिचित। उन्होंने एक का हाथ और एक का पाँव पकड़ कर नीचे गिरादिया। वह गिरा तो उसके हाथ से लाठी छूट गई। वह उन्होंने उठाली। उनके भी साथी वहाँ थे। उन में से एक ने ठाकुर के एक आदमी की दाढ़ी और तलवार पकड़ ली। ठाकुर का भी जूड़ा पकड़ लिया और सब के दो-दो लाठी लगाकर नीचे धकेल दिया और वह फिसलते फिसलते गङ्गा में जा गिरे और दलदल में फँस गये। कुछ लोग इकट्ठे होगये और जब उन्होंने गोसाईं को देखा तो ठाकुर को गालियाँ देने लगे कि दुष्ट, तू हमारे गुरुजी से क्यों लड़ा। बलदेवगिरि को यह भय हुआ कि स्वामीजी उक्त मनुष्यों को पीटने के कारण उनसे अप्रसन्न होंगे और संभव है उनके गृह पर भोजन न करें, परन्तु स्वामीजी ने उनसे कहा कि हाथ पैर धोकर भोजन ले आओ और उनके शौर्य की बहुत प्रशंसा की।

सोरों

गढ़िया से बलदेवगिरि यह कह कर कि सोरों में १०,००० ब्राह्मण रहते हैं, वहाँ जाकर उपदेश देने से सैंकड़ों मनुष्य मूर्त्ति-पूजा के गर्त और चक्राङ्कितों के जाल से निकलेंगे सोरों लिवा लाये और अपने स्थान पर अम्बागढ़ में ठहराया।

सोरों में महाराज का आना था कि उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई और पण्डितों और अपण्डितों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनों को आने लगे।

पण्डितों में चर्चा हुई, शास्त्रार्थ करने का निश्चय हुआ और उनके मुखिया पं० खमानी अपने दल बल के साथ चले मैदान जीतने। परन्तु चार-पाँच बातों में ही वह निरुत्तर होकर मौन हो गये और उनके साथी खिज कर कोलाहल करने लगे तब। गोसाईं बलदेवगिरि तथा अन्य न्यायप्रिय लोगों ने उन्हें डाँटा और वह लोग शोर करते हुए चले गये। इस शास्त्रार्थ का तत्काल यह प्रभाव हुआ कि पं० गोविन्दराम चक्राङ्कित ने महाराज की शिक्षा स्वीकार की।

पं० अंगद शास्त्री शिष्य हो गये

सोरों के पास बदरिया एक ग्राम है। वहाँ एक पण्डित अङ्गदराम शास्त्री निवास करते थे जो दण्डी विरजानन्द से जब वह सोरों में रहा करते थे कुछ दिन सिद्धान्तकौमुदी पढ़े थे। वह संस्कृत के बड़े धुरन्धर विद्वान् थे और व्याकरण में उनकी बहुत धाक थी। उनके साथ शास्त्रार्थ करने से अच्छे २ विद्वान् घबराते थे। वह शालिग्राम की पूजा और भागवत की कथा कहा करते थे। वह भी स्वामीजी की प्रशंसा सुनकर और शास्त्रार्थेच्छु होकर स्वामीजी के पास आये। विचार आरम्भ हुआ। मूर्त्ति-पूजा पर बात चली। स्वामीजी ने उसका अनेक युक्ति-प्रमाणों से ऐसा खण्डन किया कि अन्त में पण्डित अङ्गदराम को उत्तर न आया। स्वामीजी ने भी भागवत की तीव्र आलोचना की और उसकी अनेक अशुद्धियाँ दिखाईं *। पण्डित अङ्गदराम हठी न थे, उन्हें पराजय स्वीकार करने में लज्जा

---

* उन्होंने भागवत का यह श्लोक "कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः। राज्ञां चो

न थी। उन्होंने स्वामीजी का पक्ष स्वीकार किया और सबके सामने शालिग्राम को, जिस पर वह प्रतिदिन गङ्गाजल चढ़ाया करते थे, उसी क्षण गङ्गा पर चढ़ा दिया और भागवत की कथा न कहने की मन ही मन प्रतिज्ञा करली। उन्हें देख कर बलदेवगिरि ने भी 'तथास्तु' कह कर अपनी देवमूर्त्तियों को गङ्गा में डुबो दिया।

सहपाठी पं० युगलकिशोर

एक दिन पण्डित युगलकिशोर जो स्वामीजी के सहाध्यायी थे सोरों आये और स्वामीजी से मिले। पं० अङ्गदराम ने स्वामीजी से कहा कि महाराज आप औरों से तो कहते हैं कि शालिग्राम मत पूजो, तिलक न लगाओ, कंठी मत पहनो, परन्तु अपने इन सहपाठी से कुछ नहीं कहते। स्वामीजी ने कहा कि यह मथुरावासी हैं इसी पर इनका निर्वाह है। इस पर पं० युगलकिशोर रुष्ट होकर उठ कर चले गये। कहते हैं कि उन्होंने मथुरा पहुंच कर दण्डी विरजानन्द से शिकायत की कि दयानन्द सोरों में अधर्म्म कर रहा है, पुराण, शालिग्राम, कंठी, तिलक आदि का खण्डन करता है। दण्डीजी ने कहा—हे युगलकिशोर! शालिग्राम क्या होता है? 'शालीनां ग्रामः स शालीयो ग्रामः' जब कि यह शब्द ही अशुद्ध है तो क्या इसकी पूजा निष्फल नहीं है? कंठी, तिलक का भी प्रमाण दो कि कहाँ लिखे हैं। पं० युगलकिशोर ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो यह लो और झट कंठी तोड़ कर फेंक दी'।

पं० अङ्गदराम के मूर्त्ति-पूजा आदि को छोड़ देने से मूर्त्ति-पूजकों के दल में खलबली मच गई और सहस्रों मनुष्यों ने पं० अङ्गदराम का अनुकरण किया और सन्ध्या गायत्री करनी आरम्भ करदी। सोरों में वृन्दावन के रङ्गाचार्य, चक्राङ्कितों के गुरु प्रति वर्ष आकर नर-नारियों को चक्राङ्कित किया करते थे, परन्तु स्वामीजी के आगमन के पश्चात् उनका सोरों में आना जाना बन्द हो गया।

कैलासपर्वत कुटिया में कैसे समा गया

स्वा० कैलासपर्वत जिन से आगरा निवास के समय स्वामीजी का परिचय हो चुका था उन दिनों सोरों में ही थे। उन्हें लोगों ने काशी से स्वामीजी कृत आन्दोलन को शान्त करने के अभिप्राय से बुलाया था। वह एक दिन सोरों से गढ़ियाघाट पर गये थे। स्वामीजी उन्हें देखकर उनकी कुटिया में चले गये और कहा कि "इतना बड़ा कैलासपर्वत ऐसी छोटी सी कुटिया में कैसे समा गया।" कैलासपर्वत का कहना है कि स्वामीजी ने उनसे कहा था कि रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, माधव सम्प्रदायों का खण्डन करने में हमारी सहायता कीजिये, परन्तु हमने यह स्वीकार नहीं किया क्योंकि उन्होंने हमारी दो बातों, अर्थात् मूर्त्ति-पूजा और पुराणों, के खण्डन न करने को नहीं माना।

स्वा० कैलासपर्वत का सोरों में वराह का मन्दिर था। स्वामीजी के सदुपदेश से सैकड़ों पुरुषों ने उसमें जाना छोड़ दिया था।

कैलासपर्वत से स्वामीजी की बात चीत तो हुई परन्तु कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ।

भयवंशानां चरितं परमाद्भुतम् ॥" उद्धृत करके कहा कि इसमें विस्तार शब्द अशुद्ध है विस्तर होना चाहिये। अष्टाध्यायी के अनुसार वंश वा वार्त्ता के अर्थ में विस्तर और नाप के अर्थ में विस्तार होता है। यह बात पण्डित अङ्गदराम ने स्वीकार की।

वह साधारण बात-चीत में भी स्वामीजी के मूर्त्ति-पूजन के खण्डनात्मक प्रश्नों का उत्तर न दे सके। स्वा० कैलासपर्वत ने 'धर्म्म-संरक्षिणी' नामक एक लघु पुस्तक भी लिखी थी, जिसमें अपने विचार में उन्होंने मूर्त्ति-पूजा, पुराणों की प्रामाणिकता, एकादशी व्रत आदि सिद्ध किये थे। परन्तु वास्तव में वह निःसार थी और उसमें वह कुछ भी सिद्ध न कर सके थे।

जब स्वामीजी सोरों गये और मूर्त्ति-पूजा का प्रवृद्ध वेग से खण्डन किया तो कैलासपर्वत को बहुत क्रोध आया और वह स्वामीजी को बुरा भला कहने लगे। परन्तु स्वामीजी ने कभी उनके लिये किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। हम यहाँ यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि सिवाय इस अवसर के स्वा० कैलासपर्वत ने स्वामीजी की निन्दा से अपनी जिह्वा को कभी कलुषित नहीं किया था, प्रत्युत उनकी विद्या, वाग्मिता, तप, त्याग की प्रशंसा ही करते रहते थे। मूर्त्ति-पूजा पर उनका स्वामीजी से मत भेद होते हुए भी स्वामीजी के लिये उनके हृदय में मान था।

कैलासपर्वत भयभीत

किसी ने स्वा० कैलासपर्वत से जाकर कह दिया कि बलदेवगिरि आपको पीटने को फिरता है, यदि आप बाहर जंगल जाओगे तो वह आपको पीटेगा। उन्होंने इसकी थाने में रिपोर्ट करदी और अपनी रक्षा के लिये दो कानस्टेबिल बुला लिये। यह खबर बलदेलगिरि को भी लग गई और उन्होंने जाकर स्वामी कैलासपर्वत से कहा कि आपको किसी ने बहका दिया है, हम आप एक हैं, हमसे कुछ भय न कीजिये। तब उनका मनोमालिन्य दूर हुआ।

नग्न साधु चुप

इन्हीं दिनों एक और नग्न साधु चिदानन्द सोरों आया। वह संस्कृतज्ञ था और मूर्त्ति-पूजन सिद्ध करने की डींग मारता था। स्वामीजी ने उसे पत्र लिखा कि तुम मेरे समीप आओ वा मुझे अपने पास बुलाओ और शास्त्रार्थ करलो। परन्तु उसने कोई उत्तर न दिया। एक दिन स्वामीजी को खबर लगी कि वह सोरों से जा रहा है। स्वामीजी उसके पीछे गये और एक मील पर उसे जा पकड़ा। वह वहीं बैठ गया, स्वामीजी भी बैठ गये और उससे पूछा कि मूर्त्ति-पूजा की सिद्धि वाला मन्त्र बोलो, परन्तु उसने ऐसा मौन साधा कि हूँ-हाँ कुछ न की। स्वामीजी ने कहा कि झूठ ने तुम्हारे मुख पर मुहर लगादी है, यदि तुम्हारा पक्ष सच्चा है तो बोलते क्यों नहीं। परन्तु वह बुत बना बैठा रहा। जब एक घण्टा बीत गया तो विवश होकर स्वामीजी चले आये।

कासगंज के पण्डित अयोध्याप्रसाद और चेतराम भी महाराज के दर्शनों को आये थे। वह उन के उपदेश से इतने प्रभावित हुए कि महाराज के अनुगत हो गये।

पण्डित सुखानन्द भागवती पण्डित थे। उनका पं० अयोध्याप्रसाद से सौहार्द था। पं० सुखानन्द स्वामीजी के भागवत-खण्डन के कारण उन से बहुत अप्रसन्न थे और उन्हें नास्तिक के समान मानते थे।

भागवती पण्डित अनुगत

एक दिन पण्डित अयोध्याप्रसाद पण्डित सुखानन्द को महाराज के पास लेगये। संस्कृत में परिचय होने के पश्चात् ज्योतिष् पर विचार हुआ था। इस प्रसङ्ग में ऋषि ने 'शन्नोदेवी' इत्यादि मन्त्र की ऐसी अपूर्व व्याख्या की कि पं० सुखानन्द का चित्त कुछ विगलित हुआ और उनका

मनोमालिन्य दूर होने लगा। फिर और मन्त्रों की व्याख्या ऋषि-मुख से सुनकर वह मुग्ध होगये और ऋषि का संसर्ग-त्याग उन्हें कष्टकर प्रतीत होने लगा। वह निरन्तर छः दिवस तक उनके पास जाते और उनके उपदेशामृत से अपने मन को शान्त करते रहे। अन्त को उनके अनुगत होगये और देवमूर्त्तियाँ गङ्गा में फेंक दीं। ❀

कासगञ्ज के एक पण्डित दुर्गादत्त ने स्वामीजी की निन्दा में उनके नाम पर कई श्लोक रचे थे; उनमें से एक श्लोक यह है:—

धर्मपादा दया लोके सा नष्टा कलिदोषतः।
आनन्दो हि गुणातीतो दयानन्दो निरर्थकः॥

महाभारत का संशोधन

अम्बागढ़ निवास के समय पं० अङ्गदराम महाभारत पाठ किया करते थे। वह पढ़ते जाते थे और स्वामीजी के साथ साथ विचार करते जाते थे कि कौनसा श्लोक आर्ष है और कौनसा अनार्ष और कौनसा शुद्ध है और कौनसा अशुद्ध।

दुःख है किसी ने इस संशोधित ग्रन्थ को प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। यदि वह मिल जाता तो कितना अमूल्य सिद्ध होता। स्वामीजी की इच्छा थी कि महाभारत का एक संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जाय। संभव है उन्होंने इसी लिये उसे शोधा हो।

पण्डित अङ्गदराम ने स्वामीजी के उपदेशों को श्लोकबद्ध किया था। उन श्लोकों में से एक यह था:—

रुद्राक्ष-तुलसी-काष्ठ-माला-तिलकधारणम्।
पाषंडं विजानीयात् पाषाणादिकाऽर्चनम्॥

एक दिन साल्ट इंस्पेक्टर ड्युरेंड (Durand) भी महाराज के दर्शन करने आये थे और उनके अनुरोध से रा० ब० बालमुकुंद डिपुटी कलक्टर भी जो उन दिनों इनकम टैक्स का अनुसन्धान करने सोरों आये थे श्रीसेवा में उपस्थित हुए थे।

पं० अंगद शास्त्री पीलीभीत वाले सम्मुख न आये

पण्डित अङ्गदराम शास्त्री पीलीभीत वाले भी उन दिनों सोरों में गये थे। उनसे स्वामीजी के शिष्य पं० अङ्गदराम शास्त्री बदरिया वाले का शास्त्रार्थ भी हुआ था जिसमें पीलीभीत वाले शास्त्री को परास्त होना पड़ा था। इन शास्त्री महोदय को अपने पाण्डित्य पर बड़ा घमण्ड था और बड़ी आत्मश्लाघा किया करते थे। एक वार सोरों आने से पहले जब स्वामीजी कर्णवास में विराजमान थे शास्त्री महोदय ने स्वामीजी के पास एक पत्र भेजा था जिसमें अपनी प्रशंसा में यह श्लोक लिखा था—

शेषः पातालके चास्ति स्वर्लोके च बृहस्पतिः।
पृथिव्यामंगदः साक्षात् चतुर्थो नैव विद्यते॥

पाताल में शेषनाग है, स्वर्ग लोक में बृहस्पति है, पृथ्वी पर साक्षात् अङ्गद है, चौथा

❀ अयोध्याप्रसाद नामक एक धनाढ्य व्यक्ति ने एक मन्दिर बनवाया था। उसने पं० अङ्गदराम से उसकी प्रतिष्ठा कराने को कहा तो उन्हों ने साफ़ इनकार कर दिया।

नहीं है। स्वामीजी ने इसके उत्तर में बहुत लम्बी चिट्ठी लिखी थी जिसमें उसकी विद्वत्ता की ख़ूब ख़बर ली थी।

सोरों में स्वामी कैलासपर्वत ने पं० जगन्नाथ को बरेली से स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराने के लिये बुलवाया था। वह सोरों आ तो गये, परन्तु स्वामीजी के सम्मुखीन होकर शास्त्रार्थ करने पर उद्यत न हुए। पुराण-सिद्धि के पक्ष में अवश्य उन्होंने मनुस्मृति का यह श्लोक 'इतिहास पुराणानि धर्म शास्त्राणि श्रावयेत्' लिख भेजा जिसका उत्तर स्वामीजी ने दे दिया कि यहाँ पुराणानि से १८ पुराण अभिमत नहीं है। प्रत्युत सनातन इतिहास है।

गोसाईं बलदेव गिरि तो महाराज के इतने अनुगत हुए थे कि वह अपने को उनका शिष्य कहने में बड़ा गौरव मानते थे और हर समय प्राणपण से उनकी सेवा करने पर उद्यत रहते थे। उन्होंने अपने शिष्य हृदय गिरि को यह आदेश दिया था कि मृत्यु के पश्चात् उनके शव को पृथ्वी में गाड़ा न जाय बल्कि वेदोक्त रीति के अनुसार अग्नि में दाह किया जाय। शिष्य ने भी उनके देहावसान पर अक्षरशः गुरु की आज्ञापालन करके अपनी गुरुभक्ति का परिचय दिया।

बलदेवगिरि बड़े शूरवीर पुरुष थे। उनकी स्वामीजी में अनुपम भक्ति और प्रीति को देखकर दुष्ट लोग भयभीत रहते थे और स्वामीजी को हानि पहुँचाने का विचार रखते हुए भी कोई दुष्टता न कर सकते थे।

दयानन्द के धोखे एक साधु का गंगा में मज्जन

स्वामीजी की मूर्तिपूजा आदि की तीव्र आलोचना से मूर्तिपूजक दल बहुत रुष्ट होगया था। यहाँ तक कि उसमें जो गुण्डे और लुंगाड़े थे वह तो उनका प्राणहरण ही करना चाहते थे। एक रात को ऐसे कुछ लोग इकट्ठे होकर आए कि दयानन्द को पकड़कर गङ्गा में डुबा दें। जहाँ स्वामीजी सोया करते थे उसके समीप ही एक साधु सो रहा था। उन्होंने उसे दयानन्द समझकर गङ्गा में डाल दिया। वह चिल्लाया कि मुझे बचाओ तब उन गुण्डों को ज्ञात हुआ कि उन्होंने दयानन्द के धोखे अन्य साधु को गङ्गा में डाल दिया है और तब उस साधु को जल में से निकाला।

क्रोधी जाट

एक दिन महाराज उपदेश कर रहे थे। सभा-मण्डप श्रोताओं से खचाखच भरा था कि एक जाट क्रोध में भरा हुआ एक मोटा लट्ठ लिये हुए आया और आते ही स्वामीजी को सम्बोधन करके बोला 'अरे साधु! तू मूर्ति-पूजा का खण्डन करता है, गङ्गा मैया की निन्दा करता है, देवी देवताओं को बुरा कहता है। झटपट बता यह लट्ठ तेरे कहाँ मारकर तुझे समाप्त करूँ'। यह सुनकर एक बार तो सारी सभा विचलित होगई, परन्तु महाराज की शान्ति व धैर्य भङ्ग न हुए। उन्होंने गम्भीरतापूर्वक उससे कहा कि यदि तू समझता है कि मेरा धर्म-प्रचार करना अपराध है, तो इसका अपराधी मेरा मस्तिष्क है। वही मुझ से यह कार्य्य कराता है। इसलिये यदि तू अपराधी को दण्ड देना चाहता है, तो अपना लट्ठ मेरे सिर पर मार। यह कहकर महाराज ने अपनी दृष्टि उस पर डाली। महाराज की आँखें ज्योंही उसकी आँखों के सामने हुईं त्योंही उसका हिंस्र-भाव विलुप्त होगया और वह श्रीचरणों में गिर पड़ा और रोकर अपना अपराध क्षमा कराने लगा। महाराज ने उससे कहा कि तुमने मेरा

कोई अपराध नहीं किया। यदि तुम मुझे मारते तो भी कोई बात थी। अब व्यर्थ क्यों रो रहे हो, जाओ ईश्वर तुम्हें सन्मार्ग दिखावे।

गढ़िया घाट में स्वामीजी से वैरागी लोग बहुत द्वेष करने लगे थे। महाराज वहाँ एक क्षत्रिय के यहाँ ठहरे थे जो वैष्णव था। वह महाराज के उपदेश से भ्रमजाल से मुक्त होगया था। उसने कण्ठी तोड़ डाली थी और ठाकुर पूजा छोड़ दी थी। वैरागियों को भय हुआ कि जब दयानन्द की शिक्षा से ऐसे समृद्ध व्यक्ति भी मूर्त्ति-पूजा छोड़ने लगे तो किसी दिन उनकी आजीविका बिल्कुल ही समाप्त हो जावेगी। स्वामीजी वैरागियों की प्रकृति को जानते थे। उन्होंने सुन रक्खा था कि कानपुर के पास वैरागियों का एक बहुत बड़ा अड्डा है। एक बार वहाँ एक विरजानन्द नाम का साधु जा निकला था। उन्होंने दयानन्द समझकर एक रात सोते हुए को उठाकर गङ्गा में डाल दिया। वह साधु तैरना जानता था अतः तैर कर पार होगया अन्यथा उसके प्राण जाने में कोई सन्देह न रहा था। अतः स्वामीजी वैरागियों से सदा सावधान रहा करते थे।

वैरागियों का द्वेष

एक दिन जो मौज आई तो सूर्योदय से पहले ही किसी से कुछ कहे सुने बिना ही स्वामीजी सोरों से चल दिये।

ज्येष्ठ संवत् १९२५ में स्वामीजी फिर कर्णवास पधारे और जिस कुटी में पहले ठहरे थे उसी में ठहरे। आपके आगमन का शुभ समाचार सुनकर आपके भक्त सेवा में उपस्थित होकर आतिथ्य में प्रवृत्त हुए। महाराज पूर्व की भाँति लोगों को सत्य सनातन वैदिक धर्म्म के तत्व समझाने और अवैदिक रूढ़ियों का खण्डन करने लगे। ज्येष्ठ शुक्ला १० को कर्णवास में गङ्गा स्नान का मेला होता है और आस पास के प्रदेश के सहस्रों नर-नारी मेले में इकट्ठे होते हैं। कर्णवास से कुछ दूर बरौली नाम का एक ग्राम है। उन दिनों वहाँ एक बड़े ज़मींदार और रईस निवास करते थे जिनका नाम राव कर्णसिंह था। वह बड़गूजर क्षत्रिय थे। वह वृन्दावन के प्रसिद्ध रङ्गाचारी चक्राङ्कित सम्प्रदाय के धर्माचार्य के शिष्य थे। उनकी सुसराल भी कर्णवास में थी। वह भी उस अवसर पर गङ्गास्नान के लिये आये थे। एक दिन जब कि महाराज लोगों को सदुपदेश कर रहे थे और उनकी शङ्काओं का निराकरण कर रहे थे, राव कर्णसिंह भी सभास्थल में अपने शस्त्रधारी अनुचरों के साथ आये। आते ही महाराज को प्रणाम करके बोले—

कर्णवास

राव कर्णसिंह का आक्रमण

कर्ण०—हम कहाँ बैठें ?

स्वामीजी—जहाँ आप की इच्छा हो।

कर्ण०—(कुछ घमण्ड सहित विकृत स्वर में) हम तो जहाँ आप बैठे हैं वहाँ बैठेंगे।

स्वामीजी—(शीतल पाटी के एक सिरे की ओर हट कर) आइए बैठिये।

कर्ण०—(बैठ कर) आप गङ्गा को नहीं मानते ?

स्वामीजी—गङ्गा जितनी है उतनी मानते हैं।

कर्ण०—कितनी है ?

स्वा०—हम संन्यासियों के लिये तो कमण्डल भर है क्योंकि हमारे पास कोई अन्य पात्र नहीं है।

कर्ण०—गङ्गा की स्तुति में कुछ श्लोक पढ़ता है।

स्वा०—यह बात तुम्हारी गप्प है। यह तो जल है, जल से मोक्ष नहीं होती, मोक्ष तो कर्मों से होती है।

कर्ण०—हमारे यहाँ रामलीला होती है वहाँ चलिये।

स्वा०—तुम कैसे क्षत्रिय हो महापुरुषाओं का स्वांग बनाकर नचाते हो। यदि कोई तुम्हारे पुरुषाओं का स्वांग बनाकर नचावे तो तुमको कैसा बुरा लगे। (उसके ललाट पर चक्राङ्कितों का तिलक देखकर) तुम क्षत्रिय हो, तुमने अपने मस्तक पर यह भिखारियों का तिलक क्यों लगाया है और भुजाएँ क्यों दग्ध की हैं ?

कर्ण०—(क्रोध में भर कर) हमारा परम मत है, यदि तुमने उसका खण्डन किया तो हम बुरी तरह पेश आवेंगे।

स्वा०—(शान्त और गंभीरतापूर्वक चक्राङ्कित मत का खण्डन करते रहे और उसके क्रोध की किञ्चित्-मात्र भी परवाह न की)।

कर्णसिंह के तन में खण्डन-वचन सुन कर आग लग गई और उसने म्यान से तलवार निकाल ली।

स्वामीजी—(कुछ भी भय न करते हुए) यदि सत्य कहते हुए सिर कटता है तो तुम्हें अधिकार है काट लो, यदि शास्त्रार्थ करना है तो जयपुर आदि के राजाओं से लड़ो। शास्त्रार्थ कराना है तो अपने गुरु रङ्गाचारी को वृन्दावन से बुलवालो और प्रतिज्ञा लिखा लो कि यदि वह हार जाय तो अपना मत छोड़ दे।

कर्ण०—(क्रोध में) महाराज रङ्गाचारी के सामने तू कीड़े के तुल्य है, तुझ जैसे उस के आगे जूतियाँ उठाते हैं।

स्वामीजी—(केवल इतना ही कहा) रङ्गाचारी की मेरे सामने क्या गति है!

कर्णसिंह महाराज को इसी प्रकार गालियाँ देने लगा, महाराज पद्मासन लगाये सुनते और हँसते रहे। कहते हैं कि उसने महाराज पर तलवार चलाई। तब महाराज ने गरज कर उस के हाथ से तलवार छीन ली और पृथ्वी पर टेक कर तोड़ दी और कहा कि कहे तो यह तलवार तेरे शरीर में घूँस दूँ। इस पर ठाकुर किशनसिंह खड़े हो गये और कहा कि यदि तू ने महाराज के लिये एक शब्द भी कहा तो फ़ौजदारी हो जायगी, तुझे उपदेश नहीं सुनना है तो चला जा। तब तो कर्णसिंह घबराया और लज्जित होकर अपने डेरे को चला गया*।

---

* पं० लेखराम ने इस घटना के विषय में जिन सज्जनों के वर्णन दिये हैं उनमें से कई यह कहते हैं कि कर्णसिंह ने तलवार की मूठ पर हाथ रक्खा था और कोई यह कि उसने तलवार म्यान से निकाल ली थी। कई यह कहते हैं कि तलवार निकाल कर कर्णसिंह का एक अनुचर बलदेवदास वैरागी महाराज पर आक्रमणकारी हुआ था और महाराज ने उसे इतने ज़ोर से धक्का दिया था कि वह पीछे को जा पड़ा था। तलवार छीन कर और पृथ्वी पर टेक कर तोड़ देना केवल एक सज्जन ने बयान किया है, परन्तु इनकी यह घटना सुनी हुई है, देखी हुई नहीं। जो घटना के समय उपस्थित

कर्णसिंह के चले जाने पर कुछ सभास्थ लोगों ने महाराज से कहा कि इस घटना की थाने में रिपोर्ट कर दीजिये। महाराज ने उत्तर दिया कि जब वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो क्या हम अपने ब्राह्मणत्व से पतित हो जावें? दूसरे, हमें उस से कुछ हानि भी नहीं पहुँची है, सन्तोष करना ही हमारा धर्म्म है। और यह श्लोक पढ़ा—

हम ब्राह्मणत्व से पतित नहीं होंगे

धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्म्मो न हन्तव्यो मा नो धर्म्मो हतोऽवधीत् ॥

और कहा उस के लिये इतनी लज्जा ही पर्य्याप्त दण्ड है, यदि बुद्धिमान् होगा तो फिर ऐसा कर्म्म न करेगा।

प्राणों पर आक्रमण होने के समय भी शान्त रहना, प्राणघातकों पर भी क्रोध न करना, अपकार के बदले अपकार न करना बल्कि उपकार करना, किसी के प्रति द्वेष का लवलेश न रखना दयानन्द से वेदज्ञ, दयानन्द से योगी, दयानन्द से दयालु का ही काम था। क्या अब भी कोई कह सकता है कि दयानन्द ऋषि नहीं था?

कर्णसिंह के चले जाने पर महाराज पूर्ववत् शान्ति और सुमनस्कता के साथ उपदेश करने लगे मानो कोई विघ्नकारी घटना हुई ही न थी। भक्त-जन महाराज का धैर्य, महाराज का गांभीर्य, उनकी शान्ति, उनकी तितिक्षा, उनका सन्तोष, उन में प्रतिहिंसा का अभाव देख कर विस्मित रह गये और उन के हृदय में महाराज के प्रति प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और सम्मान के भाव शतशः और सहस्रशः अधिक हो गये।

कर्णसिंह इस प्रकार लज्जित और तिरस्कृत होकर घर पहुँचे। जाते ही उन का एक बहुत अच्छा घोड़ा जिसे वह बहुत प्यार करते थे अकस्मात् एक मारक रोग में ग्रस्त होकर मर गया। लोगों की यह धारणा हो गई कि दयानन्द जैसे महात्मा को कुवाक्य कहने और उस पर आक्रमण करने का परिणाम कर्णसिंह को तुरन्त ही मिल गया। कहते हैं कि वर्षा के कारण रामलीला भी पूरी न हो सकी और रावण तक न जल चका। कर्णसिंह के एक शूल उठा जिसके कारण उसे बहुत पीड़ा हुई। एक पण्डित ने उससे कहा कि यह सब तुम्हारे एक महात्मा को दुर्वाक्य कहने का परिणाम है। इस पर उसने कई रुपये का मिष्टान्न स्वामीजी के पास भेजा और अपने अपराध के लिये क्षमा मांगी। परन्तु महाराज ने वह मिष्टान्न यह कह कर लौटा दिया कि उसने हमारा कोई अपराध नहीं किया।

पाप के फल

शरत् पूर्णिमा को राव कर्णसिंह फिर गङ्गास्नान को आये और बारहदरी में ठहरे। स्वामीजी पहली कुटिया में ही विराजमान थे। उन्होंने देखा कि स्वामीजी अभी तक कर्णवास में उपस्थित हैं और निःसङ्कोच होकर

पुनः प्राणहरण-चेष्टा

थे उनमें से कोई यह बात नहीं कहता। देवेन्द्र बाबू ने भी केवल इतना ही लिखा है कि 'कर्णसिंह ने तलवार सँभाली'। हम समझते हैं कि जब कर्णसिंह ने तलवार निकाली तो उसी समय ठाकुर किशनसिंह आदि महाराज की रक्षा के लिये खड़े होगये और कर्णसिंह अपने दुष्ट सङ्कल्प में कृतकार्य न हो सका।

—संग्रहकर्त्ता

वेदविरुद्धमतों का खण्डन कर रहे हैं। उनके दुष्ट भाव फिर जागृत हुए। पहली वार वह अपने जुगुप्सित कार्य्य में असफल रहा था और अत्यन्त अपमानित हो कर उसे वापस जाना पड़ा था। यह असफलता और अपमान उसके हृदय का शूल बना हुआ था। स्वयं तो वह महाराज पर आक्रमण करने का साहस न कर सकता था। उस ने महाराज का शिरश्छेद कराने का दूसरा उपाय सोचा। उसने सोचा कि किसी अन्य दुष्कर्म-रत मनुष्य से यह कार्य कराना चाहिये। अतः पहले तो उसने वैरागियों को उकसाया और कहा कि दयानन्द का सिर काट डालो, मैं रुपया व्यय करके तुम्हें बचा लूँगा। परन्तु वह घबरा गये और कर्णसिंह के बहकाने में न आये। फिर उसने अपने सेवकों को इस कार्य के लिये उद्यत किया।

स्वामीजी वस्त्र तो पहनते ही न थे, रात्रि को भी भर जाड़े में अपने ऊपर पियार डाल कर सो जाते थे। उनके भक्तों ने यह परामर्श किया कि स्वामीजी जब सो जाया करें तो उनके ऊपर कम्बल डाल दिया करें। अतः वह ऐसा ही करने लगे। परन्तु रात्रि में यदि कम्बल शरीर पर से उतर जाता तो वह स्वयं दुबारा न ओढ़ते। भक्तजन को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने एक व्यक्ति कैथलसिंह नामक को इसलिये नियत कर दिया कि वह जगता रहा करे और रात्रि में जब कम्बल उतर जाया करे तो पुनः उढ़ा दिया करे।

एक दिन रात्रि के दो बजे कर्णसिंह ने अपने तीन सेवकों को तलवार देकर भेजा कि दयानन्द का मूँड़ काट लाओ। यह गये तो सही परन्तु कुटी के

हुंकारमात्र से घातकों का पलायन

भीतर जाने का साहस न हुआ। स्वामीजी और कैथलसिंह दोनों ही सो रहे थे। कैथल तो सोता ही रहा, परन्तु स्वामीजी खटका सुन कर उठ बैठे। कर्णसिंह के आदमी लौट गये और उससे जाकर कहा कि हमारी हिम्मत नहीं पड़ती। कर्णसिंह ने उन्हें धमका कर फिर भेजा, परन्तु इस वार भी वह कुटी के भीतर पैर न रख सके। इस वार तो कर्णसिंह को उन पर बहुत क्रोध आया और उन्हें गालियाँ देकर फिर भेजा। वह गये और कुटी के द्वार पर जाकर कहा कि कुटी में कौन है ? स्वामीजी यह सुन कर खड़े हो गये और कुटी के द्वार पर इस जोर से हुङ्कार शब्द किया कि घातक लोग घबरा कर उलटे होकर गिर पड़े और उनके हाथ से तलवार छूट गई, फिर वह ज्यों त्यों करके संभले और उलटे पाँव भाग गये। महाराज का हुङ्कार सुन कर कैथल भी जाग पड़ा और उसने महाराज से कहा कि आप अन्यत्र चले जाइये परन्तु महाराज ने भगवद्गीता का यह श्लोक "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। नचैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः" ॥ पढ़ कर कहा कि मुझे कोई नहीं मार सकता, फ़क़ीर कहीं गढ़ों और घरों में घुसते हैं, हमारा मनुष्य नहीं प्रत्युत देव रक्षक है और घबरा मत, मैं उसी का शस्त्र लेकर उसे हनन कर डालूँगा। परन्तु वह डर गया और उसने भाग कर महाराज के भक्त क्षत्रियों को जगाया और सारा वृत्तान्त सुनाया। उसे सुन कर बहुत से क्षत्रिय कुटी पर पहुँच गये। जब यह लोग वहां पहुंचे तो केवल चार घड़ी रात्रि रह गई थी। ठाकुर किशनसिंह ने उच्च स्वर से कर्णसिंह को गालियाँ देनी आरम्भ कीं और ललकार कर कहा कि यदि क्षत्रिय का वीर्य्य है तो हथियार बाँधकर हमारे सामने आ। महाराज ने उन्हें बहुत समझाया कि वह स्वयं भीरु है हमारा कुछ नहीं कर सकता,

परन्तु उन का क्रोध शान्त न हुआ और उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि यदि आज कर्णसिंह यहाँ रहा तो उसे विना पीटे न छोड़ेंगे। ठाकुरों ने महाराज से भी कहा कि जो आज्ञा हो वह करें, परन्तु उन्होंने उदासीन भाव से यही कहा कि हम कुछ नहीं कहते; परन्तु हम नहीं चाहते कि तुम लोग हमारे लिये आपस में लड़ो। कर्णसिंह के श्वसुर ने जब ठाकुर किशनसिंह आदि के विचार सुने तो वह उसके पास गया और उससे कहा कि यदि तुम्हारे दिन अच्छे हैं, तो तुरन्त यहाँ से चले जाओ, अन्यथा यह सत्य समझो कि आज तुम्हारी इज्ज़त जरूर विगड़ जावेगी, तुम्हारे हथियार छिन जावेंगे, और तुम खूब पिटोगे। कर्णसिंह में इतना दम कहाँ था, वह श्वसुर की बात मान कर अपना डेरा-डंडा सँभाल कर वहाँ से चलता बना।

कहते हैं कि कर्णसिंह घर जाते ही बीमार होगया और विक्षिप्तों की भाँति अण्ड बण्ड बकने लगा। रोगमुक्त होने पर वह अपने मत के विरुद्ध मद्य पीने और मांस खाने लगा, एक बड़ी रक़म का मुकद्दमा भी हार गया और उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

कहते हैं कि घातक लोगों ने पीछे स्वीकार किया कि यद्यपि हम शस्त्रधारी थे और पहले भी हम ऐसे कर्म कर चुके थे, परन्तु उस रात्रि को स्वामीजी का हम पर ऐसा आतङ्क छाया कि हम कुछ न कर सके।

अम्बागढ़ व सरदोल

इसके पश्चात् स्वामीजी चार पाँच दिन कर्णवास और रहे और फिर अम्बागढ़ चले गये। वहाँ थोड़े ही दिन ठहर कर सरदोल पहुँचे। वहाँ के ज़मींदार ठा० हुलासिंह और कतिपय अन्य क्षत्रियों ने स्वामीजी की शिक्षा को ग्रहण किया। सरदोल से महाराज शहबाज़पुर गये।

शहबाज़पुर

यह ग्राम सोरों से ४–५ कोस पर है। सोरों में जब उनके शहबाज़पुर में ठहरने का समाचार पहुँचा, तो वहाँ से भक्त बलदेवगिरि व पं० अयोध्याप्रसाद व नारायण पण्डित उनसे मिलने गये। उन्हें महाराज का एक दिन का वियोग भी असह्य हुआ। संभवतः उसी दिन सोरों में यह समाचार आया था कि आश्विन कृष्णा १३ संवत् १९२५ को दण्डी विरजानन्द का देहावसान होगया। इन लोगों ने जब यह दुःखप्रद समाचार स्वामीजी से कहा तो वह शोकातुर होगये और थोड़ी देर चुप रह कर उन्होंने अन्तर्वेदना के साथ कहा कि आज व्याकरण का सूर्य अस्त होगया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने को सँभाला और उपदेश के कार्य में लग गये।

दयानन्द के शिरश्छेद का यत्न

दो वैरागी गङ्गा पार से शहबाज़पुर एक ठाकुर के पास आये। उनमें से एक ठाकुर का मित्र था। उसने उस ठाकुर से तलवार माँगी और कहा कि हम इस गप्पाष्टक का मूँड काटेंगे। ठाकुर महाराज का उपदेश सुन चुका था और उनका श्रद्धालु बन गया था। उसने वैरागी को दुत्कारा और कहा वह तो बड़े महात्मा हैं, दुष्टो! यदि तुमने फिर यह बात मुँह से निकाली तो मैं तुम्हारा ही मूँड काट डालूँगा, जाओ और मेरे सामने से दूर होओ। ठाकुर को यह भय हुआ कि दुष्ट वैरागी महाराज पर आक्रमण न कर बैठें, अतः वह और दो चार अन्य क्षत्रिय शस्त्र धारण करके महाराज के समीप गये और उनसे सब वृत्तान्त कहा।

महाराज ने उदासीन भाव से कहा कि उनकी क्या सामर्थ्य है जो हमें मारें। स्वामीजी के निषेध करने पर भी वह वीर क्षत्रिय रात भर पहरा देता रहा।

एक चक्राङ्कित ठाकुर भी महाराज के पास आया था। उसने महाराज से धर्म्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तर किये। जब वह निरुत्तर होगया तो लगा बेहूदा बकने। तब उन्हीं ठाकुर ने उससे कहा कि सीधा क्यों नहीं बोलता, मुँह संभालकर बोल। उसे बहुत कुछ धमकाया और वह चुपचाप चला गया।

उस क्षत्रिय का नाम ठाकुर गङ्गासिंह था, वह कई ग्रामों का ज़मींदार था।

शहबाज़पुर में साधु मायाराम उदासी ने यह देख कर, कि ब्राह्मण लोग उनकी बहुत निन्दा करते हैं, महाराज से कहा कि आप मूर्त्ति-पूजा आदि का खण्डन करके क्यों लोगों को शत्रु बनाते हैं, हमारी भाँति भोजन कीजिये और मग्न रहिये। महाराज ने उत्तर दिया कि हमें तो ईश्वराज्ञा-पालन और वेद के प्रचार में ही आनन्द आता है।

कादिरगंज

शहबाज़पुर से महाराज कादिरगंज पधारे। वहाँ अधिकतर लोग वैष्णव मतावलम्बी थे। उनमें से कुछ लोग उनसे धर्मालाप करने आये, परन्तु वह हल्ला-गुल्ला करके ही चले गये। कादिरगंज से स्वामीजी नरदौली गये। नरदौली में १० दिन के लगभग महाराज की स्थिति रही। उनके आगमन का समाचार चारों ओर फैल गया और २०-२० कोस से लोग उनके दर्शनों को आये। अनेक पण्डित और पण्डितंमन्य भी आये, परन्तु सब ही शास्त्र-विचार में उनसे परास्त होकर चले गये। अनेक लोगों ने उनकी शिक्षा स्वीकार की जिनमें मुख्य ला० लीलाधर, पं० मूलचन्द और पं० प्राणनाथ थे। महाराज ने अनेक लोगों को सन्ध्योपासना की पुस्तक पढ़ाई और विधि बतलाई। जब महाराज वहाँ से जाने लगे तो ला० लीलाधर ने उनसे कहा कि यहाँ से चार कोस पर गङ्गा के तट पर ककोड़े में गङ्गास्नान का बड़ा भारी मेला होता है, जहाँ दूर दूर से लाखों यात्री आते हैं, यदि आप वहाँ पधारें तो सहस्रों मनुष्यों को आपके धर्मोपदेश से लाभ पहुँचेगा। महाराज तो ऐसे अवसरों की खोज में रहते थे वह ऐसे अवसर को हाथ से कब जाने देते। उन्होंने तुरन्त ही यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कार्त्तिक शु० १३ संवत् १९२५ को पं० प्राणनाथ को साथ लेकर मेले में जा पहुँचे और पश्चिम की ओर ब्राह्मणों के स्थान पर डेरा किया। उस दिन ऐसा हुआ कि किसीने उन्हें भोजन के लिये न पूछा और उन्हें और पं० प्राणनाथ को निराहार रहना पड़ा। अगले दिन प्रातःकाल ही पं० प्राणनाथ नरदौली चले गये ताकि महाराज के लिये भोजन लावें। नरदौली में उन्होंने लीलाधर से कहा कि कल मैं और स्वामीजी निराहार रहे हैं। उन्होंने मूलचन्द से कहा कि शीघ्र भोजन तैयार कराकर लेजाओ और स्वामीजी को भोजन कराओ। वह यथासम्भव शीघ्र भोजन बनवाकर ककोड़ा चले गये। परन्तु उनके मेले में पहुँचने से पहले ही सोरों से बलदेव गिरि, पं० अंगदराम और अन्य कतिपय सज्जन मेले में पहुँच गये थे और उन्हों ने महाराज के भोजनादि का सुप्रबन्ध कर दिया था। जब पं० मूलचन्द यहाँ पहुँचे तो क्या देखते हैं कि अनेक प्रकार के पकवान और मिष्टान्नादि महाराज के पास रक्खे हैं और सोरों

नरदौली

ककोड़े का मेला

के भक्तजन बैठे हैं। महाराज ने पं० मूलचन्द को देखकर अपने पास बुला लिया। पंडितजी ने भोजन महाराज के समीप रख दिया। उन्होंने पूछा कि क्या अन्य लोग भी आरहे हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि बहुतसे लोग आरहे हैं। तब महाराज ने कहा कि हमारे पास मिष्टादि बहुत रक्खा है, आप सब लोग भोजन करके हमारे पास आजाओ। बलदेवगिरि ने महाराज के स्थल पर कनात लगवा दी थी और उनके बैठने के लिये एक ऊँची जगह बना कर उस पर गद्दे डाल दिये थे।

राय बालमुकुन्द बहादुर डिपुटी कलक्टर भी मेले में गये थे। उन्होंने एक दिन देखा कि एक जगह सहस्रों मनुष्यों की भीड़ लगी हुई है। कारण पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का उपदेश हो रहा है। वह भी उपदेश-स्थल पर गये तो उन्होंने देखा कि एक अंग्रेज पादरी से उनके प्रश्नोत्तर हो रहे हैं। एक देसी पादरी दुभाषिये का कार्य्य कर रहा है। अन्य धर्मविषयक प्रश्नों के अतिरिक्त पादरी से निम्न लिखित प्रश्नोत्तर भी हुए थेः—

पादरी से वार्तालाप

पादरी—आप नंगे क्यों रहते हैं?

स्वामीजी—सुख के अर्थ, इससे सुख रहता है। आपके कपड़ों पर यदि धूलि गिर जाय तो वह मैले हो जायँ। मेरे शरीर पर यदि गिर जाय तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इस पर पहले से ही मिट्टी मली हुई है।

पादरी—आप ख़ूब तन्दुरुस्त और मोटे हैं?

स्वामीजी—इसका कारण सन्तोष है।

पादरी—आप ख़ूब माल खाते हैं?

स्वामीजी—मेरे साथ जंगल में दिन-रात रह कर देख लो कि मैं क्या माल खाता हूँ।

बरेली के पण्डित उमादत्त कई पण्डितों के साथ स्वामीजी से मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने आये। थोड़ी देर में ही वह निरुत्तर हो गये। तब उन्होंने कहा कि महाभारत से मूर्ति-पूजा सिद्ध होती है। देखिये एकलव्य भील ने द्रोणाचार्य्य की मूर्ति बना कर पूजा की थी। स्वामीजी ने कहा कि अज्ञानी भील का कर्म धर्मविषय में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। फिर उन्होंने दुर्योधन का उदाहरण दिया तो स्वामीजी ने कहा कि महामूढ़ दुर्योधन का कर्म भी इस विषय में अमान्य है। पंडित उमादत्त ने भगवद्-गीता के कुछ श्लोक प्रस्तुत किये। स्वामीजी ने उनकी ऐसी व्याख्या की कि उसे सुन कर सब लोग हँस पड़े। स्वामीजी ने पण्डित उमादत्त के शुद्ध उच्चारण पर प्रसन्नता प्रकट की और उनकी प्रशंसा की कि आप साक्षर हैं।

पं० उमादत्त से शास्त्रार्थ

गोविन्ददास एक कायस्थ था जो वैरागी होगया था। उसके साथ कई लड़के ब्राह्मण आदि के थे। वह उन्हें अपना उच्छिष्ट खिलाता था और उनसे सेवा कराता था। और उन लड़कों के हाथो में गोमुखी देकर उनसे यह जप कराता था कि 'हरि भजो सब छोड़ो धन्दा।' एक दिन जब वह प्रातः कृत्य करने के पश्चात् अपने स्थल को वापस आरहे थे स्वामीजी का घाट पर उससे साक्षात् हो गया। स्वामीजी ने उससे कहा कि तुम सब शुभ काम कैसे छुड़ाते हो और सब काम

वैरागी निरुत्तर

कैसे छूट सकते हैं। भोजन करना आदि कर्म कैसे छूट जायंगे। इसका उसने कुछ उत्तर न दिया। तब स्वामीजी ने उसके मत का तीव्र खण्डन किया, परन्तु वह सर्वथा मौन रहा।

क़ायमगंज के पं० श्यामलाल भी स्वामीजी से मिले थे। स्वामीजी ने पं० श्यामलाल से पूछा कि कहाँ रहते हो और क्या काम करते हो? उन्होंने कहा कि क़ायमगंज रहता हूँ और कथा-पुराण बाँचता हूँ। स्वामीजी ने फिर पूछा कि कौनसी कथा? तो उन्होंने कहा कि आजकल ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण का कृष्ण खण्ड बाँच रहा हूँ। स्वामीजी ने कहा कि २० दिन तक यह शरीर वहाँ पहुँच जायगा। शीघ्र समाप्त करलो ताकि तुम्हारी हानि न हो।

उस अंग्रेज पादरी के अतिरिक्त अन्य पादरी, मुसलमान मौलवी भी स्वामीजी से धर्म-विषय पर बातचीत करने आये, परन्तु सब निरुत्तर होकर चले गये। यही दशा पौराणिक पण्डितों की हुई, सब ही परास्त होकर गये।

इस प्रकार धर्म-मेघ बरसाकर और धर्म-चातकों की पिपासा को शान्त करके महाराज मार्गशीर्ष कृष्णा १० को नरदौली लौट आये और एक संन्यासी से जीव-ब्रह्म की एकता पर शास्त्रार्थ किया, जिसमें संन्यासी की वही गति हुई जो अन्यों की महाराज से शास्त्रार्थ करने में होती थी।

गोसाईं ने मूर्त्तियाँ फेंकदीं

नरदौली में स्वामीजी के उपदेश से रामपुरी गोसाईं ने मूर्त्तियाँ गङ्गा में फेंकदी थीं। मार्गशीर्ष कृष्णा ११ को महाराज ने नरदौली से प्रस्थान किया।

क़ायमगंज

मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष संवत् १९२५ में स्वामीजी क़ायमगंज पहुँच कर हरिशङ्कर पाँडे के शिवालय में ठहरे जो नगर से बाहर उत्तर की ओर है। पण्डित गङ्गाप्रसाद कान्यकुब्ज आदि सज्जन उनके आगमन का समाचार सुनकर उनके दर्शनों को गये। जब भोजन का समय हुआ तो उन लोगों ने स्वामीजी से कहा कि महाराज स्नान कर लीजिये और भोजन पा लीजिये। वह बोले कि हमारे पास सिवाय एक लँगोट के और कुछ नहीं है और यहां माईयों का गमनागमन है, अतः जबतक लँगोट नहीं सूखता तब तक हम कोई दूसर वस्त्र धारण नहीं कर सकते, अतः हम यहां स्नान के बाद नग्न नहीं रह सकते। तब सब लोगों के कहने से वह लाला गिरधारीलाल महाजन के बाग़ में जो एकान्त स्थान में है चले गये। और वहीं जाकर स्नान और भोजन किया। इस बार स्वामीजी कायमगंज में लगभग बीस दिन रहे। लोगों के पूछने पर उन्होंने त्रिकाल-सन्ध्या का निषेध किया और दो काल सन्ध्या करने का उपदेश दिया। हवन में यव डालने का निषेध करते थे और कहते थे कि यव तो पशुओं का खाद्य है। स्वयं तो लोग हलवा पूरी खाते हैं और देवताओं को यव खिलाते हैं। सन्ध्या, गायत्री और बलिवैश्वदेव का उपदेश करते थे। एक ब्राह्मण ने उनसे कहा कि हम सत्यनारायण की कथा के लिये रुपये की मिन्नत मानते हैं और काम सिद्ध हो जाता है, आप उसका क्यों खण्डन करते हैं। स्वामीजी ने कहा कि हम पाँच रुपये सत्यनारायण के रखाते हैं कि लखपति हो जावें, तो क्या होजावेंगे? विद्यादि पदार्थ श्रमसाध्य हैं। यदि मनौतो से मनोकामना सिद्ध हो जाय तो ईश्वर उत्कोच लेने वाला सिद्ध होगा। यदि यह पदार्थ मनौती से प्राप्त होजाया करें तो कोई उनके उपार्जन के लिये शरीर और मन को कष्ट क्यों दें?

इस पर वह ब्राह्मण चुप होगया। जैसा भोजन कोई उनके लिये लेजाता था वैसा ही ग्रहण कर लेते थे। जितनी इच्छा होती थी उतना ही रखलेते थे और शेष बांट देते थे और यह कहा करते थे कि "अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्" अर्थात्—अन्न की निन्दा न करनी चाहिये। आधी रात्रि के पश्चात् वह किसी को अपने पास नहीं रहने देते थे। लोग उन्हें कम्बल उढ़ा आते थे, परन्तु वह उतार कर फेंक दिया करते थे। पं० बन्सीधर ने उनके उपदेश से मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी थी। वह स्नान के समय महाराज का शरीर मल-मल कर धोया करते थे और वही उनके संस्कृत-कथन का भाव लोगों को समझाया करते थे।

मुरशिदाबाद परगना कम्पिल से १८-१५ मुसलमान आये और उन्होंने अपने धर्म्म और पैग़म्बर के महत्व पर बातचीत की, परन्तु स्वामीजी ने युक्ति-युक्त उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया।

एक ठाकुर ने पूछा—आप शिवलिङ्ग पूजन का निषेध करते हैं, परन्तु इसकी तो शास्त्रों में आज्ञा है। स्वामीजी ने कहा कैसी लज्जा की बात है जब शिवलिङ्ग अलग होकर यहाँ आ गया तो आपका शिव तो हिजड़ा रह गया।

ब्रह्मचर्य्य का उपदेश

स्वामीजी ने कहा जो लोग अधिक स्त्री प्रसङ्ग करते हैं वह दुर्बल हो जाते हैं और जो अधिक नहीं करते वह बलिष्ठ रहते हैं। लोगों को ऋतुगामी होने का उपदेश करते थे और कहते थे कि सन्तान उत्पत्ति के समय नाड़ि-छेदन स्त्रियों को स्वयं करना चाहिये। नीच जाति की स्त्रियों से कराना ठीक नहीं। वह बालक के मुख में अंगुली डालती हैं यह भी उचित नहीं है।

आचारी अवश्य खाऊँगा

एक बार एक मनुष्य भोजन के साथ आचारी भी लाया। उसने पूछा महाराज आप आचारी खाएँगे स्वामीजी ने कहा इसे तो मैं अवश्य खाऊँगा क्योंकि मैं तो इसके मत का खण्डन करता हूँ।

मौलवी अहमदअली दूबान से मनुष्योत्पत्ति विषय पर बात-चीत हुई तो स्वामीजी ने पूछा कि आदम हव्वा का वियोग क्यों हुआ? ख़ुदा ने उनके मन में प्रेम क्यों न उत्पन्न कर दिया? जो वियोग का दुःख न सहते। इसका मौलवी कोई उत्तर न दे सका। मौलवी स्वामीजी की बात से प्रसन्न हुआ और उनके कथन की पुष्टि करता रहा। उसने महाराज की बहुत प्रशंसा की और कहा यह फ़क़ीर बहुत बड़ा आलिम (विद्वान्) है और बुत-परस्त नहीं है।

पादरी अनलन

एक दिन पादरी अनलन, हरप्रसाद व कतिपय अन्य ईसाई बात-चीत के लिए आये और बाग़ की डौल पर बैठ गये। लोगों ने कहा कि यह स्वामीजी से ऊँचे स्थान पर बैठ गये यह अनुचित है। स्वामीजी ने कहा 'पक्षिणः सन्ति। पक्षिवत् एषां गतिः'। कुछ आक्षेप की बात नहीं है। उन्होंने पूछा हम पापी हैं, हमारे पाप कैसे क्षमा हों? स्वामीजी ने कहा पाप क्षमा नहीं हो सकते। थोड़ी देर बात-चीत के पश्चात् हरप्रसाद ने कहा हम संस्कृत नहीं जानते और स्वामीजी भाषा बोलते नहीं, इसलिये शास्त्रार्थ नहीं हो सकता और उठ कर चले गये।

चौबे परमानन्द और पं० बलदेवप्रसाद तो महाराज से इतने अनुरक्त हो गये थे

कि जब महाराज क़ायमगञ्ज से फ़रुख़ाबाद गये तो वहाँ उनके दर्शनों को गये।

काशीप्रसाद तहसीलदार ने स्वामीजी से कहा—भागवत सत्य है वा मिथ्या ? स्वामीजी ने कहा–है तो गप्प ही !

शकरुल्लापुर

क़ायमगञ्ज और कम्पिल होते हुए श्री महाराज सायङ्काल के समय जब कि वर्षा हो रही थी शकरुल्लापुर परगना शम्साबाद ज़िला फ़रुख़ाबाद पहुँचे। वहाँ के रईस पंडित चोखेलाल को जब महाराज के पदार्पण करने का समाचार मिला तो वह उन्हें अपने बाग़ में लिवा लेजाने को श्री-सेवा में उपस्थित हुए, परन्तु बाग़ का द्वार बस्ती की ओर था और बस्ती में होकर बाग़ में जाना होता था, अतः महाराज को बस्ती में जाने में सङ्कोच हुआ तो पंडित चोखेलाल ने तुरन्त ही सड़क की ओर की दीवार तुड़वा कर बाग़ में जाने के लिये मार्ग करादिया और महाराज बाग़ के भीतर के गृह में ठहर गये। वहाँ महाराज शान्तिपर्व आदि से अनेक शिक्षाप्रद कथाएँ सुनाते और धर्मोपदेश करते रहे। महाराज कभी कभी बथुए के रस में लवण डालकर पान किया करते थे। पं० चोखेलाल संग्रहणी रोग से पीड़ित रहते थे और निःसन्तान थे। उनकी स्त्री बन्ध्या थी, उन्होंने महाराज की अनुमति से दूसरा विवाह किया और महाराज के उपदेशानुकूल सन्ध्या, अग्निहोत्र, आन्हिक कर्म्म करते रहे और रोग की चिकित्सा करने से स्वस्थ होगये और उनके कई सन्तानें हुईं। पं० चोखेलाल के साथ मझौली में सवार होकर स्वामीजी फ़रुख़ाबाद पहुँचे। परन्तु ज्योंही मझौली मौ दर्वाज़े पहुँची, महाराज मझौली से उतर कर गङ्गा तट की ओर चले गये जो चार पाँच मील था। पं० चोखेलाल के बहनोई पक्के मूर्त्ति-पूजक थे और इस अंश में स्वामीजी के विरोधी थे, परन्तु वह महाराज की विद्या और सत्य सङ्कल्प की सदा प्रशंसा किया करते थे। पौराणिक होते हुए भी उन्होंने पीछे आकर अपने पुत्र पं० गङ्गाधर को सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य-भूमिका मँगवाकर पढ़वाये थे। वह कहा करते थे कि 'मेरे समान अनेक मनुष्य जो सांसारिक विषयों में डूबे हुए और अपने कर्त्तव्य को भूले हुए थे, महाराज के सदुपदेश से मनुष्यत्व को प्राप्त हुए हैं।'

आशीर्वाद की सफलता

सप्तम अध्याय

पौष सं० १९२५—आश्विन सं० १९२६

यह पौष संवत् १९२५ का समय था जब महाराज दूसरी बार फर्रुखाबाद पधारे। फर्रुखाबाद पहुँच कर आप लाला जगन्नाथ के विश्रान्त घाट पर ठहरे। जगन्नाथ पहली बार ही उनके श्रद्धालु भक्त बन गये थे और श्रीचरणों में उनकी अनन्य भक्ति होगई थी। उन्होंने महाराज से सन्ध्या-विधि सीखी और उसी के अनुसार सन्ध्या करनी आरम्भ करदी। पीछे आकर उन्होंने सब गृह्यानुष्ठान महाराज की उपदिष्ट पद्धति के अनुसार करने आरम्भ कर दिये थे। उनके पुत्र का नामकरण संस्कार भी महाराज के आदेशानुसार हुआ था और उसका पुरुषोत्तम नारायण नाम महाराज ने रखवाया था। पीछे आकर जब उनकी माता का देहान्त हुआ तो उन्होंने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया भी महाराज की निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार ही की थी।

फर्रुखाबाद

लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी के लिये उनके स्थान पर पियार डलवा दी थी रात्रि को वह उसी में से कुछ अपने नीचे और कुछ ऊपर डाल कर सो जाते थे। कंबल आदि लोग देना चाहते थे तो न लेते थे। उनके उपदेश में सहस्रों मनुष्य इकट्ठे होते थे जिन में उच्च से उच्च कोटि के लोग होते थे। माहराज के उपदेशों में साधारण धर्म की शिक्षा के अतिरिक्त मूर्त्ति-पूजा आदि अवैदिक क्रियाओं का तीव्र खण्डन होता था और सन्ध्योपासन अग्निहोत्रादि पञ्च-महायज्ञ करने की सब लोगों को प्रेरणा होती थी। *

* कहते हैं कि उस समय महाराज श्राद्ध का समर्थन करते थे और मांसाहार को क्षत्रियों के लिये विहित बताते थे। परन्तु हम इन दोनों बातों को विश्वसनीय नहीं समझते, कारण कि इसके अनेक प्रमाण हैं कि महाराज मांसाहार का बराबर खण्डन करते रहे थे और यदि वह श्राद्ध का समर्थन करते तो उन्हें मांसाहार का भी समर्थन करना पड़ता, क्योंकि आधुनिक मनुस्मृति के अनुसार श्राद्ध में मांस पिण्ड देने का विधान है। —संग्रहकर्त्ता.

मूर्त्ति-पूजा का वह तीव्र खण्डन करते थे और अनेक लोगों ने उनके उपदेश से मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी थी। ला० द्वारकाप्रसाद, गिरधारीलाल, जगन्नाथ आदि कई सज्जनों ने उनके उपदेश से विधिपूर्वक यज्ञोपवीत लिया। जगन्नाथ के घाट पर यज्ञवेदी निर्मित हुई और पुष्कल सामग्री से हवन हुआ और महाराज की निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराया गया। उसी समय बा० दुर्गाप्रसादजी का भी यज्ञोपवीत हुआ था, परन्तु उन्होंने अपने गृह पर ही संस्कार कराया था। ला० जगन्नाथ का भी यज्ञोपवीत उनके घर पर ही पं० पीताम्बरदास ने स्वामीजी की निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार किया था। उससे पहले ११ दिन तक ब्राह्मणों ने घाट पर गायत्री जप और हवन किया था। लालाजी ने पीछे छः मास में एक लाख गायत्री जप किया था।

वैश्य रईसों का यज्ञोपवीत

लाला जगन्नाथ के यज्ञोपवीत पर पौराणिक पण्डितों ने कहना आरम्भ किया कि यह यज्ञोपवीत अत्यन्त अनिष्टकारी होगा, क्योंकि प्रथम तो गणेशादि का पूजन नहीं हुआ, दूसरे, शुक्रास्त के समय हुआ है। इसका उत्तर स्वामीजी ने यह दिया कि गणेशादि का पूजन तो वेदविरुद्ध है, इसका न होना कभी अनिष्टकारी नहीं हो सकता और हमारा शुक्र तो ब्रह्म है (तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म) वह कभी अस्त नहीं होता।

सुखवासीलाल और झुन्नीलाल प्रभृति साध * लोग महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। उनमें से किसी ने स्वामीजी से कहा कि महाराज हम भी मूर्त्ति-पूजा नहीं करेंगे, केवल ईश्वर को मानते हैं, परन्तु वेद को नहीं मानते। इस पर स्वामीजी के उत्तर से कुछ साधु लोग असन्तुष्ट होकर सभा से उठ गये, परन्तु सुखवासीलाल बराबर आते रहे और उनके सत्सङ्ग से लाभ उठाते रहे।

फ़र्रुख़ाबाद के साध

एक दिन सुखवासीलाल साध स्वामीजी के लिये कढ़ी और भात बनवा कर लाये और उन्होंने उसे खाया। इस पर ब्राह्मणों ने कहा कि आप भ्रष्ट हो गये जो साधों के घर का भोजन खा लिया। महाराज ने उत्तर दिया कि भोजन दो प्रकार से भ्रष्ट होता है, एक तो यदि किसी को दुःख देकर धन प्राप्त किया जावे और उससे अन्न आदि क्रय करके भोजन बनाया जावे, दूसरे भोजन मलिन हो वा उसमें कोई मलिन वस्तु गिर जावे। साध लोगों का परिश्रम का पैसा है उससे प्राप्त किया हुआ भोजन उत्तम है। इस पर ब्राह्मण लोग निरुत्तर हो गये।

साधों की कढ़ी भात का भोजन

गङ्गाराम शास्त्री बरतिया वाले बहुत डींग हाँका करते थे कि हम स्वामीजी से शास्त्रार्थ करेंगे। परन्तु वह किसी प्रकार शास्त्रार्थ करने पर उद्यत न हुए। हाँ स्वामीजी के स्थल से कुछ दूर पर भगवद्गीता की कथा आरम्भ करदी। स्वामीजी ने उनसे कहला भेजा कि यदि वह गीता के निम्न श्लोक के अर्थ हमारे सम्मुख करदें तो हम परास्त हो जाएँगे:—

पं० गंगाराम सम्मुख न आये

---

* साध एक सम्प्रदाय है, फ़र्रुख़ाबाद में उसके मानने वाले अधिक पाये जाते हैं। वह

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ अ० १३ । श्लो० २ ॥

शास्त्रीजी ने इसका कुछ अर्थ किया, परन्तु स्वामीजी ने उनके अर्थों पर वह कटाक्ष किये कि उन्हें उत्तर न आया। एक दिन गङ्गा तट पर उन्हें सुखवासीलाल साध ने पकड़ा और कहा कि तुम रोज़ कहते हो मैं शास्त्रार्थ करूंगा। आज हमारे साथ चलो और शास्त्रार्थ करो। वह इतना घबराये कि वहाँ से भाग कर अपना पीछा छुड़ाया। एक दिन वह गङ्गास्नान करके आ रहे थे कि किसी ने स्वामीजी से कह दिया कि यही गङ्गाराम शास्त्री हैं। परन्तु वह रास्ता छोड़ कर चले गये।

दो उद्दण्ड युवक

पं० गङ्गाराम को पहले स्वामीजी की अगाध विद्या का पता न था, इसी से वह स्वा० को शास्त्रार्थ में परास्त करने की शेख़ी बघारा करते थे। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र और एक शिष्य को स्वामीजी के पास उनकी विद्या की जाँच करने के लिये भेजा। जिस समय वह दोनों महाराज के पास पहुँचे वह बा० दुर्गाप्रसादजी रईस के पुरोहित पं० गङ्गादास को मनुस्मृति पढ़ा रहे थे। दोनों युवकों ने जाकर अभिवादन किया। स्वामीजी ने 'आयुष्मान् भव' कहने के अतिरिक्त और कुछ न कहा। इससे उन उद्दण्ड युवकों को असन्तोष हुआ। थोड़ी देर पीछे उन्होंने कहा कि अहङ्कारी चाण्डाल होता है। महाराज इस पर भी कुछ न बोले। जब वह पं० गङ्गादास का पाठ समाप्त कर चुके, तो उन्होंने उन युवकों से कहा, कि अब कहो तुम क्या कहते थे? उन्होंने वही वाक्य दुहराया। महाराज ने कहा कि तुम जानते हो कि अहङ्कार क्या वस्तु है? क्या तुमने मुझे अहङ्कारी कहने में स्वयं अहङ्कार नहीं किया? भद्र! मनुष्य को मिथ्याभिमान नहीं करना चाहिये। इस पर उन युवकों ने कहा कि भवादृश महानुभावों को अहङ्कार नहीं करना चाहिये। महाराज ने उत्तर दिया कि कार्य में प्रवृत्ति अभिमान नहीं है। संसार में जितने भी कार्य-कुशल पुरुष हुए हैं, क्या श्री रामचन्द्र, क्या श्री कृष्णचन्द्र, सब ही प्रवृत्त कर्त्तव्य पालन के पश्चात् अन्य कार्य्य आरम्भ करते थे। महाराज के यह वचन सुन कर दोनों युवक 'हाँ हाँ महाराज! ठीक है' कहकर चले गये। उन्होंने सब वृत्त पं० गङ्गाराम से कहा और स्वामीजी के मनुस्मृति पढ़ाने के ढंग और उनकी विद्या की बहुत प्रशंसा की। उसे सुनकर गङ्गाराम का साहस भङ्ग हो गया और वह फिर किसी प्रकार भी महाराज से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत न हुए।

महाराज के आगमन से नगर में घोर आन्दोलन मच गया। मूर्त्ति-पूजक दल विकल और विह्वल हो उठा। उसमें जो विद्वान् थे और घर में बैठे २ दून की लिया करते थे दयानन्द के सामने जाकर शास्त्रार्थ करना तो क्या, उनके नाम तक से थर-थर काँपने लगे।

पं० श्रीगोपाल से शास्त्रार्थ

जब मूर्त्ति-पूजक लोग उनकी ओर से हताश और निराश होगए, तो उन्होंने सोचा कि फ़र्रुख़ाबाद से बाहर के किसी विद्वान् को लाकर दयानन्द को परास्त करके उसका मुख बन्द करना चाहिये, नहीं तो

ईश्वर को निराकार मानते हैं, हिन्दुओं की तरह संस्कार नहीं करते। मुर्दे जलाते हैं, परन्तु परिवार में मृत्यु होजाने पर रोते पीटते नहीं। शव को गाते बजाते श्मशान में लेजाते हैं।

मूर्त्ति-पूजा का दुर्ग उसके आक्रमणों से भूमिसात् हो जायगा। अतः वह मेरठ से एक पण्डित श्रीगोपाल नामी को बुलाकर ले आये। पं० श्रीगोपाल आये और शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ। पं० पीताम्बरदास उसके मध्यस्थ हुए।

श्रीगोपाल—स्वामीजी! मैंने रात्रि में विचार किया है कि मूर्त्ति-पूजन की सर्वत्र व्यवस्था है, फिर आप क्यों खण्डन करते हैं?

स्वामीजी—कहाँ लिखा है? कहिये।

श्री गोपाल—मनु० अध्याय २ श्लोक १७१ में लिखा है कि:—

देवताभ्यर्चनञ्चैव समिदाधानमेव च।

स्वामीजी – इसका अर्थ कीजिये।

श्री गोपाल—देवताओं का पूजन करे और सायं प्रातः होम करे। पूजा मूर्त्ति की ही होती है इस कारण यहाँ मूर्त्ति-पूजन का विधान है।

स्वामीजी—व्युत्पत्ति द्वारा इस का अर्थ सुनिये। 'अर्च पूजायाम्' इस धातु से अर्चन शब्द बनता है, जिसका अर्थ सत्कार है। सो यहाँ होम में विद्वानों के सत्कार का अभिप्राय है, मूर्त्ति-पूजा नहीं है। यह कार्य मूर्ख नहीं करा सकता। यह कार्य विद्वानों के द्वारा ही उपादेय है। अतएव उन देवों अर्थात् विद्वानों का सत्कार अवश्य करना चाहिये।

इसके पश्चात् कुछ और समय तक तर्क-वितर्क होता रहा। स्वामीजी ने अनेक युक्ति और वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाणों से मूर्त्ति-पूजा का खण्डन किया, जिसका पं० श्रीगोपाल कुछ उत्तर न दे सके। अन्त को मूक और मौन होकर अपने स्थान को लौट आये।

काशी के पंडितों की व्यवस्था

पण्डित श्रीगोपाल तथा उनके समर्थकों को यह पराजय असह्य हुआ। उन्होंने उसका प्रतीकार यह सोचा, कि काशी जाकर वहाँ के पण्डितों से मूर्त्ति-पूजा के पक्ष में व्यवस्था लाई जावे। एक वणिक् कृष्णलाल उनके सहायक हुए। पं० श्रीगोपाल काशी गये और पं० शालिग्राम शास्त्री से मिले जो फर्रुखाबाद के निवासी थे और उन दिनों काशी में रहते थे। पं० श्रीगोपाल ने उनसे काशी के पण्डितों की व्यवस्था दिलाने की प्रार्थना की। वह उन्हें अपने गुरु पं० राजाराम शास्त्री के पास ले गये। उन्होंने कहा कि एक बार पहले दक्षिण में इसी प्रकार मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध आन्दोलन उठा था, तब काशी के पण्डितों ने एक व्यवस्था दी थी, वह हमारे पास है, आप उसी की प्रतिलिपि करके ले जाइये। निदान पं० श्रीगोपाल उसी को लेकर लौट आये।

इस व्यवस्था में मूर्त्ति-पूजा के पक्ष में कोई वैदिक प्रमाण नहीं दिया गया था, केवल आधुनिक उपनिषद् देवीय शीर्ष और गोपालतापिनी का उल्लेख था, तथा विंशति-ब्राह्मण के इस प्रसिद्ध वचन का कि 'अद्भुतशान्तौ देवतायतनानि प्रकंपन्ते, देवप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, गायन्ति, स्विद्यन्ति', तथा मनुस्मृति के 'न जीर्णे देवायतने न वल्मीके कदाचन' 'देवानां गुरोराज्ञा च; देवब्राह्मणसान्निध्यम्; सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च' 'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये' आदि एवं तैत्तिरीय आरण्यक के 'ब्राह्मणानीतिहासानि पुराणानि कल्पान् गाथाः' एव बौधायन, कौशिक परिशिष्ट, आश्वलायन परिशिष्ट और महाभारत के वाक्यों की ओर संकेत करके मूर्त्ति-पूजा की सिद्धि और अष्टादश पुराणों की प्रामाणिकता के दर्शाने का

प्रयत्न किया गया था। अन्त में स्वामीजी के लिये दुर्वचनों का समावेश था। पूर्वोक्त लाला कृष्णलाल इस व्यवस्था को लेकर स्वामीजी के पास पहुँचे। वह उसे देख कर पहले तो खूब हँसे और फिर उसका ऐसा खण्डन किया कि लाला कृष्णलाल अवाक् रह गये। स्वामीजी ने तत्पश्चात् कहा कि काशी के पण्डितों की बहुत कुछ विद्या तो देखली, शेष वहाँ जाकर देख लूंगा।

रेत में धर्मध्वजा

श्रीगोपाल ने इस व्यवस्थापत्र को लेकर बड़ा कोलाहल मचाया। वैशाख शुक्ला १२ संवत् १९२५ को एक विज्ञापन दिया कि हम और मुन्शी ज्वालाप्रसाद स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं। २२ मई सन् १८६८ वैशाख शुक्ला १४ संवत् १९२५ को बहुत बड़ी भीड़ लेकर टोका घाट पर पहुँचा और रेत में एक झण्डा गाड़ कर उस पर लिखा 'धर्मध्वजोऽयम्'। धर्मध्वज का अर्थ धर्म का ढोंग भरने वाले का है। यह शब्द उसने स्वामीजी के लिये प्रयुक्त किया था। उसी झण्डे पर उस व्यवस्था-पत्र को लटकाया और एक बांस अलग गाड़ कर लोगों से कहा कि इस पर जल चढ़ाओ और कुछ मूर्खों ने उस पर जल चढ़ाया भी। उस दिन नृसिंह-चतुर्दशी का मेला भी था। इससे भी भीड़ अधिक थी।

श्रीगोपाल के कुछ साथी स्वामीजी के पास गये और कहा कि नीचे रेती में शास्त्रार्थ कीजिये। स्वामीजी श्रीगोपाल की यह सब लीला देख रहे थे। उन्होंने उस हुल्लड़ में जाना पसन्द न किया और कह दिया कि यदि शास्त्रीजी को वास्तव में शास्त्रार्थ करना है तो यहाँ आकर शास्त्रार्थ करें, यहाँ सब प्रबन्ध भी है और शान्ति भी। लोगों ने यह बात शास्त्रीजी से कही तो उन्होंने कहा कि स्वामीजी ने विश्रान्त कीलदी है, मैं वहाँ जाकर यदि शास्त्रार्थ करूँगा तो निश्चय ही मेरा पराजय होगा। यह उत्तर सुन कर समझदार लोग समझ गये कि शास्त्रीजी में वास्तव में शास्त्रार्थ की योग्यता नहीं है। श्रीगोपाल इसी प्रकार हुल्लड़ मचाता रहा और बार-बार यह कहता रहा "भाइयो, देखो यह काशी के पण्डितों की व्यवस्था है, दयानन्द परास्त हुआ, बोलो देवी की जय, काली की जय।"

दयानन्द ने विश्रान्त कील दी है

पुलिस का सब-इन्सपेक्टर

जिला मजिस्ट्रेट ने इस गड़बड़ का वृत्तान्त सुन कर एक सब इन्सपेक्टर को नियत किया कि विश्रान्त पर जाकर प्रबन्ध करो जिससे शान्ति भङ्ग न होने पावे। तदनुसार सब-इन्सपेक्टर विश्रान्त पर गया। वह स्वयं तो बाहर रहा और एक कानस्टेबल को स्वामीजी के पास भेजा कि देखो कौन फ़क़ीर आया है, नित्य शास्त्रार्थ करता है, बड़ा जन-समूह होता है, हमारे पास बुला लाओ। उसने आकर स्वामीजी से कहा कि कोतवाल साहब बुलाते हैं। स्वामीजी तो कुछ न बोले, उनके भक्तों में से एक ने कहा, यह किसी के पास नहीं आते जाते, यदि किसी को मिलना हो तो यहाँ आकर मिल जावे। इस पर कोतवाल स्वयं आया और उसने कहा कि बाबाजी तुम यहाँ क्या करते हो, दङ्गा बखेड़ा मचाया करते हो? स्वामीजी ने कहा कि तू राज-आज्ञा से ऐसा कहता है वा स्वयं ही? तब और लोगों ने कोतवाल को समझाया कि यह क्या किसी को बुलाते हैं। धूर्त्त लोग स्वयं ही यहाँ आकर ऊधम मचाते हैं। इस पर कोतवाल ने कहा कि अपने पास धूर्त्तों को न आने दिया करो। स्वामीजी ने कहा

कि सब वर्णों की रक्षा और प्रबन्ध करना क्षत्रियों का काम है, तुम स्वयं बन्दोबस्त करो। यह सुनकर वह चला गया और दो कानस्टेबल पहरे पर छोड़ गया कि किसी बदमाश को मत आने दो, यदि कोई भलमनसाहत से बातचीत करने आवे तो उसे आने दो।

ज्वालाप्रसाद मद्यप की लीला

ज्वालाप्रसाद नामक एक मद्यप और मांसाहारी ब्राह्मण जो उन दिनों फ़र्रुख़ाबाद में पोस्टमास्टर था, एक दिन एक वाम-मार्गी ब्राह्मण को पालकी में सवार कराकर महाराज के पास लेगया और स्वामीजी के सम्मुख कुर्सी डालकर बैठ गया और उन्हें दुर्वचन कहने लगा। परन्तु उन्होंने उससे कुछ न कहा। ऐसे वीतराग जितेन्द्रिय को कहना भी क्या था और वह एक मूर्ख की बातों पर भ्रूक्षेप करने वाले भी कब थे। उन्होंने इतना किया कि अपना स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर चले गये। परन्तु उस दुष्ट का दुर्व्यवहार महाराज के भक्त साध लोगों को जो उस समय सेवा में उपस्थित थे इतना असह्य हुआ कि उन्होंने उसे ख़ूब पीटा जिससे कि उसका सारा नशा झड़गया। उन लोगों ने उसकी कुर्सी भी जलाकर राख करदी। वह गिरता पड़ता अपने घर चला गया। यह बात महाराज को मालूम हुई तो उन्होंने पूर्व स्थान पर जाकर अपने भक्तों को बहुत डाटा और कहा कि यदि यह मरगया तो हम सच्ची बात कह देंगे कि इसे आप लोगों ने मार डाला है।

हम सच्ची बात कह देंगे

ज्वालाप्रसाद के समधी पांडे ठाकुरदास भी फ़र्रुख़ाबाद में ही रहते थे। जब यह घटना उन्हें मालूम हुई तो उन्हें बहुत क्रोध आया और वह २०-२५ लट्ठबन्द लोगों को लेकर बदला लेने के लिये स्वामीजी के स्थान पर पहुँचे। परन्तु उनका कुछ करने का साहस न हुआ और जैसे गये थे वैसे ही लौट आये। इधर लाला जगन्नाथ ने भी कुछ मनुष्य स्वामीजी की रक्षार्थ भेजे, परन्तु उनके पहुँचने से पहले ही पाँडे ठाकुरदास का दल वहाँ से चला गया था।

इस घटना के पश्चात् साध लोगों ने यह नियम कर लिया कि उन में से कुछ मनुष्य स्वामीजी की रक्षार्थ विश्रांत पर रहने लगे।

मुंशी ज्वालाप्रसाद का विचार अभियोग चलाने का हुआ तो लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी से जाकर कहा कि ऐसा सुना है कि ज्वालाप्रसाद नालिश करेगा तो स्वामीजी ने कहा कि हम से यदि हाकिम पूछेगा तो हम तो जो सत्य है वही कहेंगे चाहे वह किसी के अनुकूल पड़े वा प्रतिकूल। परन्तु ज्वालाप्रसाद ने कोई अभियोग नहीं चलाया।

मेरी परमात्मा ही रक्षा करेंगे

लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी से कहा कि आप विश्रान्त के नीचे के भाग में रहने लगिये, वह चारों ओर से सुरक्षित है। स्वामीजी ने कहा कि यहाँ तो आप मेरी रक्षा कर लेंगे, परन्तु अन्यत्र कौन करेगा? मैंने आज तक अकेले भ्रमण किया और आगे भी करूँगा। कई बार मेरे प्राण-हरण की चेष्टा की गई, परन्तु सर्वरक्षक परमात्मा ने सर्वत्र मेरी रक्षा की, भविष्य में भी वही करेगा, आप चिन्ता न करें।

गोवर्धनदास पटेरे वाले बाबा ने एक दिन एक दुष्ट को स्वामीजी को अपमानित करने के लिये भेजा। उसने स्वामीजी से पूछा कि गङ्गा मुक्ति देती है कि नहीं। उन्होंने

कहा कि नहीं। इस पर उसने उन पर जूता फेंका और भागने लगा। साधों ने उसे पकड़ कर पीटा, परन्तु स्वामीजी ने उसे छुड़ा दिया कि उसने अज्ञानवश ऐसा किया है। निर्बल पर दया करना ही बल की प्रशंसा है।

एक दिन पं० रामसहाय शास्त्री की जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे स्वामीजी से बात चीत हुई, परन्तु वह महाराज के सामने कुछ भी न बोलसके। पीछे आकर उन्होंने साथियों से कहा कि तुम मुझे कहां छोड़ आये, मुझ से तो स्वामीजी के सामने बात ही न हो सकी।

मुसलमानों से वार्तालाप

एक दिन कुछ मुसलमान लोग आये उन्होंने स्वामीजी से धर्म्मविषय पर बातचीत करनी चाही। स्वामीजी ने कहा कि सत्य बात को सुन कर विचार करो न कि लड़ने को दौड़ो। अब तो तुम धर्म्म पर वार्त्तालाप करने को कहते हो, परन्तु पीछे चिढ़कर लड़ोगे। उन्होंने कहा हम ऐसा न करेंगे। मुहम्मदसाहब के ऊपर बात चली। स्वामीजी ने कहा तुमने उनका अनुकरण किया, बुरा किया, जब चोटी कटाई तो डाढ़ी रखने से क्या मतलब, ऊंची बांग देते हो तो क्या यह ख़ुदा की उपासना है। खतने के विषय में भी कहा। मुसलमान उत्तर में कुछ न कह सके।

काशी की व्यवस्था का कच्चा चिट्ठा

लाला पन्नीलाल फ़र्रुख़ाबाद के एक प्रतिष्ठित रईस और धर्म्मनिष्ठ सदाशय पुरुष थे। सन्ध्योपासन और जप में उनकी बड़ी आस्था थी। वह दान-कार्य में उदार भी बहुत थे। उनके यहाँ सदाबरत भी होता था। वह रात्रि में महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। यों तो श्रीगोपाल की करतूत सब पर प्रकट होगई थी और सब लोग जान गये थे कि वह केवल एक ढोंगिया पुरुष है, परन्तु फिर भी कुछ हठी मनुष्य ऐसे थे जो कहते थे कि काशी के पण्डितों की व्यवस्था ठीक है और स्वामीजी उसका उत्तर न देसके। अतः लाला पन्नीलाल ने पं० पीताम्बरदास को काशी भेजा कि वहाँ जाकर पण्डितों से पूछें कि उन्होंने पं० श्रीगोपाल को कोई व्यवस्था दी कि नहीं। वह काशी गये और पण्डितों से पूछताछ की तो उन्होंने कहा कि एक पुरानी व्यवस्था पड़ी हुई थी जिस पर कुछ पण्डितों के हस्ताक्षर थे, वही पं० श्रीगोपाल ले गये हैं, चार वेद संहिता के आधार पर कोई व्यवस्था नहीं दी गई, मूर्त्ति-पूजा लौकिक है, समझने वालों के लिये गुड़ियों का सा खेल है। यह सुनकर पं० पीताम्बरदास फ़र्रुख़ाबाद लौट आये और सारा वृत्त लाला पन्नीलाल से कह दिया। इस पर लाला साहब का चित्त मूर्त्ति-पूजा से हट गया और उन्होंने उसे त्याग दिया। वह एक देवालय बनाना चाहते थे। उसका विचार उन्होंने छोड़ दिया और जो धन उस

पाठशाला स्थापन

पर लगाना चाहते थे उसे स्वामीजी के परामर्श से संस्कृत-पाठशाला पर व्यय करने का निश्चय कर लिया। पाठशाला स्थापित हो गई। पण्डित ब्रजकिशोर को ३०) रु० मासिक पर अध्यापक नियत किया गया। यह व्यय लाला पन्नीलाल वहन करते थे, विद्यार्थियों के अन्न-वस्त्र का व्यय बाबू दुर्गाप्रसाद देते थे।

दुराचारी को सदाचारी बना दिया

फ़र्रुख़ाबाद के किसी प्रतिष्ठित पुरुष का पुत्र दुराचारी और वेश्यागामी हो गया था। उसने लाला पन्नीलाल से विनय-पूर्वक कहा कि यदि आप स्वामीजी से मेरे पुत्र का सुधार

करादें तो मैं आप का बड़ा उपकार मानूँगा। लाला पन्नीलाल ने यही बात स्वामीजी से कही। उन्होंने कहा कि यदि आप उस युवक को मेरे पास ले आवें तो मैं उसका कुव्यसन छुड़ा दूँगा। लाला साहब ने उस के दो मित्रों से जो सदाचारी थे कहा कि किसी प्रकार उस लड़के को स्वामीजी के पास लिवा लाओ। मित्रद्वय ने उससे स्वामीजी की बड़ी प्रशंसा की और अन्त को एक दिन वह उसे श्रीसेवा में ले गये। स्वामीजी ने कुशल-प्रश्नोत्तर के अनन्तर नवयुवकों को उपदेश देना आरम्भ किया। वेश्यागमन के दोष दिखाते हुए महाराज ने उनसे पूछा कि यह तो बताओ कि यदि किसी वेश्यागामी के वीर्य से वेश्या के गर्भ से कन्या उत्पन्न हो तो वह कन्या किसकी होगी। युवकों ने कहा उसी वेश्यागामी की। जब वह युवती हो जायगी तो क्या करेगी ? नवयुवक बोले कि वेश्या ही बनेगी। तब महाराज ने अत्यन्त मर्मस्पृक् शब्दों में कहा कि संसार में कौन ऐसा सत्पुरुष है जो अपनी कन्या को वेश्यावृत्ति कराये, परन्तु वेश्यागामी पुरुष ही इतने नीच हैं जो अपनी कन्याओं को वेश्या बनाते हैं। महाराज के शब्द सुन कर उस कुव्यसनी युवक के रोंगटे खड़े हो गये और उसने महाराज के तत्क्षण पैर छूकर इस व्यसन को छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा करली और इस प्रकार उन्होंने उस युवक के जीवन को सुधार कर उसके कुल को नष्ट होने से बचा दिया।

श्रीगोपाल के पराजय से पौराणिक दल अत्यन्त खिन्न और विपन्न था। कुछ लोग प्रेमदास, देवीदास खत्री रईस से मिले और उन्हें इस बात पर उद्यत किया कि कानपुर से पं० हलधर ओझा को बुला कर शास्त्रार्थ कराया जाय। पं० हलधर के पल्ले का कोई विद्वान् नहीं है। वह आते ही दयानन्द को परास्त कर देंगे। देवीदास उनकी बातों में आगये और उन्होंने पं० हलधर को बुला लिया और यह कहना आरम्भ किया कि अब बद-बद के शास्त्रार्थ होगा। लाला जगन्नाथ के कानों में भी यह शब्द पड़े तो उन्होंने २५००) देवीदास के पास भेजे और कहलाया कि इतने ही रुपये आप जमा करा दीजिये, यदि स्वामीजी परास्त हो गये तो सब रुपये आपके और जो पं० हलधर की पराजय हुई तो सब रुपये मैं ले लूँगा। देवीदास ने यह स्वीकार न किया और यह कहकर रुपये लौटा दिये कि ओझाजी को स्वामीजी से धर्मालाप करने को बुलाया गया है, हार जीत की कोई बात नहीं है।

हलधर ओझा से शास्त्रार्थ का उपक्रम

लाला जगन्नाथ ने स्वामीजी से कहा कि पं० हलधर ओझा शास्त्रार्थ के लिये बुलाये गये हैं। स्वामीजी ने तत्काल कह दिया कि हम प्रस्तुत हैं। ज्येष्ठ शुक्ला १० संवत् १९२६ तदनुसार १९ जून सन् १८६९ को एक बड़ा जन-समूह पं० हलधर ओझा के साथ स्वामीजी के आश्रम की ओर जाता हुआ दिखाई दिया, जिसमें देवीदास के अतिरिक्त बहुत से प्रतिष्ठित और संभ्रान्त व्यक्ति और फर्रुख़ाबाद के प्रसिद्ध पण्डित सम्मिलित थे। मार्ग में लोग अनेक प्रकार की बातें कहते जाते थे। एक ने कहा कि ओझाजी प्रथम तो दयानन्द को संस्कृत बोलने में निरुत्तर कर देंगे, दूसरा बोला कि यदि दयानन्द इससे भी बच रहा तो ओझाजी अपने मन्त्र बल से उसको परास्त कर देंगे।

जब यह लोग विश्रान्त पर पहुँचे तो लाला जगन्नाथ ने सबको आदर पूर्वक बिठाया। पं० हलधरजी ने भी महाराज को प्रणाम किया और उन्होंने कुशल पूछ कर उनसे आने का कारण पूछा। इस पर लाला देवीदास ने

शास्त्रार्थ

कहा कि ओझाजी आपसे कुछ शास्त्रीय विचार करने आये हैं। स्वामीजी ने कहा कि प्रश्न कीजिये। तदनन्तर पहले तो मूर्त्ति-पूजा पर प्रश्नोत्तर हुए फिर ओझाजी ने मद्य-पान की बात छेड़ी। इस पर स्वामीजी ने कहा कि प्रतिज्ञा के भिन्न अन्य विषय की चर्चा नहीं करनी चाहिये और मद्य-पान तो सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। इसके पश्चात् निम्नलिखित बात-चीत हुई।

ओझाजी—शास्त्र विरुद्ध कैसे ? यज्ञ में तो मद्य-पान किया जाता था, जैसा कि लेख है 'सौत्रामण्यां सुरां पिवेत्'।

स्वामीजी – यहाँ सुरा से सोमलता अभिप्रेत है न कि मदिरा। मद्य-पान सब शास्त्रों में वर्जित है।

ओझाजी—आप संन्यासी के लक्षण बताइये।

स्वामीजी—क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।

विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ मनु अ० ६। श्लोक ५२॥

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा। ब्रह्मचर्यादेवप्रव्रजेत्। ब्राह्मण वचन।

अर्थात्—केश मूँछ, दाढ़ी, नख दूर करे, पात्र, दण्ड और कुसम्भ के रंग के वस्त्र धारण करे और किसी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ सदा नियम में रहकर विचरण करे। जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले लेवे, वानप्रस्थाश्रम से, वा गृहस्थाश्रम से वा ब्रह्मचर्याश्रम से।

स्वामीजी—आप ब्राह्मण के लक्षण बताइये।

ओझाजी—(एक दो वाक्य संस्कृत के बोलकर चुप होगये)।

स्वामीजी—(यह देख कर कि ओझाजी संस्कृत नहीं बोल सकते) भाषा में कहिए, और प्रकरण के बाहर न जाइये।

ओझाजी—मैं प्रकरण के बाहर नहीं जाता हूँ, परन्तु आप बार २ प्रकरण का उल्लेख करते हैं, बताइये प्रकरण शब्द की सिद्धि कैसे होती है ?

स्वा०—प्र पूर्वक डुकृञ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से प्रकरण शब्द सिद्ध होता है।

ओझाजी—धातु समर्थ होता है वा असमर्थ होता है ?

स्वामीजी—समर्थः पदविधिः-इस पाणिनीयसूत्र के अनुसार धातु समर्थ होता है।

ओझाजी—असमर्थ किसे कहते हैं ?

स्वामीजी—सापेक्षोऽसमर्थोभवति-अपेक्षा करने वाला असमर्थ होता है। यह महाभाष्य का वचन है।

ओझाजी—यह वचन महाभाष्य का नहीं है।

स्वामीजी ने महाभाष्य का पुस्तक मँगाकर अ० २। आ० १ में उक्त वाक्य दिखा दिया।

पण्डित-मण्डली स्वामीजी के प्रकाण्ड पाण्डित्य पर चकित होगई। ओझाजी का ऊपर का दम ऊपर और नीचे का दम नीचे रहगया। उनसे कुछ करते धरते न बना। अन्त में क्रोध में भर कर बोले।

ओझाजी—हम जो कुछ कहते हैं वह भाष्यकार के वचन से कम नहीं है।

स्वामीजी—आप महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के सामने किसी गणना में नहीं हैं। अच्छा यदि पाण्डित्य का गर्व है तो बताइये 'कल्म' किस की संज्ञा है ?

ओझाजी को फिर कुछ उत्तर न बन आया। तब स्वामीजी ने महाभाष्य खोलकर सब को बताया कि कथितश्च इस सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार ने कर्म की कलम संज्ञा की है। पण्डित लोग मन ही मन स्वामीजी की सहस्र मुख से प्रशंसा करने लगे। इस समय रात्रि का एक बज गया था, अन्त को यह निश्चय हुआ कि कल फिर शास्त्रार्थ हो। यदि स्वामीजी यह सिद्ध कर दें कि 'समर्थः पदविधि:' सूत्र सर्वत्र लागू होता है तो स्वामीजी की जीत समझी जाय और जो यह सिद्ध हो कि यह सर्वत्र नहीं घटता तो ओझाजी की जीत मानी जावे। तत्पश्चात् सब लोग अपने घरों को चले गये।

व्याकरण हारजीत की कसोटी

मार्ग में जाते हुए कोई तो हलधर की और कोई स्वामीजी की प्रशंसा करने लगा। किसी ने कहा कि ओझाजी का पक्ष प्रबल रहा, किसी ने स्वमीजी के पक्ष को प्रबल बताया। अगले दिन लाला जगन्नाथ और मन्नीलाल ने स्वामीजी से निवेदन किया कि नगर में कुछ पण्डित कहते हैं कि स्वामीजी हठ करते हैं, ओझाजी का ही कथन ठीक है, सो यदि आप को कुछ संशय हो तो शास्त्रार्थ को टाल दिया जाय। स्वामीजी ने कहा कि ओझाजी को शास्त्रार्थ के लिए अवश्य लिवाकर लाइए। यदि आप लोग इसमें प्रमाद करेंगे तो आप को और यदि ओझाजी शास्त्रार्थ को न आये तो उन्हें गोहत्या का पातक लगेगा।

ज्येष्ठ शु० ११ को रात्रि के ८ बजे फिर शास्त्रार्थ-सभा संगठित हुई। कुछ लोग उपद्रव करने पर उतारू दिखाई दिये। उन्हें लाला जगन्नाथ ने डाट दिया, तब शान्ति स्थापित हुई। तब स्वामीजी ने अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया कि जो शास्त्रार्थ न करेगा उसे गो-घात का पाप लगेगा। फिर ओझाजी को संबोधन करके कहा कि मैं संन्यासी हूँ यदि मैं हार गया तो कोई हानि नहीं; तुम गृहस्थ हो, पराजय से तुम्हारी अधिक हानि होनी सम्भव है। ओझाजी बोले कि मैं हारूंगा ही क्यों। तब स्वामीजी ने दीपक और महाभाष्य की पुस्तक मँगाकर 'समर्थः पदविधि:' की व्याख्या सब को सुनाई और अनेक उदाहरणों से उक्त सूत्र की व्यापकता दिखलाई। ओझाजी कोई उतर न देसके। उनके साथियों में से कई एक ने कुछ कहना चाहा, तो स्वामीजी ने उन्हें रोक दिया कि पहले प्रस्तुत विषय का निर्णय होजाय तब दूसरा विषय छेड़ा जाय। तदनन्तर ला० जगन्नाथ ने खड़े होकर पण्डितों को लक्ष्य करके कहा कि हे विद्वज्जनो! धर्म की साक्षी देते हुए कहिए किस का पक्ष ठीक है। इस पर अनेक पण्डितों ने कहा कि पण्डित हलधरजी अपनी प्रतिज्ञा प्रमाणित नहीं करसके।

ओझाजी हारे

पण्डितों के यह वचन सुनकर ओझाजी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और वह मूर्छित से होगये। उनके साथी उन्हें उठाकर लेगये। स्वामीजी के जयघोष से सारा वायु-मण्डल निनादित होगया। उस रात्रि को अनेक लोग स्वामीजी के पास ही बैठे रहे। वह भी सारी रात्रि प्रेमीजन को उपदेशामृत चखाते रहे।

ओझाजी मूर्छित से होगये

समस्त रात्रि के जागरण से ला० जगन्नाथ को ज्वर होगया तो गुण्डा पार्टी ने यह कहना आरम्भ किया कि लालाजी ने ओझाजी का अपमान कराया है इसीसे उन्होंने लालाजी

ओझा ने मन्त्र मार दिया

पर मन्त्र मार दिया है और इसी लिए उन्हें ज्वर होगया है। यह बात जब ओझाजी ने सुनी तो वह स्वयं लालाजी को देखने गये और उनसे कहा कि जो लोग ऐसा कहते हैं वह गुण्डे हैं। लाला साहब ने उनका उचित आदर करके उन्हें विदा किया। ओझाजी एक हीन-सर्वस्व मनुष्य के समान विषादपूर्ण हृदय के साथ कानपुर वापस चले गये। जो लोग उन्हें इतने मान के साथ बुलाकर लाये थे वह भी उनसे आँखें चुरागये और जो आर्थिक लाभ उन्हें होना था वह भी न हुआ।

एक दिन कुछ पहलवान भी अन्य लोगों के साथ स्वामीजी के आश्रम पर बैठे थे।

पहलवान कौपीन न निचोड़ सके

स्वामीजी गङ्गा-स्नान करने गये थे। जब वह स्नान करके आये तो एक पहलवान ने हँसते हुए कहा कि यदि स्वामीजी व्यायाम करें तो बल में भी किसी के हिलाये न हिलें। स्वामीजी ने यह सुनकर अपना कौपीन निचोड़ा और फिर पहलवानों से कहा कि हम तो आपके बल की तब प्रशंसा करें कि इसमें से जल की एक बून्द भी निकाल दो। पहलवानों में से हरएक ने कौपीन को बहुत कुछ ऐंठा मरोड़ा परन्तु कोई भी उस में से जल की बूँद न निकाल सका। सब पहलवान स्वामीजी का बल देखकर दंग रह गये।

फ़र्रुख़ाबाद में वासुदेव महानन्दराम के नाम से एक दुकान थी। उसके बहीखाते

मन्दिर न बनाकर यज्ञशाला बनाई

में धर्म-कार्य्यों के लिये कुछ रुपया अलग निकाल कर जमा होता रहता था। दूकान के मालिकों ने उस रुपये से एक शिव-मन्दिर बनाने का सङ्कल्प किया था और तदनुसार उसके बनाने की तैयारी होने लगी थी। मिर्ज़ापुर से उसके लिये पत्थर भी मँगा लिया गया था। परन्तु उसकी नीव रखे जाने से पूर्व ही महाराज फ़र्रुख़ाबाद पहुँच गये और महानन्दराम श्रीसेवा में उपस्थित होने लगे। महाराज के उपदेशामृत पान करने से उनका चित्त मूर्त्ति-पूजा से हट गया। उन्होंने मन्दिर बनवाने का सङ्कल्प छोड़कर एक यज्ञशाला बनवाने का विचार किया। परन्तु वासुदेव के आग्रह और अन्य मूर्त्ति-पूजकों के दबाव से उनकी यह सदिच्छा पूरी न हुई और अन्त को उस रुपये से एक गङ्गा-मन्दिर ही बनाया गया।

जगन्नाथ के घाट पर एक शिवमन्दिर था। एक रात एक मुर्दा-फ़रोश ने उसमें से

मिथ्यादोषारोपण

शिवलिङ्ग उठाकर गङ्गा में फेंक दिया और प्रातःकाल यह प्रसिद्ध कर दिया कि यह कार्य्य दयानन्द ने किया है। जगन्नाथ के बाग़ के माली ने यह बात सुनकर जगन्नाथ से कही, तो उन्होंने कहा कि महादेव को कौन फेंक सकता है? स्वामीजी के विरोधियों की उन्हें हानि पहुँचाने की यह चाल भी निष्फल ही हुई। स्वामीजी पर यह दोषारोपण तो मिथ्या ही था, परन्तु उनके उपदेश से अवश्य अनेक लोगों ने मूर्त्तियाँ जिन्हें वह अपना इष्ट-देव समझ कर अब तक पूजते रहे थे उठा कर फेंक दी थीं।

एक दिन प्रातःकाल महाराज भ्रमण करने जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें एक हट्टा-कट्टा उजड्ड प्रकृति का मनुष्य मिला। उसने उन्हें अनेक दुर्वचन कहने आरम्भ किये कि तू

दुर्वचन कहने वाले का स्वागत

ईसाइयों का नौकर है और हिन्दुओं को ईसाई बनाने आया है। महाराज उसके दुर्वाक्य सुनकर मुस्कराते हुए आगे बढ़ गये। उसका नाम सद्धू था। वह जन्म का ब्राह्मण था, परन्तु था निरक्षर और कोरा लट्ठ। जब स्वामीजी ने उसकी गालियों पर उसे कुछ न कहा तो उसका साहस और बढ़ा और जब वह भ्रमण करके अपने स्थल पर आये तो उस गँवार ने चाहा कि उनके स्थल पर आकर भी उन्हें गालियाँ दें। अतः वह वहाँ गया। स्वामीजी ने उसे देख कर अत्यन्त प्रेम भरे स्वर और कोमल शब्दों में उसका स्वागत करके उससे बैठने को कहा। इस शिष्टाचार से उसका कठोर हृदय भी पिघल गया और उसका जी भर आया। वह महाराज के चरणों पर गिर गया और रोकर अपना अपराध क्षमा कराने लगा। महाराज ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि तुम्हारे दुर्वचन हम तक नहीं पहुँचे, वह आकाश से प्रकट हुए थे और उसी में विलीन हो गये। तुमने हमारा कोई अपराध नहीं किया, तुम्हें शोक का कोई कारण नहीं है, तुम सन्तोष करो।

एक नामी गुण्डा श्रीचरणों में

परसाद नामी एक गुजराती ब्राह्मण फ़र्रुखाबाद के नामी गुण्डों में था। कहते हैं कि कुछ द्वेषी लोगों ने उसे रुपये का लालच देकर स्वामीजी को पीटने के लिये उद्यत किया। एक दिन वह इस दुष्ट विचार से एक मोटा लट्ठ लिये स्वामीजी के पास पहुँचा और उद्धतपन से उसने जाकर कहा, बाबाजी! देव मूर्त्ति को साक्षात् ईश्वर मानते हो कि नहीं?

स्वामीजी—पाषाणादि की मूर्त्ति ईश्वर नहीं। तुम ईश्वर का स्वरूप नहीं जानते।

परसाद—मैं जानता हूँ, ईश्वर सच्चिदानन्द और भक्तवत्सल है और भक्तों के कारण जन्म लेता है।

स्वामीजी—सच्चिदानन्द और भक्तवत्सल जो तुमने कहा सो ठीक है, परन्तु वह जन्म नहीं लेता। उसको अजन्मा कहा है। यह शब्द रामायण में भी तुमने सुना होगा। सत्य कहो।

परसाद—हां सुना तो है।

इस प्रकार कुछ समय तक और बात-चीत हुई। उस पर स्वामीजी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने लाठी फेंक दी और उनके चरणों पर गिर पड़ा। इसके पश्चात् वह जब तक जीवित रहा एक सदाचारी ब्राह्मण की तरह रहता रहा।

मनोरञ्जक प्रश्नोत्तर

चौबे परमानन्द रईस क़ायमगंज व दीवान झालावाड़ राज्य पं० बलदेव प्रसाद के साथ स्वामीजी के दर्शनार्थ फ़र्रुखाबाद आये। उनसे वह क़ायमगंज में मिलचुके थे और तब ही से उनके हृदय में स्वामीजी के प्रति श्रद्धा के भाव अङ्कुरित होगये थे। फ़र्रुखाबाद आकर उन्होंने स्वामीजी से अपनी शङ्काओं का समाधान किया जिसका विवरण निम्नप्रकार है:—

बलदेव—क्षत्रिय लोग जो मृगया में जीवों का वध करते हैं उन्हें जीव-हिंसा का पाप लगता है वा नहीं?

स्वामीजी—जो हिंसक जीव अपने दुष्ट स्वभाव से खेती और पालनीय पशुओं का तथा मनुष्यों का नाश करते हैं, उनके मारने से मनुष्यों तथा पशुओं की रक्षा होती है, किसी की हानि नहीं, अतः ऐसे शिकार में दोष नहीं है।

बलदेव—पाप क्या है ?

स्वामीजी—जिस से मनुष्यों की हानि हो वह पाप कर्म है।

बलदेव—इस प्रकार तो बूढ़े मनुष्यों के मारने में पाप न होना चाहिये।

स्वामीजी—बूढ़ों के मारने में कृतघ्नता का महापाप है। वह पुरुष अपने अनुभव से जनसमुदाय की भलाई कर सकते हैं।

चौबेजी—मद्यपान में क्या दोष है ? उस से तो किसी का प्राण नाश नहीं होता।

स्वामीजी—मद्यपान सब भाँति निन्दित है। मद्यप मनुष्य उन्मत्त होकर औरों की सामान्य हानि नहीं, वरन् प्राणनाश तक करदेता है और आप भी अपराधवश मारा जाता है, तथा ऊँचे नीचे गिर कर मृत्यु को प्राप्त होता है। अथवा रोगी होकर मूढ़ता वा दुःख को प्राप्त होता है, अकरणीय करते हुए विद्या, धन आदि उत्तम पदार्थों से वञ्चित रहता है।

चौबेजी—सब मद्यों अर्थात् भांग, शराब आदि में समान दोष है वा न्यूनाधिक ?

स्वामीजी—जिसमें जितनी अधिक मादकता होती है उसमें उतना ही अधिक दोष है।

लाला जगन्नाथ के पूछने पर कि मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है, स्वामीजी ने कहा कि मनुष्य का कर्त्तव्य ईश्वर-प्राप्ति है, जो ईश्वरीय आज्ञाओं के पालन अर्थात् वेदानुकूल आचरण, मनूक्त धर्म के दश लक्षणों पर चलने और अधर्म-त्याग से हो सकती है।

मनुष्य का कर्त्तव्य

एक साधु ने स्वामीजी से पूछा कि मनुष्य को क्या करना चाहिये, तो उन्होंने उत्तर दिया कि जैसे ईश्वर दयालु है मनुष्य को भी सब पर दया करनी चाहिये और जैसे ईश्वर सत्य है मनुष्य को भी सत्य मानना, बोलना और करना चाहिये।

लड़कों के ढेले खाये

एक दिन महाराज विश्रान्तघाट पर जल में पैर लटकाये हुये बैठे थे कि कुछ शरीर लड़कों ने रेत के गोले बनाकर उनके मारने शुरू किये, परन्तु वह चुपचाप गोले खाते रहे और लड़कों से कुछ न कहा। अन्त को जब कुछ रेत उनकी आँख में जा पड़ी तो वहाँ से उठकर चले गये।

एक दिन एक नव्वाब साहब ने स्वामीजी से पूछा कि कोई ऐसी भी विद्या है कि यहाँ बैठा हुआ मनुष्य अन्यत्र की बात जान ले। उन्होंने उत्तर दिया कि योगी लोग इच्छा नहीं करते। सब से गुप्त ब्रह्मविद्या है, योगी का उसी को जानने का उद्देश्य है, अतः योगी यदि चाहे तो योगविद्या द्वारा गुप्त बातों को जान सकता है।

शृंगीरामपुर

स्वामीजी अगस्त सन् १८६९ की किसी तारीख को किसी से कुछ कहे बिना फर्रुखाबाद से चल दिये और शृङ्गीरामपुर पहुँचे। वहाँ वह विश्रान्त पर उतरे। स्वामीजी गंगा में स्नान कर रहे थे कि एक सामवेदी ब्राह्मण ने कुछ वेद के मन्त्र अशुद्ध पढ़े, स्वामीजी ने उसे टोका और उनका शुद्ध उच्चारण बतलाया।

जलालाबाद

एक दिन रहकर जलालाबाद पहुँचे और प्रयागदत्त के बाग़ में एक अनार के पेड़ के नीचे बैठ गये। फिर पंडित गयाप्रसाद के अनुरोध से वह सरनदास उदासी की कुटिया में चले गये। वहां और दो उदासी ठहरे हुए थे, उनसे बातचीत होती रही और उनका शङ्कासमाधान करते रहे। लोगों ने ग्राम से उनके लिए

बिस्तर लेजाना चाहा, परन्तु उन्होंने निषेध कर दिया और दो ईंटों का तकिया लगाकर लेट गये।

पण्डित गयाप्रसाद ने उनके लिये अपने घर पर कच्ची रसोई बनवाई थी परन्तु जब उनसे कहा कि आप घर पर चलकर भोजन पालें तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि हम तुम्हारे घर पर जा सकते तो वहाँ उतरते ही क्यों न। फिर पण्डित गयाप्रसाद ने उनसे कहा कि मैंने इस आशा से कि आप मेरे घर पर पधार कर भोजन करेंगे कच्ची रसोई बनवाई थी, अब आप कुछ देर प्रतीक्षा करें ताकि मैं पक्की रसोई बनवालूं। महाराज ने कहा कि वह कच्ची नहीं पक्की ही है, जो बना है वही ले आओ। जलालाबाद में एक परिडत हकूमतराय बड़े विद्वान् प्रसिद्ध थे। स्वामीजी ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिये बुलाया, परन्तु वह शिरःपीड़ा का बहाना करके और यह कहकर कि दयानन्द नास्तिक है शास्त्रार्थ से जी चुरा गये।

कच्ची रसोई कच्ची नहीं पक्की है

जलालाबाद केवल एक रात-दिन ठहरे और वहाँ से क़न्नौज चले गये। जब क़न्नौज पहुँचे तो संवत् १९२६ का आषाढ़ मास था। क़न्नौज में महाराज कालिन्दी नदी के तट पर गौरीशङ्कर महादेव के चबूतरे पर विराजमान हुये। नगर के पण्डित-गण उनके पास गये और दो प्रसिद्ध पण्डित हरिशङ्कर शास्त्री और गुलजारीलाल से उनका शास्त्रार्थ हुआ।

क़न्नौज

पंडित हरिशङ्कर से जो शास्त्रार्थ हुआ वह बड़ा मनोरञ्जक था। जब पंडितजी स्वामीजी के पास गये, तो उन्होंने पंडितजी का नाम पूछा। पंडितजी ने एक श्लोक पढ़ा, जिसका अर्थ था कि अपना और अपने गुरु का नाम लेना वर्जित है। स्वामीजी ने कहा कि जब आप सङ्कल्प पढ़ते हैं तो अपना नाम लेते हैं वा नहीं। इस पर निरुत्तर होकर उन्होंने अपना नाम बतला दिया। उस समय अनेक लोग महाराज के पास बैठे थे। पण्डितजी बड़े अच्छे वैयाकरण थे और क़न्नौज के विद्वानों में अग्रगण्य थे। स्वामीजी ने मूर्त्ति-पूजा के खण्डन और पञ्चमहायज्ञादि के मण्डन पर वक्तृता दी। इस पर पण्डितजी से वार्त्तालाप छिड़ गया। बलिवैश्वदेव के विषय में स्वामीजी ने कहा कि जो बलिवैश्वदेव किये विना भोजन करते हैं वह मानो गो-मांस भक्षण करते हैं। पण्डितजी ने कहा, ऐसा न कहो, यहां तो कोई भी बलिवैश्वदेव नहीं करता। स्वामीजी ने कहा कि मैं तो थोड़ा ही कहता हूँ शास्त्र में तो इस से भी अधिक लिखा है और गीता का यह श्लोक पढ़ा—

एक सत्यप्रिय पंडित से शास्त्र विचार

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

पंडितजी ने कहा कि मूर्त्ति-पूजा के निषेध में कोई शास्त्रीय वचन पढ़ो। स्वामीजी ने कहा तुम्हीं कोई विधि-वाक्य पढ़ो। पं० ने मनु का श्लोक 'श्रुतिःस्मृतिः सदाचारः०' इत्यादि पढ़ कर कहा मूर्त्ति-पूजा सदाचार है। स्वामीजी ने कहा सदाचार पञ्चमहायज्ञादि हैं। मनु के इस वाक्य पर कि राजा प्रतिमाओं की रक्षा करे, स्वामीजी ने कहा कि यहां प्रतिमा के अर्थ बाट-तौल के हैं। पंडितजी ने अपने पक्ष के समर्थन में कहा कि पूर्वमीमांसा में भी ऐसा ही लिखा है। स्वामीजी ने उसका प्रतिवाद किया तो पंडितजी ने कहा कि यदि पूर्वमीमांसा

में ऐसा लेख न हो तो मैं शिखासूत्र त्याग कर संन्यासी हो जाऊँगा। स्वामीजी ने कहा कि यह आपकी इच्छा की बात है। मीमांसा में ऐसा लिखा है, जैसा आप कहते हैं वैसा लेख नहीं है। उस समय बात यहीं समाप्त होगई। पण्डितजी ने घर पर आकर मीमांसा शास्त्र देखा तो वैसा ही लेख पाया जैसा स्वामीजी कहते थे। पण्डितजी ने अपने मित्रों से कहा मेरा पक्ष गिर गया, मैं संन्यासी होने को तैयार हूँ। मित्रों ने कहा कि स्वामीजी के पास चलो, हम आप का पक्ष गिरने न देंगे। और जय बोल कर आप को उठा लावेंगे। पण्डितजी सत्यप्रिय पुरुष थे। उन्होंने यह बात स्वीकार न की। दूसरे दिन उन्होंने स्वामीजी के पास जाकर स्पष्ट कह दिया कि मैं हार गया, मुझे संन्यास दीजिये। स्वामीजी ने कहा संन्यास ज्ञान से होता है, हार-जीत की प्रतिज्ञा पर लेना ठीक नहीं है। सब के सामने पण्डितजी की बहुत प्रशंसा की और कहा कि हमने ऐसा सत्यवादी और धार्मिक पण्डित नहीं देखा। यह प्राचीन काल के पण्डितों का आदर्श है।

सत्य का अंकुर दब नहीं सकता

पण्डित हरिशङ्कर महाराज के अनुयायी बन गये, परन्तु पीछे से पौराणिक पण्डितों का दबाव पड़ने पर वह स्वामीजी का पक्ष समर्थन करने पर आरूढ़ न रह सके। परन्तु सत्य का अङ्कुर जो उनके हृदय में उत्पन्न होगया था वह कैसे नष्ट हो सकता था, वह वृद्धिंगत होता रहा और फिर वह महाराज के पक्षपोषक बन गये। पं० गुलजारीलाल ने यद्यपि उस समय महाराज का पक्ष स्वीकार नहीं किया था, परन्तु पीछे सत्यार्थप्रकाश पढ़कर वह वैदिक सिद्धान्तों को मानने लगे थे। एक दिन गार्गीदीन मिश्र ने पं० हरिशङ्कर से कहा, कि दयानन्द से कह दो कि मूर्त्ति-पूजा का खण्डन न करे नहीं तो हम उसे पीटेंगे। हरिशङ्कर ने यह बात महाराज से कह दी। उन्होंने उत्तर दिया कि तुम हमारे पीटने से मत डरो, दो आदमियों का मूँड़ तोड़ने को तो हम अकेले ही काफ़ी हैं, यदि अधिक लोग आक्रमण करेंगे तो हम सर्कार में रिपोर्ट कर देंगे।

स्वामीजी का उपदेश सुनकर अनेक लोगों को मूर्त्ति-पूजा से ग्लानि होगई थी। पं० पुतईलाल भट्टाचार्य भी मान गये थे कि मूर्त्ति-पूजा वेद-विरुद्ध है, परन्तु वह उसे छोड़ना न चाहते थे। उन्होंने कहा कि मेरे पास ५० वर्ष से मूर्त्तियों का सिंहासन है। उनकी मैं अबतक पूजा करता आया हूँ, उन्हें मैं गङ्गा में कैसे विसर्जन करदूं? महाराज ने हँसी में कहा कि प्रतिमाओं के मुँह में रात को मिष्ठान्न लगा देना, वह स्वयं पधार जायंगी।

एक दिन पं० गयादीन जब स्वामीजी से मिले और अपना नाम बताया तो महाराज ने कहा कि जब दीन (धर्म) ही गया तो आप के पास बचा ही क्या। फिर कहा कि खेद है कि लोगों को ठीक नाम रखने भी नहीं आते और नामकरण की रीति दर्शाते हुए कहा कि शास्त्रोक्त नाम रखने चाहियें।

एक सज्जन ने कायस्थों के विषय में प्रश्न किया तो स्वामीजी ने कहा यह लोग शूद्र नहीं हैं। यदि चित्रगुप्त से इनका वंश-सम्बन्ध है जैसा कि यह कहते हैं तो वैश्य हो सकते हैं क्योंकि गुप्त शब्द वैश्यों के लिये आना शास्त्रोक्त है। यह लोग अपने स्वरूप को भूल

कर मद्य-मांस में अधिक प्रवृत्त हो गये। इस अशास्त्रीय व्यवहार को त्यागने पर पुनः उन्नता प्राप्त कर सकते हैं। ※

क़न्नौज में एक संन्यासी रहते थे, जो शिवालय वाले बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। वह संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। एक दिन लोगों के अनुरोध से स्वामीजी उनके पास गये। उन्होंने स्वामीजी का बहुत सत्कार किया, किन्तु धार्मिक-विषय पर कोई बातचीत नहीं हुई।

एक वैश्य को उसके गुरु ने यह गायत्री बता रक्खी थी 'तत्पुरुषाय विद्म हे कुवेराय धीमहि तन्नो धनदः प्रचोदयात्'। स्वामीजी ने उसे गायत्री मन्त्र का उपदेश किया और कहा कि गायत्री सबके लिये एक ही है।

एक दिन संकटादीन आचार्य ने स्वामीजी के सामने पं० हरिशङ्कर से कहा कि तुम तो कहा करते थे कि भागवत धर्म है और स्वामीजी उसका खण्डन करते हैं। तुम या तो स्वामीजी को पराजित करो नहीं तो हम मार्ग में तुम्हें पीटेंगे। स्वामीजी इस पर हँस पड़े और कहा कि यह आचार्य हम पर तरस करता है।

स्वामीजी क़न्नोज केवल ७-८ दिन रहे और फिर बिठूर और मदारपुर होते हुए कानपुर पहुँच गये।

कानपुर

जब महाराज ने कानपुर में पदार्पण किया तो वर्षाकाल था। कानपुर में वह भैरों के मन्दिर के पास बा० दरगाहीलाल वकील के घाट पर ठहरे। उनके पधारते ही सारे नगर में हल्ला सा मच गया और सैंकड़ो लोग उनके दर्शनों को जाने लगे। महाराज से लोगों के प्रश्नोत्तर अधिकतर मूर्त्ति-पूजा के विषय पर होते थे और वह उसका तीव्र खण्डन करते थे जिससे मूर्त्ति-पूजकों में खलबली मच गई थी। महाराज ने एक विज्ञापन भी संस्कृत में छपवाकर बँटवाया था जिसमें आठ गप्प त्याज्य और आठ सत्य ग्राह्य बतलाये थे। वह गप्प और सत्य निम्न-लिखित थे।

आठ गप्प:—

१—सब मनुष्यकृत ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण।
२—देवता बुद्धि से पाषाण आदि की पूजा।
३—शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय।
४—तन्त्रग्रन्थोक्त वाममार्ग।
५—भाँग आदि मादक द्रव्यों का सेवन।
६—परस्त्री गमन।
७—चोरी।
८—छल, कपट, अभिमान मिथ्याभाषण।

आठ सत्य:—

१—ऋग्वेदादि ईश्वरकृत चार वेद और ऋषिकृत अन्य १७ ग्रन्थ।

※ एक और अवसर पर स्वामीजी ने कायस्थों को अम्बष्ठ बताया था। मनु० अध्याय १० श्लोक ८ में अंबष्ठ को ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की सन्तान कहा गया है। —संग्रहकर्त्ता.

२—ब्रह्मचर्य्याश्रम में रहकर गुरु की सेवा और स्वधर्मानुष्ठानपूर्वक वेदों का अध्ययन।

३—वेदोक्त वर्णाश्रम में स्वधर्म अनुकूल सन्ध्यावन्दनादि, अग्निहोत्रादि का करना।

४—पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास, श्रुति, स्मृति, सदाचार के अनुकूल आचरण।

५—शम, दम, तपश्चरण, यमादि से लेकर समाधि तक उपासना, सत्सङ्गपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान।

६—विचार, विवेक, वैराग्य और पराविद्या का अभ्यास और संन्यास ग्रहण करके सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग।

७—ज्ञान और विज्ञान से सब प्रकार के अनर्थ, मरण, जन्म, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, सङ्गदोष के त्यागने का अनुष्ठान।

८—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, तमस्, रजस्, सत्व सब क्लेशों की निवृत्ति, पञ्च महाभूतों से अतीत होकर मोक्ष के स्वरूप और स्वराज्य की प्राप्ति।

गप्पा बावा

लोग इन आठ गप्पों के कारण महाराज को गप्पा बावा कहने लगे थे, क्योंकि जब कोई किसी ऐसी बात को उनके सम्मुख कहता था जो गप्पों की पारिभाषा के अन्तर्गत होती थी तो वह यही कह दिया करते थे कि "एतदपि गप्पमस्ति"।

नास्तिक दयानन्द को भैरों घाट से निकाल दो

इस बार की विशेष घटना पं० हलधर ओझा और लक्ष्मण शास्त्री से महाराज का मूर्त्ति-पूजा विषय पर शास्त्रार्थ है, जिसका सूत्रपात इस प्रकार हुआ। महाराज के कानपुर पधारने के कुछ दिन पश्चात् एक संन्यासी ब्रह्मानन्द सरस्वती नामक कानपुर आये। कानपुर में उनकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा थी और लोग उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। उन्होंने कानपुर के पण्डितों और अन्य गण्य-मान्य हिन्दुओं से कहा "दयानन्द नास्तिक और ईसाई है, उसे और अन्य कई लोगों को अंग्रेजों ने हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिये नियत किया है। यदि आप सब सहमत हों तो हम उसे भैरों घाट से निकाल दें"। तदनुसार पण्डितगण और कुछ अन्य लोग इकट्ठे होकर स्वामीजी के पास गये और ब्रह्मानन्द उन्हें दुर्वचन कहने लगे। स्वामीजी ने उनसे कहा—"तू मूर्ख है, तुझसे शास्त्रार्थ क्या करें, यदि विद्वान् होता तो शास्त्रार्थ करते।

मूर्ख से शास्त्रार्थ क्या करें

ब्रह्मानन्द की लीला

इसके पश्चात् ब्रह्मानन्द ने उन लोगों से जो महाराज के पास बहुत जाया करते थे यह कह कर कि तुम दयानन्द के संसर्ग से अशुद्ध होगये हो, तुमने देवताओं की निन्दा सुनी है, तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिये, उनको गङ्गा में स्नान कराकर और पञ्च गव्य खिला कर और यज्ञोपवीत बदलवाकर उनका प्रायश्चित्त कराया। परन्तु एक व्यक्ति रामचरण अवस्थी ने प्रायश्चित्त न किया और प्रायश्चित्त करने से साफ इनकार कर दिया। ब्रह्मानन्द ने एक विज्ञापन भी छपवाकर बाँटा जिसमें लिखा था कि जो ब्राह्मण दयानन्द के समीप जावेंगे वह त्याज्य हो जावेंगे। परन्तु इन सब कार्यों का कोई परिणाम न निकला।

लोग पूर्ववत् श्रीसेवा में जाते रहे और उपदेशामृत पान करके अपने संतप्त आत्माओं को शान्त करते रहे।

ब्रह्मानन्द उस दिन की फटकार खाकर और भी चिढ़ गया और अपना खिसियानपन उतारने के लिये चाहता था कि किसी प्रकार शास्त्रार्थ का आयोजन करके दयानन्द को जैसे-तैसे परास्त किया जावे। वह कानपुर के प्रसिद्ध रईस पण्डित गुरुप्रसाद और प्रयागनारायण के पास गया।

मन्दिरों पर लाखों रुपया व्यर्थ खो दिया

पं० गुरुप्रसाद और प्रयागनारायण ने "कैलास" और "वैकुण्ठ" नामक दो मन्दिर बहुत रुपया लगाकर बनाये थे। स्वामीजी ने उनसे कहा था कि आप लोगों ने लाखों रुपया व्यर्थ खो दिया जिसे चूहड़े, चमार और मुसलमान आदि खागये। इससे तो यह अच्छा होता कि आप कान्यकुब्ज कन्याओं का जो ३०-३० वर्ष की कुमारी बैठी हैं, विवाह करा देते वा कोई कला-कौशल का कारखाना खोलते जिससे देश और जाति का भला होता।

शास्त्रार्थ की उत्तेजना

ब्रह्मानन्द ने पंडित गुरुप्रसाद और प्रयागनारायण को उत्तेजना दी कि वह हलधर ओझा से स्वामीजी का शास्त्रार्थ करावें। तदनुसार शास्त्रार्थ की बात पक्की होगई। पंडित हलधर और लक्ष्मण शास्त्री को स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिये उद्यत किया गया। ३१ जुलाई सन् १८६९ शास्त्रार्थ के लिये नियत हुई। उस दिन शास्त्रार्थ के देखने को कानपुर की जनता उमड़ पड़ी। २०-२५ सहस्र की भीड़-भाड़ होगई। इतना जन-संघट्ट था कि लोग स्थानाभाव से छतों और पेड़ों तक पर बैठे थे। हलधर ओझा ने शास्त्रार्थ से पहले यह शर्त लगाई कि यदि थेन

थेन साहब शास्त्रार्थ के मध्यस्थ

साहब असिस्टेण्ट कलक्टर जो संस्कृतज्ञ थे मध्यस्थ बनना स्वीकार करें तो मैं शास्त्रार्थ करूंगा। इस पर पं० प्रयागनारायण ने थेन साहब से मध्यस्थ बनने की प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

पहले स्वामीजी से कहा गया कि वह ऊपर तट पर आजावें और वहीं शास्त्रार्थ हो। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमने किसी को नहीं बुलाया। जिसका जी चाहे हमारे पास आकर शास्त्रार्थ करले। अतः दर्गाहीलाल के घाट पर ही शास्त्रार्थ हुआ।

शास्त्रार्थ सभा में बाबू चेत्रनाथ घोष सब-जज, बाबू काशीनारायण मुन्सिफ़, सुलतान मुहम्मद कोतवाल तथा अन्य संभ्रान्त और प्रतिष्ठित पुरुष पर्याप्त संख्या में उपस्थित थे। कई अंग्रेज़ भी आये थे। मध्यान्होत्तर साढ़े चार बजे शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

हलधर ओझा से दूसरा शास्त्रार्थः—

हलधर—आपने जो अष्टगप्पम् और अष्टसत्यम् का विज्ञापन दिया है उसमें व्याकरण की अशुद्धि है।

स्वामीजी—यह बातें पाठशाला के विद्यार्थियों की हैं ऐसे शास्त्रार्थ पाठशाला में हुआ करते हैं। आज उस विषय पर कहो जिसके लिये सहस्रों मनुष्य इकट्ठे हुए हैं। व्याकरण के विषय में कल मेरे पास आना, मैं समझा दूँगा।

इसके पश्चात् हलधर ने ग्रन्थ-प्रामाण्य की बात उठाई और पूछा।

हलधर—आप महाभारत को मानते हैं ?

स्वामीजी—हाँ।

हलधर—(श्लोक पढ़कर) एक नीच कुलोत्पन्न पुरुष (भील) ने द्रोणाचार्य्य की मूर्त्ति बनाकर उसकी पूजा की और शस्त्रों का अभ्यास किया, उसे यह फल मिला कि वह शस्त्रविद्या में निपुण होगया अतः मूर्त्ति-पूजा विहित सिद्ध होती है।

स्वामीजी—इससे मूर्त्ति-पूजा सिद्ध नहीं होती। यह कार्य्य उस शूद्र ने अज्ञान वश किया था, जैसा कि अज्ञानी लोग आज तक करते हैं और शस्त्रप्रयोग की निपुणता मूर्त्ति-पूजा का नहीं वरन् उसके निरन्तर अभ्यास का फल था। आप कोई वेद-वाक्य दिखावें जिसमें मूर्त्ति-पूजा की आज्ञा हो। जैसे देखो अंग्रेज़ लोग चाँदमारी करते हैं परन्तु वह किसी की मूर्त्ति को सामने नहीं रखते।

कुछ देर चुप रहने के पश्चात् ओझा ने पूछा—वेद में प्रतिमा पूजन की यदि आज्ञा नहीं है तो निषेध भी कहाँ है ?

स्वामीजी—जब विधि नहीं है तो निषेध ही समझना चाहिये। यदि कोई मनुष्य अपने भृत्य से पश्चिम की ओर जाने को कहे तो वह समझा ही जायगा कि वह पूर्वादि दिशाओं में जाने का निषेध करता है।

तत्पश्चात् वेदों के अनेक मन्त्र उद्धृत करके महाराज ने सिद्ध कर दिया कि ईश्वर निराकर है उसकी मूर्त्ति नहीं हो सकती।

लक्ष्मण—ईश्वर सर्वव्यापक है, पत्थर में भी है फिर मूर्त्ति-पूजन में क्या दोष है ?

स्वामीजी—जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो पत्थर में ही क्या विशेषता है और चेतन को छोड़कर जड़ की पूजा में क्या भलाई है ?

इसे सुनकर पं० हलधर और लक्ष्मण शास्त्री ने मौन धारण कर लिया।

तत्पश्चात् थेन साहब ने स्वामीजी से पूछा कि आप किस को मानते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं केवल एक परमेश्वर को मानता हूँ।

थेन०—तो फिर आप अग्नि में होम करके अग्नि की पूजा क्यों करते हैं।

स्वामीजी—हम अग्नि की पूजा नहीं करते। अग्नि सर्वव्यापक है, जो पदार्थ अग्नि में डाला जाता है, वह (सूक्ष्म होकर) सर्वत्र फैल जाता है।

इसके पश्चात् थेन साहब ने अपनी छड़ी उठाई और कुर्सी पर से उठ खड़े हुए। उनके उठने के साथ ही सब लोग उठ खड़े हुए और शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। हलधर के साथी गङ्गाजी की जय बोलते हुए और यह कहते हुए 'हलधर जीत गये' उन्हें गाड़ी में सवार कराकर शास्त्रार्थ स्थल से चले गये।

असत्य का ववंडर

पं० गुरुप्रसाद शुक्ल स्वामीजी के कट्टर शत्रु थे। यह हम कह ही चुके हैं कि शुक्लजी के मन्दिर बनवाने पर स्वामीजी ने आक्षेप किया था। दूसरे शुक्लजी ने कोतवाल के पुत्र के विवाह में मन्दिर के आँगन में मुसलमानी वेश्या के नृत्य की अनुमति दी थी। इस पर भी महाराज ने शुक्लजी को फटकारा था। इससे शुक्लजी महाराज से बहुत चिढ़े हुए थे। और अब तो उनके चिढ़ने का एक और प्रबल कारण उपस्थित होगया था। उनके पण्डितों ने जिन्हें वह बड़े दल-बल के साथ स्वामीजी को परास्त करने के लिये लिवाकर लाये थे, शास्त्रार्थ में ऐसा

पराजय प्राप्त किया कि जिसका उदाहरण मिलना कठिन था। अब उन्होंने सत्य को झूठ से दबाना चाहा। सूर्य पर धूल फेंकने का वृथा प्रयास किया जिसका अन्तिम फल यह हुआ कि धूल उनके ही चेहरे पर आकर पड़ी।

उन दिनों कानपुर से एक उर्दू समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ करता था जिसका नाम शोलए-तूर था। शुक्लजी उसके सम्पादक के पास गये जो उनका किरायादार भी था और उससे कहा कि कल के शास्त्रार्थ का वृत्तान्त छापो और उसमें लिखो कि शास्त्रार्थ में हलधर ओझा जीते और दयानन्द हारे।

शोलए-तूर का शोला

सम्पादक ने कहा कि शास्त्रार्थ में उच्च राज्य-कर्मचारी उपस्थित थे, मैं ऐसी मिथ्या बात कैसे प्रकाशित करदूं, कल को कोई दावा होगया तो क्या होगा? शुक्लजी ने पूछा, दावे में क्या होगा? सम्पादक ने उत्तर दिया कि जुर्माना होगा। शुक्लजी ने कहा कि क्यों डरते हो दस हजार तक जुर्माना मैं देदूंगा।

अन्त कथा यह है कि शोलए-तूर के सम्पादक ने शुक्लजी के आग्रह पर जैसा वह चाहते थे वैसा ही प्रकाशित कर दिया ('शोलए-तूर' जिल्द १० नं० ३१)।

पं० शिवसहाय जो स्वामीजी के भक्त थे और जिन्हें महाराज इस कारण से कि वह उनका पक्ष लेने में किसी से न डरते थे 'शूरवीर' कहा करते थे शोलए-तूर के उस अङ्क को लेकर महाराज की सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें वह लेख पढ़कर सुनाया। उन पर उसका क्या प्रभाव होना था। उन्होंने उत्तर दिया कि हम तो इस विषय में कुछ करेंगे नहीं, यदि आप लोग कुछ करना चाहें तो करें, परन्तु ऐसा न हो कि हमें अदालत में जाना पड़े। शिवसहाय ने कहा कि हम ही कुछ करेंगे।

पं० शिवसहाय, पं० हृदयनारायण दत्तात्रेय वकील को साथ लेकर मुन्सिफ़ साहब और फिर सब-जज साहब के पास गये और उनका पत्र लेकर थेन साहब के बँगले पर गये और उनसे प्रार्थना की कि आप शास्त्रार्थ में मध्यस्थ थे, आपकी जो सम्मति हो वह कृपा करके आप लिख दीजिये। इस पर थेन साहब ने अपनी सम्मति इन शब्दों में लिखकर उन्हें देदी:—

भद्र पुरुषो, उस समय मैंने दयानन्द सरस्वती फ़क़ीर के पक्ष में अपना निर्णय दिया था और मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियाँ वेद के अनुकूल थीं। मेरे विचार में उनकी विजय हुई। यदि आप कहेंगे तो मैं अपने निर्णय के कारण थोड़े दिन में आपको बतला दूँगा।

मध्यस्थ का निश्चय

हस्ताक्षर—आपका आज्ञानुवर्त्ती—

कानपुर, ७-८-६९ * डब्ल्यु. थेन.

* Gentlemen—At the time in question I decided in favour of Dayanand Saraswati, Fakir, and believe his arguments are in accordance with Vedas. I think he won the day. If you wish it I will give you my reasons for my decision in a few days.

Yours Obediently,

Cawnpore, 7-8-1869. **W. Thaine.**

स्वामीजी के लिये भोजन परिडत हृदयनारायण वकील के यहाँ से कुछ दिन आता रहा, फिर बाबू दुर्गाहीलाल ने उनके लिये एक पाचक नियत कर दिया था और उनके लिये घाट पर ही भोजन बनने लगा था। महाराज इस समय नस्य लेते थे, इस समय की बहुतसी मनोरञ्जक घटनाएँ महाराज के विषय में प्रसिद्ध हैं जिनमें से हम कुछ यहां उद्धृत करते हैं।

आधुनिक जन्म के ब्राह्मणों के लिये महाराज निम्न श्लोक पढ़ा करते थे:—

टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टकाटकटकायते॥

मगर हमें दुःख न देगा

एक दिन महाराज मौज में जल में लेटे हुए थे, आधा शरीर जल में और आधा जल से बाहर था कि इतने में थोड़ी दूर पर ही एक मगर निकला। परिडत हृदयनारायण वकील के लघु भ्राता उसे देखकर भागे और चिल्लाये कि स्वामीजी मगर निकला है, परन्तु उनके मुख पर भय की किञ्चिन्मात्र रेखा भी दिखाई न दी, वह जैसे पड़े थे वैसे ही पड़े रहे और बोले कि जब हम उसका कुछ नहीं बिगाड़ते तो वह भी हमें दुःख न देगा ※।

जब वह ध्यानावस्थित होकर बैठते थे तो उनका शरीर हर प्रकार से गति और स्पन्दन शून्य होजाता था और उनका दिव्य मुखमण्डल अपूर्व शान्ति और आभा धारण कर लेता था।

वह ऐसी मधुर और सरल संस्कृत बोलते थे कि थोड़े दिन उनके संसर्ग में रहने से संस्कृत से अनभिज्ञ, यहां तक कि सर्वथा अनगढ़ मनुष्य भी उनके वचनों को समझने लगते थे।

योगासनारूढ़

परिडत हृदयनारायण वकील व परिडत काशीनाथ मुन्सिफ़ जो दोनों काश्मीरी ब्राह्मण थे, स्वामीजी के पास बहुधा जाया करते थे। एक दिन वह रात्रि के समय गये तो उन्होंने देखा कि स्वामीजी नहा धोकर सारे शरीर पर मिट्टी लगाए हुए ध्यानावस्थित बैठे हैं। उनके शरीर में तनिक भी कोई कम्पन वा किसी अङ्ग का सञ्चालन नहीं दीखता था। उनके सामने वह १५ मिनट तक उसी अवस्था में बैठे रहे फिर ध्यान भङ्ग करके बात-चीत करने लगे। उन दिनों स्वामीजी एक ही समय भोजन करते थे। बहुधा भोजन परिडत हृदयनारायण के यहां से आया करता था। वह कहा करते थे कि काश्मीरियों में भोजन अच्छा बनता है और शोक करते थे कि और बातें तो अलग रहीं लोग पाक बनाना भीं भूल गये।

※ हमें तो इस घटना में महाराज का पूर्ण योगी होना दृष्टि पड़ता है। उन्होंने अहिंसा-व्रत का पूर्ण रूप से पालन करलिया था और योगशास्त्र के इस वचन के अनुसार "अहिंसा-प्रतिष्ठायां वैरत्यागः" कि जब योगी अहिंसा में प्रतिष्ठित होजाता है तो प्राणिमात्र उस से वैर करना छोड़ देते हैं। वैर पर विजय प्राप्त करली थी। यह योगानुष्ठान का ही फल था जो उनमें इतनी द्वन्द्व-सहिष्णुता थी कि शीतकाल की यौवनावस्था में गङ्गा के तट पर पियार के भीतर सुख से सोजाते थे, जब कि अन्य लोगों की बन्द मकानों में मोटे २ लिहाफ़ों के भीतर भी जाड़े से किड़किड़ी बँधती थी।
—संग्रहकर्त्ता,

पण्डित हृदयनारायण की उनके सत्संग से संस्कृत में इतनी गति होगई थी कि वह अन्यों को स्वामीजी के वाक्यों का अनुवाद करके समझा दिया करते थे।

अनेक लोगों ने स्वामीजी के उपदेश से मूर्त्ति-पूजा छोड़दी थी और मूर्त्तियाँ गंगा में डाल दी थीं।

अंगोछे में से पुस्तक न खुल सकी

अनेक पण्डित उनसे मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने आते थे, परन्तु सब परास्त होकर चले जाते थे। एक दिन कुछ पण्डित षड्विंश ब्राह्मण का प्रमाण 'प्रतिमाः हसन्ति,' इत्यादि लेकर इस आशा से स्वामीजी के पास आए कि आज स्वामीजी को परास्त करेंगे। स्वामीजी ने उनसे पूछा, कोई प्रमाण लाए हो? उन्होंने कहा कि लाए हैं। स्वामीजी ने कहा, वही षड्विंश ब्राह्मण का 'प्रतिमाः हसन्ति' वाला लाए होंगे। यह सुनकर वह इतने [illegible]राये कि अङ्गोछे में से पुस्तक ही न खुलसकी और लज्जित होकर वापिस चलेगये।

भैरव की मूर्त्ति जलसात्

[illegible]रव की मूर्त्ति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध था कि वह जागती जोत और प्रत्यक्ष कला है। एक किंवदन्ति यह फैली हुई थी कि मन्दिर के निकट सरकारी मैगज़ीन (गोले बारूद आदि रखने का स्थान) था। उस पर सिपाहियों का पहरा रहता था। एक दिन जब भैरवजी की सवारी निकली तो सन्तरी ने टोका, भैरवजी ने कोप में आकर उसे दे मारा। लोगों ने इस कथा को स्वामीजी से भी कहा, तो उन्होंने कहा—"भैरव ने क्या दे मारा होगा, निद्रालु होगा, ऊँघ में गिर पड़ा होगा। हम तो रोज़ भैरव का खण्डन करते हैं, देखें हमें तो दे मारे"। थोड़े दिन पीछे गङ्गा के प्रवाह ने भैरव के मन्दिर को काटकर जलसात् कर दिया और भैरव की मूर्त्ति भी उसके साथ नदी की प्रवाह में गिर गई।

यदि किसी भिखारी के मस्तक पर श्री (तिलक) देखते थे तो कहते कि देखो मस्तक पर श्रीः (लक्ष्मी) तिलक लगाता है और मांगता है भीख।

ऊँट का चारा

एक दिन श्रावण मास में कुछ ब्राह्मण शिव-लिङ्ग पर बिल्व-पत्र चढ़ाकर स्वामीजी के पास गये। उनके प्रश्न करने पर कि कहाँ आये थे, ब्राह्मणों ने कहा कि शिवजी पर बिल्व-पत्र चढ़ा कर आ रहे हैं। इस पर महाराज बोले कि ऊँट को खिलाते तो उसका चारा होता, पाषाण पर चढ़ाने से क्या लाभ हुआ?

मूर्त्ति फेंकदी, माला तोड़दी

एक हेड कान्स्टेबिल एक दिन नर्मदेश्वर महादेव लिये हुए और रुद्राक्ष की माला पहने हुए महाराज की सेवा में आया और उनके सदुपदेश से उसने तत्काल ही महादेव को फेंक दिया और रुद्राक्ष की माला तोड़ डाली। उसके यह कहने पर कि यदि इसमें पाप हुआ तो किसे होगा, आपने मन्दमुस्कान करते हुए कहा कि जो पाप होगा वह मुझे होगा और जो पुण्य होगा वह तुझे।

विनोद-वाक्य

स्वामीजी में विनोद-कला का भी पूर्ण विकास था और तत्काल उत्तर देने में और व्यंग्य में तो अद्वितीय थे। चक्राङ्कितों के विषय में कहते थे कि यह अपना लिङ्ग शतवार देखते हैं, परन्तु इनकी श्री नहीं शर्माती।

परन्तु पाषाण का शिवलिंग देखकर शर्मा जाती है। यह लोग तो एक प्रकार से नर-मांस खाते हैं, क्योंकि छाप को तप्त करके शरीर को दग्ध करते हैं और फिर उसी को धोकर पीते हैं।

जब किसी को स्वामीजी रुद्राक्ष पहने देखते थे तो उससे कहा करते थे कि इन गुठलियों के पहनने से क्या लाभ है। इनसे मुक्ति नहीं होती, मुक्ति तो ज्ञान से होती है।

स्वामी कैलासपर्वत भी घटनावश कानपुर आये हुए थे। महाराज ने उन्हें विचारार्थ बुलाया तो वह न आये और कहला भेजा कि हम शूद्र के स्थान पर न आवेंगे।* स्वामीजी ने इसके उत्तर में उनके पास कहलवाया कि म्लेच्छ के राज्य में क्यों आये। कैसा फबता और फड़कता हुआ उत्तर था। कैलासपर्वत भी सुन कर फड़क उठे होंगे।

मूर्त्ति-पूजकों की घबराहट

महाराज के उपदेश से कानपुर में इतने लोगों ने मूर्त्ति-पूजा को सदा के लिये तिलाञ्जलि देकर मूर्त्तियाँ गङ्गा में प्रवाहित करनी आरम्भ करदीं। इससे मूर्त्ति-पूजकों में बड़ी सनसनी फैली और उन्हीं हलधर ओझा ने जिन्हें शास्त्रार्थ में पं० गुरुप्रसादादि ने विजेता प्रसिद्ध करने के लिये झूठे लेख प्रकाशित कराये थे, विवश होकर एक विज्ञापन प्रकाशित किया जो संस्कृत, उर्दू और आर्य्य-भाषा में था। हम उसके आर्य्य-भाषा [illegible] को नीचे उद्धृत करते हैं।

मूर्त्तियाँ फेंको नहीं, मन्दिर में पहुँचादो

जो कि दयानन्द सरस्वतीमत के मुताबिक़ बहुत लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, [illegible] वगैरः अपना कुल धर्म छोड़ कर मूर्त्ति, देवताओं को गङ्गाजी में प्रवाह कर देते हैं, यह बात बेजा व नामुनासिब है। इसलिये यह इश्तिहार जारी किया जाता है कि जो लोग उनके मत को अख्तियार करें, उन को चाहिये कि मूर्तियों को बराह मेहरबानी एक मन्दिर कैलाशजी में जो महाराज गुरुप्रसाद शुक्ल का है उसमें या मन्दिर महाराज प्रयागनारायण तेवारी में पहुँचा दिया करें और अगर उनको पहुँचाने की गुञ्जायश न हो तो इत्तिला करें हम उनको उठा लिया करेंगे और उनके बहाने वा फेंकने में जो पाप है वह संस्कृत में लिखा है। फ़क्त।

दस्तख़त—ओझा हलधर.

इससे अधिक सुस्पष्ट और अकाट्य प्रमाण ओझाजी के पराजय का और क्या हो सकता है? यदि ओझाजी जीते होते तो लोगों की श्रद्धा मूर्त्ति-पूजा में घटती या बढ़ती? और उन्हें प्रति दिन और दयनीय दशा को क्यों प्राप्त होना पड़ता?

यह विज्ञापन शोलए-तूर के ३।८।१८६९ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था।

गंगा तट पर वेद गान

एक बार पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या एक मास्टर (अध्यापक) के साथ कानपुर गये थे। एक दिन वह सन्ध्या समय गङ्गा-तट पर भ्रमण करने चले गये तो उन्होंने महाराज का कण्ठ-रव सुना। ऐसा मालूम होता था कि वह कोई चीज़ गा रहे हैं। जब वह आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि महाराज घाट के एक बुर्ज पर अर्द्धनिमीलित चक्षु होकर बैठे हुए हैं

* स्वामीजी बाबू दुर्गाहीलाल के घाट पर ठहरे हुए थे, जो कायस्थ थे और उस समय के पौराणिक कायस्थों की शूद्रों में गणना करते थे। इसी से स्वामी कैलासपर्वत ने ऐसा कहा था।

और सामगान कर रहे हैं। थोड़ी देर पीछे उन्होंने पण्ड्याजी और अध्यापक से वहाँ से चले जाने को कहा कि उपद्रव होने वाला है। वह जाने को ही थे कि कुछ लोग लाठी और ढेले लिये हुए आये और महाराज पर ढेले फेंकने लगे और एक व्यक्ति ने आगे बढ़कर उन पर लाठी चलाई। उन्होंने उसकी लाठी पकड़ ली और उसे गङ्गा में ढकेल दिया। और पास के एक वृक्ष की एक शाखा तोड़कर इन प्रहारोद्यत मनुष्यों को हटाते हुए कहने लगे कि मित्रगण आओ, और कई मनुष्यों को मारा और बोले मैं निरा साधू ही नहीं हूँ। इसके पश्चात् वह लोग चले गये और आप गङ्गा में तैरने लगे। महाराज तैरने में भी बड़े निपुण थे। अध्ययन काल में कई-कई मील तक तैरते हुए यमुना की एक धार से दूसरी धार में चले जाते थे। आप कभी-कभी मालकँगनी का तैल खाया करते थे और कहा करते थे कि इसे खाकर जल में बहुत देर तक रहा जा सकता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इस तैल को गोले के साथ खाने से स्मरण-शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

दुष्टों का आक्रमण

मैं निरा साधू ही नहीं हूँ

पं० सूर्य्यकुमार शर्मा रईस, पुराना कानपुर स्वामीजी के बड़े विरोधी थे। वह हलधर के शास्त्रार्थ में भी उपस्थित थे। जब वह शास्त्रार्थ-भूमि से चलने लगे तो विरोध के कारण वह स्वामीजी की ओर कई ईंटें फेंक आये थे। शास्त्रार्थ में स्वामीजी को मूर्त्ति-पूजा का इतने जन-समूह के सामने स्पष्ट खण्डन करते देखकर उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ गई। वह उनके नाम तक से जलने लगे। यहाँ तक कि यदि कोई उनके पास इसके वर्षों पीछे तक स्वामीजी की कोई पुस्तकें लाता, तो वह उन्हें फड़वा डालते थे। संवत् १९३९ तक उनकी यही दशा रही। मार्गशीर्ष संवत् १९३९ में उनका छोटा भाई स्वामीजी की कई पुस्तकें खरीद लाया। यह उन्हें फड़वाना ही चाहते थे कि उन पुस्तकों की सुन्दरता को देखकर उनका जी उनके पढ़ने को कर आया। मेला चाँदापुर का वृत्तान्त पढ़कर उनकी बुद्धि से अज्ञान का पर्दा हटा और स्वामीजी की युक्तियों की प्रबलता ने उनके मन में घर करना आरम्भ किया। फिर क्या था? 'सत्यविवेक' पत्र बरेली को पढ़कर उनके सारे सन्देह दूर होगये और श्रावण संवत् १९४० में जब वहां आर्य्यसमाज स्थापित हुआ तो यह भी उसके सभासद् बनगये। यह प्रमाण है दयानन्द के अकाट्य तर्क और सूक्ष्म दार्शनिक युक्तियों का जो कट्टर से कट्टर शत्रु को मित्र बनाकर छोड़ती थीं।

ईंट फेंकने वाला अनुगत

इस समय कहते हैं स्वामीजी श्राद्ध का समर्थन करते थे। मांसाहार के विषय में कहा करते थे कि शास्त्र मांस-भक्षण का विरोध नहीं करते, उनमें दोनों ही प्रकार के भोजन का विधान हैं, जिसकी इच्छा हो खावे, जिसकी इच्छा हो न खावे। ❀ परन्तु पीछे आकर मांस-भक्षण और श्राद्ध दोनों का ही खण्डन करने लगे थे।

महाराज कभी प्रसङ्ग उपस्थित होने पर कहा करते थे कि पण्डित लोग अपनी

❀ इस विषय में हम अपनी सम्मति पहले ही प्रकट कर चुके हैं, हमें इन दोनों बातों के स्वीकार करने में आपत्ति है। —संग्रहकर्त्ता.

मैं सत्य का प्रचार करूंगा

प्रतिष्ठा, हानि और निन्दा के भय से सत्य को प्रकट नहीं करते, परन्तु मैं इस मार्ग का अनुसरण नहीं करूंगा; प्रत्युत अपने गुरुदेव के आदेशानुसार सत्य का प्रचार करके देश में तुमुल आन्दोलन उपस्थित करूंगा।

तत्कालीन उपदेश

महाराज की यह इच्छा थी कि महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों के प्रक्षिप्त अंश को छोड़कर उनका विशुद्ध संस्करण प्रकाशित होना चाहिये।

स्वामीजी बाल-विवाह और बाल-सहवास का घोर प्रतिवाद किया करते थे। वह कहा करते थे कि परिणतवयस् से पहले विवाह और स्त्री-सहवास करने से सन्तान कभी बलिष्ठ नहीं होसकती और दृष्टान्त में अपने बल-वीर्य का उल्लेख करके कहा करते थे कि हमारे जन्म के समय हमारे माता पिता की आयु ४०-४२ वर्ष की थी।

विधवा-विवाह का भी वह समर्थन करते कि विधवा का मृत-पति के भाई (देवर) से पुनर्विवाह हो जाना चाहिये ❀। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये व्यायाम को आवश्यक बतलाते थे। वह कहते थे कि वेद का अभ्यास न रहने से सब का पराक्रम नष्ट होगया है अन्यथा भारत-संतान अब भी वैसी ही पराक्रमी होती जैसी प्राचीन काल में थी। गायत्री के जप की बड़ी महिमा बतलाते थे और कहते थे प्राणायाम से बड़ी शक्ति उत्पन्न होती है। नई रोशनी वालों का यह विचार ठीक नहीं है कि योग में कुछ नहीं है, अब भी ऐसे बहुत से योगी विद्यमान हैं जो पृथ्वी से एक हाथ उँचे उठ सकते और स्थित रह सकते हैं।

कुरान ईश्वरोक्त नहीं

एक दिन एक मौलवी ने आकर क़ुरान के विषय में बातचीत शुरू की और कहा कि क़ुरान ख़ुदा का कलाम है? स्वामीजी ने कहा कि क़ुरान ईश्वर-वाक्य नहीं हो सकता; क्योंकि उसके आदि में ही यह कहागया है 'आरम्भ करता हूँ मैं अल्लाह के नाम से जो बख़्शने वाला और दया करने वाला है'। यदि क़ुरान का कर्त्ता अल्लाह होता तो वह यह क्यों कहता कि मैं अल्लाह के नाम से आरम्भ करता हूँ? इसे सुनकर मौलवी चुप होगये।

इन दिनों महाराज नस्य लिया करते थे और तम्बाकू खाया करते थे। एक व्यक्ति ने इसपर आपत्ति की तो उन्होंने कहा कि यदि शरीर के दोष निवारणार्थ इसे लिया जावे तो कोई दोष नहीं है।

मूर्त्ति-पूजा क्यों त्याज्य है

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा कि मूर्त्ति-पूजा में क्या दोष है? तो उन्होंने कहा कि वेदों की आज्ञा पर चलना धर्म है, वेदों में कहीं मूर्त्ति-पूजा की आज्ञा नहीं है। जो यह कहते हैं कि भावना का फल होता है, यह भी ठीक नहीं है। यदि तुम घर बैठे हुए चक्रवर्त्ती राजा बनने की भावना किये जाओ तो क्या बनजाओगे? एक दिन एक साधु ने स्वामीजी से लोटा मांगा

❀ यहाँ स्वामीजी का अभिप्राय बाल-विधवा-विवाह और नियोग से ही है, ऐसा प्रतीत होता है क्यों कि पुनर्विवाह का बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया।

—संग्रहकर्त्ता.

तेरे पास तो लोटा है उसी से जल चढ़ा

उन्होंने पूछा कि क्या करेगा। उसने कहा कि शिवजी पर जल चढ़ाऊंगा। स्वामीजी ने कहा कि तेरे पास तो लोटा है, उससे जल क्यों नहीं चढ़ाता। मुख में भर कर कुल्ले करदो।

एक दिन महाराज ने विनोद में कहा कि लोग आधे २ मन्त्र देकर गुरु बनजाते हैं, परन्तु हम सैकड़ों मन्त्र देते हैं तो भी हम गुरु नहीं बन सकते।

जो लोग गङ्गा के यात्रियों के दान से जीविका करते हैं वह गङ्गापुत्र कहलाते हैं।

नियमपूर्वक गालि-दान

एक गङ्गा-पुत्र स्वामीजी के स्थल के पास ही रहा करता था। उसने यह नियम करलिया था कि प्रति दिन नियत समय पर महाराज को गालियाँ सुनाया करे। उसे ऐसा करते हुए कई दिन होगये। महाराज ने उसकी गालियों पर कुछ ध्यान न दिया।

गाली देने वाले को मिष्टान्न

श्रद्धालु जन में से अनेक लोग महाराज के लिए मिष्टान्न, फल आदि लाया करते थे। जो पदार्थ बच रहते थे उन्हें आगन्तुकों में बाँट देते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि कुछ भोज्य पदार्थ बचे हुए रक्खे थे। महाराज सोच रहे थे कि किसे देवें कि इतने में वही गङ्गा-पुत्र सामने से जाता हुआ दिखाई दिया। महाराज ने प्रेम भरे शब्दों में उसे बुलाया और उसे वह पदार्थ देदिये और कहदिया कि प्रतिदिन हमारे पास से भोज्य वस्तुएँ लेजाया करो। वह कई दिन तक आता और खाद्य वस्तुएं लेजाता रहा। एक दिन उसके आत्मा ने उसे धिक्कारा कि ऐसे दयालु प्रकृति के महात्मा के प्रति इस प्रकार का दुष्ट व्यवहार करके उसने घोर पाप किया है। वह श्रीचरणों में गिरकर कहने लगा कि महाराज यदि मेरी दुष्टता का पार नहीं तो आपकी सुजनता की भी सीमा नहीं। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। महाराज ने कहा कि तुम्हारी गालियों को हमने अपनी स्मृति में स्थान नहीं दिया है, तुम्हें उनके कारण दुःखी होने की आवश्यकता नहीं।

एक दिन एक ब्राह्मण ने पूछा कि महाराज मैं क्या काम करूँ जिससे मैं मुक्ति पा जाऊँ। स्वामीजी ने कहा कि सन्ध्या आदि पञ्चयज्ञ करो, लोगों के यज्ञोपवीत कराओ, ब्राह्मणों के पुत्रों को पढ़ाओ, पानी, पत्थर जड़ पदार्थों की पूजा कभी मत करो। इस पर उसने कहा कि मूर्त्ति-पूजा तो पुरानी है, स्वामीजी ने कहा कि चोरी भी तो पुरानी है।

कानपुर तीन मास के लगभग रहने के पश्चात् एक दिन प्रातःकाल विना किसी को सूचना दिये लँगोट और नस्य की पुड़िया छोड़ कर किसी अनिर्दिष्ट स्थान को चले गये। स्वामीजी एक ही लँगोट रखते थे। कानपुर में दूसरा लँगोट एक सज्जन ने उन्हें देदिया था, परन्तु यात्रा में दूसरे लँगोट का रखना उन्हें भार प्रतीत हुआ; इस लिये उसे जाते समय कानपुर ही छोड़ गये।

अष्टम अध्याय

कार्त्तिक १९२६—पौष १९२६

रामनगर

कानपुर से चलकर महाराज गङ्गा-तट पर भ्रमण करते हुए आश्विन संवत् १९२६ में जब कि रामलीला होरही थी रामनगर पधारे और एक वृक्ष के नीचे आसन लगाया।

स्वामीजी के रामनगर पधारने की भी बड़ी मनोरञ्जक कथा है। काशी-शास्त्रार्थ से पहले स्वामीजी प्रयाग आये थे। वहाँ उनका एक शिवसहाय नामक

एक टीकाकार के पीछे

पंडित से शास्त्रार्थ हुआ। उस पण्डित ने वाल्मीकीय रामायण की टीका बनाई थी। किसी ने वह लाकर स्वामीजी को दिखलाई। स्वामीजी ने उसे देखकर कहा कि टीकाकार को हम से मिलाओ। जब वह आया तो स्वामीजी ने उसकी टीका में अर्थदोष और शब्ददोष बताये। इस पर वह स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने लगा। परन्तु परास्त होगया और उठकर गङ्गा के तट-तट रामनगर को चल दिया। आपको जो मौज आई तो आप भी उसके पीछे २ रामनगर चले गये और काशी नरेश के जिस मकान में वह था उसके बाहर खड़े होगये और जो कोई उस मकान में आता जाता उससे यही कहते कि जो इसके भीतर छिपा है उसे बुलाओ। ❀

रामनगर में श्रीचरणों के पहुँचते ही महाराज के शुभागमन का समाचार बिजली की तरह क्या रामनगर और क्या काशी में आन की आन में फैल गया। स्थान-स्थान पर यह चर्चा होने लगी कि एक परमहँस आये हैं जो मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि वेद में मूर्त्ति-पूजा नहीं है। इस समाचार को सुनकर अनेक जन कौतूहलवश उनके दर्शनों को आने लगे।

❀ यह कथा पं० लेखरामकृत दयानन्द-चरित में लिखी है कि पण्डित मोतीराम ने पण्डित ज्योतिःस्वरूप उदासी से सुनी थी। नोट में यह भी कहा गया है कि पण्डित बलदेवप्रसाद शुक्ल फ़र्रुख़ाबाद निवासी ने भी यही कथा कही थी परन्तु न पंडित लेखराम ने ही, न देवेन्द्र बाबू ने ही पंडित ज्योतिःस्वरूप से इस विषय में कुछ पूछा। —संग्रहकर्त्ता.

नरेश का आतिथ्य

रामनगर-नरेश महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह साधु, संन्यासी, परमहंसों में अत्यन्त भक्ति रखते थे। उन्होंने महाराज के आहारादि के लिये ।।) प्रतिदिन नियत कर दिया और एक बहुमूल्य पश्मीने का अलवान उनकी सेवा में भेजा परन्तु उन्होंने उसे लेना स्वीकार नहीं किया। महाराजा ने अपने पण्डित भी उनके पास भेजे। उन पण्डितों से भी उन्होंने मूर्त्ति-पूजा पर वाद आरम्भ कर दिया और उसका खण्डन करने लगे। इसे सुनकर महाराजा अप्रसन्न हुए और अपने पण्डितों से कहा कि दयानन्द से मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करना चाहिये। रामनगर-नरेश पार्थिव-पूजा किया करते थे और अपने हाथ से पार्थिव-लिंग बनाया करते थे। यह देखकर स्वामीजी ने उनसे कहा था कि आप यह कुम्हार का खेल क्या कर रहे हैं।※

एक वार महाराजा ने यह उद्योग भी किया कि किसी तरह स्वामीजी मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करना छोड़ दें। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने एक विश्वस्त पुरुष को स्वामीजी की सेवा में भेजकर उन्हें यह प्रलोभन दिया कि यदि वह मूर्त्ति-पूजा का प्रतिवाद करना छोड़दें तो उन्हें राज्य से १००) मासिक की वृत्ति मिल जाया करेगी। स्वामीजी ने उत्तर में कह दिया कि यदि महाराजा अपना सारा राज्य भी मुझे देदें तो भी मैं मूर्त्ति-पूजा का खण्डन नहीं छोड़ूंगा। यही कारण महाराजा के स्वामीजी से अप्रसन्न होजाने के थे। और उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराकर उन्हें परास्त कराया जावे। स्वामीजी से विरोध होने पर भी वह यह नहीं चाहते थे कि रामनगर में रहते हुए कोई स्वामीजी के साथ दुर्व्यवहार करे। एक दिन ५०-६० वैरागी इकट्ठे होकर महाराज के पास गये और उन्होंने महाराज को कुवाक्य कहे। जब महाराजा ने यह बात सुनी तो वैरागियों को उन्होंने भर्त्सना की कि स्वामीजी से शास्त्रार्थ चाहे जो करे, परन्तु यदि कोई उन्हें गाली-गुफ्ता देगा वह हमें देगा, क्योंकि स्वामीजी हमारे यहाँ आये हैं।

दयानन्द जो कहते हैं ठीक ही है

एक दिन बाबू अविनाशीलाल खत्री मरहोत्रा, मुन्शी हरवंशलाल और ज्योतिःस्वरूप उदासी रामनगर महाराज के दर्शनों को गये। महाराज एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए कुछ पण्डितों से उसी सर्वव्यापी विषय मूर्त्ति-पूजा पर वार्त्तालाप कर रहे थे। यह वार्त्तालाप दो घण्टे तक होता रहा और महाराज अनेक युक्ति-प्रमाणों से मूर्त्ति-पूजा को अवैध सिद्ध करते रहे। बाबू अविनाशीलाल ने पं० ज्योतिःस्वरूप से कहा कि आप भी कुछ कहें। उन्होंने उत्तर दिया कि मैं क्या कहूँ जो कुछ परमहंसजी कह रहे हैं ठीक ही है।

※ इस घटना की सत्यता में हमें सन्देह है। हमारी धारणा है कि स्वामीजी और महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह का रामनगर में साक्षात् नहीं हुआ था। बलदेवप्रसाद शुक्ल जो उस समय स्वामीजी के साथ थे कहते हैं कि एक दिन महाराजा ने स्वामीजी को बुलाने के लिये एक चौबे को भेजा था, परन्तु स्वामीजी ने कहला भेजा कि यदि महाराजा की इच्छा हो तो स्वयं हमारे पास चले आवें, हम तो उनके पास जावेंगे नहीं। कई बार महाराजा ने उन्हें बुलाया परन्तु वह न गये। चौबे ने महाराजा से जाकर कह दिया कि दोनों मस्त हैं, आप राजा हैं और वह साधु। आपका और उनका मेल न होगा।

—संग्रहकर्त्ता.

वास्तव में बात यह थी कि स्वामीजी के मूर्त्ति-पूजा के प्रतिवाद करने से पहले भी अनेक विद्वान् मूर्त्ति-पूजा को अवैध समझते थे। परन्तु प्रकट रूप से उसका प्रतिवाद करने का साहस न कर सकते थे। जब स्वामीजी ने यह कार्य्य आरम्भ किया, तो दूसरे विद्वानों को भी उसे अवैध कहने का साहस होगया और वह सर्वसाधारण में नहीं तो निज में तो स्वामीजी के कथन का समर्थन करने ही लगे।

वेद में मूर्त्ति-पूजा नहीं है

इसी समय की रामनगर की ही एक घटना है कि एक दिन महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह स्वामी निरञ्जनानन्दजी के पास गये और उनसे पूछा कि वेद में मूर्त्ति-पूजा वा रामलीला का विधान है वा नहीं, दयानन्द कहते हैं कि नहीं है। तो स्वामी निरञ्जनानन्द ने स्पष्ट कह दिया कि वेद में तो कहीं नहीं है, परन्तु लोकरीति चली आई है, करते चले जाओ। पिछले वाक्य हमारी सम्मति में उन्होंने महाराजा का मन रखने के लिये ही कहे होंगे।

रामनगर में लगभग एक मास रहकर महाराज कार्त्तिक कृष्णा २ वा ३ संवत् १९२६ को (२२ वा २३ अक्टूबर सन् १८६९ को) काशी पधारे और पहले गोसाईंजी के बाग़ में रहे फिर अमेठी के राजा के आनन्दबाग़ में जो दुर्गाकुण्ड पर है, चले गये।

काशी महत्व

काशी हिन्दुओं में विशेष मान की दृष्टि से देखी जाती है। काशी सुख-राशि कहलाती है, पृथ्वी तल पर स्वर्गसमान समझी जाती है। काशी में मरना सीधा वैकुण्ठ वा शिव-लोक को चला जाना है, काशी पुनीततम स्थान है, पौराणिक धर्म का केन्द्र और दुर्ग है, संस्कृतविद्या की खानि है, काशी का एक-एक कंकर शङ्कर के समान समझा जाता है। काशी शिवजी के त्रिशूल पर स्थित मानी जाती है और स्वयं त्रिशूलधारी शिव अपने अगणित गण सहित उसकी रक्षा करते हैं। काशी की रक्षा के लिए सहस्रशः दिग्गज पण्डित अपनी अगाध विद्या और असीम पाण्डित्य से अहर्निश सन्नद्ध रहते हैं। काशी-नरेश अपने धन और दल-बल के साथ उसकी रक्षा के लिये उद्यत हैं। इस प्रकार से सुरक्षित, दैविक और मानुषिक छत्र-छाया में पालित उसी काशी में आज दयानन्द पदार्पण करते हैं। दयानन्द एकाकी हैं, उनके पास न धनबल है, न जनबल। केवल एक लँगोटी बांधे हुए वृषभवाहन भगवान् शङ्कर और उनके भैरवादि विकट और विकराल अनुचरों की परवाह न करते हुए, सहस्रों पण्डितों की विद्या और काशी-नरेश के वैभव और ऐश्वर्य्य को तुच्छ समझता हुआ दयानन्द आज उसी मूर्त्ति-पूजा के दृढ़तम दुर्ग पर आक्रमण करता है। कैसा अपूर्व साहस है, कैसा अतुल शौर्य, कैसा अनुपम वीर्य और कैसा अद्वितीय धैर्य है।

दयानन्दजनित आन्दोलन

दयानन्द के आगमन का समाचार विद्युत् के वेग से सारे नगर में दौड़ जाता है। पण्डित-मण्डली दयानन्द के साहस को दुःसाहस समझती है और उस पर आश्चर्य्य करती है। कोई दयानन्द की मूर्खता पर हँसता है। नगर के गुण्डे और लफ़ङ्गे उन्हें अपनी दुष्टता से दबा देने का विचार करते हैं। पण्डितों में जो समझदार हैं वह यद्यपि प्रकट रूप से कुछ नहीं कहते, परन्तु अपने पक्ष की निर्बलता को जानते हुए मन में सहम जाते हैं। इस प्रकार सारा नगर आन्दोलित, उत्तेजित, चकित, चमकित, और आतङ्कित हो उठा है।

काशी के सैकड़ों मनुष्य प्रतिदिन उनके दर्शन करने और उनका शास्त्रालाप सुनने आते हैं। कई सन्तुष्ट और कई असन्तुष्ट होकर जाते हैं। उनके स्थान पर मेला सा लगा रहता है। मूर्त्ति-पूजा के गढ़ काशी में आकर दयानन्द आस्फालन-पूर्वक, वेद के आधार पर मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करें यह अश्रुतपूर्व और अनुभूतपूर्व बात थी। इसीलिये लोगों के मन में असाधारण कुतूहल उत्पन्न होगया था।

काशी की निद्रा भंग हुई

काशी के पण्डितों की सुखनिद्रा भङ्ग होगई थी, उन्हें यही विस्मय होरहा था कि यह अनहुई और अनहोनी हुई कैसे ? अपनी विद्या और शास्त्रज्ञता के गर्व में वह यह संभव ही नहीं समझते थे कि हिन्दू मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध आवाज़ उठाने का काशी जैसे स्थान में साहस कर सकता है। परन्तु जब यह असम्भावित घटना घटी तो विस्मय से आवाक् रह गये। पहिला विचार जो उनके मन में उठा दयानन्द को तुच्छ समझने का था, जिसकी ओर उन्हें दृष्टिपात करने की भी आवश्यकता न थी। परन्तु जब उन्होंने देखा कि दयानन्द का सिंहगर्जन काशी के कोने-कोने को निनादित किये ही चला जाता है तो उनके मन में भय का भाव उत्पन्न हुआ। जो दशा एक अकिञ्चनकर मनुष्य को अपने सामने विरोध करने के लिये खड़ा हुआ देखकर एक सर्वदमनकारी शक्तिशाली पुरुष की होती है वही दशा काशी के पण्डितों की हुई।

स्वामीजी के उपदेशों का यह प्रभाव था कि जो लोग दुर्गा के दर्शन को जाते थे वह उनका उपदेश सुनने के लिये रुकजाते थे और उपदेश सुनने के पश्चात् मूर्त्ति-पूजा में इतनी अश्रद्धा होजाती थी कि दुर्गा के दर्शन किये बिना ही अपने घरों को लौट जाते थे। दुर्गा-मन्दिर की आय में इतनी कमी होगई थी कि पुजारियों ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि कृपा करके अब किसी दूसरी जगह पधारें।

विद्याबल की जांच

सबसे प्रथम उन्होंने दयानन्द के विद्याबल की जाँच करने का प्रयत्न किया। उन्होंने विद्यार्थियों को स्वामीजी के पास आकर शास्त्रचर्चा करने और शङ्का-समाधान के लिये भेजा। फिर स्वयं भी प्रच्छन्न रूप से सभा में आये। जो पण्डित इस प्रकार दयानन्द के विद्याबल की जाँच के लिये आते थे उनके नाम निम्न-लिखित हैंः—

राम शास्त्री, दामोदर शास्त्री, बाल शास्त्री और सम्भवतः राजाराम शास्त्री भी।

पण्डितों ने देखा कि दयानन्द कोई साधारण कोटि का विद्वान् नहीं है। उसकी विद्या, उसकी प्रतिभा, उसकी तर्कशक्ति सभी अलौकिक हैं, दूसरे, दयानन्द जो बात कहता है वेद के आधार पर कहता है और वेद में काशी के पण्डितों की गति नहीं थी, अतः वह दयानन्द के सम्मुख आने से घबराते थे।

नरेश से मूर्त्ति-पूजा पर प्रहार न देखा गया

दिन के पश्चात् दिन और सप्ताह के पश्चात् सप्ताह बीतता गया और दयानन्द विशुद्ध संस्कृत में मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करता रहा। यह दृश्य काशी-नरेश से देखा न गया। उन्होंने पण्डितों को बुलाकर कहा—हम तो शास्त्रज्ञ हैं नहीं, आप लोगों को जो जनता का लाखों रुपया मूर्त्ति-पूजा पर व्यय कराते हैं मूर्त्ति-पूजा का प्रमाण देना चाहिये। पण्डितों

ने उत्तर दिया कि दयानन्द कुछ विशेष तो जानता नहीं है, कुछ व्याकरण जानता है और वह तो क्रिस्टान है और सरकार का गुप्तचर है। काशी-नरेश ने कहा—नहीं, जब वह काशी के बीच में खड़ा होकर इस प्रकार की बातें कहता है तो वह उपेक्षणीय नहीं हो सकता, आप लोग उससे शास्त्रार्थ करें।

नरेश का आदेश पाकर पण्डितजन कुछ सिटपिटाये, तो उन्होंने नरेश से कहा कि

पंडितजन सिटपिटाये

यद्यपि हमने वेद नहीं देखे हैं, परन्तु अन्य शास्त्र देखे हैं, हमें तैयारी और खोज के लिये कुछ समय मिलना चाहिये। नरेश ने पण्डितों की यह प्रार्थना स्वीकार की और शास्त्रार्थ की तैयारी होने लगी।

इधर महाराज यथापूर्व अपने कार्य्य में रत रहे, उन्हें न कोई खोज करनी थी, न कोई तैयारी करनी थी।

वेदान्त पर १४ दिन तक विचार

पं० ज्योतिःस्वरूप उदासी से स्वामीजी का नवीन वेदान्त पर १४ दिन तक विचार होता रहा और अन्त में उन्होंने स्वामीजी की सब बातें स्वीकार करलीं।

पंडित-शिरोमणि को शास्त्रार्थ का आह्वान

एक दिन महाराज ने पं० राजाराम शास्त्री को जो काशी के पण्डितों में शिरोमणि समझे जाते थे शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया और निम्न-लिखित प्रश्न लिखकर उनके पास भेजा।

येनोच्चरितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणप्रत्ययो भवति स शब्दः, अथवा प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः, अथवा श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्य आकाशदेशः स शब्द अस्योदाहरण-प्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं कुर्यात्।

पं० राजाराम ने इस प्रश्न को देखा और कहा कि मध्य में छुरी रखलो यदि हम

शास्त्रार्थ में मध्य में छुरी रखलो

इसका उदाहरण प्रत्युदाहरण कर देंगे तो नासिका छेदन करलेंगे। इस उत्तर को सुनकर स्वामीजी ने कहा कि एक नहीं दो छुरी रखनी चाहियें, शास्त्र की जगह शस्त्र ही सही। पं० राजाराम ने स्वामीजी का उत्तर सुनकर कहा कि दयानन्द काशी में आगया है, चिन्ता क्या है, देखा जायगा।

पं० राजाराम इतना कहने को तो कह गये, परन्तु उन्हें यह चिन्ता हुई कि ऐसा न

विद्याबल की परीक्षा

हो कि कहीं सचमुच ही दयानन्द से शास्त्रार्थ छिड़ जाय और विद्या में हम उसके पल्ले के न निकलें और हमें नीचा देखना पड़े। अतः उन्होंने अपने एक शिष्य पं० शालिग्राम को जो पीछे आकर गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर में संस्कृत के प्रोफ़ेसर नियत हुए, स्वामीजी के पास भेजा कि देखकर आओ कि दयानन्द की विद्या कैसी है। पं० शालिग्राम ने दयानन्द के पास जाकर पूछा कि नस्य लेना कहाँ लिखा है। स्वामीजी ने झट मनु का श्लोक पढ़कर उत्तर दिया कि रोगनिवृत्यर्थ है, कुछ व्यसन नहीं है। पं० शालिग्राम ने जाकर अपने गुरु से कह दिया कि दयानन्द पण्डित तो तकड़ा है परन्तु नास्तिक है।

काशी के पण्डित कई प्रकार से शास्त्रार्थ की तैयारी करने लगे। एकवर्ग तो अपने

शास्त्रार्थ की तैयारी

को शास्त्रालोचन और प्रमाणसंग्रह से सुसज्जित करने लगा और दूसरा दयानन्द के विरुद्ध जनता में भ्रमजाल फैलाने लगा कि दया-

नन्द सरकार का गुप्तचर है और मूर्त्ति-पूजा के खण्डन से उसका अभिप्राय लोगों को क्रिस्टान बनाने का है। नगर का गुण्डावर्ग इस प्रयत्न में लगा कि दयानन्द को अपमानित करने में कोई कसर न कीजाय। निदान यह मनसूबा पक्का कर लिया गया कि येनकेनप्रकारेण दयानन्द को पराभूत और परास्त किया जाय, विद्या से हो वा छल से वा बल से।

हां मैं शास्त्रार्थ करना चाहता हूं

शास्त्रार्थ की तिथि नियत होने से पहले पण्डित बालशास्त्री आदि ने अपने विद्यार्थियों को स्वामीजी के पास भेजा। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि आप शास्त्रार्थ करना चाहते हैं ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि चाहते हैं। इस पर उन्होंने प्रश्न किया कि आप किन ग्रन्थों का प्रमाण स्वीकार करते हैं ? उस समय स्वामीजी के पास मुन्शी हरवंशलाल छापेखाने वाले बैठे थे, उन्होंने स्वामीजी से संकेत से कह दिया कि यह पण्डितों के विद्यार्थी हैं, आप इनसे कुछ न कहें। जब इनके गुरु आवेंगे तब सब बातों का निर्णय होजावेगा। स्वामीजी ने उनसे कह दिया कि अभी नहीं बतलावेंगे। विद्यार्थियों ने यही बात अपने गुरुओं से कहदी और उन्होंने काशीनरेश से कहला भेजा कि जब तक ग्रन्थ-प्रामाण्य का निर्णय न हो जावेगा हम लोग शास्त्रार्थ न करेंगे। परन्तु दो-तीन दिन के पश्चात् बाबू रघुनाथप्रसाद कोतवाल के बीच में पड़ने पर स्वामीजी ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थों के नाम लिखा देना स्वीकार कर लिया। फिर वही विद्यार्थी दुबारा महाराज के पास आये तो उन्होंने लिखा दिया कि हम चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग और प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ कर मनुस्मृति का प्रमाण स्वीकार करते हैं। और उस पत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिये।

शास्त्रार्थ का विज्ञापन

इसके कुछ दिन पश्चात् शास्त्रार्थ का विज्ञापन दिया गया। शास्त्रार्थ का समाचार साहब कलक्टर को भी मिल गया था। उन्होंने काशीनरेश को यह सूचना देदी थी कि शास्त्रार्थ-दिवस रविवार हो तो अच्छा है, ताकि हम भी उपस्थित होसकें। परन्तु महाराजा ने यह सोच कर कि यदि कलक्टर साहब आगये तो कोई गड़बड़ न हो सकेगी, रविवार का दिन न रक्खा।

शास्त्रार्थ की तिथि नियत होगई। दिन था मङ्गलवार, तिथि थी कार्त्तिक शुक्ला १२ संवत् १९२६, तारीख थी १६ नवम्बर सन् १८६९।

सारी काशी में तुमुल आन्दोलन उपस्थित होगया। आबालवृद्ध, पण्डित और मूर्ख बड़ी उत्सुकता और उत्कण्ठा से उस तिथि की प्रतीक्षा करने लगे।

पहले मुझसे शास्त्रार्थ करो

एक दिन पं० ज्योतिःस्वरूप उदासी महाराजा काशी की सभा में गये और राजसभा के पण्डितों से कहा कि दयानन्द से शास्त्रार्थ करने से पहले मुझसे शास्त्रार्थ करलो। पण्डितवर्ग उनके पाण्डित्य से परिचित था, वह उनसे शास्त्रार्थ कैसे करता, उसने शास्त्रार्थ करने से आनाकानी की।

दयानन्द को परास्त करने का निश्चय

महाराजा काशी ने शास्त्रार्थ के लिये विशेष उद्योग किया था। पण्डितों से उसके लिये सविशेष और साग्रह अनुरोध किया था। यह पहले ही स्थिर होगया था कि शास्त्रार्थ में जैसे बने वैसे दयानन्द को परास्त करना चाहिये। महाराजा दयानन्द के प्रकाण्ड पाण्डित्य, कुशाग्रबुद्धि और

अदम्य शक्ति से परिचित हो चुके थे। इसी से उन्हें बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने कहा था कि यदि दयानन्द मूर्त्ति-पूजा का प्रतिवाद न करते तो हम उन्हें गुरु मानते और उन पर छत्र चढ़ाते। महाराजा ने पंडितों के घर पर शास्त्रार्थ से पहली रात्रि को तैल भिजवा दिया था कि वह रात्रि में जागकर शास्त्रालोचन और विचार करके शास्त्रार्थ-भूमि में सुसज्जित होकर आवें।

सत्योपदेष्टा को भय कहाँ

अन्त को शास्त्रार्थ का दिन आया। बलदेवप्रसाद ने स्वामीजी से कहा कि महाराज आज बहुत भीड़-भाड़ होगी। काशी गुण्डों का नगर है, यदि फ़र्रुखाबाद होता तो दस-बीस मनुष्य आपकी ओर भी होते। स्वामीजी यह बात सुनकर हँसे और बोले कि योगियों का निश्चित सिद्धान्त है कि सत्य का सूर्य्य अन्धकार की सेना पर अकेला ही विजय पाता है। जो पक्षपातरहित होकर ईश्वराज्ञानुकूल सत्य का उपदेश करता है उसे भय कहाँ? सत्पुरुष डरकर सत्य को नहीं छिपाते। जान जाय तो जाय परन्तु ईश्वर की आज्ञा जो सत्य है वह न जाय। ऐ बलदेव! क्या चिन्ता है, एक मैं हूँ, एक ईश्वर है, एक धर्म है और कौन है, यदि उन लोगों को आना होगा तो उनकी देखी जायगी। जाओ एक नापित को बुला लाओ। ओह! कितना दृढ़ ईश्वर-विश्वास, कितनी अटल सत्य-निष्ठा थी! पाठक क्या आपने आधुनिक काल में इसका उदाहरण अन्यत्र भी देखा है?

बलदेवप्रसाद नापित को बुला लाये। महाराज ने क्षौर कराया, स्नान किया और अपने सुन्दर शरीर पर सुन्दर मृत्तिका लगाई, और पद्मासनस्थ होकर थोड़ी देर परमेश्वर का ध्यान किया और फिर भोजन किया।

पंडित चिन्तित द० निश्चिन्त

दयानन्द के विपक्षी अनेक थे, उनके साथ राजबल था, धनबल था, जनबल था, परन्तु फिर भी चिन्ता और आशङ्का से संकुचित और कम्पायमान था, उनके चेहरे उदास थे। दयानन्द अकेला था, उसकी पीठ पर न कोई राजा था, न कोई धनाढ्य पुरुष था। एक लँगोटी के अतिरिक्त उसके पास कोई संबल भी न था, परन्तु एक वस्तु थी जो उसके विपक्षियों के पास न थी। वह था ईश्वर पर विश्वास, सत्य पर श्रद्धा, जिसके होते हुए वह निःसहाय होता हुआ भी साहस और धैर्य्ययुक्त था, भय उसके पास न फटक सकता था, चिन्ता और आशंका उसे मुख न दिखा सकती थी।

प्रशान्तसागर में क्षोभ

हाँ तो शास्त्रार्थ का दिन आया। उस दिन काशी, प्रशान्त-काशी क्षुब्धसमुद्र के समान तरङ्गाकुल हो उठी। शास्त्रार्थ के समय से बहुत पहले से आनन्द बाग़ की ओर जनस्रोत बहना आरम्भ होगया और थोड़ी देर में ही शास्त्रार्थ-भूमि लोकारण्य बन गई। सहस्रों दर्शक वहाँ इकट्ठे होगये। कहते हैं कि ५० सहस्र से कम जन-संख्या न होगी। रघुनाथप्रसाद भोजपुर थाने के थानेदार वहाँ आये और उन्होंने शान्ति-रक्षा के लिये पुलिस का समुचित प्रबन्ध कर दिया।

प्रबन्ध यह था कि दालान की खिड़की में तो स्वामीजी को बिठाया और उनके सामने एक आसन मूर्त्ति-पूजा-समर्थक पण्डित के लिये और तीसरा आसन काशी-नरेश के लिये और अन्य पण्डितों के लिये उसके पास ही बैठने का प्रबन्ध कर दिया।

काशी-नरेश ने दयानन्द पर विशेष आतङ्क बिठाने के लिये पण्डितों के लिये ताम-झामों का प्रबन्ध करदिया था। शास्त्रार्थ में भाग लेने वाले पण्डित ताम-झामों पर चढ़कर चँवर डुलवाते हुए, जय बुलवाते हुए बड़े समारोह से शास्त्रार्थ-भूमि में आये, परन्तु दयानन्द पर इस तमाशे का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। पण्डित लोग यथास्थान बैठ गये। इसके पश्चात् काशी-नरेश पधारे। तब सब पण्डितों ने उठकर राजा को आशीर्वाद दिया और कोतवाल साहब के स्थिर किये हुए नियम के विरुद्ध स्वामीजी को घेर कर बैठ गये और प्रबन्ध गड़बड़ कर दिया।

पंडितों की समारोह-यात्रा

प्रबंध में भंग

स्वामीजी के पक्ष में कुछ परमहंस थे, जो यद्यपि साक्षात् रूप से मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करने को तो उद्यत न थे, परन्तु अन्य प्रकार से उनके सहायक थे। इनमें से मुख्य पं० ज्योतिःस्वरूप उदासी थे। इन्हें विपक्षियों और उनके सहायकों ने बाग़ के भीतर न घुसने दिया। तब इन लोगों ने एक चिट्ठी लिखकर स्वामीजी के पास पहुँचाई कि हमें बाग़ के अन्दर नहीं घुसने दिया जाता। इस पर स्वामीजी ने कोतवाल साहब से कहा कि क्या कारण है जो इन परमहंसों को भीतर नहीं आने दिया जाता? तत्पश्चात् कोतवाल साहब ने अपना आदमी भेजकर इन लोगों को भीतर बुलवा लिया। स्वामीजी ने सत्कारपूर्वक पंडित ज्योतिःस्वरूप को अपने पास बिठलाया और अन्यों को अपने सामने बिठाया। यह बात पंडितों को बहुत अखरी, उन्होंने काशी-नरेश को संकेत किया कि प्रथम तो अकेले दयानन्द को ही जीतना कठिन है और जब पं० ज्योतिःस्वरूप उनके साथ मिल जायँगे तो एक और एक ग्यारह होजायंगे, सिंह और व्याघ्र का सम्मिलन होजायगा, फिर तो शास्त्रार्थ में विजय-लाभ सर्वथा दूभर होजायगा। महाराजा ने यह संकेत पाते ही साधुओं के आगे पण्डितों को बिठा दिया और पं० ज्योतिःस्वरूप का हाथ पकड़ कर स्वामीजी के पास से उठा दिया। रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने महाराजा से कहा कि राजन् बड़ा अनर्थ होरहा है कि अकेले स्वामीजी को इतने पण्डितों ने घेर लिया और जो व्यवस्था मैंने की थी वह आपने नहीं रहने दी, मैं आपसे कुछ नहीं कह सकता, परन्तु यह बात सरकारी आज्ञा के विरुद्ध है। परन्तु राजा ने उस पर कर्णपात न किया और इसी अव्यवस्था में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। शास्त्रार्थ में दो अंग्रेज पादरी भी उपस्थित थे। काशी के २७ प्रसिद्ध पण्डितों ने शास्त्रार्थ में योग दिया था। इन २७ पण्डितों में पं० बाल शास्त्री भी थे।

दयानन्द के पक्ष वालों को सभा में नहीं जाने दिया

सिंह और व्याघ्र का सम्मिलन न होने दो

नरेश को प्रबन्ध भंग करने का उपालम्भ

एक दिन साधु जवाहरदास ने स्वामीजी से पूछा था कि काशी के पण्डित बड़े विद्वान् हैं और शास्त्र के ज्ञाता हैं, आप इन सबको शास्त्रार्थ में कैसे जीतगे? यदि आपने एक को जीत भी लिया तो सबको आप कैसे जीत सकेंगे? इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि पण्डितों में एक बाल शास्त्री है जो दाक्षिणात्य है, उसे वेद का कुछ अभ्यास है, वह

मैं अकेला २७ के लिये पर्याप्त हूँ

हमसे कुछ समय तक बातचीत कर सकेगा, शेष इतनी योग्यतावाला कोई नहीं है और जो हैं वह काक-भाषा (नवीन न्याय और शुष्क व्याकरण) में कुशल हैं, वेद-विद्या में कुशल नहीं हैं।

कहते हैं कि बाल शास्त्री शास्त्रार्थ में जाने पर सम्मत नहीं थे, उन्हें एक चाल से लेजाया गया था। उनसे कहा गया था कि पं० सखाराम भट्ट भी शास्त्रार्थ में जायंगे आप भी पधारिये। पं० सखाराम भट्ट महाराष्ट्र थे और काशी के पञ्च-द्राविड़ परिडतों के शिरोमणि थे। उपर्युक्त बात को सुनकर पं० बालशास्त्री ने सोचा कि जब पं० सखाराम भट्ट ही शास्त्रार्थ में जायंगे तो हमारे जाने में ही क्या हानि है और इसीलिये वह चले गये।

बालशास्त्री की शास्त्रार्थ में जाने की अनिच्छा

पं० सखाराम भट्ट शास्त्रार्थ में क्यों नहीं गये

परन्तु पं० सखाराम के शास्त्रार्थ में जाने की बात मिथ्या थी। वह शास्त्रार्थ में नहीं गये थे और न उन्होंने वहाँ जाना स्वीकार किया था। उनके न जाने का कारण भी था। काशी के परिडतों की यह बान है कि शास्त्रार्थ का विषय कुछ ही हो, वैदिक हो वा स्मार्त्त, वह सबसे पहले व्याकरण का विचार खड़ा कर देते हैं और शुद्धाशुद्ध के विवाद में ही सारा समय नष्ट कर देते हैं। पं० सखाराम भट्ट इस बात को जानते थे और यह भी जानते थे कि दयानन्द को व्याकरण में पराभूत करना संभव नहीं है, क्योंकि दयानन्द दण्डी विरजानन्द जैसे व्याकरणकेसरी के शिष्य हैं। पं० सखाराम को दण्डीजी की व्याकरण-विदग्धता का स्वयं परिचय था। वह एक बार मथुरा गये थे और विरजानन्द की पाठशाला में उपस्थित हुए थे। विरजानन्द से किसी ने पहले ही कह दिया था कि काशी के पं० सखाराम पाठशाला देखने आये हैं। परन्तु पूछने पर उन्होंने अपने को काशी का एक ब्राह्मण ही बताया था और कहा था कि कौमुदी से कुछ अभिज्ञ हूँ। दण्डीजी यह सुनकर कि काशी के एक परिडत उनके पाण्डित्य की परीक्षा लेने आये हैं ग्रीवा उत्तोलन करके बैठ गये। पं० सखाराम ने कई दिन तक दण्डीजी का पढ़ाना सुना। एक दिन विशेष रूप से दण्डीजी के व्याकरण-ज्ञान की परीक्षा करने के अभिप्राय से दंडीजी से उन्होंने महाभाष्य के एक अति दुरूह-स्थल के विषय में शङ्का की। दंडीजी ने उनकी शङ्का का ऐसी रीति से समाधान किया कि वह स्थल जल के समान सुगम होगया। पं० सखाराम ने मन ही मन उनकी प्रशंसा की और उन्हें विश्वास होगया कि दंडीजी व्याकरण में अद्वितीय हैं। ऐसी अवस्था में उनका कैसे साहस हो सकता था जो दंडीजी के शिष्य दयानन्द से व्याकरण में टक्कर लेते ? दूसरा कारण यह भी था कि जिस प्रकार न्याय में बङ्गालियों का और व्याकरण में मैथिलों का विशेषत्व है उसी प्रकार वेदविषय में पञ्च द्राविड़ों का विशेषत्व है। पंडित सखाराम स्वयं वैदिक विषय में व्युत्पन्न थे। वह जानते थे कि दयानन्द जो कुछ कहते हैं वह वेदानुकूल है, फिर वह उसका खंडन करने किस प्रकार जा सकते थे। इन्हीं कारणों से उन्होंने शास्त्रार्थ में जाने से इनकार कर दिया था। इन्होंने यह सब हेतु दर्शाकर अन्य पंडितों से भी कह दिया था कि शास्त्रार्थ में दयानन्द को परास्त करने की कोई सम्भावना नहीं है। इतना ही नहीं, उन्होंने पंडितों को भी शास्त्रार्थ में जाने से निषेध किया था। प्रथम काशी-नरेश ने अपनी सभा के पंडित

काशी-शास्त्रार्थ

ताराचरण तर्करत्न की पीठ पर हाथ रखकर उन्हें आगे बिठाया और उनमें और दयानन्द में प्रश्नोत्तर आरम्भ हुए।

* दयनान्द—आप वेद का प्रमाण स्वीकार करते हैं ?

ताराचरण—हाँ।

दयानन्द—यदि वेद में मूर्त्ति-पूजा का कोई प्रमाण हो, तो कहिये।

ताराचरण—क्या वेद में यह भी लिखा है कि जो कुछ वेद में लिखा है उसके अतिरिक्त और किसी का प्रमाण न मानना चाहिये ? दयानन्द ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया और अपने प्रश्न को ही दोहराया। पं० ताराचरण वेद का कोई प्रमाण न देसके। तब बाबू प्रमदादास मित्र ने महाराजा से कहा कि राजसभा के पण्डित को हटाकर किसी दूसरे विषय का अवतरण होना चाहिये। तब स्वा० विशुद्धानन्दजी उठे। इतने ही में एक वृद्ध पण्डित आवेश में आकर कहने लगा कि यह तो नास्तिक है, इसकी बात सुनने योग्य नहीं है। स्वामीजी ने शान्तिपूर्वक कहा कि आप के समान मुझ में तेजी नहीं है, इसलिये एक एक को बोलना चाहिये। तब स्वा० विशुद्धानन्दजी आगे बढ़े और शारीरिक सूत्रों में से एक सूत्र पढ़कर दयानन्द से बोले कि यह दिखलाइए कि यह सूत्र वेद-मूलक है।

दयानन्द ने सत्यता और सरलता से उत्तर दिया।

दयानन्द—जब तक समस्त वेद को न देख लिया जाय तब तक इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता और सब वेद-शास्त्र तो पण्डितों में से किसी को भी उपस्थित नहीं हैं।

विशुद्धानन्द—(आस्फालनपूर्वक) यदि सब वेद-शास्त्र तुम्हें उपस्थित नहीं थे, तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों आये थे ?

दयानन्द—क्या आप को उपस्थित हैं ?

विशुद्धानन्द ने मौन धारण कर लिया, परन्तु बाल शास्त्री ने कहा, हाँ उपस्थित हैं।

दयानन्द—धर्म के लक्षण कहिये।

बाल शास्त्री ने अपना बनाया हुआ एक संस्कृत वाक्य पढ़ा।

द०—यह किसी शास्त्र का वचन नहीं है, यह आपका रचा हुआ है।

इस पर पं० शिवसहाय आगे बढ़े।

शिव०—मुझे सब शास्त्र उपस्थित हैं (और मनु का यह श्लोक पढ़ा)।

धृति क्षमा दमोऽस्त्येयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ मनु०

द०—(स्फूर्ति से) आप अधर्म के लक्षण कहिये।

विशुद्धानन्द के समान वह पण्डित भी निरुत्तर होकर पीछे हट गया। इसके कुछ देर पश्चात् पं० माधवाचार्य ने कुछ पुराने पत्रे निकाले और कहा।

माध०—देखो यह वेद के पत्रे हैं (और एक वाक्य पढ़ कर बोले) इसमें प्रतिमा और पूर्त्ति शब्द मूर्त्ति के वाचक हैं।

द०—इन शब्दों के यह अर्थ नहीं हैं।

इस पर सब पण्डित चुप हो गये। तब माधवाचार्य बोले।

महर्षि दयानन्द का काशी में शास्त्रार्थ संवत १९२६ वि० सन् १८६९ ई० (पृष्ठ १६८)

माधव०—'ब्राह्मणानीतिहासात् पुराणानि' (तै० अ० २। ९) इस वाक्य में 'पुराणानि' शब्द पुराणों के लिये आया है।

द०—पुराण शब्द यहाँ विशेषण है, किसी पुस्तक विशेष का नाम नहीं है।

माधवाचार्य तो चुप होगये, परन्तु पं० वामनाचार्य ने दो पुराने पत्रे जो बहुत ही अस्पष्ट लिखे हुए थे निकाल कर कहा कि यह वेद के पत्रे हैं, इनमें लिखा है 'यज्ञसमाप्तौ सत्यां दशमे दिवसे पुराणपाठं शृणुयात्' इस वाक्य में पुराण शब्द विशेषण नहीं है।

दयानन्द उन पत्रों को हाथ में लेकर देखने लगे। सन्ध्या के सात बज चुके थे, अँधेरा हो गया था, जो लालटैन थी वह भी बहुत धुँधली थी, पत्रों के अक्षर बहुत ही अस्पष्ट लिखे हुए थे। इस दशा में ही दयानन्द उन्हें पढ़ने का यत्न कर रहे थे। दयानन्द को पत्रे देखने में अभी दो मिनिट भी न बीते कि विशुद्धानन्द ने कहा कि हमें देर होती है और दयानन्द की पीठ पर हाथ रख कर बोले 'ओ हो हार गये'। यह कह कर उन्होंने ताली बजाई, अन्य पण्डितों और महाराजा ने भी उनका साथ दिया और 'दयानन्दः पराजितः' करते हुए सभा से उठ गये। फिर क्या था सारी सभा में कोलाहल मच गया। जनता ने भी पण्डितों का अनुकरण किया और सब खड़े हो गये। सारा सभा-मण्डप 'दयानन्द हार गया, दयानन्द हार गया' के शब्द से निनादित हो उठा। उस समय कुछ

किसी २ का यह आक्षेप है कि शास्त्रार्थ के समय जब माधवाचार्य ने पुराने पत्र प्रस्तुत किये थे जिनमें आए हुए 'ब्राह्मणा-नीतिहासपुराणानि' इस वाक्य के 'पुराण' शब्द को स्वामीजी का विशेषण बताना ठीक नहीं था। आक्षेप्ता कहते हैं कि प्राचीन साहित्य में 'पुराण' शब्द अनेक स्थलों में विशेष्य के रूप में व्यवहृत हुआ है। सायणाचार्य ने अपनी वेदभाष्य-भूमिका में लिखा है कि 'वेद के जिन अंशों में सृष्ट्यादि की कथा है उनका नाम 'पुराण' है।

यह आक्षेप ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि जब स्वामीजी ने उक्त वाक्य में आए हुए पुराण शब्द को विशेषण बताया था और उदाहरण में छान्दोग्य उपनिषत् का वाक्य 'इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' (छान्दो०उप०७।४) देकर पुराण शब्दका विशेषणके रूपमें व्यवहृत होना दर्शाया था तो पंडित लोग कुछ भी उत्तर न दे सके थे। यदि स्वामीजी का पक्ष निर्बल होता तो पंडित लोग कभी भी उससे टलने न देते, बल्कि उसकी निर्बलता प्रकट करके दयानन्द को खुले मैदान पराजित करके यश और कीर्त्ति लाभ करते और अन्याय और असद् व्यवहार का अवलम्बन करके अपने नाम को बट्टा न लगाते। दूसरे, यदि यह भी मान लिया जाय कि पुराण शब्द विशेष्य के रूप में भी प्रयुक्त होता है, तो भी आज तक यह किसी ने सिद्ध न किया कि माधवाचार्य के पत्रों में पुराण शब्द विशेष्य ही था विशेषण नहीं था, यह भी नहीं बताया गया कि वह पत्रे किस ग्रन्थ के थे और उक्त वाक्य किस प्रकरण में आया था। तीसरे, यदि दुर्जनतोष न्याय से यह भी मान लिया जाय कि वह वेद के ही पत्रे थे और उनमें पुराण शब्द विशेष्य ही था, तो इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि पुराण शब्द से १८ पुराण अभिप्रेत थे? यदि ऐसा कहा जायगा तो वेद ही १८ पुराणों के पीछे के रचे हुए ठहरेंगे जिसे स्वयं पौराणिक भी स्वीकार नहीं करते और नहीं करेंगे। अन्तिम बात यह है कि सायणाचार्य ने स्वयं वेद के अंश विशेष को ही पुराण नाम दिया है जिसमें सृष्ट्यादि विषय का वर्णन है। इससे मूर्ति-पूजा कैसे सिद्ध होगई?

दयानन्द पर ढेले आदि की वर्षा

कोतवाल की रक्षा

कोतवाल की निष्पक्षता

गुण्डों ने दयानन्द के ऊपर ढेले, गोबर, मिट्टी फेंके। परन्तु पं० रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने उन्हें खिड़की के भीतर करके किवाड़ बन्द कर दिये और अपने कोंस्टेबिलों से उपद्रवकारी गुण्डों को पिटवाकर भगा दिया। यदि वह महाराज की रक्षा न करते तो इस में सन्देह नहीं कि महाराज क्षत-विक्षत हुए विना न रहते। समस्त भारत वासी ही नहीं वरन् संसार के सब मनुष्य सदा के लिये इस कर्तव्यनिष्ठ, न्यायशील कोतवाल के आभारी रहेंगे। वह मूर्त्ति-पूजक था, परन्तु उसने एक क्षण के लिये भी पक्षपात नहीं किया और वह अणुमात्र भी अपने कर्तव्य से पराङ्-मुख नहीं हुआ। जब महाराजा ने उसकी व्यवस्था और प्रबन्ध में गड़बड़ की, उस समय भी वह उनके कार्य की निन्दा करने से न चूका। ऐसे कर्त्तव्यपरायण, न्यायप्रिय व्यक्ति को शतशः सहस्रशः धन्यवाद है। जब स्वामीजी ने प्रथमवार पण्डितों के विद्यार्थियों को अपने प्रामाण्य-ग्रन्थों की सूची देने से इनकार किया था और केवल इसी कारण पण्डितों ने शास्त्रार्थ करने से अनिच्छा प्रकट कर दी थी, तब भी रघुनाथप्रसाद ने ही उनसे पुनर्वार सूची दिलवाई। यदि वह यत्न न करता तो शास्त्रार्थ ही न होता। यदि वह न होता तो शास्त्रार्थ में स्वामीजी सुरक्षित न रहते। अतः जब तक दयानन्द का नाम संसार में रहेगा तब तक रघुनाथप्रसाद कोतवाल का नाम भी गौरव और प्रतिष्ठा के साथ संसार में जीवित रहेगा। सत्य तो यह है उस दिन रघुनाथप्रसाद ने अपना कर्त्तव्य-पालन करके अमरत्व प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार यह महान् शास्त्रार्थ, जिसके लिये काशी ने अपना सारा विद्या, धन और वैभव-बल लगाया, जिसके लिये काशी के दिग्गज पण्डितों ने रातों जग कर तैयारी की थी और जिससे यह आशा थी कि मूर्ति-पूजा के वेदविहित होने न होने का अन्तिम निर्णय हो जायगा, इस उच्छृङ्खलता के साथ समाप्त होगया और प्रकृत प्रश्न का अन्तिम निर्णय न हो सका।

नरेश का अन्याय

इस शास्त्रार्थ में जो असभ्योचित व्यवहार स्वामीजी के साथ किया गया, जो अन्याय किया गया, जिस हुल्लड़बाजी से काम लिया गया, वह यदि एक साधारण कोटि का मनुष्य भी करता तो निन्दनीय होता और जब वह एक राज्यसिंहासनस्थ व्यक्ति की ओर से हो, और उन लोगों की ओर से हो जो सारे भारतवर्ष के विद्वानों की नाक समझे जाते हैं, तो वह कितना गर्हित और ग्लानिजनक है, यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

दयानन्द पूर्ववत् शान्त

यह सब कुछ हुआ और पण्डित लोग अपनी विजय-दुन्दुभि बजाते, काशी के मार्गों, उप-मार्गों, हाट-बाजारों को अपने विजयघोष से गुञ्जाते अपने २ घरों को सिधारे। परन्तु दयानन्द पर इस असभ्यता, इस उच्छृङ्खलता, इस अन्याय का कुछ भी प्रवाह न पड़ा। वह कुछ दुःखित हुए अवश्य, परन्तु इसलिये नहीं कि उनका पराजय हुआ था, क्योंकि पराजय तो हुआ ही न था, बल्कि इसलिये कि काशी के पण्डितों ने उनके साथ न्याय का नहीं, प्रत्युत अन्याय का व्यवहार किया था। अन्यथा, उनके मुख-मण्डल की शोभा ज्यों की त्यों बनी थी, उनके

मुख पर शोक की कोई रेखा न थी, विषाद का कोई चिन्ह न था। उनका मनःसमुद्र शान्त था, उसमें कोई क्षोभ न था, कोई तरङ्गमाला न थी। दयानन्द किसी अवस्था में भी घबराने और औसान खोने वाले न थे। वह अपना मनः प्रसाद छोड़ने वाले न थे। उस समय भी जब उनके उपहास में तालियाँ पीटी जा रही थीं वह शान्त और अक्षुण्ण थे। उस समय उन्होंने मुस्कराते हुए काशी-नरेश से हास्यभाव से कहा था, "राजन्! तोप और नौबत के स्थान में आप का कर-तालि द्वारा सम्मान किया जा रहा है।"

दयानन्द ने पं० जवाहरदास से इतना अवश्य कहा, 'बड़ी आशा थी कि इतने विद्वानों के एक होने पर शास्त्रार्थ न्यायपूर्वक होगा। शास्त्रार्थ तो कई दिन होने को था, एक ही दिन के लिये होने की बात नहीं थी। पण्डितों ने इस प्रकार का व्यवहार करके बहुत ही अन्याय किया है'।

सन्ध्या समय वह अन्य दिनों की भांति अम्लानवदन होकर अग्नि जला कर तापने लगे।

जिस समय गुण्डे महाराज पर ढेले फेंकने लगे तो पं० जवाहरदास उदासी ने उनसे सावधान रहने को कहा था। उन्होंने उत्तर दिया था कि आप इसकी कुछ चिन्ता न करें, मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता है।

मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता है

शास्त्रार्थ के पश्चात् पं० बालशास्त्री आदि पण्डितों ने अपने हस्ताक्षर से एक विज्ञापन छपवाकर काशी में स्थान २ पर लगवाया और बँटवाया कि शास्त्रार्थ में दयानन्द का पराजय हुआ। इसके उत्तर में दयानन्द ने अपना विज्ञापन निकाला और पण्डितों के विज्ञापन के पास ही हर स्थान पर लगवाया कि मैं परास्त नहीं हुआ हूँ, और अब भी शास्त्रार्थ करने को उद्यत हूँ।

निर्लज्जता की पराकाष्ठा

पण्डित लोग अपने मन में जानते थे कि स्वामीजी का पक्ष सत्य और वेद-मूलक है, परन्तु लोक-लज्जा और जीविकाहानि के भय से प्रकट रूप में उसकी सत्यता और वेदमूलकता स्वीकार करने का साहस न कर सकते थे। राजपण्डित तारानाथ तर्करत्न ने एक प्रतिष्ठित बङ्गाली सज्जन बाबू चन्द्रशेखर से निज में स्पष्ट कह दिया था कि मैं भली भांति जानता हूँ कि यह पौराणिकप्रपञ्च ठीक नहीं है, दयानन्द जो कहते हैं वही ठीक है, परन्तु कौन जानता है कि राजा के मन में हमारी ओर से क्या भाव उत्पन्न हो जायँ, यदि हम दयानन्द के पक्ष की सत्यता स्वीकार करलें, इसलिये राजा की प्रसन्नता के लिये सब कुछ करना पड़ता है और यही कहना पड़ता है कि मैं दयानन्द को शास्त्रार्थ में हरा दूँगा।

राज पण्डित दयानंद के पक्ष में

विपक्षी लोगों ने पत्रों में भी स्वामीजी के पराजित होने के समाचार प्रकाशित कराये। २२ नवम्बर सन् १८६९ के पायोनियर इलाहाबाद के अंग्रेजी दैनिक में एक व्यक्ति ने तो यहाँ तक लिख दिया कि "पंडित माधवाचार्य और वामनाचार्य ने दयानन्द को दबालिया और उन्हें अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी।"

पक्षपात

परन्तु शास्त्रार्थ-सभा में सभी लोग काशी के पण्डितों के पक्षपाती न थे। कुछ लोग निष्पक्ष भी थे। ऐसे लोगों में से भी कुछ ने शास्त्रार्थ का वर्णन समाचारपत्रों में प्रकाशित किया और सब घटनाओं का यथा-तथ्य वर्णन किया।

निष्पक्ष लोगोंकी सम्मति

एक सज्जन ने A. K. M. के नाम से २० नवम्बर सन् १८६९ को काशी से एक पत्र लिखकर पायोनियर में छपवाया जिसमें उन्होंने लिखा कि "शास्त्रार्थ कुछ देर तक उत्तेजना के साथ चलता रहा, उसमें यद्यपि किसी पक्ष को कोई सफलता नहीं हुई, तथापि काशी के पण्डितों की ही हानि हुई। फिर माधवाचार्य ने कुछ हस्तलिखित पत्रे यह कहकर कि यह वेद के पत्रे हैं इस बात को प्रकट और प्रमाणित करने के अभिप्राय से कि पुराण वेदों से निकले हैं संन्यासी (दयानन्द) के हाथ में दिये। संन्यासी ने उन पत्रों को मनोलग्नता और ध्यान से पढ़ा और उन पर विचार करने लगा कि इतने ही में पण्डितों ने उससे उत्तर देने और विषय की आलोचना करने को कहा। इस पर वह चुप रहा। विषय पर विचार करने के लिये लगभग दस मिनट का समय दिया गया। काशी के पण्डितों ने मौन को स्वीकारी का चिन्ह समझकर तालियाँ पीट दीं। फिर सहस्रों मनुष्यों ने जो उस समय उपस्थित थे उनका अनुकरण किया, यहाँ तक कि किसी अंश तक स्वयं महाराजा बनारस भी उनके साथ सम्मिलित होगये। इसके अतिरिक्त नगर के जनसाधारण में जो इस दृश्य को देखने के लिये बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे हुए थे संन्यासी के साथ दुर्व्यवहार करने के चिन्ह बढ़ने लगे। तब कोतवाल संन्यासी के पास आकर खड़े होगये और उसकी इस दुर्व्यवहार से, जो काशी नगर में कोई असाधरण घटना नहीं है, रक्षा की।"

आगे चलकर फिर वही सज्जन लिखते हैं कि "धर्म के विषय में शीघ्रता से परिणाम निकालने से उसकी बातों की सत्यता वा असत्यता सिद्ध नहीं हो सकती। संन्यासी को इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, जो शास्त्रार्थ के मुख्य विषय से किसी अंश तक भिन्न थे, समय दिया जाना चाहिए था। बहुत लोग यह भी कहते हैं कि संन्यासी पण्डितों के उठाये हुए प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उद्यत था और उत्तर देने की उसने इच्छा भी प्रकट की थी, परन्तु हमारे बनारस के पण्डितों ने यह सोचकर कि यह विलम्ब उनके विपक्षी को परास्त करने का सब से अच्छा अवसर है उसे बोलने न दिया और इस प्रकार वह साहित्य-क्षेत्र से बलात्कार करके विजयश्री छीन लेगये। हमें यह कभी आशा न थी कि महाराजा और लगभग समस्त प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में विषय का निर्णय ऐसी उतावली और ऐसे असभ्य व्यवहार से पण्डितों के अनुकूल जबरदस्ती कर लिया जायगा"।

अन्त में लेखक ने यह परामर्श दिया है कि "विषय का नियम, और क्रमबद्धता से अन्तिम निर्णय करने के लिये दूसरी सभा होनी चाहिये।"

एक और निष्पक्ष सम्मत्ति

एक और ईसाई लेखक ने A. F. R. H. के नाम से क्रिश्चियन इनटेलीजेन्सर मार्च १८७० में स्वामीजी के विषय में एक विस्तृत लेख लिखा था। उसमें उन्होंने काशीशास्त्रार्थ का भी वर्णन किया था जो प्रायः सर्वांश में हमारे दिये हुए उपर्युक्त वर्णन से मिलता है। केवल

इतना भेद है कि उन्होंने शास्त्रार्थ की तारीख १६ नवम्बर की जगह १७ नवम्बर लिखी है। वास्तव में ठीक तारीख १६ नवम्बर ही है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी का शास्त्रार्थ-विवरण

पं० सत्यव्रत सामश्रमी कलकत्ता के प्रसिद्ध वेदज्ञ ने अपनी पत्रिका प्रत्नकम्रनन्दिनी के दिसम्बर सन् १८६९ के अङ्क में इस शास्त्रार्थ का विवरण संस्कृत में प्रकाशित किया था। उसका आशय हम नीचे देते हैं:—

दयानन्द एक साधु हैं जिन्होंने सद्धर्म के प्रकाश से असत्य के दूर करने का बीड़ा उठाया है।

विशुद्धानन्द—वेदों के मन्त्र ही देवता हैं ? (काशी नरेश की भौंहें चढ़ गईं)*

दयानन्द— फिर उपासना कैसे होगी ?

विशु०—प्रतीकोपासना शालिग्राम आदि में।

दया०—ऐसा वेद में कहाँ लिखा है ?

विशु०—एक सामवेद की सहस्र शाखाएँ हैं। क्या आपने सब देखी हैं ?

दया०—सुनो, सुनो, इसके यह अर्थ हैं कि सामवेद सहस्रवर्त्मा अर्थात् सहस्र मार्ग वाला है, सब शाखाओं में संहिता तो एक ही है।

विशु०—वही ईश्वर है।

दया०—(हँस कर) हैं वही ईश्वर है। अनर्थ विचार न करो, जो प्रकरण है उसे ही कहिये।

विशु०—(दयानन्द की पीठ पर बायां हाथ रख कर) अरे बाबा तू अभी कुछ पढ़ा नहीं, अभी कुछ दिन पढ़।

दया०—(उनके हाथ को जोर से हटाकर)—क्या आपने सब पढ़ लिया है ?

विशु०—(हँस कर) हाँ सब पढ़ लिया है।

दया०—(पुनः पुनः उनके हँसने के उत्तर में हँस कर) क्या व्याकरण भी ?

विशु०—हाँ वह भी।

दया०—(लाल आँखें करके) कल्म किस की संज्ञा है, बोलो, बोलो।

जब विशुद्धानन्द से कुछ उत्तर न बन पड़ा तो पं० बाल शास्त्री आगे बढ़े और बोले कि मैं उत्तर देता हूँ।

दया०—आप ही कहिये †।

दया०—कल्म किस की संज्ञा है ?

बाल०—एक सूत्र में संज्ञा तो नहीं की, परन्तु महाभाष्यकार ने उपहास किया है।

दया०—कौन से सूत्र के भाष्य में संज्ञा तो नहीं की, किन्तु उपहास किया है, इस का उदाहरणपूर्वक समाधान कीजिये।

---

* जब स्वामी विशुद्धानन्द ने यह वाक्य कहा तो काशीनरेश ने समझा कि जब मन्त्र ही देवता हैं तो प्रतिमा पूजन का तो अपनी ही ओर से खण्डन होगया, इसलिये वह अप्रसन्न हुए।

† वास्तव में जब बालशास्त्री उत्तर देने लगे तो दयानन्द ने उनसे कहा था कि तुम अधर्म के लक्षण बोलो। इस पर वह भी चुप हो गये।

गम्भीरबुद्धि और चारचक्षु महाराजा शास्त्रार्थ का आदि-अन्त देख कर और कोलाहल पर विचार करके सन्तुष्ट तो न हुए, परन्तु प्रकट में उन्होंने कहा कि हमारा आना अच्छा हुआ। दयानन्द ढीठ और मूर्ख है, परन्तु किसी विद्वान् को भी उसे पराजित करना संभव नहीं है। कर्ण को छः योद्धाओं ने गिराया था, इस न्याय से दयानन्द का बल नष्ट कर देने और उसे हरा देने पर भी केवल हरा देने मात्र से विचार समाप्त नहीं हुआ। मैंने सब पण्डितों को आज्ञा दी है कि आपस में मिलकर खण्डन-मण्डन और मण्डन-खण्डनात्मक ग्रन्थ बनाओ।

निष्पक्ष पण्डितों की सम्मति

श्री हरेकृष्णव्यास, श्री जयनारायण तर्कपञ्चानन, श्री शिवकृष्ण वेदान्तसरस्वती आदि कतिपय विद्वान् कहते हैं कि शास्त्रार्थ तो ठीक नहीं हुआ, परन्तु यह सत्य है कि दयानन्द हार गया। ※

हिन्दू पेट्रियट की सम्मति

हिन्दू पेट्रियट नामक पत्र के १७ जनवरी सन् १८७० के अङ्क में इस शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित हुआ था। उसमें भी सम्पादक ने वास्तविक घटना को प्रकाशित किया है। वह लिखते हैं:—

"कुछ समय हुआ कि महाराजा रामनगर ने एक सभा की जिसमें उन्होंने बनारस के चुने हुए और बड़े २ विद्वान् पण्डितों को बुलाया। दयानन्दसरस्वती और पण्डितों में बड़ा भारी और लम्बा शास्त्रार्थ हुआ। परन्तु पण्डितों का, जिन्हें अपनी शास्त्रज्ञता का बड़ा गर्व था, पूर्ण पराजय हुआ। पण्डितों ने जब जानलिया कि नियमबद्ध शास्त्रार्थ में ऐसे महान् व्यक्ति से वर आना असम्भव है तो वह अपना उद्देश्य पूरा करने के लिये पापमय उपायों के अवलम्बन पर उतारू हो गये। उन्होंने ऋषि को पुराणों का एक पत्रा दिया जिसमें मूर्त्ति-पूजा का विषय अङ्कित था और उनसे कहा कि यह वेदों के मन्त्र हैं। जब वह उस पत्रे को देख रहे थे तब पण्डित-मण्डली ने महाराजा के नेतृत्व में यह प्रकट करते हुए कि धार्मिक शास्त्रार्थ में वह पण्डितवर्य्य पराजित होगया तालियाँ बजादीं।"

इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि स्वामीजी शास्त्रार्थ में पराजित नहीं हुए। शास्त्रार्थ के बीच में उन्होंने कई वार पण्डितों के मुँह बन्द कर दिये, कई वार उन्हें निरुत्तर कर दिया। परन्तु पण्डितों की ढिठाई देखिये कि पराजित होने पर भी उन्होंने लज्जा को सर्वथा तिलाञ्जलि देकर अपनी विजय घोषणा की !! धर्म के नेता ही जब ऐसी झूठी, असभ्य अन्याययुक्त और अशिष्ट कार्यवाही करें तो इतरजनों की कथा ही क्या है ?

काशी के दिग्गज पण्डितों की ओर से भरी सभा में सहस्रों मनुष्यों की उपस्थिति में एकाकी संन्यासी के साथ इस प्रकार का अन्याययुक्त और सभ्यता-शून्य व्यवहार होना प्रकट करता है कि उनका अभिप्राय सत्यासत्य का निर्णय नहीं प्रत्युत येनकेनप्रकारेण पौराणिक धर्म्म के एकमात्र अवलम्ब मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी दयानन्द को दबाना

※ यह महाराजा का पक्षपात नहीं तो और क्या था कि शास्त्रार्थ से सन्तुष्ट न होने पर भी वह दयानन्द का पराजित होना प्रकट करते रहे। पण्डितों की तो बात ही और है। यह भी कहते जाते हैं कि शास्त्रार्थ ठीक नहीं हुआ और यह भी कहते हैं कि दयानन्द हार गया। जब शास्त्रार्थ ही ठीक न हुआ तो दयानन्द हार कैसे गया ? —संग्रहकर्त्ता.

और पराजित करना था। उन्होंने यह पहले से ही निश्चय करलिया था कि जैसे बने वैसे अपने पक्ष की रक्षा करनी चहिये। इसका उल्लेख हम पूर्व भी कर चुके हैं।

काशी-नरेश भी पण्डितों के इस षड्यन्त्र में सम्मिलित थे। यह उनके उस समय के तथा पीछे के व्यवहार से स्पष्ट है। वह यह चाहते थे कि न्याय से हो वा अन्याय से, सत्य का अवलम्बन करके हो वा असत्य की शरण लेकर हो, दयानन्द को पराजित करके पौराणिक धर्म की रक्षा करनी चाहिये। शास्त्रार्थ के समय उन्होंने पण्डितों को असभ्योचित व्यवहार से नहीं रोका, बल्कि उन्होंने स्वयं उसमें भाग लिया। उन्होंने वामनाचार्य को जिस ने चालाकी से किसी अन्य ग्रन्थ के पत्रे उन्हें वेद के पत्रे बताकर शास्त्रार्थ में प्रस्तुत किये थे उसकी कुटिल नीति से प्रसन्न होकर एक दुशाला पुरस्कार में दिया। इससे भी अधिक, एक बार बाबू रजनीकान्त मुखोपाध्याय एक न्यायपरायण बङ्गाली सज्जन ने पण्डितों के मलिन कृत्य से अप्रसन्न होकर महाराजा को इसका उपालम्भ दिया तो उन्होंने पश्चात्ताप करने के बदले लज्जा को तिलाञ्जलि देते हुए यह उत्तर दिया कि पण्डितों का शास्त्रार्थ तो आपने देख ही लिया, परन्तु प्रचलित धर्म की रक्षा तो किसी न किसी प्रकार करनी ही थी।

इससे अधिक प्रबल प्रमाण इस बात का क्या हो सकता है कि मनुष्य दुराग्रहवश हठ में अन्धा होकर सत्य-असत्य से कोई प्रयोजन नहीं रखता, चाहे किसी प्रकार से हो उसे अपने पक्ष को प्रबल रखना ही अभिप्रेत होजाता है और उसके लिये वह उचित अनुचित सभी प्रकार के प्रयत्नों के करने पर कटिबद्ध होजाता है। परन्तु वह भूल जाता है कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्'। सत्य बल से, भय से, आतङ्क से, लोभ से, कुछ समय के लिए भले ही दबाया जासके परन्तु वह उन कारणों के नष्ट होने पर फिर उभरता है। सत्य की अग्नि की शिखाओं को उनपर धूलि डालकर विनिर्वापित-समान अवश्य किया जासकता है, परन्तु वह अग्नि उस धूलि के नीचे ही नीचे सुलगती रहती है, सर्वथा बुझाई नहीं जा सकती। समय आने पर, धूलि के हट जाने पर, वह पुनः धधक उठती है, उसकी शाखाएँ पुनः ऊँची उठकर जगत् को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर देती हैं, उसकी स्फुलिङ्गियाँ चारों ओर उड़कर असत्य के कूड़े करकट को भस्मसात् कर डालती हैं।

उस समय अन्याय और असत्य की सेना ने न्याय और सत्य को दबा लिया। काशी के पण्डितों ने अपने दल बल के सहारे, काशी नरेश की पृष्ठपोषकता के भरोसे शास्त्रार्थ में अवश्य गड़बड़ फैलादी, अपनी विजय-घोषणा की और सहस्रों से कराई। परन्तु इससे क्या न्याय पराभूत होगया, सत्य परास्त होगया, दयानन्द पराजित हो गया? यदि ऐसा हुआ होता तो दयानन्द का जीवन मूर्ति-पूजा के एक शत्रु की स्थिति से उसी क्षण समाप्त हो गया होता, वह फिर कभी जीवन भर यह कहने का कि मूर्तिपूजा वेद-विरुद्ध है साहस भी न करते। परन्तु हुआ क्या? दयानन्द पण्डितों के अन्याय से घबराए नहीं, सहमे नहीं, उदासीनचित्त वा साहसहीन नहीं हुए। उनकी मुखकान्ति पूर्ववत् समुज्वल रही, उनके चेहरे पर मालिन्य का लव-लेश भी नहीं आया, उनके चित्त की शान्ति अणु-मात्र भी भङ्ग नहीं हुई। वह पूर्ववत् अपने सब कार्य नियत और नियमित रूप से करते रहे।

शास्त्रार्थ में गड़बड़ करने से, यह घोषणा करने से कि दयानन्द हार गया, जयनादों से काशी और भारत के अन्य स्थलों को गुञ्जायमान करने से, विजय-पत्र छपा कर सर्वत्र बाँटने से फल क्या हुआ ? क्या आजतक भी कोई पण्डित मूर्त्ति-पूजा के समर्थन में वेद का एक मन्त्र भी उपस्थित कर सका ?

दयानन्द यदि पराजित हो जाता तो क्या शास्त्रार्थ के पीछे उसके पैर काशी में जमे रहते और पण्डित लोग जमे रहने देते। विजेता विजित को कभी चैन से बैठने देता ? परन्तु हम देखते क्या हैं ? दयानन्द रणस्थल छोड़ कर नहीं भागता, काशी के पण्डितों से मुँह नहीं छिपाता। शास्त्रार्थ के पीछे वह काशी में एक मास तक ठहरता है, मूर्त्ति-पूजा का अक्षुण्ण और अदम्य भाव से खण्डन करता रहता है। यह ठीक है कि उसके पास आने जाने वालों की संख्या पूर्वापेक्षा कुछ कम हो गई है, परन्तु इसलिये नहीं कि जनता उसके पक्ष को निर्बल, उसकी युक्तियों को सारहीन समझने लगी है, बल्कि इसलिये कि इन धर्म के ठेकेदारों ने लोगों को यह कहकर डराना आरम्भ किया कि जो कोई दयानन्द के पास जायगा वह पापी और पतित होगा और बिरादरी से बहिष्कृत होगा। दयानन्द पण्डितों को निरन्तर शास्त्रार्थ के लिये आहूत करता रहा, परन्तु वह अपने घरों में घुसे रहे, किसी का उसने सामने आने का साहस न हुआ। उसके सम्मुख आते भी कैसे ? उस बार भी वह काशी-नरेश की पृष्ठपोषकता, जनसाधारण की सहानुभूति और सहायता आदि कारणों से उस सिंह के सामने आने की भूल कर बैठे थे। उसी वार उनको ज्ञात हो गया था कि दयानन्द काशी के एक-एक पण्डित का व्यष्टि रूप से और सब का एक साथ समष्टि रूप से शास्त्रार्थ में मुँह बन्द कर सकता है। वह जानते थे कि वह दयानन्द के एक प्रश्न का भी उत्तर न दे सके थे। उस वार उन्हें किसी न किसी प्रकार दयानन्द से अपना पीछा छुड़ाने का अवसर मिल गया था। यदि ऐसा न होता तो इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि दयानन्द उनके गर्व को चूर्ण और उनके गौरव को धूलि में मिला कर रख देता।

पुनः पुनः शास्त्रार्थ का चैलेंज

दयानन्द ने केवल इस वार ही नहीं, परन्तु इसके पीछे भी पाँच बार, काशी में पधार कर काशी के पण्डितों को चैलेंज पर चैलेंज दिया, परन्तु एक पण्डित भी ऐसा न निकला कि उसके चैलेंज को स्वीकार करके रणक्षेत्र में आता और उससे तर्कयुद्ध करता। वह दिग्गज पण्डित जो सर्वज्ञ होने का दम भरते थे, जो यह अभिमान करते थे कि उनके सरीखा विद्वान् भारतवर्ष में नहीं है, जो धर्म विषयों पर अपनी व्यवस्था देते थे और जिनकी व्यवस्था समस्त भारतवर्ष में माननीय और अनुकरणीय समझी जाती थी, पुनः पुनः आहूत किये जाने पर भी रणक्षेत्र में न आये। दयानन्द के सिंहनाद को सुनकर उनके कलेजे दहलते और मृग-शावकों की भाँति वह इधर उधर दुबकते फिरते रहे।

नरेश का पश्चात्ताप

समय बीतता गया, दयानन्द का धर्म-प्रचार विस्तृत होता गया, सैंकड़ों और सहस्रों मनुष्य उनके अनुयायी होते गये, 'पराजित' दयानन्द की विजयश्री निर्मल चन्द्रिका की भाँति अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना भारतवर्ष के प्रान्त और प्रान्तरों में प्रसारित करती रही। अन्त को एक दिन आया। काशी-नरेश के आत्मा ने उन्हें उस कुटिल चाल के लिये जो उन्होंने वेद-प्रचार, सरल-चित्त

दयानन्द के साथ काशीशास्त्रार्थ में खेली थी धिक्कारा और उन्हें दयानन्द से क्षमाप्रार्थना करने पर बाधित किया। यह पराजित और पराभूत दयानन्द का विजय था जिसमें कोई भी ननु नच नहीं कर सकता।

मित्र का परामर्श

शास्त्रार्थ के कितने ही वर्ष पीछे स्वामीजी बम्बई से लौटते हुए काशी पधारे और गोसाईं बिहारीलाल के बाग़ में ठहरे। महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह ने अपने कुछ मनुष्य उनकी सेवा में भेजे और कहलाया कि महाराजा की आपसे यह प्रार्थना है कि आप एक बार उनके पास पदार्पण करें। स्वामीजी ने उनसे यह कह दिया कि इसका उत्तर फिर देंगे और अपने हितचिन्तक पं० जवाहरदास से परामर्श किया। पं० जवाहरदास संसार के अनुभवी मनुष्य थे उन्होंने महाराजा के निमन्त्रण का अभिप्राय भाँप लिया और स्वामीजी से स्पष्ट कहदिया कि राजा आपके अपमान-जनित पाप के प्रायश्चित्त के लिये आपको बुलाते हैं, आपको वहाँ जाना न चाहिये। उस समय तो महाराज अपने मित्र के परामर्श से सहमत होगये, परन्तु

दयानन्द की दया

जब दूसरे दिन महाराजा ने अपने एक उच्च कर्म्मचारी को बग्घी साथ में करके महाराज के लिवाने को भेजा और उसने महाराजा की ओर से अत्यन्त अनुनय-विनय किया तो दयालु दयानन्द का चित्त द्रवीभूत होगया और अपने मित्र के परामर्श पर दृष्टि न डालते हुए बग्घी में सवार होकर रामनगर के राजगृह में पहुँच गये। काशी-नरेश ने बड़े सम्मान के साथ

नरेश का सत्कार

महाराज का स्वागत किया। उन्हें स्वर्ण-सिंहासन पर बिठाया और आप रजतमय सिंहासन पर बैठे। स्वयं अपने हाथों से महाराज के गले में फूलों की माला डाली और चरणवन्दना की और अति विनीत भाव से कहा "मैं बहुत दिन से मूर्त्ति-पूजा करता आता हूँ उसके प्रति मेरा अनुराग और श्रद्धा है, इसलिये आपके उसका प्रतिवाद करने पर मुझे बहुत कष्ट हुआ। शास्त्रार्थ के समय यदि आप मेरे किसी आचार से क्षुब्ध हुए हों, तो आप मुझे क्षमा करें।" नरेश के मुख से यह शब्द निकलने थे कि महाराज की दया-गङ्गा में बाढ़ आगया और उन्होंने महाराजा को क्षमादान देदिया। यों तो उनके चित्त में महाराजा की ओर से पहिले से ही कोई बुरे भाव नहीं थे और उनके लिये क्षमा करने न करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। जो दयानन्द अपने घातकों तक से वैर-विरोध के भाव न रख सकता था वह महाराजा काशी के विरुद्ध ऐसे भावों को अपने

क्षमादान

मनोभवन में जो नित्य प्रेम-प्लावित रहता था स्थान कहाँ दे सकता था। परन्तु महाराज ने नरेश की सान्त्वनार्थ क्षमादान देकर उनके चित्त के विषाद्र को दूर किया और अपने डेरे को लौट आये। पीछे महाराजा ने ५-७) रुपये के मुरब्बे मिष्टान्न आदि और अन्य वस्तुएँ उपहार स्वरूप महाराज की सेवा में भेंट की। इसके पश्चात् पं० जवाहरदास ने कहा कि

अच्छा नहीं हुआ

यह काम अच्छा नहीं हुआ। यदि आप न जाते तो वह स्वयं ही आपके पास आते।

अब हम न्यायशील पाठकों से पूछते हैं कि पराजय किसका हुआ, दयानन्द का वा काशी के पंडितों का?

शास्त्रार्थ के पीछे पौराणिक दल की ओर से दूषणमालिका नामक एक प्रश्नावली प्रकाशित हुई थी, जो लाजरस कम्पनी के मेडिकलहाल प्रेस में छपी थी। उसमें स्वामीजी को कुवाच्य कहे गये थे और उनसे ६४ प्रश्न किये गये थे और यह कहा गया था कि दयानन्द के ४ प्रश्नों के उत्तर में यह ६४ प्रश्न किये गये हैं। हम पौराणिक-मण्डली के शिष्ट व्यवहार में एक उदाहरण के तौर पर उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं, पाठक स्वयं देख लेंगे कि प्रश्न कैसे ऊटपटांग हैं और प्रश्नकर्त्ता का उनसे क्या उद्देश्य था।

दूषण मालिका

"मूर्त्ति-पूजा का निषेध करने वाले दयानन्द प्रभृति लोगों के गले की दूषणमालिका"।

॥ श्री श्री वल्लभो विजयते ॥

अथ दयानन्द नामी एक नग्न पुरुष, न जाने किस जाति वा आश्रम का, सब देशों में भ्रमण करता हुआ, सनातन सद्धर्म्मरूपी सूर्य्य को राहु की भाँति ग्रस्ता हुआ, मूर्ख और आलस्यपूर्ण जीवों के हृदय वस्त्र को अपने रङ्ग में रङ्गता हुआ, इसी बहाने से अपना नाम जनता में प्रसिद्ध करता हुआ और अपने वाग्वाणों से सज्जनों के हृदय को दहन करता हुआ, काशी नगर में आया और दुर्गाकुण्ड निवासियों का सहवासी हुआ। उसने जो व्यर्थ उपद्रव किये वह सब पर विदित हैं।

अब उसने एक छोटी सी पुस्तक छपवाकर लोगों पर यह विदित करना चाहा है कि मैं हारा नहीं हूँ। इसमें मैंने ऐसा विचार किया कि ऐसे मनुष्य से सम्भाषण करना उचित नहीं और पत्रद्वारा शास्त्रार्थ करना जिसमें लोगों पर सदसत् का प्रकाश और हारने जीतने का निश्चय होजाय। इस हेतु यह दूषणमालिका उसके गले में पहनाई जाती है। उसे उचित है कि इन सब प्रश्नों का प्रतिपद उत्तर दे और इस प्रकार से बराबर पत्रद्वारा शास्त्रार्थ हो और इतने प्रश्नों का एक जीतने के इश्तिहार की भाँति उत्तर न दिया जाय क्योंकि इन शब्दों के प्रति शब्द का उत्तर न देने से परास्त समझा जायगा और प्रश्नोत्तर करते-करते जो थक जाय और जिसकी बुद्धि में उत्तर की युक्ति न आवे वह हारा समझा जायगा, इति।

१—आपने जो पुस्तक छपाई है उसमें वेद के मन्त्र हैं सो वेद के मन्त्र शूद्रों तथा म्लेच्छादिकों के हाथ में देने से दोष हुआ कि नहीं?

२—आप कौन आश्रम और किस जाति के हैं और किस धर्म्म को मानते हैं? जो कहिये कि हम वेद-धर्म को मानते हैं तो वेद-धर्म ही को मानना और ख्रीष्ट और मुहम्मदी मत को न मानना इसमें क्या प्रमाण? जो कहिये कि हम उसी कुल में उत्पन्न हुए हैं जिसमें यही धर्म्म मानना योग्य है तो आप मूर्त्ति-पूजक के वंश में हो कि नहीं?

३—जो आप कहें कि हम अमुक जाति के थे अब योगी हुए हैं तो आपके पिता पुरखा उसी जाति में उत्पन्न हुए इसे किसने देखा है और इसमें क्या प्रमाण है?

४—जो कहिये कि शिष्टाचार प्रमाण है और हम सुनते आते हैं कि हम अमुक वंशीय हैं तो इसी भाँति मूर्त्ति-पूजनादि शिष्टाचार क्यों नहीं मानते?

हमें इस प्रश्नावली के विषय में कुछ नहीं कहना है, पाठक स्वयं इसके औचित्य-अनौचित्य, तथा इसके उद्देश्य के विषय में अपने सम्मति स्थिर कर सकते हैं।

काशी-शास्त्रार्थ का इतिवृत्त पुस्तकाकार छपा हुआ है जिससे उसका विवरण पूर्ण ज्ञात हो सकता है।

नागाजी का निमंत्रण

एक दिन पं० जवाहरदास डुमराऊँ के नागाजी साधुराम उदासी को साथ लेकर स्वामीजी से मिलने गये। नागाजी से स्वामीजी का विशेष परिचय होगया। एक दिन स्वामीजी ने कलकत्ता जाने का विचार प्रकट किया तो नागाजी ने उनसे डुमराऊँ होकर जाने के लिये विशेष अनुरोध किया।

वामनाचार्य के पत्रे का उत्तर

स्वामीजी ने शास्त्रार्थ से अगले दिन 'दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत' का विस्तृत अर्थ छपा कर बँटवा दिया और पण्डितों को सत्यासत्य के निर्णय के लिये आहूत किया। यह वही वाक्य था जो वामनाचार्य के दिये हुए पत्रों में अङ्कित था और जिस को स्वामीजी देख रहे थे, जब कि पण्डितों ने हल्ला-गुल्ला करके शास्त्रार्थ की समाप्ति कर दी थी। स्वामीजी के आह्वान पर कोई पण्डित भी उनके अर्थों को असत्य सिद्ध करने लिये सामने न आया।

अपमान में शान्त और अविचलित

पंडित ईश्वरसिंह एक निर्मल साधु थे जो वेदान्ती थे। उन्होंने जनता को शास्त्रार्थ-स्थल से लौटते हुए देखा और अपने कानों से लोगों को स्वामीजी को गाली देते हुए सुना। उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि स्वामीजी पर गुण्डों ने ढेले, गोबर जूतादि फेंके थे। उनके जी में आया कि चल कर देखें कि इस घोर अपमान का स्वामीजी के चित्त पर क्या प्रभाव पड़ा। अतः वह स्वामीजी के पास गये। स्वामीजी ने उनका प्रसन्नवदन होकर स्वागत किया। दोनों में बहुत देर तक ज्ञानचर्चा होती रही। पंडित ईश्वरसिंह ने किसी प्रकार भी कोई चिन्ह न पाया जिससे प्रकट होता कि स्वामीजी के मन में कोई शोक वा विषाद था। उन्होंने स्वामीजी को सदा की भाँति शान्त और क्षोभरहित पाया। तब उन्होंने स्वामीजी से कहा कि अब तक मैं आप को वेदशास्त्रज्ञ एक पंडित मानता था। परन्तु आज मैंने जाना कि आप वीतराग महात्मा भी हैं।

शास्त्रज्ञ ही नहीं महात्मा भी हैं

रामस्वामी मिश्र का घमण्ड

रामस्वामी मिश्र नाम के संस्कृत के बड़े गर्वीले विद्वान् थे। वह स्वामीजी को गाली देने में भी संकोच न करते थे। वह बड़े घमंड से कहा करते थे कि यदि मैं दयानन्द से बातचीत करूँ तो मूर्त्ति-पूजा का खण्डन छुड़वाकर उसे सीधा करदूँ। परन्तु स्वामीजी के सम्मुख इस लिये न आते थे कि उनका मुख देखने से उन्हें पातक लग जायगा। एक दिन वह रात्रि के अँधेरे में स्वामीजी के पास आये ताकि उनका मुख न देख सकें और बोले कि तुम से देववाणी में बातें करना हम पाप समझते हैं, इस लिये देश-भाषा में ही बातचीत करेंगे, परन्तु हमारी एक बात तुम्हें माननी पड़ेगी। स्वामीजी ने कहा कि आप मुझे संस्कृत बोलने से तो रोकते हैं, परन्तु संस्कृत के शब्द तो बोलने देंगे। अच्छा यही सही अब आप अपनी

दयानन्द से देववाणी में बात करना पाप है

बीच में एक छुरी नहीं, दो रक्खो

शर्त कहिये। रामस्वामी ने कहा कि मैं अपने साथ एक छुरी लाया हूँ। यह बीच में रक्खी जायगी। जो हारेगा उसकी नाक काट ली जायगी। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा कि एक छुरी और होनी चाहिये जिससे हारने वाले की जिह्वा काटली जाय क्योंकि वाद-विवाद में नाक तो निर्दोष है जो कुछ अपराध होता है वह जिह्वा का होता है।

शेखी किर-किरी

इसके पश्चात् रामस्वामी कुछ देर तक उद्दण्डता से बातें करते रहे। स्वामीजी सभ्यता पूर्वक उनका उत्तर देते रहे। परिणाम यह हुआ कि उनका टेढ़ापन दूर होगया और वह सरलता और सभ्यता से बातें करने लगे और अन्त में सारी शेखी को छोड़कर और निरुत्तर होकर चले गये। कोई अन्य होता तो उनसे नाक वहीं धरवा लेता, परन्तु स्वामीजी ने उन पर दया की।

मुसलमान चिढ़े

महाराज वेद-विरुद्ध मतों के खण्डन में किसी का पक्षपात न करते थे। ऐसे सब ही मत उनकी समीक्षा का विषय होते थे। काशी में भी उन्होंने ऐसे सभी मतों की आलोचना की। मुसलमानी मत का भी खण्डन किया। इससे मुसलमान कुछ चिढ़ गये। एक दिन महाराज गङ्गा तट पर अकेले बैठे थे कि एक ओर से मुसलमानों की एक टोली गङ्गा तट पर टहलती हुई उनके समीप से होकर जाने लगी। उसमें से किसी ने महाराज को पहचान कर अपने साथियों से कहा कि यही बाबा है जो दीन इस्लाम के ख़िलाफ़ बोला करता है। इस पर दो व्यक्ति आगे बढ़े। एक ने महाराज की एक बग़ल में और दूसरे ने दूसरी बग़ल में हाथ देकर उन्हें अधर उठा लिया। उन्होंने चाहा कि महाराज को गङ्गा में डाल दें।

दो यवनों को बग़ल में दबाकर जल में कूद गये

महाराज भी उनके दुष्ट सङ्कल्प को जान गये। उन्होंने अपनी दोनों भुजाएं अपने दोनों पार्श्वों से इस प्रकार चिपटालीं कि दोनों यवनों के हाथ मानो शिकंजे में कस गये। फिर महाराज उन दोनों व्यक्तियों के साथ गङ्गा में कूद गये। वह चाहते तो दोनों यवनों को जलमग्न कर देते, परन्तु दया करके उन्हें तो जल की डुबकी खाता छोड़ दिया और आप जल के नीचे ही नीचे तैरते हुए दूर निकल गये। दोनों मुसलमान ज्यों त्यों करके जल से बाहर निकल आये। कितनी देर तक हाथों में ढेले लिये हुए उनकी प्रतीक्षा में खड़े रहे कि कब बाबा जल से बाहर सिर निकाले और कब हम उस पर ढेले बरसावें। जब बहुत देर होगई और महाराज जल से बाहर न निकले तो उन्होंने समझा कि बाबा डूब गया और वह चले गये। महाराज भी रात्रि होने पर अपने स्थल पर आगये।

विषाक्त भोजन और पान

एक दिन एक मनुष्य भोजन लेकर महाराज के पास आया और भक्तिप्रदर्शनपूर्वक भोजन उनके सामने रखकर उसे पाने की प्रार्थना करने लगा। वह भोजन कर चुके थे अतः उन्होंने यही कहकर कि मैं भोजन कर चुका हूँ उसे स्वीकार न किया। फिर उस मनुष्य ने यह कहकर कि आप यदि भोजन नहीं करते तो पान तो खा लीजिये। महाराज ने पान लेलिया, परन्तु ज्योंही महाराज ने उसे खोलकर देखा वह मनुष्य झटपट भाग गया। पीछे ज्ञात हुआ कि पान में विष था।

काशी में गुण्डों का एक दल है। उसका वहाँ बड़ा आतङ्क है। किसी मनुष्य को पीट देना उसके लिये अत्यन्त साधारण बात है। साधु जवाहरदास के कानों में एक दिन यह बात पड़ी कि गुण्डे स्वामीजी को अपमानित करना चाहते हैं। वह स्वामीजी के पास गये और बड़ी चिन्ता के साथ उनसे यह समाचार सुनाया। स्वामीजी ने उनसे कह दिया कि आप घबरायें नहीं। मेरे लिये यह कोई नई बात नहीं है। ऐसी बातें मेरे साथ बहुत हो चुकी हैं। जब मैं पितृ-गृह में रहता था तो एक समय ऐसा हुआ कि हमारे एक पड़ौसी ने हमारे एक खेत पर अधिकार कर लिया। जब पिताजी ने मुझे यह बात सुनाई तो मुझे इतना आवेश आया कि तलवार लेकर गया और आक्रमणकारी पड़ौसी और उसके आदमियों को मैंने अकेले ही भगा दिया। अब भी यदि दस-पन्द्रह गुण्डे भी मुझ पर आक्रमण करेंगे तो उनके लिये मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ।

१०, १५ गुण्डों को मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ

एक दिन महाराज निश्चिन्त मौज में चले जा रहे थे कि एक गुण्डा उनके पीछे हो लिया। उनकी दृष्टि जो फिरी तो देखा कि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य एक मोटा लट्ठ लिये उनके पीछे आरहा है। उन्होने ऐसा हुङ्कारनाद किया कि वह भयभीत होकर भाग गया।

भयंकर हुंकारनाद

एक दिन स्वामीजी अपने मित्र बाबा जवाहरदास के डेरे की ओर जा निकले तो देखा कि भङ्ग घुट रही है। जवाहरदास ने स्वामीजी को आता देखकर कूँडी सोटे को छिपाने का यत्न किया, परन्तु उनके ऐसा करते करते स्वामीजी उनके पास पहुँच गये और मुस्कराते हुए उनसे बोले कि अच्छा शिवजी बूटी घुट रही है, आप भी शिव बनना चाहते हैं। शिव बनने में लगता भी कुछ नहीं। भङ्ग पी, और 'शिवोऽहम्' कहा और शिव बन गये। फिर महाराज ने जवाहरदास से कहा कि आप भी उपदेश-कार्य कीजिये। उन्होंने उत्तर दिया कि आप का तो कोई ठौर ठिकाना है नहीं आप तो जहाँ चाहें जा सकते हैं। मैं डेरेवाला हूँ, मुझसे उपदेश कार्य नहीं होसकता। महाराज ने कहा कि डेरे से आप व्यर्थ ममता करते हैं, यह तो पहले भी आपका नहीं था और आप के पीछे भी आपका नहीं रहेगा। इसे छोड़ो और लोकहित का कार्य्य करो।

कूँडी सोटा छिपालो

शिव बनने का उपाय

मुझसे उपदेश-कार्य नहीं होसकता

एक दिन महाराजा भरतपुर, रीवाँ और राजा तिरवा और एक अंग्रेज़ स्वामीजी के पास आये और नास्तिकमत का पक्ष लेकर उनसे बातचीत की। उस समय यह तीनों राजा बनारस कालेज में पढ़ते थे। स्वामीजी ने उन्हें ईश्वर का अस्तित्व भली प्रकार समझा दिया।

शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामीजी लगभग एक मास काशी में रहे। वहाँ से कुछ दिन के लिये वह मिर्जापुर गये और फिर प्रयाग लौट आये।

शास्त्रार्थ के कुछ काल पीछे स्वामी कैलासपर्वत काशी गये थे। जब उन्होंने शास्त्रार्थ

कैलासपर्वत की न्याय-प्रियता

का समाचार सुना तो कहा कि काशी के पंडितों को दयानन्द का विद्या से मुक़ाबिला करना था परन्तु उन्होंने धूर्त्तता से मुक़ाबिला किया। इससे उनका अपयश और दयानन्द का यश बढ़ेगा।

बाल शास्त्री

एक बार गोस्वामी घनश्यामदास मुलतान से काशी गये थे। वहाँ वह पंडित बाल-शास्त्री से मिले थे और उनसे पूछा था कि आपका और स्वामी दयानन्द का जो शास्त्रार्थ हुआ था उसमें किसकी जीत हुई थी। तो शास्त्रीजी ने उत्तर देते हुए कहा था कि हम गृहस्थ हैं और वह यति संन्यासी हमारे पूज्य, उनका हमारा शास्त्रार्थ कहाँ बन सकता है ?

नवम अध्याय

माघ १९२६—भाद्रपद १९२७

प्रयाग

स्वामीजी मिर्ज़ापुर होते हुए माघ शुक्ला ५ संवत् १९२६ को प्रयाग पधारे। उन दिनों वहाँ कुम्भ का मेला हो रहा था। स्वामीजी वासुकि के मन्दिर में ठहरे। उनके आगमन का समाचार उनके पदार्पण करते ही सर्वत्र फैल गया। और लोग उनके दर्शनों को आने और उपदेशामृत पान करने लगे। स्वामीजी रात्रि में घाट की बुर्जी पर बिना कोई वस्त्र ओढ़े केवल लँगोट पहने सो जाते थे। एक दिन एक सज्जन ने उनसे पूछा कि आजकल शीत अधिक पड़ता है, परन्तु आपको जाड़ा नहीं लगता, इसका क्या कारण है? उन्होंने उससे प्रश्न किया कि तुम्हारे मुख को जाड़ा क्यों नहीं लगता? उसने कहा कि वह सर्वत्र खुला रहता है। तब वह बोले कि यही दशा हमारे शरीर की है, वह भी सर्वदा खुला रहता है।

शीत नहीं सताता

एक विद्वान से साक्षात्कार

एक दिन पं० मोतीराम मिर्ज़ापुर निवासी जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे प्रातःकाल के चार बजे वासुकि मन्दिर की ओर जा निकले। उनके साथ एक विद्यार्थी था जिसने स्वामीजी के शास्त्रार्थ के अवसर पर दर्शन किये थे उन्होंने देखा कि एक संन्यासी नग्नशरीर घाट की बुर्जी पर गहरी नींद सोरहा है। यद्यपि उस समय ठंडी वायु चलरही थी, परन्तु उसपर शीत का कोई प्रभाव नहीं था। विद्यार्थी ने देखकर पंडित मोतीराम से कहा कि यह वही गप्पाष्टक है जिसने काशी में शास्त्रार्थ किया था। स्वामीजी के जगने की प्रतीक्षा में पंडित मोतीराम नीचे घाट के फ़र्श पर बैठगये। थोड़ी सी ही देर में स्वामीजी भी वहीं चले आये और पंडित मोतीराम से बात-चीत करनी आरम्भ की।

दया०—आपका वर्ण क्या है और कहाँ से आए हैं?

मोती—मेरा वर्ण ब्राह्मण है और मिर्ज़ापुर से आया हूँ।

स्वामीजी ने एक मनुष्य से चटाई मँगवाई और पंडित मोतीराम से उसपर बैठने को कहा।

मोती०—आप चटाई पर बैठिये।

दया०—मेरा आसन तो सर्वत्र है।

मोती०—जब आप फ़र्श पर बैठते हैं तो मैं भी वहीं बैठूंगा। चटाई की क्या आवश्यकता है ?

दया०—लौकिकी गाथानुसार आपको चटाई पर बैठने का अधिकार है।

मोती०—लौकिकी गाथा सत्य नहीं है।

दया०—सब काम छोड़कर एकान्त में परम-कृत्य सन्ध्या करनी चाहिये। सूर्योदय का समय आगया है, सन्ध्या से निवृत्त होकर फिर आजाइये।

स्वामीजी के कथनानुसार पंडित मोतीराम सन्ध्या करने चले गए और स्वामीजी भी प्रातःकृत्य करने के लिए गङ्गा-तट पर चले गये। निवृत्त होकर स्वामीजी उसी स्थान पर लौट अये। थोड़ी देर पश्चात् पंडित मोतीराम भी वहाँ पहुँच गये। उस समय महाराज के पास सेठ रामरतन लड्ढा रईस मिर्ज़ापुर और दो आचारी बैठे थे। स्वामीजी आचारियों से कहरहे थे—

मस्तकशृंगार नहीं आत्मशृंगार करो

मस्तकशृङ्गार करने की अपेक्षा ईश्वरोपासनाद्वारा आत्मशृङ्गार किया करो। ऐसा तिलक लगाने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? आडम्बर रचना महात्माओं का काम नहीं है, यह तुमने कैसी माया रची है। आचारी चुप रहे। शोक, महा शोक ! तिलक आदि चिन्ह बनाने में लोगों की रुचि है, योगाभ्यास में नहीं। मूर्खों ! तुम यह तिलक लगाते रहे, इतने समय में गायत्री क्यों न जपली, व्यर्थ समय नष्ट किया।

एक आचारी—यदि आप हमारे देश में होते तो पृथ्वी में गाड़ कर मार डालते।

इस पर स्वामीजी हँसने लगे और आचारी उठ कर चले गये।

धर्मालाप——

दया०—धर्म्म क्या है और उसका स्वरूप क्या है ?

मोती०—आपके कहने में दोष है।

दया०—क्या दोष है ?

मोती०—धर्म्म का रूप ही नहीं है तो उसका स्वरूप पूछना अनुचित है।

इस पर स्वामीजी ने मनुस्मृति और महाभारत से धर्म्म का स्वरूप वर्णन किया।

मोती०—जो वेद प्रतिपादित है वही धर्म है।

दया०—वेद में मूर्त्ति-पूजा है वा नहीं ?

मोती०—है।

दया०—कहाँ है ?

मोती०—प्रतिमा की प्रतिष्ठा और देवताओं का आवाहन वेद मन्त्रों से होता है, क्या वह प्रमाण नहीं ?

दया०—प्रतिष्ठा और आवाहन के मन्त्र पढ़ो।

पं० मोतीराम ने वह मन्त्र पढ़े। स्वामीजी ने उनके अर्थ करके पूछा कि इनमें प्रतिष्ठा और आवाहन के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं। इसी प्रकार मूर्त्ति के पूजन करने, उस पर पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि चढ़ाने तथा नवग्रह-पूजन आदि के मन्त्र पढ़े, परन्तु स्वामीजी के अर्थ करने पर उनमें भी उपर्युक्त विषय का कोई सम्बन्ध न निकला।

दयानन्द से सायंकाल तक पं० मोतीराम की बात-चीत होती रही, परन्तु पंडितजी किसी प्रकार भी मूर्त्ति-पूजा के पक्ष में वेद का कोई मन्त्र न दिखा सके।

मोती०—तो फिर महात्मा और विद्वान् लोग मूर्ति-पूजा कैसे करते आये हैं ?

दया०—इतिहास में महाभारत और वाल्मीकीय रामायण, स्मृतियों में मनुस्मृति तथा सूत्रग्रन्थों को देखिये, वेदों का भाष्य देखिये, फिर आपको प्रकट होजावेगा कि मूर्त्ति-पूजा निरी गप्प है।

दोनों गुरुभाई शास्त्रार्थ से पराङ्गमुख

इसी मेले पर हाथरस के प्रसिद्ध विद्वान् पं० हरजसराय भी आये थे और स्वामी विशुद्धानन्द भी वहीं थे। यह दोनों गुरुभाई थे। पं० हरजसराय अपने विद्यार्थियों से कहा करते थे कि दयानन्द अलग बैठकर मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करता है, यदि हमारे सामने आवेगा तो उसकी वाक् भी न निकलेगी। विद्यार्थियों ने यही बात आकर स्वामीजी से कहदी। स्वामीजी ने बड़ी प्रसन्नता से उनसे कहा कि ऐसी सिद्धि तो हमें अवश्य देखनी है, जो वाक् भी न निकले, पण्डितजी से हमारी अवश्य भेंट करादो और स्वामी विशुद्धानन्द भी उनके साथ ही रहें। पं० हरजसराय और स्वामी विशुद्धानन्द से स्वामीजी से भेंट करने के लिये बहुत कुछ कहा गया, परन्तु वह न आये। इस पर स्वामीजी ने यहाँ तक कहला कर भेजा कि यदि वह नहीं आते तो हम ही उनके पास चले आवेंगे, परन्तु फिर भी वह स्वामीजी से वार्त्तालाप करने पर उद्यत न हुए।

काशी-शास्त्रार्थ के कारण महाराज का नाम चतुर्दिक् में प्रतिध्वनित हो रहा था। मेले में जो कोई धर्म्मजिज्ञासु वा कोई प्रतिष्ठित पुरुष आता था वह यथाशक्ति उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनके उपदेश को सुनकर और उनके दर्शन करके अपने को कृतकृत्य समझता था।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ब्राह्म-समाज के प्रधान नेता भी मेले में पधारे थे और महाराज का परिचय पाने पर उनसे मिलने आये थे। महाराज उस समय जब कि महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आये, लेटे हुए थे, उनके आने की सूचना पाकर उठकर बैठ गये। दोनों महानुभावों में बहुत देर तक प्रेमालाप होता रहा, महाराज ने उनसे वैदिक पाठशाला स्थापन का प्रस्ताव किया। ठाकुर महाशय ने उत्साहदानपूर्वक कहा कि आप कलकत्ता पधारें। उस सयय इस विषय में परामर्श होगा।

महाराज के पूर्व परिचित मित्र काशी निवासी पं० ज्योतिःस्वरूप उदासी भी तीस चालीस मनुष्यों के साथ श्रीमहाराज से मिलने आये थे और परस्पर के प्रेमसम्भाषण से सन्तोष लाभ करके चले गये थे।

स्वामीजी ने प्रयाग में अपने भक्तों से अपने जीवन की कुछ घटनाएँ भी कहीं थीं।

परन्तु अनुसन्धान करने पर किसी ऐसी घटना का पता न लगा जिसका उल्लेख स्वलिखित आत्मचरित में न हो।

ईसाई होने से बच गये

प्रयाग में उन दिनों कुछ लोग ईसाई धर्म स्वीकार करने पर उद्यत थे। उन्हें महाराज के पास लाया गया। महाराज के संसर्ग और उपदेश से उनके सब संशय मिट गये और वह अपने पैतृक धर्म्म में पूर्ववत् स्थित रहे।

कुछ दुष्ट प्रकृति के मुसलमानों ने महाराज के प्राण-हरण की चेष्टा की थी। उनसे महाराज की रक्षा एक बङ्गाली सज्जन माधवचन्द्र चक्रवर्त्ती ने की थी।

दयानंद के सत्सग का प्रभाव

महाराज के सत्संग और उपदेश का लोगों पर असाधारण प्रभाव पड़ता था। न जाने कितने मूर्त्ति-पूजक उनके सत्संग से ईश्वर-पूजक बन गये, कितने नास्तिक आस्तिक होगये, कितने दुराचारी सदाचारी होगये। उनमें मनुष्यों के चित्त को आकर्षित करने की अद्भुत शक्ति थी। इसका एक देदीप्यमान उदाहरण हम नीचे देते हैं।

दुराचारी की काया पलट

जो लोग महाराज के उपदेश श्रवणार्थ श्रीसेवा में आया करते थे उन्हीं में एक बङ्गाली सज्जन माधवचन्द्र चक्रवर्ती * भी थे। वह पी डब्लू. डी. में ओवरसियर थे और इन्होंने पुष्कल धन कमाया था। उस समय वह पेंशन लेकर ठेकेदारी आदि करते थे और उससे भी उन्हें पर्य्याप्त आय थी। वह बड़े तीक्ष्णबुद्धि थे। अंग्रेजी के अतिरिक्त वह फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे और क़व्वालियों (एक प्रकार का फ़ारसी छन्द) के बड़े अनुरागी थे। वह अपने

१०१ प्रश्न

को बड़ा तार्किक समझते थे और अपनी तर्क शक्ति पर उन्हें बड़ा घमंड था। वह कहा करते थे कि मेरी युक्तियों का कोई खंडन नहीं कर सकता। उन्होंने १०१ प्रश्न लिख रक्खे थे और जब कभी किसी धर्म का कोई प्रसिद्ध धर्म्मोपदेशक प्रयाग में आता तो यह उसके पास जाते और वही १०१ प्रश्न उससे पूछते और उसे निरुत्तर करके चले आते। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से भी उन्होंने वही प्रश्न पूछे थे, परन्तु उनके उत्तरों से भी माधव बाबू का सन्तोष न हुआ था।

माधव बाबू जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु हिन्दू-धर्म्म से उनका विश्वास उठ गया था और ईश्वर तक के विश्वास को वह तिलाञ्जलि दे चुके थे। उनके विचार कुछ २ मुसलमानी मत की ओर झुके हुए थे।

जैसे उनके विचार थे वैसे ही आचार भी होगये थे। मद्य-मांस-सेवन तो किसी गिनती में ही न था, उन्हों ने एक मुसलमानी वेश्या भी रख छोड़ी थी।

यह तर्क-मदोन्मत्त, विचार-विच्छृङ्खल, आचारहीन व्यक्ति श्री महाराज के आगमन

१०१ प्रश्नों का उत्तर

का समाचार सुन कर श्रीसेवा में भी उपस्थित हुआ। और पूर्व अभ्यासानुसार वही १०१ प्रश्न उन से भी किये, और उन से लगे टक्कर लेने। थोड़ी ही देर में उन्हें मालूम होगया कि महाराज के

---

* स्वामीजी ने पूना के व्याख्यान में आत्म-चरित वर्णन करते हुए एकजन माधवप्रसाद का उल्लेख किया है। संभवतः उनका अभिप्राय इन्हीं माधवचन्द्र से है।

सम्मुख पैरों पर खड़ा रहना कठिन कार्य है। कुछ दूर चल कर उन की तर्कशक्ति ने उनका साथ छोड़ दिया और उनका सारा गर्व चूर्ण होगया। फल यह हुआ कि उनका हृदय-मन्दिर जो अब तक अश्रद्धा और अविश्वास के तिमिर से आच्छादित था, सत्य और श्रद्धा के आलोक से आलोकित होने लगा। अन्त में उन्हों ने महाराज की शिक्षा और उपदेश को ग्रहण किया और जहाँ अपने असत्य विचारों से विदा ली वहाँ अपने कदाचारों की ओर से भी मुँह मोड़ा। कल जो घोर नास्तिक था वही आज ईश्वर का पूर्ण विश्वासी बन गया। महाराज का वह इतना कृपा-पात्र बन गया कि उन्हों ने उसे स्वयं अपने कर कमलों से सन्ध्या और बलिवैश्वदेव विधि लिख दी।

माधव बाबू ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर सन्ध्या हवन और गायत्री जाप करने लगे। उनका आमूल परिवर्त्तन होगया, धार्मिक दृष्टि से उनका नूतन जन्म होगया।

माधव बाबू के चित्त और चरित्र में यह परिवर्त्तन देखकर उनके मित्र चकित होगये। उन्होंने माधव बाबू से उसका कारण भी पूछा तो उन्होंने स्पष्ट कहदिया कि स्वामीजी जो कुछ कहते थे उसके विरुद्ध मैं कुछ भी न बोल सका और उसके विरुद्ध मुझे एक भी युक्ति न सूझी और मैंने उनके वचन को सत्य मानकर ग्रहण कर लिया।

मुक़द्दमा हारकर प्रसन्नता

उन दिनों माधव बाबू का एक मुसलमान से मुक़द्दमा चल रहा था। उन्होंने स्वामी जी से पूछा कि क्या करना चाहिये। स्वामीजी ने कहा जो सत्य हो वही कहना चाहिये। माधव बाबू ने ऐसा ही किया। परिणाम यह हुआ कि वह मुक़द्दमा हार गये और उन्हें भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। परन्तु इस से उन्हें तनिक भी दुःख न हुआ, प्रत्युत बड़ी शान्ति मिली। मुक़द्दमे के विषय में वह कहा करते थे कि जब मुक़द्दमा हारकर मैं कचहरी से बाहर आया और इक्के पर बैठकर घर लौटा तो जिस निर्मल आनन्द का भोग मैंने उस समय किया वैसा पहले कभी मुक़द्दमा जीतने पर भी नहीं किया था।

मित्र चकित

एक वार माधव बाबू ने अपने एक मित्र शरच्चन्द्र चौधरी ग्वालियरवासी को अपने ग्वालियर जाने और उनके ही पास ठहरने की सूचना दी। शरच्चन्द्र उस सूचना को पाकर कुछ असमञ्जस में पड़ गये, क्योंकि उनके गृह पर ब्राह्म-समाज के अधिवेशन हुआ करते थे और माधव बाबू को वह जानते ही थे कि मत्स्य-मांसभोजी, सुरापायी और उच्छृङ्खल प्रकृति के लोग हैं। ऐसे मनुष्य को ब्राह्म मन्दिर में ठहराना सर्वथा अनुचित था, परन्तु दूसरी ओर एक प्रणयास्पद सुहृद् के साथ कोई अनुचित व्यवहार करना भी निन्दनीय था। वह इसी चिन्ता में थे कि क्या करना चाहिये कि माधव बाबू आ पहुँचे और शरच्चन्द्र के गृह पर ठहर गये। परन्तु जब शरच्चन्द्र का अपने मित्र से वार्त्तालाप हुआ तो वह पहले के माधव बाबू नहीं रहे थे। उनके कुविचार और कदाचार, सुविचार और सदाचार में परिवर्तित हो गये थे। माधव बाबू ने उनसे कहा कि एक महापुरुष के दर्शन करके मैंने अपने जीवन में प्रथम वार शान्तिलाभ किया है और अब मैंने अपना रहन-सहन, विचार-आचार, चाल-ढाल, सब कुछ परिवर्तित कर लिया है। उस महापुरुष का नाम 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' है। प्रातःकाल जब शरत् बाबू उठे तो उन्होंने देखा कि उनके मित्र भी स्नान आदि से निवृत्त

होकर सन्ध्या अग्निहोत्र कर चुके हैं और खड़े होकर गायत्री जप रहे हैं। जप की समाप्ति पर शरत् बाबू ने माधव बाबू से पूछा कि खड़े होकर जप करने का क्या कारण है ? तो माधव बाबू ने कहा कि स्वामीजी का यही आदेश है कि सन्ध्योपासना के पश्चात् खड़े होकर एक सहस्र गायत्री जपने से पूर्वकृत दुष्कर्मों का मालिन्य नष्ट होजाता है।

जब तक श्री महाराज प्रयाग में विराजे तब तक माधव बाबू अपने पाचक के हाथ उनके लिये भोजन भेजते रहे।

विदुषी बाजीबढनगरी

विदुषी बाजीबढनगरी जो काशी में बरना संगम पर रहती थीं उन दिनों विद्योपार्जन कर रही थीं। एक दिन वह भी स्वामीजी के दर्शनों को गई थीं। स्वामीजी उस समय गङ्गा-तट पर पत्थर के फ़र्श पर बैठे थे और बहुत से संन्यासी और पंडित वहाँ उपस्थित थे। बाजीबढनगरी के सामने जिसने भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ-चर्चा की वह थोड़ी देर तक भी तर्कयुद्ध में उनके सम्मुख खड़ा न रहसका अन्त को उसे अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़कर मूक होना पड़ा। कुछ देर तक बाजीबढनगरी यह आनन्द देखकर चली गईं। उन्हें स्वामीजी से कथनोपकथन करने का अवसर न मिला। अगले दिन वह फिर गईं और स्वामीजी से धर्म-विषय पर प्रश्न किये जिनका समुचित उत्तर पाकर वह सन्तुष्ट होगईं। उन्होंने स्वामीजी से यह भी पूछा कि आप प्रयाग से कहां जायँगे तो स्वामीजी ने मिर्ज़ापुर जाने का विचार प्रकट किया, अतः वह भी इस आशा में कि वहाँ महाराज के उपदेशों से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिलेगा, मिर्ज़ापुर ही चली गईं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग

एक दिन एक साधु ने महाराज से निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के विषय में बातचीत की। महाराज ने उसके कथन की निःसारता प्रतिपादित की और इसी विषय पर उस दिन व्याख्यान भी दिया जिसमें उन्होंने दर्शाया कि जो निवृत्ति मार्ग की महिमा का राग अलापते हैं उनका जीवन पशुजीवन से अच्छा नहीं है। वह लोगों को आलसी बनाते हैं। दूसरों को तो निवृत्तिमार्ग का उपदेश करते हैं, परन्तु स्वयं दर-दर उदर-पूर्ति के लिये भिक्षा माँगते हैं। क्रियात्मक जीवन ही जीवन है। वेद-विहित शुभ कर्मों का करना ही निवृत्ति-मार्ग है। वही मनुष्य जीवित कहलाने का अधिकारी है, जो अपने जीवन को लोकहित के कार्यों में लगाता है।

मिर्ज़ापुर

मिर्ज़ापुर आकर स्वामीजी सेठ रामरत्न लड्ढा के बाग में ठहरे जो मिर्ज़ापुर नगर और विन्ध्याचल पर्वत के बीच में है। स्वामीजी ने अपने आने का समाचार पं० मोतीराम के पास भेजा जो उनसे प्रयाग में मिल चुके थे। पं० मोतीराम तुरन्त ही श्रीसेवा में उपस्थित हुए। स्वामीजी ने उनसे पहला ही प्रश्न यह किया कि मूर्त्ति-पूजा के विषय में कोई वेद का प्रमाण मिला वा नहीं। पाठकों को स्मरण होगा कि प्रयाग में स्वामीजी ने पं० मोतीराम से कहा था कि महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, सूत्र ग्रन्थ और वेदों में इस विषय पर प्रमाण देखना। पं० मोतीराम ने उत्तर दिया कि कोई प्रमाण नहीं मिला। इस पर स्वामीजी ने कहा कि मूर्त्ति-पूजा वास्तव में झूठी है, ईश्वर-प्राप्ति तो योगाभ्यास से ही हो सकती है।

यहाँ भी महाराज केवल कौपीन धारण करते, शरीर पर मृत्तिका लगाते और संस्कृत ही बोलते थे। रात्रि को एक पत्थर सिर के नीचे और दो पैरों के नीचे रखकर सो जाया करते थे। रात्रि में २ बजे के लगभग उठ कर गङ्गा-तट पर चले जाते और शौचस्नान से निवृत्त होकर शरीर पर मृत्तिका लगाकर लौट आते और तीन बजे से सूर्योदय तक ईश्वर के ध्यान में मग्न रहते और फिर उठकर टहलने लगते। स्वामीजी की संस्कृत को सुनकर बाग़ के माली टूटी-फूटी संस्कृत बोलने लगे थे।

दिनचर्य्या

गङ्गा-तट पर जाने का मार्ग मिस्टर सी० बोल्ड एक अंग्रेज़ के लाख बनाने के कारखाने के नीचे होकर था। एक रात्रि में ऐसा हुआ कि सी० बोल्ड के चौकीदार ने स्वामीजी को कारख़ाने के नीचे से होकर जाते हुए देखा। अंधेरे में वह एक विशाल-काय मनुष्य को कारख़ाने के पास देखकर डर गया। उसने सी० बोल्ड को जगाकर कहा कि कोई बड़ा लम्बा चौड़ा आदमी कारख़ाने के पास है। वह लालटैन लेकर उसके साथ आये तो उन्होंने देखा कि स्वामीजी हैं। उन्होंने चौकीदार से कह दिया कि यह चाहे जिस समय आवें इन्हें मत रोका करो।

चौकीदार डरगया

अन्य स्थानों के समान मिर्ज़ापुर में भी सैकड़ों मनुष्य उनके पास आने जाने लगे। प्रातःकाल से रात्रि के १२ बजे तक उनके पास दर्शकों का ताँता लगा रहता था। कोई सद्भाव से आता, कोई केवल दर्शन करने, कोई धर्म-विषयक जिज्ञासा करने, कोई शास्त्रार्थ करने, तो कोई उन्हें अपमानित करने। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी जो उन्हें मारने पीटने के ही सङ्कल्प से आते थे और यदि उनका वश चलता तो इसमें आनाकानी भी न करते। महाराज का दर्बार क्या मित्र, क्या शत्रु, सबके लिये खुला था। वह सबके ही साथ प्रेम का बर्ताव करते थे। परन्तु यदि कोई उनके साथ दुष्टता का व्यवहार करने को अग्रसर होता, तो वह रुद्र रूप धारण करके उसे दण्ड देने पर भी उद्यत होजाते थे।

दयानन्द का दर्बार

मिर्ज़ापुर में कितने ही लोगों ने स्वामीजी के उपदेश से मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी थी। और बहुत से ब्राह्मणों ने सन्ध्या करनी आरम्भ करदी थी।

उस समय मिर्ज़ापुर के कलक्टर मिस्टर जेंकिन्सन थे। उन्होंने एक दिन मिर्ज़ापुर के रईस चौधरी गुरुचरण से कहा कि रामरत्न लड्ढा के बाग में एक विद्वान् संन्यासी ठहरा है, जो मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करता है। आप उसके पास जाकर ज्ञात करो कि उसका क्या अभिप्राय है? तदनुसार वह स्वामीजी के पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक विशाल, तेजोदीप्त मूर्त्ति विराजमान है और चारों ओर से लोग उसे घेरे हुए बैठे हैं। अनेक मनुष्य विविध प्रश्न करते हैं और स्वामीजी उनका सरल, सुन्दर और अनवरत संस्कृत में उत्तर देते और उनका समाधान करते हैं। चौ० गुरुचरण ने उनसे पूछा कि आप का सङ्कल्प क्या है? उन्होंने उत्तर दिया कि सनातन वेदोक्त धर्म का इस समय लोप होगया है, उसे पुनः प्रतिष्ठित करना ही हमारा सङ्कल्प है। चौ० गुरुचरण ने सब वृत्तान्त कलक्टर साहब से कहा तो उन्होंने भी स्वामीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। परन्तु

कलक्टर मिलने का इच्छुक

थोड़े दिन पीछे ही उनकी मिर्जापुर से बदली होगई, वह स्वामीजी के दर्शन न कर सके।

रईस अनुगत

पहली ही भेंट में चौ० गुरुचरण स्वामीजी के गुणग्राम से इतने प्रभावित होगये कि वह प्रतिदिन महाराज की सेवा-शुश्रूषा में रत रहने लगे और उनके अनन्य भक्त बन गये।

एक और सेठ अनुगत

सेठ रामरत्न स्वामीजी के प्रयाग में दर्शन कर चुके थे और संभवतः इस पूर्वपरिचय के कारण ही स्वामीजी ने उनके बाग में डेरा किया था। यह भी हो सकता है कि वह मिर्जापुर आने के लिये स्वामीजी को निमंत्रित कर आये हों।

गुरु का दोष-दर्शन

बाबा बालकृष्ण सेठ रामरत्न के गुरु थे। उन्होंने महाभारत की टीका लिखी थी। जिसमें भगवद्गीता को प्रक्षिप्त बताया था। पहले वह स्वामीजी की प्रशंसा करते रहे परन्तु जब स्वामीजी ने उनकी रची हुई महाभारत की टीका में असंगति-दोष, व्याकरण की अशुद्धियाँ दर्शाईं, तो वह स्वामीजी की निन्दा करने लगे। स्वामीजी ने उनसे कहला कर भेजा कि वह अपनी टीका के शुद्धाशुद्ध होने के विषय में शास्त्रार्थ करलें। परन्तु उन्होंने कह दिया कि हम स्वामीजी के स्थल पर नहीं जावेंगे। इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि यह स्थान हमारा नहीं, तुम्हारा ही है, क्योंकि तुम्हारे शिष्य का है, यहाँ नहीं तो अपने दूसरे शिष्य के बाग में जो पास ही है आजाइये अथवा गङ्गा पर चलकर गङ्गा की रेती में शास्त्रार्थ कर लीजिये। सेठ रामरतन ने भी उनसे शास्त्रार्थ करने का अनुरोध किया। परन्तु वह किसी प्रकार सहमत नहीं हुए।

शास्त्रार्थ का पत्र

एक दिन मिर्जापुर के कुछ ब्राह्मणों ने एक पत्र संस्कृत में स्वामीजी की सेवा में भेजा जिसमें उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की अभिलाषा प्रकट की और यह भी लिखा कि आप शास्त्रार्थ में अपने प्रतिपक्षी को मूर्खादि कटु-शब्द कह दिया करते हैं। यदि ऐसे शब्द आपने कहे तो आप को दण्ड दिया जावेगा। स्वामीजी ने शास्त्रार्थ करना सहर्ष स्वीकार किया और लोगों से यह भी कहा कि गोविन्द भट्ट को (जो पत्र के लेखकों में से था) भागवत का बड़ा अभिमान है, यदि वह शास्त्रार्थ करने आवेगा तो उस अभिमानी को अवश्य ही मूर्ख बनाऊँगा।

पत्र की अशुद्धियाँ

पत्र भेजने के दो घण्टे पश्चात् वह लोग आये। उनमें गोविन्द भट्ट और पं० जयश्री भी थे। उनके आते ही स्वामीजी ने उस पत्र की अशुद्धियाँ दिखानी आरम्भ कीं। पण्डितों ने कहा कि अक्षर अच्छे न होने के कारण पत्र एक लेखक से लिखवा दिया गया था, उसने अशुद्ध लिख दिया। इस पर स्वामीजी बोले कि फिर आप लोगों ने शुद्ध क्यों न कर लिया, क्या शोधने की योग्यता न थी? पण्डितों ने कहा कि जिस कार्य्य के लिये हम लोग आये हैं वह होना चाहिये।

भागवत मण्डन की चेष्टा

इन बातों को जाने दीजिये। तत्पश्चात् गोविन्द भट्ट ने भागवत का मण्डन आरम्भ किया। परन्तु उनका उच्चारण इतना अशुद्ध था कि स्वामीजी उन्हें टोकने पर बाधित हुए। तब गोविन्द भट्ट के ही एक साथी ने उनसे कहा कि भट्टजी आप हट जाइये और जयश्री

से शास्त्रार्थ होने दीजिये। तब जयश्री से शास्त्रार्थ होने लगा, परन्तु दर्शकों की भीड़ बहुत होगई थी। स्वामीजी ने कहा कि चलो मैदान में चलकर बैठें वहाँ बात-चीत होंगी। इस पर सब लोग खुले स्थान में चले गये। पूर्व की ओर स्वामीजी और पश्चिम की ओर पंडित-गण बैठे और मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

शास्त्रार्थ—

जयश्री—मूर्त्ति-पूजा के खण्डन में वेदों का कोई प्रमाण दीजिये ?

दयानन्द—'न तस्य प्रतिमास्ति' आदि—यह यजुर्वेद का मन्त्र है जिसमें स्पष्ट कहा है कि परमेश्वर की प्रतिमा नहीं है।

जयश्री उक्त मन्त्र का दूसरे प्रकार अर्थ करने लगे। इस पर स्वामीजी ने अपने अर्थ की पुष्टि में प्रमाण दिये तो जयश्री बोले:—

जयश्री—इस मन्त्र के अर्थों पर हमारा और आपका युक्तिपूर्वक शास्त्रार्थ होना चाहिये।

स्वामीजी ने 'तथास्तु' कहकर जयश्री के अर्थों में युक्तिपूर्वक अनेक दोष दिखाये। जयश्री ने उनका उत्तर देने का यत्न किया, परन्तु सफल न हुए और क्रोध में भर गये।

ताली किसने बजाई

इस पर जयश्री के एक साथी ने जो स्वामीजी के पीछे बैठा हुआ था ताली बजादीं। स्वामीजी एक दम खड़े होगये और पूछा कि ताली किसने बजाई और ललकार कर बोले कि खबरदार, यदि ऐसी कुचेष्टा करोगे तो मैं अकेला ही सबको पीट सकता हूँ, तुम मुझे दुष्टता दिखाने आये हो और आज्ञा दी कि बाग़ के किवाड़ बन्द करदो। पं० सरयूप्रसाद शुक्ल ने बीच में पड़कर झगड़े को शान्त किया और उस मनुष्य ने भी क्षमा-प्रार्थना की और कहा कि ताली मैंने बजाई थी, परन्तु उपहास के लिये नहीं बल्कि अपने साथियों को चलने के लिये संकेत किया था।

यह लोग इसमें सन्देह नहीं कि झगड़ा करने के लिये तैयार होकर आये थे। इसका संकेत उन्होंने अपने पत्र में भी किया था। पं० सरयूप्रसाद बीच में न पड़ते और वह लोग यदि स्वामीजी की डाँट से भयभीत न होजाते तो कुछ न कुछ उपद्रव अवश्य करते।

स्वामीजी को शान्त होते क्या देर लगती थी। वह ताली बजाने वाले मनुष्य की क्षमा याचना पर ही शान्त होगये। इस समय सायंकाल होगया था। स्वामीजी ने सब लोगों से यह कहकर कि सन्ध्यावन्दन का समय होगया, सब लोगों को सन्ध्योपासन करना चाहिये उपस्थित जनता को विदा किया।

गीता के श्लोक की व्याख्या

एक दिन एक सज्जन जो गीता का बड़ा प्रेमी था, स्वामीजी के पास आकर बोला कि महाराज मैंने गीता की अनेक टीकायें देखी हैं परन्तु इस श्लोकार्ध का अर्थ समझ में नहीं आया आप अनुग्रह करके इसका अर्थ मुझे समझादें।

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

स्वामीजी ने इसका अर्थ किया कि 'धर्म्मान्' शब्द को यहाँ 'अधर्म्मान्' समझना चाहिये। 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' व्याकरण के इस नियम के अनुसार 'सर्व' में जो वकार में अकार है वह 'अधर्म्मान्' के अकार में तद्रूप होगया, अर्थात् वह वकार का अकार

उसमें मिल गया, इस प्रकार यद्यपि 'अधर्म्मान्' शब्द ने 'धर्म्मान्' का रूप ग्रहण करलिया, परन्तु वास्तव में 'अधर्म्मान्' ही रहा। यह अर्थ सुनकर वह मनुष्य बहुत प्रसन्न हुआ और स्वामीजी से उसने इस अर्थ की पुष्टि में जब प्रमाण माँगा तो उन्होंने वेद के दो तीन मन्त्रों का प्रमाण देकर उसका सन्तोष कर दिया।

पुजारी की दुष्टता

मिर्ज़ापुर में बूढ़े महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर है। उसका पुजारी छोटूगिरि गोसाईं बड़ा हृष्टपुष्ट और बलिष्ठ था। वह महाराज के मूर्त्ति-पूजा के खण्डन करने के कारण उनसे अत्यन्त द्वेष करता था। एक दिन वह अपने कुछ साथियों को लेकर महाराज के प्राणहरण करने के अभिप्राय से उनके पास आया। उस समय केवल दो तीन मनुष्य ही महाराज के पास बैठे थे। छोटूगिरि महाराज की जंघा से जंघा मिलाकर बैठ गया और बोला कि 'बच्चा अभी तू कुछ पढ़ा नहीं है अभी कुछ पढ़, जिस इन्द्रिय से तेरी उत्पत्ति हुई है उसी का तू खण्डन करता है' और यह श्लोक पढ़ा "ब्रह्ममुरारिसुरार्चितलिङ्गं तं प्रणमामि सदा शिवलिङ्गम्"। स्वाभीजी ने कहा कि "वह तो पत्थर है तुम्हारी उससे उत्पत्ति हुई होगी, मैं तो अपने माता-पिता से उत्पन्न हुआ हूँ"। फिर वह स्वामीजी के खाने का तमाकू जो एक पत्थर पर रक्खा था उठाकर नाक में भरने लगा। स्वामीजी ने कहा यदि नस्य ही लेना है तो यह नस्य की डिबिया रक्खी है, इसमें से लेकर सूँघो, परन्तु वह नहीं माना। एक मनुष्य एक दौने में बताशे स्वामीजी की भेंट कर गया था। छोटूगिरि ने कहा यह बताशे हैं? स्वामीजी ने कहा कि हैं। तब उसने बताशों की ओर हाथ बढ़ाया। स्वामीजी ने कहा कि खालो, परन्तु उच्छिष्ट मत छोड़ना। परन्तु उस दुष्ट ने उनकी इस आज्ञा का भी तिरस्कार किया और चिल्लाकर बोला 'बच्चा हम तेरे गुरु हैं, आज सब खण्डन करने का फल तुझे ज्ञात होजायगा'।

दुष्टता का उत्तर

स्वामीजी ने देखा कि छोटूगिरि दुष्टता करना चाहता है, तब वह खड़े होगये और सिरहाने का पत्थर उठाकर ज़ोर से हुङ्कार किया और कहा कि "मूर्ख! तू मुझे भय दिखाता है; यदि मैं ऐसे ही भय खाता तो देश में घूमकर खण्डन कैसे करता? और ललकार कर बोले कि "कोई है, किवाड़ बंद करदो, मैं अकेला ही इन्हें पीट सकता हूँ।" महाराज के हुंकृत से ही वह दुष्ट और उसके साथी भय से काँपने लगे। छोटूगिरि का एक साथी हाथ जोड़कर बोला कि महाराज हमें कैसे प्रतीति हो कि मूर्त्ति-पूजन उचित नहीं है। इस पर महाराज ने शान्तिपूर्वक कहा कि वेदों में उसका कहीं प्रमाण नहीं, और परमेश्वर स्वतन्त्र है वह किसी के वश में नहीं आसकता जैसे कि तुम रात्रि में मूर्त्ति को ताले के अन्दर बन्द करके चले जाते हो। मूर्त्ति तो जड़ है, वह किसी को वर व शाप नहीं दे सकती। केवल एक परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये। और ब्राह्मणों को सन्ध्या 'गायत्री' अग्निहोत्र करना ही मुख्य कर्म है। इसके पश्चात् थोड़ी देर तक यह लोग और बैठे रहे और सरलता से बात-चीत करके चले गये।

राज की ओर से रक्षा का प्रबंध

इस घटना के पश्चात् मैजिस्ट्रेट जिला ने इस घटना का समाचार पाकर स्वयं ही अथवा किसी सज्जन के अनुरोध से स्वामी जी की रक्षा के निमित्त एक कान्स्टेबिल को स्वामीजी के निवास स्थान पर पहरा देने के लिये नियत कर दिया।

चक्री शब्द का अर्थ एक मनुष्य से बात-चीत करते हुये स्वामीजी ने प्रसङ्गवश मनु के एक श्लोक में आये हुए 'चक्री' शब्द का अर्थ कुम्हार किया। उस मनुष्य ने कहा कि कुल्लूकभट्ट ने तो इसका अर्थ तेली किया है। स्वामीजी ने कहा कि कुल्लूक तो उल्लूक है, तेली के पास तो कोल्हू है चक्र (चाक) कहाँ, वह तो कुम्हार के पास है, अतः चक्री का अर्थ कुलाल ही हो सकता है।

मिर्ज़ापुर में स्वामीजी ने एक बङ्गाली बनवारीलाल को अंग्रेजी सीखने और मैक्स-मूलरकृत वेदों का अंग्रेजी अनुवाद सुनाने के लिये नौकर रक्खा था।

पादरी से वार्त्तालाप मिर्ज़ापुर के पादरी मैथर (Mather) कभी-कभी स्वामीजी से मिलने जाया करते थे। एक दिन कथा-प्रसङ्ग में उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि वेदों की प्रचलित टीकाएँ ठीक नहीं हैं तो आप अपनी ही टीका क्यों नहीं बनाते? पादरी साहब कहते हैं कि उस समय स्वामीजी ने उन्हें यह उत्तर दिया था कि वेदों की टीका केवल (साधारण) बुद्धि के बल से नहीं बन सकती, जब तक तपस्यापूत बुद्धि न हो तब तक वेदों के अर्थ ग्रहण करने कठिन हैं। *

वैदिक पाठशाला की स्थापना इन दिनों स्वामीजी की यह धारणा थी कि स्थान २ पर वैदिक पाठशालाएँ स्थापित की जावें और जो विद्यार्थी उनमें शिक्षा पाकर निकलें उनसे वैदिक-धर्म्म प्रचार कराया जावे। यही विचार उन्होंने मिर्ज़ापुर में प्रकट किया। उनके उपदेश और अनुरोध से चौ० गुरुचरण रईस ने वैदिक-पाठशाला अपने व्यय से स्थापित करनी और चलानी स्वीकार करली और अपना एक गृह भी जो लालडिग्गी के पास था उसके लिये दे दिया। तब स्वामीजी मथुरा गये और वहाँ से अपने सहपाठी पं० युगलकिशोर को और एक अन्य पण्डित बलदेवप्रसाद नामक को अध्यापक नियत करके अपने साथ ले आये। इसके अतिरिक्त एक तीसरा पण्डित भी नियत किया गया। विद्यार्थियों के भोजन और पुस्तकों का व्यय भी चौ० गुरुचरण ही देते थे। पाठशाला पर उनका लगभग १५०) मासिक व्यय होता था। जिसे वह अकुण्ठित चित्त से वहन करते थे। विद्यार्थियों को इस शर्त पर पाठ-शाला में भर्ती किया जाता था कि वह ६ वर्ष से पहले पाठशाला न छोड़ेंगे। उनके लिये प्रत्यह सन्ध्या, अग्निहोत्र करने की व्यवस्था की गई थी। जो विद्यार्थी सूर्य्योदय से पहले नहीं उठता था और सन्ध्या नहीं करता था उसे दिन भर निराहार रह कर गायत्री जपनी होती थी। पाठशाला के लिये स्वामीजी उपयोगी और आवश्यक ग्रन्थ काशी जाकर स्वयं

---

* पादरी साहब के कथन से यह टपकता है कि स्वामीजी उस समय अपने को वेदभाष्य करने के योग्य नहीं समझते थे। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। जब तक उन्होंने अपने को प्रचार कार्य के लिये तैयार नहीं कर लिया था तब तक प्रचार कार्य आरंभ ही नहीं किया था। यह हो सकता है कि उस समय तक उन्होंने वेदभाष्य करने का विचार न किया हो और पादरी साहब के इस ओर ध्यान दिलाने पर ही उनके मनमें वेद-भाष्य करने का सङ्कल्प जागृत हुआ हो और इसी लिये उन्होंने बनवारी बाबू को मैक्समूलर का वेदों का अंग्रेज़ी अनुवाद सुनाने को नियत किया हो। यह हो सकता है कि स्वामीजी ने वेदभाष्यकर्त्ता के गुण वर्णन करने में उपर्युक्त शब्द कहे हों और स्मृतिदोष से पादरी साहब को सारा प्रसङ्ग और वार्त्तालाप उपस्थित न रहा हो। —संग्रहकर्त्ता.

ले आये थे। उस समय पाठशाला में विद्यार्थियों की संख्या ३०-३५ होगई थी। पाठशाला ज्येष्ठ संवत् १९२७ में स्थापित हुई थी। बीच में स्वामीजी रामरतन के बाग़ से उठकर मैनपुरी के गोसाईं के बाग़ में चले गये थे, परन्तु वहाँ व्यवस्था अनुकूल न रही और फिर रामरतन के बाग़ में लौट आये थे।

मिर्जापुर में स्वामीजी जब तक रहे उनके लिये भोजन पण्डित सरयूप्रसाद शुक्ल के यहाँ से आता रहा। रात्रि को बाग़ का माली उन्हें दुग्ध गर्म करके पिला दिया करता था।

मृत्यु का पुरश्चरण

मिर्जापुर में एक ओझा ठहरा हुआ था। उसने यह डींग मारी कि यदि कोई हमसे मारण का पुरश्चरण कराये तो इक्कीसवें दिन दयानन्द की मृत्यु हो जाय। मूर्त्ति-पूजक लोग स्वामीजी से चिढ़े हुये तो थे ही अतः उन में ऐसे मूर्खों की कमी न थी जो हृदय से स्वामीजी के मरण के इच्छुक हों। ऐसा ही एक मूर्ख परन्तु धनी सेठ उस ओझा को मिल गया। उसने ओझा से कहा कि जितना रुपया चाहिये वह मुझ से लो और दयानन्द पर मन्त्र चलाओ। ओझा-जी पुरश्चरण करने लगे। अभी उन्हें पुरश्चरण करते हुए तीन चार दिन ही हुये थे कि दैवयोग से सेठजी के गले में एक फोड़ा होगया और उसने ऐसा भयङ्कर रूप धारण किया कि सेठजी को खाना, पीना, बोलना, चालना दूभर होगया। सेठजी की पीड़ा बढ़ती रही और उधर ओझाजी की कढ़ाई चढ़ती रही। एक दिन ओझाजी सेठजी के पास आकर बोले कि पुरश्चरण समाप्ति का दिन समीप आरहा है, बलि की सामग्री प्रस्तुत करा दीजिये,

पुरश्चरण कराने वाला स्वयं मृत्यु के मुख में

इधर बलि दी जायगी और उधर दयानन्द का सिर धड़ से अलग होकर भूमि पर गिर पड़ेगा। सेठजी को अपने प्राणों की पड़ी थी। वह बोले कि दयानन्द का सिर तो जब गिरेगा तब गिरेगा अब तो सब से पहले मेरा ही सिर गिरा चाहता है। आप कृपा करके पुरश्चरण बन्द कर दीजिए।

पीटने का प्रयत्न

उस दिन छोटूगिरि स्वामीजी के पास से बहुत लज्जित होकर लौटा था। उसकी सारी हेकड़ी और गुण्डापन निकल गया था, परन्तु यह बात उसके मन में कांटे की भांति खटकती रही और वह किसी न किसी प्रकार स्वामीजी से बदला लेने के विषय में सङ्कल्प-विकल्प करता रहा। अन्त को उसने दो गुण्डों को समझा बुझाकर स्वामीजी को पीटने को भेजा। वह जाकर स्वामीजी के पास बैठ गये। उस समय महाराज एक जन पं० रामप्रसाद को कुछ शास्त्रीय बातें बता रहे थे। यह गुण्डे बीच बीच में हँसने और व्यंग्यपूर्ण बातें करने लगे।

हुँकार सुनकर गुंडे बेहोश

एक दो-बार तो महाराज ने उन्हें सभ्यतापूर्वक कोमल शब्दों में रोका परन्तु वह न माने। तब महाराज ने उठकर ऐसा हुँकार किया कि दोनों भय से काँपते हुए भूमि पर गिर पड़े यहाँ तक कि उनका मूत्र-पुरीष भी निकल गया और वह संज्ञारहित होगये। पं० रामप्रसाद को भी यह हुँकारनाद इतना असह्य हुआ कि उन्होंने अपने कानों में उँगलियाँ डाल लीं। तब दोनों गुण्डों को पं० रामप्रसाद जल के छींटे देकर होश में लाये और महाराज ने उन्हें उचित शिक्षा देकर विदा किया।

मिर्ज़ापुर से स्वामीजी काशी चले गये।

काशी

मिर्ज़ापुर से स्वामीजी गङ्गा के तट पर विचरते हुए काशी पधारे और लाला माधोलाल रईस के बाग़ में जो दुर्गाकुण्ड के निकट है निवास किया। इस बार भी वह पूर्ववत् मूर्त्ति-पूजादि अवैदिक प्रथाओं का बेधड़क होकर खण्डन करने में प्रवृत्त रहे। काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और

पुनः शास्त्रार्थ का चैलैंज

विज्ञापन छपवाकर बँटवाया, परन्तु उनमें से किसी का उनके सम्मुख आने का साहस न हुआ। अपने प्रियतम और जीविका के आधार मूर्त्ति-पूजन पर दयानन्द के तर्कों की चोट पर चोट पड़ती देखकर मन ही मन कुढ़ते और दयानन्द को कोसते अवश्य रहे, परन्तु उसके तर्कों का उत्तर न दे सके। स्वामी शङ्कराचार्य प्रवर्त्तित नवीन वेदान्त—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' हिन्दुओं के प्रायः बड़े बड़े विद्वानों की विश्वासभूमि है। इसमें भी कुछ कहना नहीं है कि उसके समर्थन में स्वामी शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी लोगों ने अनेक तर्क और युक्तियों का जाल बना रक्खा है, उसकी सिद्धि में बड़े बड़े ग्रन्थ रचे गये हैं जिन पर उच्च से उच्च कोटि के सुशाणित-बुद्धिसम्पन्न, सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने अपना पाण्डित्य समाप्त कर दिया है और उसकी रक्षा के लिये तर्क और युक्ति का सुदृढ़ दुर्ग निर्माण करके खड़ा कर दिया है। उन्हीं युक्तियों से स्वामी शङ्कराचार्य ने अनेक जैन और बौद्ध दार्शनिकों को शास्त्रार्थ में

अद्वैतमत-खण्डन

परास्त करके, अनेक राजाओं, महाराजाओं को अपना अनुयायी बनाकर जैन और बौद्धमत को भारत से नष्टप्राय किया था। इस बार दयानन्द ने इसी दुर्ग पर गोला बरसाया और उसके खण्डन में 'अद्वैतमतखण्डन' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की।

काशी में दो मास ※ तक अवैदिक मतों और कुरीतियों का खण्डन और सत्य वैदिक धर्म का मण्डन करके स्वामीजी गङ्गा के किनारे किनारे पश्चिम की ओर चले गये।

सोरों

जिस समय महाराज पहले सोरों पधारे थे तो पं० सुखानन्द व अयोध्याप्रसाद आदि बहुत से लोगों ने उनसे कासगञ्ज जाने को कहा था तो उन्होंने यह उत्तर दिया था कि अब तो हम गङ्गा-तट पर विचरते हैं, गङ्गा-तट को छोड़कर अन्य स्थान पर तब जायेंगे जब वहां के लोग संस्कृत की पाठशाला स्थापित करेंगे। अतः उस समय वह कासगञ्ज नहीं गये। पश्चात् जब वह

कासगंज

काशी से लौटकर ज्येष्ठ संवत् १९२७ में सोरों आये तब कासगञ्ज के लोगों ने पाठशाला स्थापित करने का प्रबन्ध कर लिया था। उन्हें जब महाराज के सोरों आने का वृत्त ज्ञात हुआ तो वह उनके पास गये और कासगञ्ज लिवा लाये। कहते हैं कि उन्हें लिवा लाने के लिये उपर्युक्त पंडित

※ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी मिर्ज़ापुर से काशी सम्भवतः चैत्र मास की किसी तिथि को आगये थे और काशी से पुनः मिर्ज़ापुर पाठशाला स्थापन करने गये और फिर वहाँ से काशी लौट आये। वापस आकर काशी में थोड़े ही दिन ठहरे। अतः काशीवास का दोनों बार का सब समय दो मास समझना चाहिये।

—संग्रहकर्ता.

सुखानन्द और अयोध्याप्रसाद आदि १०० मनुष्यों के लगभग गये थे। स्वामीजी गोसाईं बलदेवगिरि की बग्घी में सवार होकर और उन्हें अपने साथ लेकर कासगञ्ज पहुँचे।

शोभा-यात्रा

जब बग्घी नगर के निकट पहुँची तो रोक दीगई और जब सब लोग जो पैदल आ रहे थे आगये तो उन लोगों ने स्वामीजी से पूछा कि आपको नगर में होकर जाने में तो कोई आपत्ति नहीं है। स्वामीजी ने कहा कि कोई आपत्ति नहीं। तब सब लोगों ने स्वामीजी की बग्घी को आगे किया और वह उसके पीछे चले। नगर में सोरों द्वार से प्रवेश करके नदरई द्वार से बाहर निकले। स्वामीजी को मुकन्दराम रईस के उद्यानगृह में ठहराया गया। पाठशाला स्थापित

पाठशाला स्थापन

करने का विचार लोगों ने पहले से ही दृढ़ कर रक्खा था, अतः महाराज के आगमन के कुछ काल पश्चात् ज्येष्ठ मास में ही पाठशाला स्थापित होगई। पं० दुलाराम को जो फ़र्रुखाबाद की पाठशाला में पढ़ रहे थे बुलाकर अध्यापक नियत कर दिया गया। महाराज को उनका नाम पसन्द न था, अतः उन्होंने दुलाराम की जगह दिनेशराम नाम रक्खा।

पाठशाला में निम्न-लिखित नियम प्रचरित किये गये:—

१—केवल वही विद्यार्थी भर्ती किया जावे जो सन्ध्या करनी जानता हो।

२—वेद, अष्टाध्यायी महाभाष्य और मनुस्मृति पढ़ाये जावें।

३—यदि कोई विद्यार्थी सूर्य्योदय से पहले उठकर सन्ध्या न करे तो उसे मध्यान्ह का भोजन न दिया जावे, सायङ्काल को सन्ध्या करने के पश्चात् दिया जावे।

४—भोजन नगर में रहने वाले विद्यार्थियों को न दिया जावे, केवल बाहर के विद्यार्थियों को ही दिया जावे।

एक कोठरी में हवन कुण्ड खुदवाकर विद्यार्थियों को सायं और प्रातः अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी जाये।

दिलसुखराय गिरधारीलाल की दूकान पर २८००) पुण्यार्थ जमा थे वह भी सबकी सम्मति से पाठशाला को दे दिये गये।

इस समय कासगञ्ज में एक तहसीलदार ने सोरों में गङ्गा-तट पर एक पक्का घाट

पाठशालार्थ धनप्राप्ति

बनवाने के लिये कुछ रुपया इकट्ठा किया था। कुछ लोगों की यह इच्छा थी कि उस रुपये से कासगञ्ज में ही एक तालाब बनवाया जावे। महाराज की यह अभिलाषा थी कि वह रुपया उनकी स्थापित वैदिक पाठशाला कासगञ्ज को मिल जावे। स्वामीजी के पक्ष के लोगों की ओर से इस अभिप्राय का एक आवेदन पत्र भी एटा के कलक्टर को भेजा गया था। उस पर कलक्टर ने रा० ब० बालमुकुन्द को पाठशाला की अवस्था देखकर रिपोर्ट करने के लिये कासगञ्ज भेजा। वहाँ पहुँचकर उन्हें ज्ञात हुआ कि यद्यपि कुछ लोग चाहते थे कि रुपया पाठशाला को ही दिया जावे, परन्तु अधिक लोगों की इच्छा गङ्गा-तट पर पक्का घाट बनवाने की ही थी। पौराणिक हिन्दू स्वामीजी के बहुत विरुद्ध थे। वह उनकी मूर्त्ति-पूजा की तीव्र आलोचना से अत्यन्त दुःखित थे और कहते थे कि स्वामीजी ने पाठशाला उनके पुत्रों को विधर्मी बनाने के लिये ही स्थापित की है। बहुत से हिन्दू मिलकर रा० ब० बालमुकुन्द के

पास गये और उनसे प्रार्थना की कि ऐसा अनर्थ न होने पावे कि रुपया स्वामीजी की पाठशाला को मिल जावे। रा० ब० बालमुकुन्द तहसीलदार को साथ लेकर स्वामीजी से मिलने गये और उनसे कहा कि आप हिन्दूधर्म की निन्दा करते हैं इसलिये लोग आपके अत्यन्त विरुद्ध हैं। महाराज ने यह सुनकर निन्दा शब्द की ऐसी सुन्दर व्याख्या की कि डिपटी साहब उसे सुन कर अवाक् रह गये। महाराज ने उन्हें समझाया कि दोषी के दोषों को प्रकट करना निन्दा नहीं है, यदि ऐसा हो तो सबसे बड़े निन्दक आप हैं, क्योंकि चोर को चोर और दस्यु को दस्यु कहकर बाजार में मनादी कराते हैं।

निन्दा का अर्थ

स्वामीजी एक प्रहर रात्रि रहती थी कि उठकर योगाभ्यास करने बैठ जाते थे और दो घड़ी दिन चढ़े तक ध्यानावस्थित रहते थे। जब वह ध्यान करके बाहर आते तो उनके नेत्र रक्तवर्ण के होते थे। वह धीरे धीरे दो घड़ी तक नेत्रों पर जल सिञ्चन करते तब उनके नेत्रों की लालिमा दूर होती थी। इसके पश्चात् वह शौच से निवृत्त होकर भोजन करते और फिर आगन्तुकों से वार्त्तालाप करने बैठ जाते थे और सूर्य्यास्त से एक घण्टा पूर्व तक वार्त्तालाप करते रहते। सायङ्काल को शौच के पश्चात् किसी खेल आदि में बैठकर फिर योगाभ्यास करते थे।

दिनचर्या

एक दिन अपराह्न में स्वामीजी जङ्गल की ओर शौच के लिये जा रहे थे और कई विद्यार्थी और अनुरागी जन उनके साथ थे। थोड़ी दूर चलकर गुलजारीलाल खत्री के बाग़ के सामने देखा कि मार्ग रुका हुआ है। कुछ और आगे बढ़े तो देखा कि मार्ग दूसरी ओर से भी रुका हुआ है, न इधर के लोग उधर जा सकते हैं और न उधर के इधर आ सकते हैं। कारण यह था कि बीच में दो साँड आपस में लड़ रहे थे। दोनों साँडों के मुँह एक दूसरे से मिल रहे थे और वह एक दूसरे को धकेलने का यत्न कर रहे थे। यह द्वन्द्व-युद्ध निरन्तर दो घण्टे से हो रहा था। जिन लोगों को अधिक आवश्यक कार्य था वह फेर खाकर बाग़ के पार्श्व से निकल जाते थे। थोड़ी देर तक महाराज भी उस युद्ध की समाप्ति की प्रतीक्षा करते रहे। तब लोगों ने उनसे कहा कि दूसरे मार्ग से निकल चलें। इस बात को स्वामीजी ने 'हूँ' कहकर अस्वीकार कर दिया और तुरन्त ही उन रणमस्त साँडों की ओर चलने लगे। उनके साथियों ने भी उन्हें रोका और अन्य लोग चिल्लाये कि बाबाजी क्या करते हो, परन्तु उन्होंने न सुना और उन युद्धोन्मत्त साँडों के पास जाकर हरएक का एक एक सींग एक एक हाथ से पकड़ लिया और इस जोर से उन्हें धक्का दिया कि दोनों का मुँह आकाश की ओर उठ गया और दोनों को एक दूसरे से अलग अलग कर दिया। साँड इतने डर गये कि मार्ग छोड़कर चले गये और लोगों के आने जाने का मार्ग खुल गया।

रणमस्त साँडों का दमन

एक दिन महाराज स्नान करने के लिये जीवाराम कायस्थ के बाग़ में जा रहे थे। पाठशाला का एक विद्यार्थी रामप्रसाद उनके साथ था। मार्ग में एक आम पड़ा देखकर उसने उठा लिया। महाराज उससे बहुत अप्रसन्न हुए और कहा कि तूने आम क्यों उठाया, क्या यह तेरे पिता वा पितामह का बाग़ है? और वापस आकर उस पर २) जुर्माना कर दिया।
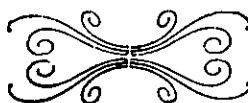
विना आज्ञा आम क्यों उठाया

श्री महाराज एक दिन कासगंज से बिना किसी को सूचना दिये सूर्योदय से चार घड़ी पहले चले गये। दोपहर को ग्राम-बलराम में कुछ विश्राम किया जो कासगंज से पश्चिम की ओर दो कोस पर है। वहाँ एक ब्राह्मण सज्जन ने उन्हें दूध पिलाया और ठहरने की प्रार्थना की। वहाँ से चलकर चकेरी ग्राम के समीप उन्होंने एक चमार से संस्कृत में पूछा 'चकेरीग्रामः क्वास्ति' वह समझ गया कि चकेरी गाँव को पूछते हैं। उसने हाथ से संकेत से चकेरी का मार्ग बतादिया। चकेरी के पास से होते हुये रात्रि में किसी स्थान पर निवास किया और प्रातःकाल कुछ दिन चढ़े हनोट ग्राम में पहुँचे। वहाँ अनेक लोग उनके दर्शन को आये। वहाँ लोगों ने कहा कि यहाँ के विष्णु मन्दिर का पुजारी सदा कहा करता है कि मैं दयानन्द से शास्त्रार्थ करूँगा। वह चक्राङ्कित था। यह सुनकर महाराज वहीं रेत में बैठ गये और कहा कि उसे बुलाकर लाओ। कुछ लोग तो उसे बुलाने चले गये और कुछ महाराज के पास बैठे रहे। वह बुलाने से न आया। फिर एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा उसे बुलाने गया, परन्तु वह टस से मस न हुआ। अन्त को वह नम्बरदार स्वयं गया जिसके मन्दिर का वह पुजारी था। उससे उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं शास्त्रार्थ न करूँगा। नम्बरदार ने यह भी कहा कि मन्दिर से निकाल दूँगा। उसने मन्दिर से निकलना स्वीकार किया, परन्तु शास्त्रार्थ करना स्वीकार न किया। अन्त को कई घंटे प्रतीक्षा करने के पश्चात् स्वामीजी आगे को चले गये।

बलराम

चकेरी

हनोट

पुजारी न आया

दशम अध्याय

आश्विन १६२७—चैत्र १६२६

श्री महाराज विचरते हुये अनूपशहर पधारे। यह संवत् १९२७ की घटना है। पहले दो दिन तो वह म० गौरीशङ्कर कायस्थ की बाँस की टाल पर रहे फिर लाला बाबू की कोठी में चलेगये। लाला बाबू बङ्गाल के एक बड़े रईस थे जिन्होंने वृन्दावन में एक विशाल-मन्दिर निर्माण कराया था और इसके व्यय के लिये कई ग्राम जो तहसील अनूपशहर जि० बुलन्दशहर में थे दान कर दिये थे। उन्हीं के प्रबन्धादिक के लिये अनूपशहर में उनकी एक कोठी बनी हुई थी।

अनूपशहर

उस समय अनूपशहर में रामलीला बड़ी धूम धाम से हो रही थी। उसका कारण यह था कि वहाँ उस समय एक हिन्दू नायब तहसीलदार कल्याण-सिंह नामक था। उसने रामलीला के करने का बड़ा उत्साह दिखाया था। श्री महाराज ने रामलीला का खण्डन करना आरम्भ किया जिसके कारण लोगों की रामलीला में अरुचि होगई और फल यह हुआ कि आगे के लिये रामलीला बिल्कुल बन्द होगई। महाराज कहते थे कि अपने पूर्व-पुरुषों का स्वांग बनाना और उसमें पुरुषों को स्त्री का वेष धारण करना अनुचित है। कल्याणसिंह इसी कारण महाराज के विरुद्ध होगया और उसने यहाँ तक नीचता की कि लाला बाबू की जमींदारी के प्रबन्धकर्त्ता से कहा 'कि आप दयानन्द को कोठी से निकाल दें'। परन्तु या तो इस कारण से कि उसकी महाराज से यह कहने की हिम्मत ही न पड़ी कि आप कोठी से चले जाइये या अपनी भलमनसाहत से उसने स्वामीजी से कुछ न कहा।

रामलीला का खण्डन

कल्याणसिंह चाहता था कि महाराज को किसी प्रकार नीचा दिखाना चाहिये। अतः वह रामघाट से कृष्णानन्द वाममार्गी को उनसे शास्त्रार्थ करने को लिवाकर लाया। यही कृष्णानन्द एक बार रामघाट में उनसे शास्त्रार्थ करके मुँह की खा चुका था। वह आने को तो अनूपशहर

कृष्णानन्द सामने न आया

आगया, परन्तु महाराज के सन्मुख न आया, दूर से ही अराडबराड बातें बनाता रहा। वह कहता था कि स्वामीजी लक्षण का लक्षण बतायें। स्वामीजी कहते थे कि लक्षण का लक्षण नहीं होता।

तहसीलदार को उत्तेजना

उन दिनों जानसठ जिला मुजफ्फरनगर के एक मुसलमान जिन का नाम सैयद मुहम्मद था अनूपशहर में तहसीलदार थे। कल्याणसिंह ने उन्हें स्वामीजी के विरुद्ध बहुत भड़काया और उनके विरुद्ध बहुत खरी खोटी जड़ीं। यह कह कर कि स्वामीजी झगड़ा कराना चाहते हैं उन्हें इस बात पर उद्यत किया कि स्वामीजी को अनूपशहर से निकलवा दें। तहसीलदार स्वामीजी के पास गये और जाकर कहा कि इस कोलाहल का क्या कारण है? स्वामीजी ने उन्हें सब बातें स्पष्ट रूप से समझा दीं। फिर वह कृष्णानन्द के पास गये और उन से भी यही प्रश्न किया। कृष्णानन्द ने ऐसे शब्दों में उत्तर दिया कि तहसीलदार उनका आशय न समझ सके। तहसीलदार को विश्वास हो गया कि स्वामीजी सभ्य, शान्तिप्रिय विद्वान हैं और कृष्णानन्द उद्दण्ड, कलहप्रिय और विद्याशून्य मनुष्य है।

कृष्णानन्द यह कहता था कि स्वामीजी मेरे स्थल पर आकर शास्त्रार्थ करें और महाराज उस से अपने स्थल पर शास्त्रार्थ करना चाहते थे। यह विवाद कई दिन तक चलता रहा। अन्त को यह निश्चय हुआ कि दोनों के स्थानों के बीच में एक स्थान नियत किया जाय और दोनों वहाँ जा कर शास्त्रार्थ करें। तदनुसार एक स्थान और शास्त्रार्थ का दिवस भी निश्चत कर दिया गया। उस दिन कृष्णानन्द के पास ५००-६०० मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी हो गई जिस में अधिकतर अशिक्षित, झगड़ालू और उजड्ड मनुष्य थे। इधर कुछ लोग स्वामीजी के स्थल पर भी एकत्रित हो गये, परन्तु उन में अधिक संख्या सभ्य और सुशिक्षित मनुष्यों की थी।

तहसीलदार इसी समय स्वामीजी और कृष्णानन्द के पास गया था और दोनों से बातचीत करने और इस दृश्य को देखने से ही उसकी वह सम्मति हुई थी जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है।
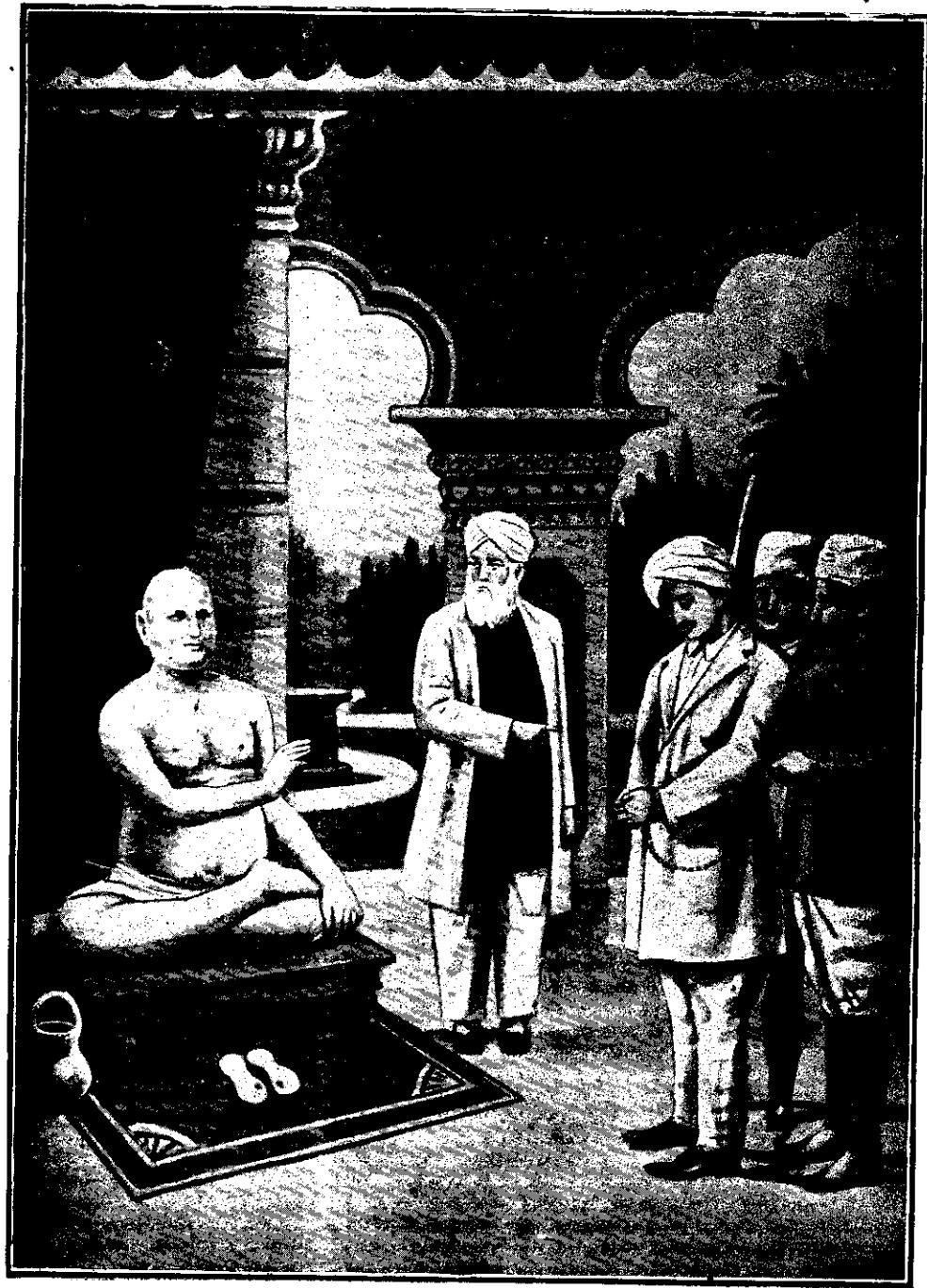
अन्त में शास्त्रार्थ न हुआ और तहसीलदार ने कृष्णानन्द को अनूपशहर से चले जाने को कहा और वह वहाँ से चले गये और यह विवाद शान्त हो गया।

जीवित पितरों का श्राद्ध

इन दिनों स्वामीजी जीवित पितरों के श्राद्ध का समर्थन करते थे। श्राद्ध के विषय में एक पण्डित से स्वामीजी की बात चीत भी हुई थी, इस समय स्वामीजी तीर्थों को नहीं मानते थे, जीव ब्रह्म को पृथक् मानते थे, तर्कसंग्रह को नर्क-संग्रह कहते थे। गोरक्षा के लिए भी उनका चित्त बहुत आन्दोलित था और कहा करते थे कि विलायत जाकर महारानी विक्टोरिया और राजपरिषद् के सदस्यों को समझा कर गोवध के बन्द कराने का यत्न करेंगे। वेदों के आधुनिक भाष्यों को अशुद्ध बताते थे और महीधर के भाष्य का विशेष रूप से खण्डन करते थे। अंग्रेजों की वर्त्तमान न्याय-वितरण-प्रणाली (Administration of justice) पर बहुत दोषारोपण करते थे और कहते थे कि हर ग्राम में एक पंचायत होनी चाहिए और कई २ ग्रामों के ऊपर एक न्यायसभा

अन्य उपदेश

पान में विष देने वाले को महर्षि ने यह कहकर छुड़वाया कि मैं संसार में किसी को कैद कराने नहीं किन्तु मुक्त कराने आया हूँ।

(पृष्ठ २०१)

होनी चाहिए और इसी सभा के द्वारा सब मुक़द्दमों का निर्णय होनाचाहिए, तभी लोग मुक़द्दमेबाजी के जाल से छुटकारा पा सकते हैं।

अनूपशहर में भी विपक्षी लोगों ने यह प्रसिद्ध कर रक्खा था कि दयानन्द अंग्रेजों के दूत हैं और हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए नियत किया गया है।

घटनावश ऐसा हुआ कि उन्हीं दिनों अनूपशहर में साहब कलक्टर के आने का समाचार ज्ञात हुआ। लाला बाबू की कोठी के कर्मचारियों ने महाराज से निवेदन किया कि साहब कलक्टर आनेवाले हैं और वह इसी कोठी में आकर ठहरेंगे अतः आप कोठी खाली करदें। महाराज ने उत्तर दिया कि यों तो कोठी आप की है, आप कहें तो हम अन्यत्र चले जावें, परन्तु यदि आप को यह भय हो कि कलक्टर साहब हमें कोठी से निकाल देंगे तो आप इसकी चिन्ता न करें, हम स्वयं देख लेंगे। यह उत्तर पाकर कर्मचारीगण निरुत्तर होगये। कलक्टर साहब आये और उसी कोठी में ठहरे, परन्तु उन्होंने महाराज से एक शब्द भी नहीं कहा कि आप कोठी खाली करदें। इसके विपरीत वह महाराज से मिले और उनसे बातचीत की और स्वामीजी से बहुत प्रसन्न हुए।

कलक्टर साहब हमें कोठी से नहीं निकालेंगे

किसी ने कलक्टर साहब से यह शिकायत करदी कि कल्याणसिंह नायब-तहसीलदार ने रामलीला से लिये लोगों को ज़बरदस्ती चन्दा लिया है। साहब कलक्टर ने इस विषय में अनुसन्धान कराया तो यह बात सत्य निकली और उन्होंने कल्याणसिंह को तीन मास के लिये मुअत्तल कर दिया।

सैयद मुमम्मद स्वामीजी का भक्त होगया था और उनकी बहुत सेवा-शुश्रूषा करने लगा था। एक दिन उसने स्वामीजी से कहा 'महाराज हमारे धर्म में तो मूर्त्ति-पूजा (बुत्-परस्ती) नहीं है'। स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद किया और कहा कि ताजिये बनाना भी एक प्रकार की मूर्त्ति-पूजा है जिसे सुनकर उसने स्वीकार किया और कहा कि ठीक है, परन्तु इसमें हमारी कुछ नहीं चलती।

मुसलमान तहसीलदार भक्त होगया

एक ब्राह्मण ने स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा के खण्डन से रुष्ट होकर उन्हें पान में विष देदिया था। उन्होंने न्योली कर्म्म करके उसे अपने शरीर से निकाल दिया और स्वस्थ होगये। सैयद मुहम्मद को यह वृत्त ज्ञात हुआ तो उसने उस ब्राह्मण पर कोई अभियोग लगाकर क़ैद कर दिया। वह समझता था कि स्वामीजी उसके इस कार्य्य से प्रसन्न होंगे, परन्तु जब वह उनके सामने आया तो उन्होंने उससे बोलना बन्द कर दिया। उसने इस अप्रसन्नता का कारण पूछा तो कहा—'मैं दुनिया को क़ैद कराने नहीं बल्कि उसे क़ैद से छुड़ाने आया हूँ। वह यदि अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें।' फिर तहसीलदार ने उस ब्राह्मण का अपील कराकर उसे छुड़वा दिया।

पान में विष

मैं क़ैद कराने नहीं बल्कि छुड़ाने आया हूँ

दयानन्द! दयाप्राण दयानन्द! तू वास्तव में दया का अवतार था। साधारण

मनुष्य किसी से थोड़ी सी भी क्षति उठाकर, तनिक से अपकार के कारण अपने अनिष्टकर्त्ता की जान के लागू बन जाते हैं, उनमें प्रतिहिंसा के प्रबल भाव जागृत हो जाते हैं; परन्तु एक तू है कि अपने प्राणघातक को भी हानि पहुँचाना नहीं चाहता और जब कभी कोई उसके दुष्कर्म के कारण उसे हानि पहुँचाता है तो तुझे उसकी दशा पर तरस आता है और एक क्षण भी तू उसे उस दशा में नहीं देख सकता। इस कलहपूर्ण, विद्वेषपूर्ण, हिंसापूर्ण, निर्दयतापूर्ण संसार में यह स्वर्गीय दृश्य सिवाय तेरे और कौन मनुष्यों के सामने ला सकता था। तेरे इन अलौकिक वृत्तों को देखकर हृदय गद्-गद् होजाता है और तेरे चरणों में श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि चढ़ाने पर मनुष्य विवश होजाता है। पाठक! क्या आपने इस अनुपम अनुकम्पा का दूसरा उदाहरण भी अपने जीवन में कहीं देखा है?

दयानन्द के उपदेश से अनूपशहर के कितने ही विद्वान् और सुपठित व्यक्तियों ने मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी थी और शालिग्राम, माखनचोर आदि की मूर्त्तियां गङ्गा में फेंकदी थीं, कंठियां तोड़ दी थीं और एक ईश्वर की पूजा करनी स्वीकार करली थी। पौराणिकों ने उन्हें हर प्रकार से तङ्ग करना आरम्भ किया और बिरादरी से निकालने की भी धमकी दी।

अनूपशहर के प्रसिद्ध वैद्य पं० अम्बादत्त परबती उस समय जब कि महाराज पहले अनूपशहर पधारे थे उनके अनुयायी बन गये थे। परन्तु पीछे स्वार्थवश वह फिर मूर्त्ति-पूजा करने लगे थे। जबकि महाराज दुबारा अनूपशहर पधारे तो उन्होंने पं० अम्बादत्त को बुलाया, परन्तु वह न आये और कहा कि हम गृहस्थी हैं, हम साधुओं के पास नहीं जाते।

स्वामीजी व्याकरण पर विशेष ध्यान रखते थे। पं० भगवान्वल्लभ वैद्य को जो स्वामीजी के अनुयायी होगये थे वह भगवान्वल्लभ न कहकर भगवत्वल्लभ कहा करते थे।

अपूर्व धारणा-शक्ति

स्वामीजी की धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी। उन्होंने एक वार पं० भगवान्वल्लभ से सुश्रुतसंहिता मँगवाकर देखी और एक दो दिन में ही उसपर इतना वश प्राप्त करलिया कि प्रसङ्ग उठने पर वाक्य के वाक्य उद्धृत करने लगे।

एक दिन कुछ लोग सूर्य को अर्घ दे रहे थे। महाराज ने उनसे कहा कि जल में जल डालने से क्या लाभ। यदि किसी वृक्ष में डालते तो कुछ लाभ भी होता।

इसी वार राजा जयकृष्णदास, सी. एस. आई. डिपुटी कलक्टर महाराज से भेंट करने आये थे।

विपक्षी की विचार-शक्ति को हरलेते थे

बाली के विषय में यह गाथा कही जाती है कि जब कोई युद्धार्थी उसके सामने जाता था तो वह दर्शनमात्र से ही उसका बल हरण कर लेता था। ऐसे ही जब कोई पण्डित शास्त्रार्थ के लिये स्वामीजी के पास आता था तो वह उसकी विचारशक्ति को हरलेते थे और विपक्षी दो-चार बात करने के पश्चात् निरुत्तर होजाता था।

गुप्त अभिप्राय का ज्ञान

किसी मनुष्य को अपने पास आता देखकर ही स्वामीजी जान लेते थे कि वह किस अभिप्राय से उनके पास आता है। मनुष्यों के गुप्त कर्म्मों को जानने की भी उनमें शक्ति थी। एक वार कर्णवास के एक ठाकुर ने स्वामीजी के उपदेश से पुत्रेष्टि कराई। यज्ञ में यज्ञ-पिण्ड एक ब्राह्मण को, जो यज्ञ में

सम्मिलित होने के लिये अनूपशहर से आया था, खाने को दिया
तीव्र दृष्टि
गया। उसने न खाया प्रत्युत उसे फेंक दिया। उपस्थित मनुष्यों में से किसी ने भी उसे पिण्ड फेंकते हुए न देखा, परन्तु स्वामीजी ने न जाने यह बात कैसे जानली। इस पर स्वामीजी ने उस ब्राह्मण का तिरस्कार किया और उसने यह बात स्वीकार की। फिर उसे दूसरा पिण्ड खाने को दिया। वह उसने खालिया और यज्ञ सिद्ध होगया और समय पर उस ठाकुर के पुत्र उत्पन्न हुआ।

नाई की रोटी

एक दिन एक नाई अपने गृह से महाराज के लिये भोजन बनवाकर लाया और उनसे प्रार्थना की कि आज तो मेरी भिक्षा ही स्वीकार कीजिए। महाराज ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। उपस्थित लोनों ने कहा भी कि महाराज यह तो नाई की रोटी हैं परन्तु उन्होंने ईषत्स्मित-भङ्गी धारण करके उत्तर दिया कि यह नाई की नहीं गेहूँ की रोटी हैं और बड़े प्रेम से उन्हें पाया।

अपूर्व साहस

स्वामीजी को शारीरिक शक्ति जैसी असाधारण थी उनका साहस और मनः शक्ति भी वैसी ही असाधारण थी। दुर्गम पर्वतों में, निर्जन वन में, गङ्गा तट पर, नगर में, प्रान्तर में, सब ही जगह सदा निर्भय भाव से रहते थे। मूर्त्ति-पूजा आदि की तीव्र आलोचना करने के कारण अनेक लोग उनके विरुद्ध होजाते थे और उन पर आक्रमण करके उनके प्राण हरण तक पर उद्यत होजाते थे। परन्तु इससे डरना तो क्या उनकी ओर दृष्टिपात तक न करते थे।

रामघाट

कार्त्तिक पूर्णिमा संवत् १९२७ को महाराज रामघाट में विराजमान थे। सहस्रों मनुष्य उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिये आते थे लोग बड़े २ बल लगाकर क्लिष्ट से क्लिष्ट प्रश्न उनसे पूछते थे, परन्तु वह अनायास ही उन सबका सन्तोषप्रद उत्तर दे देते थे। रामघाट के स्वामी कृष्णानन्द तो पहले ही परास्त हो चुके थे। कितने ही पण्डित जो उस प्रान्त में महाराज के आगमन से पहले विद्वत्-शिरोमणि गिने जाते थे। उनके उपदेशों को सुनकर और तर्कयुद्ध में परास्त होकर मूर्त्ति पूजा आदि पाखण्ड छोड़ कर उनके अनुगत हो चुके थे। महाराज का कार्य-क्षेत्र दिन प्रतिदिन विस्तृत हो रहा था। दयानन्द-दिवाकर की ज्योति से अज्ञान का अन्धकार विलीन हो रहा था। पाखण्डी, घमण्डी, उल्लूकवत् जिधर तिधर छिपने का यत्न कर रहे थे।

चासी

संवत् १९२७ के मध्यभाग में स्वामीजी पुनः चासी के जङ्गल में आये, ज्योंही यह समाचार उनके भक्तों ने सुना त्योंही वह उनके दर्शनों के लिये आने लगे। उस समय भी महाराज हुलासदानी अपने पास रखते थे और बीच २ में नस्य लिया करते थे। प्रातःकाल ३-४ बजे उठकर सूर्य्योदयपर्य्यन्त प्राणायाम किया करते थे और उसके पश्चात् स्नान किया करते थे। सन्ध्या को भी सान्ध्य प्राणायाम करते थे।

प्रामाण्याप्रामाण्य ग्रंथ

कहते हैं कि ग्रन्थों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य विषय में उनका किन्हीं अंशों में मत-परिवर्त्तन होगया था। भगवद्गीता को त्रिदोष का सन्निपात बतलाते थे और कहते थे कि उसमें कहीं तो जीव-ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित

किया गया है और कहीं उनका पृथकत्व देखने में आता है और कहीं प्रकृति और पुरुष का पृथकत्व माना गया है। प्रचलित मनुस्मृति वह मनुसंहिता नहीं मानते थे और उसे भृगु-संहिता कहते थे। पहले वह वेद और ब्राह्मण का पृथकत्व स्वीकार नहीं करते थे, परन्तु अब करने लगे थे और ब्राह्मण ग्रन्थों को वहीं तक प्रामाणिक मानते थे जहां तक वह वेदानुकूल हों। ❀

श्रीगोपाल की धूर्त्तता

इस समय एक धूर्त्त पण्डित श्रीगोपाल महाराज के पीछे पीछे रहकर उनकी निन्दा किया करता और इसे उसने अपनी जीविका का साधन बना रक्खा था। वह चासी में भी आया और जब महाराज चासी से उठकर दूसरे स्थान में चले गये तो वह उनके स्थान पर आकर ठहर गया और इस प्रकार की कि 'दयानन्द ईसाइयों और अंग्रेज़ों का गुप्तचर है' ऊटपटांग बातें कहकर लोगों को बहकाता रहा।

छलेसर

ठाकुर मुकुन्दसिंह एक सम्पन्न, समृद्ध ज़मीदार थे। छलेसर के अतिरिक्त उनकी ज़मीदारी में कई अन्य ग्राम भी थे। उन्हें स्वामीजी के प्रथम बार दर्शन कर्णवास में संवत् १९२४ में हुए थे। उन्होंने स्वामीजी से दो घण्टे वार्त्तालाप किया था, परन्तु वह सुबोध थे, अतः इस अल्प समय में ही उन्होंने महाराज के उपदेशों को हृदयङ्गम करलिया था और मूर्त्ति-पूजा से उन्हें अत्यन्त घृणा होगई थी। जब वह कर्णवास से छलेसर लौटे

ज़मीदारी के मंदिरों से मूर्तियों का बहिष्कार

तो उन्होंने अपनी ज़मींदारी के सब मन्दिरों में से जिनकी संख्या २०-३० के बीच थी मूर्त्तियाँ उठवा कर गङ्गा में फिंकवादीं। इसपर बड़ा कोलाहल मचा; न केवल ब्राह्मण ही उनके विरुद्ध होगये, प्रत्युत उनके सजातीय क्षत्रिय भी उनसे बिगड़ उठे, यहाँ तक कि उन्हें बिरादरी से बहिष्कृत करने की धमकियाँ दीजाने लगीं, परन्तु उस वीर पुरुष ने कुछ परवाह न की। वह वैदिक धर्म के मार्ग से एक क्षण के लिए भी विचलित न हुए और मर्य्यादा पालन में तत्पर रहे। उनके दृढ़ सङ्कल्प रहने का यह फल हुआ कि अन्त को सब विरोध शान्त होगया और साठ गांव के सगोत्री क्षत्रिय वैदिक मतावलम्बी होगये।

ठाकुर मुकुन्दसिंह की प्रार्थना पर महाराज रामघाट से छलेसर पधारे, स्वामीजी ने ठाकुर मुकुन्दसिंह को रामघाट में ही छलेसर पधारने का वचन देदिया था। तदनुसार वह मार्गशीर्ष कृष्णा ४ वा ५ संवत् १९२७, १२ वा १३ नवम्बर सन् १८७० को छलेसर पहुँच गये।

स्वागत-समारोह

ठाकुर मुकुन्दसिंह और दोसौ-ढ़ाईसौ अन्य लोग उनके स्वागत के लिये एक पालकी लेकर काली नदी पर छलेसर से २ मील पर पहुँच गये थे। स्वामीजी जब वहां पहुँचे तो सब लोगों ने बड़े सम्मान और प्रेम से उनका स्वागत किया। स्वामीजी ने वहां पहुँच कर पहले स्नान किया और

❀ इससे पहले यह किसी ने नहीं कहा कि आरम्भ में स्वामीजी वेद ब्राह्मण का पृथकत्व स्वीकार नहीं करते थे। काशी-शास्त्रार्थ में और उससे पहले कानपुर में उन्होंने केवल २१ ग्रन्थ प्रामाणिक माने थे और उनमें चार वेदों का नाम तो है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों का वा गीता का नाम नहीं है। इससे यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। —संग्रहकर्त्ता.

शरीर पर रज लगाई और चलने को तैयार हुए। लोगों ने बहुतेरा कहा कि महाराज पालकी पर सवार हूजिये, परन्तु उन्होंने स्वीकार न किया और सब के साथ पैदल ही चले।

ठाकुर मुकुन्दसिंह ने उस बाग़ में ही जिसमें उन्होंने पाठशाला स्थापित करने का निश्चय किया था उनके निवास के लिये एक गृह सुसज्जित कर रक्खा था और एक चौकी पर क़ालीन बिछाकर उनके बैठने के लिये प्रबन्ध करदिया था। वहाँ स्वमीजी १२ बजे दिन के पहुँचे। पहले तो उन्होंने चौकी पर यह कह कर कि हमारे रज लगे हुए शरीर से क़ालीन मैला हो जायगा बैठने से निषेध किया, परन्तु फिर लोगों के आग्रह करने पर उस पर विराज गये।

स्वामीजी के छलेसर पधारने के पहले से ही पौराणिक दल उत्तेजित हो उठा था और निश्चय कर चुका था कि जब स्वामीजी वहाँ आवें तो उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त करके पौराणिकमत की रक्षा की जावे। तदनुसार महाराज के आगमन के दो दिन पश्चात् ही आस पास के पण्डित छलेसर आकर उनसे शास्त्रार्थ करने लगे। उन्हें परास्त और पराभूत तो क्या करते स्वयं ही पराजित हो होकर उनके कथन की सत्यता स्वीकार करने पर बाधित हुए।

पण्डितों के अतिरिक्त कई मौलवी और क़ाज़ी भी आये और इस्लाम का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने में प्रवृत्त हुए, परन्तु उनका भी वही हाल हुआ जो पण्डितों का हुआ था, निरुत्तर हो होकर 'यथागतास्तथा गताः'। मुसलमानों से यह आशा करनी तो व्यर्थ थी कि वह तर्कयुद्ध में परास्त होकर वैदिक-धर्म्म को स्वीकार करेंगे। उनका कट्टरपन और

न्यायप्रिय मुसलमान

धर्म्मान्धता उन्हें इसकी आज्ञा दे ही नहीं सकती थी, परन्तु उनमें भी एक व्यक्ति ऐसे निकले जिन्होंने स्वामीजी के सिद्धान्तों की युक्तियुक्तता स्वीकार की। इस न्यायप्रिय व्यक्ति का नाम क़ाज़ी इमदादअली था। यह एक सुपठित और सत्यानुरागी व्यक्ति थे और अतरौली ज़िला अलीगढ़ के रहनेवाले थे।

कोई दिन ऐसा न होता था जो ४००-५०० मनुष्य स्वामीजी के पास एकत्रित न रहते हों।

पाठशाला-स्थापन

महाराज के पधारने के दो-एक दिन पश्चात पाठशाला स्थापित करने का उपक्रम हुआ। प्रथम हवन हुआ तत्पश्चात् ब्रह्मभोज हुआ जिसमें ब्राह्मणों को उचित दक्षिणा दी गई। इससे ब्राह्मण लोग भी बहुत प्रसन्न हुए।

पाठशाला में पं० कुमारसेन को अध्यापक नियत किया गया जो स्वामीजी की फ़रुखाबाद की पाठशाला में विद्यार्थी रह चुके थे और जिन से वह परिचित थे। पाठशाला में तीन दिन के भीतर ही २० विद्यार्थी होगये।

पाठशाला में यह नियम रक्खा गया था कि सिवाय उन विद्यार्थियों के जो दान का रुपया न लेना चाहें भोजन, वस्त्र और पुस्तकें ठाकुर मुकुन्दसिंहजी की ओर से दिये जावेंगे और अध्यापक का वेतन भी वही देंगे। पाठशाला में कोई अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ाया जावेगा। विद्यार्थियों को नियम पूर्वक प्रातः सायं सन्ध्या अग्निहोत्र करना होगा।

ठाकुर मुकुन्दसिंह और मुन्नासिंह की श्रीचरणों में प्रगाढ़ भक्ति थी। वह अब तक

भक्तजन की श्रद्धा

श्री महाराज के दर्शन न कर लेते भोजन न करते थे। जब वह महाराज की सेवा में जाते तो दूर ही जूते उतार कर और बद्धाञ्जलि होकर जाते और जब वापस होते तो कभी उनकी ओर पीठ देकर वापस न होते।

पिता पुत्र का मनो-मालिन्य

ठाकुर मुकुन्दसिंह और उनके पुत्र चन्दनसिंह में कुछ मनोमालिन्य होगया था। महाराज ने दोनों को समझा कर उसे दूर कर दिया था।

मक्की की रोटी

महाराज के लिये भोजन उनके क्षत्रिय शिष्यों के यहाँ से आया करता था। एक दिन महाराज चबूतरे पर विराजमान थे। अभी तक उनके लिये भोजन न आया था। एक कृषक मक्की की मोटी २ रोटियाँ लिये हुए उधर से जा रहा था। जब वह चबूतरे के पास पहुँचा तो उसके जी में उन्हें महाराज की सेवा में समर्पित करने की इच्छा हुई। उसने नम्रतापूर्वक प्रणाम करके निवेदन किया कि महाराज आज तो मेरी रूखी सूखी मधूकड़ी पाने की कृपा करें। महाराज ने कृपा पूर्वक उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उसके भोजन को बड़ी प्रसन्नता के साथ पाया। कृषक का हृदय गद्-गद् होगया और उसकी चक्षु प्रेमजल से पूर्ण होगईं।

वर्षा में ही प्रस्थान

जिस दिन महाराज ने छलेसर से चलने का सङ्कल्प किया कुछ बूँदा-बाँदी होरही थी। शिष्य-वर्ग ने बहुतेरा अनुनय किया कि आज न जाइये, परन्तु वह न माने और उसी बूँदा-बाँदी में चल दिये। शिष्य-वर्ग बहुत दूर तक उनके साथ आये। उनमें से ठाकुर मुकुन्दसिंह और मुन्नासिंह को तो महाराज का वियोग इतना असह्य हुआ कि आँखों में आँसू भर लाये। महाराज ने उन्हें धैर्य देकर शान्त किया कि अभी तो छलेसर कई बार आना होगा। संन्यासी तो रमते राम हैं उनसे मोह-ममता करना दुःख-जनक ही होता है। यदि आप लोग मेरे उपदेशों पर चलेंगे तो मुझे अपने समीप ही समझो।

भक्तों की विरहवेदना

छलेसर से चलकर महाराज गङ्गा-तटस्थ स्थानों में भ्रमण करते हुए ज्येष्ठ संवत १९२८ में रामघाट पहुँचे और वहां २१ दिन ठहर कर फिर भ्रमणार्थ चल खड़े हुए। इस यात्रा में वह अधिकतर अपना समय शास्त्रचिन्तन में लगाते थे। बीच २ में अपनी स्थापित पाठशालाओं का निरीक्षण भी करते रहते थे।

फ़र्रुख़ाबाद

भाद्रपद मास सं० १९२८ में स्वामीजी ने अपने फ़र्रुख़ाबाद के अनुयायियों को पुनः दर्शन दिये। पूर्व की भाँति महाराज जनता को अपने उपदेशों से कृतकृत्य करते रहे, वैदिक पाठशाला का निरीक्षण और विद्यार्थियों का परीक्षण भी उन्होंने किया। उनकी स्थिति के समय ही एक दिन ऐसा हुआ कि एक विद्यार्थी की धोती और लौटा चोरी चले गये। उन दिनों लाला पन्नीलाल के बाग़ में जहाँ पाठशाला स्थित थी कुछ गृह-निर्माण का कार्य होरहा था। सुन्दर नाम का एक चौबे मज़दूरों का मेट था। विद्यार्थियों का सन्देह उसकी माता पर हुआ, क्योंकि उन्होंने उसे उस विद्यार्थी

पाठशाला का स्थान-परिवर्तन
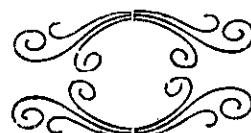
की कोठरी में से निकलते हुए देखा था जहाँ उसका कोई कार्य्य न था। उस विद्यार्थी ने उसकी माता से पूछा कि तुम्हें मेरी धोती लोटे का कुछ पता है। उसने अपने पुत्र उक्त सुन्दर चौबे से जाकर कह दिया कि अमुक विद्यार्थी कहता है कि मेरी धोती लोटा तू ने ही चुराया है। इस पर सुन्दर ने उस विद्यार्थी को बहुत मारा। विद्यार्थी ने अध्यापक से शिकायत की। अध्यापक ने कहा कि मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकता, स्वामीजी से कहो। स्वामीजी ने कहा कि विद्यार्थी क्या मेरे पुत्र, पौत्र वा दौहित्र हैं, पाठशाला अध्यक्ष से कहो। लाला पन्नीलाल के सुन्दर चौबे मुँह लगा हुआ था। उन्होंने विद्यार्थी की शिकायत पर कुछ ध्यान न दिया। स्वामीजी को भले प्रकार निश्चय होगया कि अपराध सुन्दर का ही है।

जब लाला पन्नीलाल स्वामीजी के पास गये तो स्वामीजी के विद्यार्थी तीन दिन तक तुम्हारा अन्न ग्रहण न करेंगे और उसके पश्चात् यदि तुम न्याय करदोगे तो ग्रहण करेंगे। लाला पन्नीलाल को बहुत क्रोध आया। उन्होंने कहा कि चौबे ने उस विद्यार्थी को मार ही क्यों न डाला, अच्छा होता यदि मार डालता और उन्होंने चौबे को कोई दण्ड न दिया। तब स्वामीजी पाठशाला को पन्नीलाल के बाग़ से उठाकर विश्रांत पर ले गये और उसे सेठ निर्भयराम के प्रबन्ध में दे दिया।

मार्च सन् १८७२ अर्थात् फाल्गुन संवत् १९२८ में महाराज काशी पधारे और पूर्ववत् उपदेश कार्य में प्रवृत्त होगये। शास्त्रार्थ के लिये आहूत होनेपर भी कोई पण्डित सम्मुख न आया।

एक दिन महाराज सत्संगियों को उपदेश कर रहे थे कि उपदेश करते २ एक बार ही रुक गये और कहा कि थोड़ी देर में एक कौतूहल जनक घटना होने वाली है। कुछ देर के पश्चात् एक ब्राह्मण महाराज के लिए भोजन और पान लाया और उनसे भोजन पाने की प्रार्थना की वह तो उन्होंने अस्वीकार करदी परन्तु उसके आग्रह पर पान लेलिया। पान लेकर महाराज ने उसे खोल कर देखा तो वह ब्राह्मण पत्ता तोड़ भाग गया। भोजन और पान दोनों ही विषाक्त थे।

चैत्र शुक्ला ९ सं० १९२९ अर्थात् तारीख़ १६ अप्रैल सन् १९७२ को महाराज ने कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया।

एकादश अध्याय

संवत् १९२९—१९३०

बंगाल जाते हुए स्वामीजी मुग़लसराय ठहरे। कुछ दिन तक तो वह कक्निकल रोड के निकट बाबूगञ्ज के पास श्मशान घाट पर रहे। वहां शव-दाह की दुर्गन्ध से उन्हें कष्ट होता था, अतएव वह बाबू वृन्दावन-मण्डल के बाग़ में चले गये और बाग़ की कोठी के चौबारे में रहे। दर्शकों से वह कोठी के हॉल में बात-चीत करते थे। हॉल में कुछ अश्लील भावोद्दीपक चित्र लगे हुए थे, उन्हें देख कर वह कुछ अप्रसन्न हुए। यह देख कर वृन्दावन बाबू ने उन्हें उतरवाने का सङ्कल्प किया, परन्तु स्वामीजी ने उस पर आग्रह न किया।

मुग़लसराय

कहते हैं कि स्वामीजी मुग़लसराय, काशी में वैदिक पाठशाला स्थापन करने के लिये धन संग्रह करने के अभिप्राय से आये थे। वहाँ इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं हुई। डुमराऊँ जानेका भी मुख्य अभिप्राय महाराज से साहाय्य प्राप्त करना कहा जाता है।

पादरी लालबिहारी दे से साक्षात्

एक दिन कलकत्ता के प्रसिद्ध पादरी लालबिहारी दे स्वामीजी से मिलने आये और स्वामीजी से धर्म्म विषय पर बात-चीत की।

दे—देखिये ख्रीस्त धर्म्म कैसा उत्तम है कि प्रभु ईसा सब लोगों के पाप अपनी पृष्ठ पर लेकर चले गये।

दया०—पाप का प्रायश्चित्त उसका फल भुगते विना नहीं हो सकता। ईसा महापुरुष अवश्य थे, परन्तु यह बात मिथ्या है कि वह सब के पाप अपने ऊपर लेकर चले गये। यह बात तो पापों की पोषक और आश्रयदाता है। लोग यह जान कर कि ईसा पर विश्वास लाने से ही उन के सब पाप दूर हो जायँगे पाप करने में अधिक प्रवृत्त होंगे।

पादरी दे इस पर निरुत्तर होगये। फिर उन्हों ने पूछा—

दे—आप हमारे हाथ का भोजन खा सकते हैं या नहीं?

दया०—आप क्या, यदि आप से कोई नीच मनुष्य भी हो और उस के हाथ का भोजन करने की रुचि हो तो उसके हाथ का भी भोजन खा सकता हूँ।

भूल पर पश्चात्ताप

इस के पश्चात् स्वामीजी ने अनुभव किया कि कदाचित् उनके इस उत्तर से दे महोदय समझे हों कि उनका अपमान हुआ है, उन्हों ने पादरी दे को विषयान्तर में लगा दिया। थोड़ी देर और बात-चीत करके दे महोदय विदा माँग कर चले गये।

एक दिन वृन्दावन बाबू के अनुरोध और आग्रह पर स्वामीजी उनके घर भी गये थे।

स्वामीजी मुग़लसराय केवल दस दिन रहे फिर कलकत्ते की ओर चले गये।

डुमराऊँ

साधु नागाजी

स्वामीजी शास्त्रार्थ के पीछे जब काशी में ठहरे हुए थे तो एक दिन डुमराऊँ के उदासी साधु नागाजी उनसे मिलने गये थे। स्वामीजी का उनसे विशेष परिचय होगया था और उसी समय नागाजी ने उन से वचन ले लिया था कि कलकत्ते जाते हुए डुमराऊँ अवश्य आवें। उसी प्रतिज्ञा की रक्षार्थ स्वामीजी कलकत्ता जाते हुए डुमराऊँ पहुँचे * और नागाजी के मठ पर ही उतरे।

नागाजी नानकपंथी थे और डुमराऊँ के समृद्धिशाली पुरुषों में गिने जाते थे। उन्होंने अपनी सब संपत्ति काशी के उदासी संघ को दे दी थी और स्वयं भी उदासी साधु बन गये थे।

डुमराऊँ पहुँचने के पश्चात् पं० जवाहरदास भी काशी से आकर स्वामीजी से मिल गये।

उन दिनों बाबू जयप्रकाशलाल डुमराऊं के महाराजा महेश्वरबख्शसिंह के नायब दीवान थे। जब उन्हें स्वामीजी के आगमन का समाचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने महाराजा से कहा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जो बड़े भारी विद्वान् हैं, डुमराऊँ आए हुए हैं और नागाजी के मठ पर ठहरे हुए हैं। इस पर महाराजा ने उन्हें आज्ञा दी कि उन्हें राज्य की कोठी में लिवा लाओ। तदनुसार वह आकर स्वामीजी को रेल्वे स्टेशन के पास की राज्य की कोठी में लिवा लेगये और राज्य की ओर से उनके आहारादि का प्रबन्ध कर दिया।

तत्पश्चात् राजकुमार लाल राधाप्रसादसिंह, बाबू जयप्रकाशलाल तथा मुन्शी रण-धीरप्रसाद, महाराजा के प्राइवेट सेक्रेटरी, स्वामीजी से मिलने गये। उस समय स्वामीजी ने इस विचार से कि महाराजकुमार आदि मिलने आये हैं एक धोती पैरों पर डाल ली थी।

लाल साहब ने स्वामीजी से पूछा कि आप कहाँ से आरहे हैं, तो उन्हों ने कहा काशी से। फिर उन्हों ने प्रश्न किया कि क्या आप वैदिक प्रमाण द्वारा मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि नहीं मैं तो मूर्त्ति-पूजा का खण्डन नहीं करता, मैं तो जिस प्रकार वेद में लिखा है उसके अनुकूल कहता हूँ अर्थात् यह कि "वेद में मूर्त्ति-पूजा का विधान नहीं है।" बीच में पण्डितों से शास्त्रार्थ कराने की भी बात आई थी।

---

* देवेन्द्र बाबू के अनुसार स्वामीजी कलकत्ते जाते हुए डुमराऊँ गए थे और वहाँ से आरा चले गये थे, परन्तु पं० लेखराम के अनुसार वह कलकत्ते से लौटते हुए पहले आरा आये और पीछे डुमराऊँ गये। वास्तव में स्वामीजी दो बार डुमराऊँ गये थे।

तत्पश्चात् यह सब लोग चले गये। वहाँ से चलेजाने के पश्चात् चाहे तो बाबू जयप्रकाशलाल ने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये उद्यत किया हो, चाहे विद्याभिमानी दुर्गादत्त पण्डितों ने ही स्वयं शास्त्रार्थ की इच्छा प्रकट की हो, फल यह हुआ कि पण्डित दुर्गादत्त परमहंस जो डुमराऊँ में उच्च कोटि के विद्वान् समझे जाते थे, पं० जयगोविन्द और पं० बंशीधर आचार्य्य स्वामीजी के पास गये। पं० दुर्गादत्त शैव थे और नर्मदेश्वर महादेव (एक कृष्ण वर्ण अण्डाकार प्रस्तर-खण्ड जो नर्मदा में बहुतायत के साथ पाये जाते हैं) की पिण्डी सदैव अपने पास रखा करते थे। जब वह स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को चले तो उस समय भी उसे साथ लेते आये और शास्त्रार्थस्थल में पहुँच कर पिण्डी को अपने सामने एक कुर्सी पर रख लिया और वार्त्तालाप आरम्भ हुआ।

स्वा०—(नर्मदेश्वर की पिण्डी की ओर संकेत करके) यह क्या है?

दुर्गा०—यह नर्मदेश्वर महादेव हैं।

स्वा०—इस प्रकार के महादेव तो नर्मदा-तट पर बहुत सी जगह पड़े हुए हैं।

दुर्गा०—आप द्वैत मानते हैं वा अद्वैत?

स्वा०—हम तो द्वैत मानते हैं।

दु०—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति से विरोध होता है अर्थात् ब्रह्म एक और अद्वितीय है?

स्वा०—इसका यह अर्थ नहीं है जो आप समझे हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे किसी के घर में अन्य कोई न हो तो वह कहता है कि यहां एक मैं ही हूँ और कोई नहीं है, परन्तु इस से गाँववालों, सम्बन्धियों आदि का निषेध नहीं होता। अतः स्वामी शङ्कराचार्य का यह मत कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदशून्य है, मिथ्या है, यहाँ केवल दूसरे ब्रह्म का निषेध है न कि जीव का।

दुर्गा०—हम तो इस सिद्धान्त को नहीं मानते।

स्वा०—आपके न मानने में क्या प्रमाण है।

इसका पंडित दुर्गादत्त ने कोई उत्तर न दिया।

स्वा०—मूर्त्ति-पूजा के लिये किसी श्रुति का प्रमाण नहीं है।

दुर्गा०—है क्यों नहीं; देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् इत्यादि (यजुः अ० ३१ मं० ११)

त्र्यम्बकं यजामहे इत्यादि (यजुः अ० ३ मं० ६०)

यदि परमेश्वर के मुख नहीं था तो चारों वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुई और मूर्त्ति न हो तो मुख कहाँ? और दूसरा मन्त्र तो विशेष रूप से शिवजी की पूजा का है 'जिसके तीन नेत्र हैं, और जाबालोपनिषद् में लिखा है—

धिग्भस्मरहितं भालं धिग्धिग्ग्रामशिवालयम्।

इत्यादि प्रमाणों से मूर्त्ति-पूजा सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि मूर्त्ति-पूजा में श्रुति का प्रमाण नहीं है।

स्वामीजी ने वेद-मन्त्रों के यथार्थ अर्थ करके उन्हें समझाया और जाबालोपनिषद् के विषय में कहा कि वह जाबाल नहीं प्रत्युत् जाल उपनिषद् है, उसमें किसी ने वाग्जाल रचा है, वेद-विरुद्ध होने से उसका प्रमाण नहीं है।

इस पर पण्डितजी ने कुछ उत्तर न दिया। तत्पश्चात् भगवद्गीता के श्लोक 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि पर कुछ बात-चीत हुई।

बात-चीत होते होते पं० दुर्गादत्त ने स्वीकार किया कि वेदों की ऋचाओं में तो मूर्त्ति-पूजा की बात नहीं, परन्तु मैं तो सदा इस महादेव को अपनी आखों से देखता रहा हूँ। कुछ और बात चीत होने के पश्चात् पं० दुर्गादत्त ने कहा कि वेद में प्रतिमा शब्द है और एक वाक्य उद्धृत किया जिस में प्रतिमा शब्द आया था। उसे सुन कर स्वामीजी ने कहा कि जिस अंश का आपने पाठ किया है वह वास्तव में वेद नहीं है। इस पर पं० दुर्गाप्रसाद को आवेश आगया और वह कटु वचन बोलने लगे। तब मुंशी रणधीरप्रसाद ने बीच में पड़ कर कहा कि इस प्रकार के वाद विवाद का कुछ फल नहीं है और वह पंडितों को समझाकर वहाँ से उठा कर लेगये।

गर्व खर्व होगया

हारकर वाग्प्रहार

इस के तीसरे दिन लाल साहब और बा० जयप्रकाशलाल स्वामीजी के पास आये और ५०) रु० और एक थान कपड़े का उनके सामने रख कर कहा कि अब आप यहाँ से जारहे हैं अतः यह उपहार स्वीकार कीजिये। परन्तु स्वामीजी ने यह कह कर, कि मैं किसी से उपहारादि नहीं लेता हूँ, उसे अस्वीकार कर दिया।

उपहार अस्वीकार

पण्डित दुर्गादत्त में अत्यन्त अहंभाव था, उन्हें अपनी विद्या पर अत्यन्त गर्व था, वह अपने बराबर दूसरे को न समझते थे, अपने नाम के पीछे परमहंस, योगिवर्य्य, विप्रराजेन्द्र आदि स्वकल्पित उपाधियां लगाते थे। उन्होंने संवत् १९४१ में स्वामीजी की निर्वाण-पद-प्राप्ति के पश्चात् अपने दिग्विजय की एक पुस्तक छपवाई थी जिसमें इस शास्त्रार्थ का निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख किया था:—

दुर्गादत्त की अनर्गलता

न शशाक यदा प्रोक्तुं जहासाथाब्रवीद्वचः।
धन्यस्त्वं हि महानात्मा सर्वज्ञः शास्त्रपारगः॥

उसकी संस्कृत में टीका इस प्रकार की है:—

अथ सोऽपि यदा वक्तुं न शशाक तदा निरस्तो भूत्वा धन्यस्त्वमिति प्रशंसया दयानन्दः श्रीमद्योगिवर्य्यं विप्रराजेन्द्रं प्रणानामेत्याह, अथ त्वं महानात्मा ब्रह्मैव नाहं त्वदन्यं वक्तारं दृष्टवान् इति।

अर्थात् जब (दयानन्द) उत्तर न दे सका तब दयानन्द हँसा और यह कहा कि हे महात्मन्! आप धन्य हैं, सर्वज्ञ हैं और सब शास्त्रों को आपने पार कर लिया है। इसी आशय की इस श्लोक की टीका है, उसमें इतना और है कि दयानन्द ने श्रीमद्योगिवर्य्य विप्रराजेन्द्र की प्रशंसा की और प्रणाम करके कहा कि आप धन्य हैं, आप ब्रह्म हैं, मैंने आप सा दूसरा वक्ता नहीं देखा। ※

※ पाठक इस अनर्गलता को देख कर हँसेंगे, इसमें झूठ का पहाड़ खड़ा करदिया गया है, आत्मश्लाघा में निर्लज्जता की पराकाष्ठा करदी गई है। दयानन्द दुर्गादत्त को सर्वज्ञ, शास्त्रपारग और

डुमराऊँ से स्वामीजी आरा गये और महाराजा डुमराऊँ के बाग में ठहरे। आरा में उनका आतिथ्य-सत्कार मुन्शी हरवंशलाल वकील और बाबू रजनीकान्त मुखोपाध्याय ने किया था। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी उन के डेरे पर दर्शकों का ताँता लगा रहता था।

आरा

पं० रुद्रदत्त और पं० चन्द्रदत्त पौराणिक से स्वामीजी का मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ हुआ था। पं० रुद्रदत्त ने मूर्ति-पूजा के पक्ष में पुराणों के प्रमाण प्रस्तुत किये। स्वामीजी ने उन्हें यह कहकर अग्रह्य किया कि हम वेद, पाणिनि और मनुस्मृति (प्रक्षिप्त भाग को छोड़ कर) के सिवाय अन्य ग्रन्थों का प्रमाण नहीं मानते।

दो पण्डितों से शास्त्रार्थ

तत्पश्चात् यह प्रसङ्ग उठा कि पुराण किसने बनाये। स्वामीजी ने कहा कि वञ्चक लोगों के रचे हुए हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध में प्रायः सारे ही राजा मर गये थे, राजगृह की स्त्रियाँ उत्पथगामिनी होगईं, ब्राह्मण असहाय हो गये, अनेक प्रकार के वञ्चक लोग उत्पन्न हो गये, उन्हीं ने पुराणादि की रचना कर डाली, उन्हों ने यह भी कहा कि महाभारत का युद्ध भारतवर्ष की अनेक प्रकार की अवनतियों का मूल हुआ है। तन्त्रग्रन्थों के के विषय में स्वामीजी ने अनेक बातें कहीं, जिन्हें सुनकर पं० रुद्रदत्त चिढ़ गये और चटक कर बोले कि ऐसी बातें अश्राव्य हैं इस स्थान से चला जाना ही उचित है। स्वामीजी ने कहा कि आप तो कुछ विचार करते नहीं इसी से किसी परिणाम पर नहीं पहुँचते। वेदान्त का प्रसङ्ग उठने पर स्वामीजी ने प्रमाण-चैतन्य प्रममेय-चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य के विषय में प्रश्न किये जिन के उत्तर यथामति पं० रुद्रदत्त ने दिये।

पुराण किसने बनाये ?

स्वामीजी दीप्त प्रभाकर के समान थे। उनके गम्भीर विचार और अतिमानुषिक प्रतिभा के सामने पं० रुद्रदत्त प्रभृति कितनी देर ठहर सकते थे। वह अपना श्रेय सभा-स्थल से शीघ्रादपि शीघ्र चले जाने में ही समझते थे। वह केवल वहाँ से चले जानेका बहाना ढूँढते थे। अतः जब स्वामीजी ने तन्त्र ग्रन्थों की तीव्र आलोचना की तो उन्हों ने यह प्रकट किया कि उक्त आलोचना असह्य है और सभास्थल से उठ कर चले गये।

पण्डित चिढ़कर भाग गये

ब्रह्म कहे ! कभी विश्वास किया जासकता है ? जब तक स्वामीजी जीवित रहे तब तक न जाने यह दिग्विजय किस कोने में छिपी पड़ी रही। क्योंकि उनके जीवन-काल में ऐसी बेसिर-पैर की बातों के कहने का साहस ही कैसे होता ?

पंडित लेखराम के अनुसार स्वामीजी ८ अगस्त सन् १८७३ अर्थात् श्रावण शुक्ला १५ को डुमराऊँ से मिर्ज़ापुर चले आये, देवेन्द्र बाबू के अनुसार वह आरा चले गये।

वास्तव में बात यह है कि स्वामीजी डुमराऊँ कलकत्ता जाते हुए भी ठहरे थे और आते हुए भी। देवेन्द्र बाबू के अनुसार पण्डित दुर्गादत्त से शास्त्रार्थ कलकत्ते जाते हुए हुआ था और पंडित लेखराम के अनुसार कलकत्ते से लौटते हुए। हमें देवेन्द्र बाबू का अनुसन्धान ही समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि शास्त्रार्थ का होना प्रथमागमन के अवसर पर ही अधिक सम्भव है। —संग्रहकर्त्ता.

आरा में स्वामीजी के दो व्याख्यान हुए। एक गवर्नमेंट स्कूल के आँगन में और दूसरा अन्यत्र। व्याख्यानों का विषय था 'वैदिक धर्म्म'। व्याख्यान में श्रोताओं की बहुत भीड़ थी। स्वामीजी ने कहा था कि प्रचलित हिन्दू-धर्म्म और रीति-नीति वेदानुमोदित नहीं है, प्रतिमा-पूजा वेद-प्रतिपादित नहीं है, विधवा-विवाह वेद-सम्मत और बाल-विवाह वेद विरुद्ध है, दीक्षा-ग्रहण करने की रीति आधुनिक है, मंत्र देने का अर्थ कान में फूँक मारने का नहीं है, यदि ऐसा हो तो मंत्री का अर्थ भी वैसा ही होना चाहिये अर्थात् कान में फूँक मारने वाला।

दो व्याख्यान

स्वामीजी संस्कृत में बोलते थे और थोड़ी २ देर में चुप हो जाते थे, उस अन्तर में बाबू रजनीकान्त उनके कथन का भाषा में अनुवाद करके श्रोताओं को सुना दिया करते थे।

नगर के सभी सम्भ्रान्त पुरुष महाराज के दर्शनार्थ आते थे और सन्ध्या-समय उनके पास अच्छी भीड़ लग जाती थी। स्वामीजी ने आरा में एक सभा की भी स्थापना की थी जिसका उद्देश्य आर्य्य-धर्म्म और रीति-नीति का संस्कार करना था, परन्तु उसके एक दो ही अधिवेशन हुए। स्वामीजी के आरा से चले जाने के पश्चात् थोड़े ही दिन में उसकी अन्त्येष्टि हो गई।

आर्यसमाज की पहली दाग़बेल

मुन्शी हरवंशलाल ने स्वामीजी से कहा कि यदि आप के विचारों के पक्ष में अंग्रेजों का साहाय्य प्राप्त होजाय तो आप का कार्य्य शीघ्र ही सिद्ध हो सकता है। अतः उन्होंने स्वामीजी को आरा के तत्कालीन मैजिस्ट्रेट जिला मिस्टर एच. डब्ल्यु. अलेक्ज़ेंडर से मिलने का प्रबंध किया। और एक दिन वह और रजनी बाबू स्वामीजी को उनके पास ले गये। मैजिस्ट्रेट से स्वामीजी की बात-चीत हुई। स्वामीजी संस्कृत बोलते थे जिसका रजनी बाबू अनुवाद करके मैजिस्ट्रेट को समझाते जाते थे। मैजिस्ट्रेट स्वामीजी के कथन को बहुत ध्यान से सुनता था। उसने स्वामीजी से संस्कृत बोलने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि भारतवर्ष में द्राविड़ प्रभृति अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं तब मैं किस भाषा में बोलूँ? इसके अतिरिक्त संस्कृत सारे हिन्दुओं की भाषा है और समस्त भाषाओं का मूल है, अतः संस्कृत बोलना ही उचित है। इसके पश्चात् हिन्दुओं की रीति-नीति और सामाजिक व्यवस्था पर अनेक बातें हुईं। वर्ण-भेद पर स्वामीजी ने कहा कि वर्ण का निर्भर कर्म्म और चरित्र पर है। इसी प्रसङ्ग में स्वामीजी ने यह भी कहा कि पहले ब्राह्मण पाचक का कार्य नहीं करते थे, पाक-कर्म्म सेवा-कर्म्म है और सेवा शूद्र का कार्य्य है, पहले समय में पाक कर्म्म शूद्र ही किया करते थे पीछे से पुराण बनाने वालों ने इस प्रथा को उठा कर अनिष्ट कर दिया।

ज़िला मैजिस्ट्रेट से मिलन

संस्कृत बोलने का कारण

वर्ण कर्म पर निर्भर है

पाक-कर्म शूद्र-कर्म है

इतनी बात-चीत होने पर स्वामीजी और उनके साथी मैजिस्ट्रेट से विदा होकर चले आये।

आरा में १५ दिन ठहर कर स्वामीजी कलकत्ते की ओर अग्रसर हुए।

पटना

आरा से चलकर स्वामीजी भाद्र शुक्ला ३-४ सं० १९२९ अर्थात् तारीख ६-७ सितम्बर सन् १८७२ को पटना पहुँचे और महाराजा भूपसिंह के रोशन बाग़ में ठहरे।

पण्डित मंडली से शास्त्रार्थ

स्वामीजी के आगमन का समाचार नगर में फैलते ही उच्च राजकर्मचारी, पण्डित, सम्भ्रान्त पुरुष उनके दर्शन और उनसे वार्त्तालाप करने के लिये आने लगे। एक दिन वहाँ के प्रसिद्ध पण्डित रामजीवनभट्ट ५०-६० ब्राह्मणों को साथ लेकर उनसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्वामीजी के 'दृष्टवाहासौ' शब्द कहने पर एक पण्डित ने कहा कि यह पाठ आपने अशुद्ध कहा। पण्डित रामजीवन तो चुपचाप बैठे रहे और अन्य पण्डित शास्त्रार्थ करते रहे। परन्तु थोड़ी देर में पण्डितों में ही विवाद और कलह होने लगा अतएव वह लोग स्वयं ही उठकर चले गये और शास्त्रार्थ अधूरा ही रह गया।

आपस में ही फूट

मरने के पश्चात् जीव कहाँ रहता है

इस शास्त्रार्थ के थोड़ी देर पीछे ही एक सज्जन ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि जीव मर कर कहाँ रहता है? इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जीव मर कर वायु के सहारे आकाश में रहता है और फिर वायु-आश्रय, पुष्प-आश्रय, अन्न-आश्रय, जल-आश्रय, होकर मनुष्य के हृदय और वीर्य में पहुँचता है और स्त्री में गर्भ स्थापन करता है, वही फिर जन्मता है, उसी को बन्ध और मोक्ष होता है।

शालिग्राम की मूर्त्ति फेंक दी

पं० रामलाल पटना कालेज के पण्डित ने स्वामीजी के उपदेश से प्रभावित होकर शालिग्राम की मूर्त्ति फेंक दी थी।

स्वामीजी दुर्गापाठ को मुर्गापाठ कहा करते थे।

इन दिनों स्वामीजी के साथ एक विद्यार्थी था वही उनकी रसोई बनाया करता था, परन्तु वह चोर था और स्वामीजी उससे अप्रसन्न थे।

विद्यार्थी राजनाथ

नार्मल स्कूल का एक विद्यार्थी राजनाथ तिवारी स्वामीजी की प्रशंसा सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने यह विचारा कि यदि स्वामीजी उसे साथ रखलें तो वह उनसे विद्या पढ़कर पूर्ण विद्वान् होजाय। अतः वह एक दिन सायङ्काल जब कि स्वामीजी फुलवारी में टहल रहे थे उन के पास पहुँचा और अपना अभिप्राय उन पर प्रकट किया। उन्होंने उससे कहा कि यदि तेरा पिता कहेगा तो हम तुझे साथ रखलेंगे। उसने कहा कि यदि माता पिता यह सब वृत्तान्त सुनेंगे तो वह कब अनुमति देंगे, बल्कि कहेंगे कि तुझे स्वामीजी साधु बना लेंगे। उसके अत्यन्त अनुनय विनय करने पर स्वामीजी उसे साथ रखने पर सम्मत होगये। उसने रात्रि को वहाँ ही शयन किया। अगले दिन स्वामीजी ने उसे ही रसोई बनाने की आज्ञा दी और पहले विद्यार्थी को यह कह कर कि तू चोर है रसोई मत बना और यात्रा के व्यय के लिये ५) देकर उसके घर भेज दिया। राजनाथ ने रसोई बनाई और जब स्वामीजी ने उस से कहा कि 'शाकं देहि सूपं देहि,' तो वह कुछ न समझा क्यों कि पटना प्रान्त में सूप ज्ञान

को और शाक पालक आदि को कहते हैं तब स्वामीजी ने हाथ से संकेत करके बतलाया कि सूप से दाल और शाक से आलू आदि अभिप्रेत हैं।

राजनाथ सायङ्काल को स्कूल के छात्रालय में वापस आया और सारा वृत्तान्त अपने अध्यापक और डिप्टी सोहनलाल से कहा। उन्होंने कहा तेरे बड़े भाग्य हैं जो स्वामीजी तुझे अपने साथ रखने पर राजी हो गये। डिप्टी सोहनलाल ने उसे बुला कर कहा कि स्वामीजी के लिये दूध और मिश्री ले जाओ। उसने कहा कि अब सन्ध्या होगई और बूँदें भी पड़ रही हैं और स्वामीजी का स्थान भी दो ढाई कोश है मुझे डर लगता है, परन्तु उन्होंने यह कह कर कि यदि तू ऐसे ही डरेगा तो स्वामीजी के साथ कैसे रहेगा जो प्रायः जंगल में ही रहते हैं, उसे रात्रि में ही स्वामीजी के स्थल पर जाने के लिये बाध्य किया। वह विवश होकर उसी समय गया परन्तु बहुत डरता हुआ। जब वह बस्ती

मार्ग में कराटक

के बाहर पहुँचा तो उसे बहुत डर लगा क्योंकि रात अँधेरी थी, बूँदें पड़ रही थीं, सड़क के दोनों ओर पानी था। वह थोड़ी दूर चला होगा कि उसे अपने आगे सड़क के बीच में एक सर्प पड़ा हुआ दिखाई दिया। उसने यह सोचा कि लौट जाय, परन्तु पीछे फिर कर जो देखा तो उधर दूसरा सर्प पड़ा था। अब तो वह बहुत ही घबराया। परन्तु वहाँ खड़े रहने में भी भय था और आगे बढ़ने में भी। अतः उसने आगे बढ़ना ही स्थिर किया और सर्प के पास पहुँच कर आँखें बन्द करके और छलाँग मार कर सर्प के ऊपर से कूद गया और दौड़ता हाँपता आगे बढ़ा। मार्ग में रेल का फाटक पड़ता था, वहाँ पहुँच कर ही दम लिया। जब थोड़ी देर दम ले लिया तो आगे को चला और स्वामीजी के पास पहुँच गया। उस समय

क्या तूने सर्प देखा?

स्वामीजी बैठे हुए थे और बाग़ के कुछ माली भी उनके पास बैठे थे। स्वामीजी ने उसे देख कर कहा कि क्या मार्ग में तू डरा था और क्या तूने सर्प देखा था? राजनाथ को बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी ने यह सब वृत्त कैसे जान लिया!

एक वकील से वार्त्तालाप

एक दिन बाबू गुरुप्रसाद रईस व वकील की स्वामीजी से यह बात-चीत हुई थी।

गुरु०—संसार-आश्रम को त्यागना ठीक है वा नहीं?

दया०—आप संसार-आश्रम किसे कहते हैं?

गुरु०—दार-परिग्रह, पुत्रादि के साथ रहना इत्यादि।

दया०—इत्यादि में क्या है?

गुरु०—धन उपार्जन करना।

दया०—ग्रह में क्या है?

विना पूछे उत्तर मिलगया

अभी बाबू गुरुप्रसाद कुछ कहने न पाये थे कि स्वामीजी ने स्वयं ही कहा कि ग्रह में है खाना, पीना, साँस लेना, शौच, विद्याभ्यास, ज्ञान-उपार्जन करना।

बाबू गुरुप्रसाद के प्रश्न का उत्तर मिल गया अर्थात् यह कि ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो संसार आश्रम का त्याग करसके।

एक दिन स्वामीजी तो शौचादि के लिये जंगल गये थे, ब्राह्मण उनके लिये रसोई बना रहा था। अभी स्वामीजी वापस न आये थे कि उसका चचा आ गया। उसने रसोईया से पूछा कि जब स्वामीजी खा लेते होंगे तब ही तुम खाते होगे। उसने कहा कि हाँ। उसके चचा ने कहा कि तब तो चौका झूठा हो गया, तुमको चाहिये कि लकीर आदि का नियम कर लिया करो। उस दिन जब स्वामीजी भोजन करने बैठे तो चौके के बाहर ही बैठे। पाचक ने कहा कि आज आप चौके के बाहर क्यों बैठते हैं। स्वमीजी ने कहा हमें किसी बिरादरी का भय नहीं है कि कोई हमें बिरादरी से निकाल देगा।

चौके के बाहर भोजन

एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आया उसने भागवत का प्रमाण दिया जिसका महाराज ने खण्डन किया। इस पर वह बोला कि ऐसा भी तो कोई नहीं कि जैसे भागवत के १८००० श्लोक बने हुए हैं वैसे बनाकर दिखला दे। स्वामीजी ने कहा कि यह कोई शूरता की बात नहीं, उसने जैसा यह बनावटी ग्रन्थ १८००० का बनाया है हम ३८००० का बना सकते हैं। जूता और खड़ाऊँ के प्रश्नोत्तर लीजिये आप लिखते जायँ। स्वामीजी बोलने लगे और वह लिखने लगे, अभी वह दो ही श्लोक लिख पाया था कि उनकी संस्कृत और व्याकरण की योग्यता और भाषा का सौष्ठव देख कर चकित रह गया और स्वामीजी को प्रणाम करके चुप चाप चला गया।

हम भागवत जैसे ३८००० श्लोक बना सकते हैं

जूता खड़ाऊँ के प्रश्नोत्तर

एक दिन कुछ पण्डित स्वामीजी से शास्त्रविचार करने के अभिप्राय से आये। उस समय २०० के लगभग मनुष्य उपस्थित थे। पण्डितों में से पं० रामअवतार सिद्धान्त-कौमुदी का भट्टोजिदीक्षितरचित मङ्गल श्लोक पढ़ कर शास्त्रार्थ करने लगे। परन्तु वह इतना अशुद्ध बोलते थे कि स्वयं उनके साथी ही उनसे कहने लगे कि जब तुम संस्कृत नहीं बोल सकते तो स्वामीजी से क्यों बकवास करते हो। थोड़ी देर तो स्वामीजी चुप रहे फिर वह हँस पड़े और अन्य लोगों को भी हँसी आगई। इस पर पं० रामअवतार खिसियाये और अश्रु-पूर्ण नेत्र होकर उठकर चले गये। तत्पश्चात् स्वामीजी ने उपस्थित लोगों को उपदेश दिया जिसे सुनकर सब लोग उसकी सत्यता की स्वीकृति का सूचक 'हूँ हूँ' शब्द करते रहे। स्वामीजी कौमुदी को 'कुमति' कहा करते थे।

अशुद्ध भाषि पण्डित का खिसियाना

स्वामीजी ने यहाँ एक विज्ञापन भी दिलवाया था कि वह वहाँ १५ दिन और टिकेंगे, जिस किसी को मूर्त्ति-पूजा व पुराणों के ऊपर शास्त्रार्थ करना हो करले ताकि फिर किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि स्वामीजी शास्त्रार्थ के भय से चले गये; परन्तु विज्ञापन देने पर भी कोई शास्त्रार्थ के लिये सामने न आया।

स्वामीजी पटना में एक मास रहे और ३ अक्टूबर१८७२ को मुंगेर के लिये बेगमपुर के स्टेशन से रेल पर सवार होगये। चलते समय भक्तजन ने उनकी सेवा के लिये एक कहार साथ कर दिया। रात्रि के बारह बजे जब गाड़ी जमालपुर जंक्शन पर पहुँची तो मुँगेर की गाड़ी के छूटने में एक घण्टे की देर थी। स्वामीजी कौपीन मात्र धारण किये प्लेटफार्म पर

टहलने लगे। एक अंग्रेज इञ्जिनियर और उसकी पत्नी प्लेटफार्म पर खड़े थे। मेम साहब को एक नंगे साधु को टहलते हुए देखकर बुरा लगा। उसके पति ने स्टेशन मास्टर को स्वामीजी के पास भेजा कि इस साधु को टहलने से रोक दो। वह तो जानता था कि साधु कौन है। वह डरता २ गया और उसने उनसे कहा कि महाराज आप कुर्सी पर आराम कीजिये अभी गाड़ी छूटने में देर है। स्वामीजी समझ गये कि उसे गोरे साहब ने भेजा है कि हमें टहलने से रोक दे। उन्होंने स्टेशन मास्टर से कहा कि साहब से कह दो कि हम उस युग के लोग हैं जब बाबा आदम और बीबी हव्वा अदन के उद्यान में नंगे रहने में तनिक भी लज्जा न करते थे। स्वामीजी ने टहलना जारी रक्खा। स्टेशन मास्टर ने साहब से जाकर कहा कि हुजूर वह कोई भिखमँगा तो है नहीं जिसे प्लेटफार्म से निकाल दूँ। वह एक स्वतंत्र संन्यासो है जो मुझे और आप को कुछ भी नहीं समझता। नाम पूछने पर स्टेशन मास्टर ने महाराज का नाम बताया तो साहब ने कहा कि क्या प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द यही है। इसके पश्चात् वह स्वामीजी के पास गया और जब तक गाड़ी छूटने का समय हुआ उनसे बात-चीत करता रहा।

अपरिचित स्थान का परिचय

स्वामीजी ४ अक्टूबर सन् १८७२ = आश्विन शु० १ सं० १९२९ वि० के प्रातःकाल मुंगेर पहुँचे और विना किसी से पूछे हुए एक ओर को चल दिये मानो वह उस स्थान से जहाँ उन्हें ठहरना था पहले से परिचित थे। कुछ दूर चल कर एक साधु के आश्रम पर पहुँच गये जिसमें दो कमरे थे, कुआँ था, फुलवारी थी और गङ्गा की धारा भी निकट ही थी। साधु उस समय आश्रम में न था। वहाँ पहुँच कर स्वामीजी ने राजनाथ विद्यार्थी और कहार से आश्रम में ही आसन लगाने की आज्ञा दी और वहाँ ही ठहर गये।

मौनी का मौन भंग

मुँगेर पहुँचने के तीसरे दिन एक मौनी साधु स्वामीजी के पास आया और आकर बैठ गया। स्वामीजी ने उससे दो चार प्रश्न किये, परन्तु उसने कुछ उत्तर न दिया। उससे भोजन के लिये पूछा तो संकेत से उसने भोजन, करने की इच्छा प्रकट की। भोजन करने के पश्चात् महाराज ने उससे कहा कि यदि तू मूर्ख है तो तेरा चुप रहना ही ठीक है और जो तू पण्डित है तो कुछ बात-चीत कर। इस पर वह बोला और महाराज ने मूर्त्ति-पूजा और पुराणों का खण्डन किया। उसने दोनों की असत्यता स्वीकार की। घंटा भर बात-चीत करके वह चला गया।

स्वामीजी को उस आश्रम में चार दिन ठहरे हुए हो गये, परन्तु एक दो ब्राह्मणों के सिवाय उनके पास और कोई न आया। एक दिन स्वामीजी का कहार गङ्गा-तट पर जो लकड़ी की टाल थी उस पर सूखी लकड़ी माँगने चला गया। स्वामीजी को इसकी खबर न थी। टाल वाले ने पूछा कि लकड़ी किस के लिये चाहिये। कहार ने कहा कि स्वामीजी के लिये। टाल वाले ने कहा कि हम नहीं जानते कौन स्वामी है। जब कहार वापस आया तो

ईंधन क्यों माँगा

स्वामीजी ने राजनाथ विद्यार्थी से कहा कि इसके जूते लगाओ। राजनाथ को आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी ऐसी आज्ञा क्यों दे रहे हैं। उसने स्वामीजी से पूछा कि इसने क्या अपराध किया है, तो उन्होंने कहा क यह टाल पर ईंधन की भिक्षा माँगने गया था। कहार से राजनाथ ने जो पूछा तो उसने

टालवाला बिना माँगे ईंधन ले आया

सब वृत्तान्त कह दिया। राजनाथ बहुत चकित हुआ कि महाराज ने यह सब वृत्त कैसे जान लिया क्योंकि उनके स्थान से वह टाल दिखाई न देती थी। इतने ही में टाल वाला पाँच बोझ लकड़ियों के मजदूरों के सिर पर रखवा कर ले आया। स्वामीजी ने लेने से निषेध किया, परन्तु उसके बहुत अनुनय विनय करने पर उन्होंने वह रख लिये। राजनाथ ने कहार के जूते लगा दिये और दोनों से कहा कि यदि फिर कभी किसी से भिक्षा माँगोगे तो दोनों को निकाल देंगे।

किसी के घर पर जाकर भोजन न करेंगे

एक दिन एक ब्राह्मण ने बहुत विनयपूर्वक कहा कि महाराज आज मेरे गृह पर ही भिक्षा कीजिये। उसके आग्रह पर स्वामीजी ने स्वीकार कर लिया, परन्तु फिर राजनाथ से कहा कि हम किसी गृहस्थ के घर पर जाना नहीं चाहते, राजनाथ तुम ही चले जाओ और स्वयं भोजन करके हमारे लिये यहीं ले आओ।

इसके अगले दिन से ३०-४० मनुष्य स्वामीजी के स्थल पर आने लगे और मूर्त्ति-पूजा का खण्डन होने लगा, सब सुनते रहे परन्तु किसी ने आक्षेप न किया।

अवैदिक पुस्तक गंगा की भेंट

एक दिन स्वामीजी ने राजनाथ को 'आदित्य हृदय' का पाठ करते देख लिया। इस पर उसकी अन्य पुस्तकें देखीं तो वह सब अवैदिक पुस्तकें थीं। स्वामीजी ने राजनाथ से कहा कि इन सब पुस्तकों को गङ्गा में डाल आओ। उसने ऐसा ही किया।

कार्त्तिक कृष्णा २ संवत् १९२९ वि० अर्थात् तारीख १८ अक्टूबर १८७२ ई० को स्वामीजी ने भागलपुर के लिये प्रस्थान किया।

भागलपुर

कार्त्तिक कृष्णा ४ संवत् १९२९ वि० को सायङ्काल के सात बजे स्वामीजी ने भागलपुर पहुंचकर प्रथम गङ्गातट पर बुड्ढेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरने का विचार किया, परन्तु स्थान को अनुकूल न पाकर वहाँ से तुरन्त ही चल दिये और छपटिया तालाब के एक मन्दिर में ठहर गये। यह मन्दिर पं० मोहनलाल शाकल्यद्वीपी का था, परन्तु उस समय वहाँ कोई न था। थोड़ी देर पीछे पं० मोहनलाल भी वहाँ आगये और उन्होंने स्वामीजी का यथोचित सत्कार किया। वह संस्कृतज्ञ थे। स्वामीजी से उनकी रात्रि के दस बजे तक बात चीत होती रही।

अगले दिन प्रातःकाल से ही बहुत से लोग स्वामीजी के दर्शनार्थ आने लगे और मूर्त्ति-पूजा का खण्डन होने लगा, परन्तु उसके प्रत्युत्तर में किसी ने कुछ न कहा। पण्डितों के तो स्वामीजी के संस्कृत भाषण को सुनकर ही होश गुम होगये, उनमें से शास्त्रार्थ कौन करता।

हमें स्वार्थ का भोजन न चाहिए

एक अग्रवाल स्वामीजी के लिये अन्नादि और दुग्ध भिजवाने लगा। दो दिन तक तो उन्होंने ग्रहण किया, परन्तु तीसरे दिन यह कहकर कि हमें स्वार्थ का भोजन न चाहिए, हम ईश्वर नहीं हैं जो तुम्हें पुत्र दें और तुम्हारा अन्न खायें। पीछे ज्ञात हुआ कि वह पुत्रहीन था और उसे पुत्र की बड़ी कामना थी और इसी उद्देश्य से वह स्वामीजी के लिए अन्नादि भिजवाया करता था।

स्वामीजी को वहाँ ठहरे हुए एक सप्ताह होगया। सप्ताह के अन्तिम दिन स्वामीजी ने राजनाथ से जब कि वह रसोई बना रहा था कहा कि तेरा पिता आगया। हमने तुमसे पहले ही कहा था कि अपने पिता की आज्ञा लेकर आओ, परन्तु तुमने न माना और उन्हें कष्ट हुआ। वह रसोई से बाहर आया परन्तु उसके पिता का कहीं पता न था। आधा घंटे के पश्चात् उसका पिता सचमुच आगया। वह राजनाथ को देखकर रोने लगा। स्वामी जी को यह देखकर दुःख हुआ और उन्होंने राजनाथ के पिता से कहा कि तुम अपने पुत्र को ले जाओ हम अन्य साधुओं के समान नहीं हैं कि तुम्हारे पुत्र को चेला बनाकर तुम्हें दुःख देवें। राजनाथ यह समझकर कि अब उसे घर लौटना ही होगा बरारी (भागलपुर का एक भाग) में एक मित्र से मिलने चला गया। वहाँ जाकर उसने स्वामीजी के आगमन का समाचार गवर्नमेंट हाईस्कूल के पण्डित अभयराम और बाबू पार्वतीचरण से कहा। पार्वतीचरण भागलपुर के एक अत्यन्त साधुचरित्र और सम्भ्रान्त पुरुष थे। अगले दिन वह स्वामीजी से मिलने आये और उनसे अपने बाग़ में चलकर रहने को कहा। स्वामीजी यह निश्चय करके कि वहां स्त्रियों का गमनागमन नहीं है पार्वती बाबू के साथ उनके बाग़ में चले गये।

राजनाथ ! तेरा पिता आगया

एक दिन गवर्नमेंट हाईस्कूल के हेडमास्टर बा० निवारणचन्द्र मुखोपाध्याय के उद्योग से गवर्नमेंट हाईस्कूल के हॉल में स्वामीजी का व्याख्यान 'मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य' पर हुआ जिसमें उन्होंने अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि श्राद्ध-तर्पण जीवित माता पिता का करना चाहिए, मरे हुओं का नहीं।

श्राद्ध जीवित का करना चाहिए

स्वामीजी प्रतिदिन उपदेश देते थे और सैकड़ों मनुष्य उपस्थित होते थे। बाग़ में एक मेला सा लगा रहता था और फल, मिष्टान्न, पान तम्बाकू आदि बेचनेवालों की दुकानें लग जाती थीं और इक्के बग्घी इकट्ठे हो जाते थे।

वर्द्धमान के महाराजा ने स्वामीजी की प्रशंसा सुनकर चार नैयायिक पण्डितों को उनसे बातचीत करने भेजा। पण्डित लोग आये और 'न्याय' पर चार पाँच घण्टे बात-चीत करके और यह प्रतिज्ञा करके चले गये कि अगले दिन वह महाराजा को भी सत्सङ्ग में लावेंगे।

चार नैयायिकों से वार्त्तालाप

अगले दिन प्रातःकाल ही ३०-४० योरोपियन और देसी पादरी और कई मौलवी आये और वह दिन उनसे ही बात-चीत करने में व्यतीत हुआ। उनमें से कोई भी महाराज के आक्षेपात्मक युक्तियों का उत्तर न दे सका।

पादरी भी चुप, मौलवी भी चुप

अपराह्न में चार बजे महाराजा वर्द्धमान और वह चारों पण्डित आये। उस समय पादरियों से इस विषय पर कि ईश्वर साकार है वा निराकार कथोपकथन होरहा था। महाराजा उसे सुनते रहे परन्तु स्वयं कुछ न बोले। चलते समय पण्डितों से कह गये कि स्वामीजी को हमारे मकान पर ले आओ। अगले दिन पं० अभयराम और उन्हीं पण्डितों ने आकर स्वामीजी

महाराजा वर्द्धमान

से कहा कि आपको महाराजा ने अपने मकान पर ठहरने का निमन्त्रण दिया है। महाराज ने कहा कि यदि वह स्थान एकान्त और हवादार होगा और शोरो गुल न होगा तो हम चले जायँगे, आप लोग प्रथम जाकर मकान को पसन्द कर आवें। परन्तु वह मकान सुविधा-जनक न निकला, तत्पश्चात् उन्होंने महाराज को एक मस्जिद में ठहरने के लिये कहा, परन्तु उसके निकट क़ब्रस्तान था। महाराज ने कह दिया कि हम मृत थोड़े ही हैं जो क़ब्रस्तान में निवास करें।

ईसाई होने पर पश्चात्ताप

जब पादरियों से बात चीत होरही थी तो एक बङ्गाली ईसाई जो ब्राह्मणकुलोत्पन्न था रोने लगा और उसने अत्यन्त सन्ताप प्रकट करके कहा कि यदि आप जैसे उपदेष्टा मुझे पहले मिलते तो मैं कदापि ईसाई न होता। उस समय मैं स्कूल में हिन्दू-धर्म पर पादरियों के कटाक्ष सुनकर जब घर पर आता था तो पण्डितों से उनके उत्तर पूछता था, परन्तु कोई भी उनके उत्तर न दे सकता था, यदि मुझे उत्तर मिलते तो मैं ईसाई न होता।

दो दिन तक बा० निवारणचन्द्र गवर्नमेंट हाईस्कूल के हेडमास्टर जो ब्राह्मसमाजी थे अपने कतिपय मित्रों के साथ आकर अपनी शङ्का-निवृत्ति करते रहे। स्वामीजी ने उनसे कहा कि सब पृथ्वी के लोगों के साथ खाना ठीक नहीं है, चारों वर्ण पृथक् २ हैं और वर्ण कर्म पर निर्भर है।

एक दिन बनैला के राजा निरानन्दसिंह स्वामीजी को पालकी में सवार कराकर अपने घर ले गये। स्वामीजी ने समझा था कि राजा उन से धर्म-विषय पर वार्तालाप करेंगे और वैदिक पाठशाला के सम्बन्ध में कुछ पूछेंगे। उन दिनों महाराज को काशी में वैदिक पाठशाला स्थापन करने की बड़ी आकांक्षा थी और वह उस के लिये धन संग्रह करने का भी यत्न कर रहे थे। राजा ने इन विषयों पर एक बात भी नहीं की। उन्होंने पुत्रोत्पादन के

वृद्ध पुत्रकाम राजा को उपदेश

लिये पुत्रेष्टि यज्ञ के सम्बन्ध में परामर्श किया। राजा ने बुढ़ापे में तीसरा विवाह किया था और उन्हें पुत्र की अत्यन्त कामना थी। उनकी पहली स्त्री जीवित थी और उससे उनके एक पुत्र पद्मानन्द-सिंह था भी, परन्तु उससे और उसकी माता से उनकी बनती नहीं थी। राजा ने स्वामीजी से यह भी पूछा था कि उनका स्त्री-पुत्र से मनोमालिन्य कैसे दूर हो, तो स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया कि उस मनोमालिन्य के कारण तुम ही हो, तुमने ही तीन बार विवाह करके सद्भाव का नाश किया है। पुत्रेष्टि याग से क्या लाभ होगा, तुम्हारी आयु अधिक होगई है, अब तो यदि पुष्टिकर औषध खाओ तो पुत्रोत्पत्ति की आशा कर सकते हो।

एक दिन एक सुशिक्षित मौलवी स्वामीजी से धर्मसम्बन्धी वाद-प्रतिवाद करने के लिये आया। स्वामीजी के कमरे में जल तथा अन्य भोज्य पदार्थ रक्खे हुए देख कर वह कमरे के बाहर ही खड़ा रहा, भीतर न गया। महाराज के बार २ भीतर आने के लिये कहने पर भी वह भीतर आने में सङ्कोच ही करता रहा। अन्त में महाराज ने कहा कि तुम्हारे

हिन्दूमुसलिम द्वेष का कारण

भीतर आने से हमारे भोज्य पदार्थ अशुद्ध नहीं होंगे और उनसे यह भी कहा कि हिन्दुओं में जो मुसलमानों के प्रति सहानुभूति का अभाव और द्वेष का भाव है उसका कारण यह नहीं है कि हिन्दुओं

को मुसलमानों से निसर्गजात द्वेष है, वास्तव में उस का कारण हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों का व्यवहार ही है ।

मूर्खता और धूर्त्तता का उदाहरण

एक दिन पर्व का दिन था । गङ्गा के पार एक मेला था । उस दिन महाराज ने संस्कृत में एक व्याख्यान दिया था जिसे सुनकर बंगाली सज्जन मुग्ध होगये थे । सायङ्काल के समय महाराज घूमते हुए मेले में जा पहुँचे तो उन्होंने देखा कि लोग अपनी लड़कियों को पण्डों को दान कर रहे हैं । महाराज का एक भक्त था जिसका नाम नन्दन ओझा था वही उनके लिये भोजन लाया करता था । उस दिन भी वह भोजन लाया, परन्तु महाराज डेरे पर न मिले । बहुत देर तक प्रतीक्षा करके भोजन रखकर वह अपने घर चला गया । प्रातःकाल जब वह आया तो देखा कि भोजन ज्यों का त्यों रक्खा हुआ है । कारण पूछने पर महाराज ने कहा कि लोगों की उपर्युक्त मूर्खता और पण्डों की धूर्त्तता देखकर हमें इतनी वेदना हुई कि भोजन का ध्यान भी न आया ।

राजनाथ को भागलपुर में ज्वर होगया अतः उसे तो वहीं छोड़ा और एक जन गजानन विद्यार्थी को जो स्वामीजी की मिर्जापुर की पाठशाला में पढ़ा था और जिससे वह परिचित थे साथ में लेकर कलकत्ते के लिये रवाना हुए । जिस दिन भागलपुर से प्रस्थान किया उस दिन तिथि पौष कृष्णा १ और ता० १५ दिसम्बर थी ।

कलकत्ता

स्वामीजी के कलकत्ता जाने के विषय में मिस्टर चन्द्रशेखर बैरिस्टर ने विशेष उद्योग किया था । पहले वह स्वामीजी को महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उद्यान में ठहराना चाहते थे परन्तु कृतसङ्कल्प न हुए । फिर वह राजा सौरेन्द्रमोहन ठाकुर के पास गये परन्तु उन्होंने भी कोई अनुराग प्रदर्शित नहीं किया । सेन महोदय बड़े असमञ्जस में पड़ गये कि क्या करें । अन्त को उन्होंने यही स्थिर किया कि राजा सौरेन्द्रमोहन के प्रमोदकानन

प्रमोदकानन में निवास

नामक बाग में ही स्वामीजी को ठहराने का प्रबन्ध किया जावे । अतः वह स्वामीजी को हावड़ा स्टेशन से लिवाकर सीधे राजा सौरेन्द्रमोहन के यहाँ पहुंचे । उन्होंने यह देखकर कि अब तो स्वामीजी उनके यहाँ आ ही गये, उन्हें न ठहराना और उनका आतिथ्य न करना अशिष्टता की पराकाष्ठा होगी, स्वामीजी की बड़ी शुश्रूषा की, और अपने उक्त उद्यान में ठहराया ।

आदि-ब्राह्मसमाज के उपदेशक से प्रश्नोत्तर

आदि-ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती एक दिन स्वामीजी के पास आये और उनसे निम्न लिखित प्रश्न किये ।

प्र०—जाति भेद है वा नहीं ?

उ०—जाति भेद है, जैसे मनुष्य जाति, पशु जाति, पक्षि जाति ।

इस उत्तर को सुनकर चक्रवर्त्ती महोदय चुप होगये तो स्वामीजी ने कहा आपका अभिप्राय संभवतः वर्णादि भेद से है तो चक्रवर्त्ती महोदय ने कहा—'हाँ ।'

इस पर स्वामीजी ने कहा—भेद है, जो वेदज्ञ और पण्डित हैं वह ब्राह्मण हैं, जो युद्ध करते हैं और ज्ञानवान हैं वह क्षत्रिय हैं, जो व्यापार करते हैं वह वैश्य हैं और जो मूर्ख हैं वह शूद्र हैं, जो महामूर्ख हैं वह अतिशूद्र हैं ।

प्र०—ईश्वर मूर्ति वाला है वा निराकार ?

उ०—संस्कृत पुस्तकों में तो बहुत से ईश्वर हैं, आपको कौन सा ईश्वर अभीष्ट है ? सच्चिदानन्द आदि लक्षण वाला वा अन्य ? यदि पहला तो वह निराकार है और एक है।

प्र०—ईश्वर से मिलने का क्या उपाय है ?

उ०—बहुत दिन तक योग करने से ईश्वर की उपलब्धि होती है।

प्र०—वह योग कैसा है ?

उत्तर में स्वामीजी ने अष्टांगयोग की व्याख्या करके सुनाई और उपदेश दिया कि तीन घड़ी रात रहे उठकर गायत्री का अर्थसहित ध्यान किया करो और गायत्री का अर्थ भी लिखवा दिया।

प्र०—सांख्यशास्त्र के कर्त्ता को लोग अनीश्वरवादी कहते हैं और उसमें 'ईश्वरासिद्धेः' यह सूत्र भी है, क्या यह ठीक है ?

उ०—सांख्यकर्त्ता अनीश्वरवादी नहीं है। लोग ऋषि कृत टीकाओं को छोड़कर और भ्रष्ट लोगों की टीकाओं को पढ़कर ऐसा कहने लगे हैं। भागुरि ऋषि की टीका को पढ़ो तुम्हारा सन्देह दूर होजायगा। 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र पूर्व पक्ष का है आगे उसका उत्तर दिया गया है। यदि सांख्यकर्त्ता नास्तिक होता तो वह पुनर्जन्म, वेद, परलोक और आत्मा को क्यों मानता ? कोई दर्शन दूसरे दर्शन का विरोधी नहीं है। छः कारणों से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है—न्यायदर्शन परमाणुओं का, मीमांसा-दर्शन कर्म का, सांख्यदर्शन तत्वों के मेल का, योगदर्शन ज्ञानविचार का, वैशेषिकदर्शन काल का और वेदान्तदर्शन परमात्मा का वर्णन करता है।

षड्दर्शन समन्वय

उनदिनों ब्राह्म समाज में बा० केशवचन्द्र ने यज्ञोपवीत के विरुद्ध आन्दोलन कर रक्खा था। चक्रवर्ती बाबू ने स्वामीजी से पूछा कि यज्ञोपवीत पहनना चाहिए वा नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि अवश्य पहनना चाहिए। इस व्यवस्था को सुनकर उन्होंने और कई अन्य ब्राह्मण लोगों ने यज्ञोपवीत नहीं उतारे। इसके लिए चक्रवर्ती महोदय आजन्म स्वामीजी के कृतज्ञ रहे कि स्वामीजी ने उन्हें पतित होने से बचाया। एक दिन स्वामीजी ने चक्रवर्त्ती बाबू से पूछा कि आपने उपनिषद् पढ़ी हैं। तो उन्होंने उत्तर दिया कि थोड़ी २ पढ़ी हैं। स्वामीजी के कहने से उन्होंने पढ़नी आरम्भ की और उनका उत्साह यहाँ तक बढ़ा कि वह उपनिषद् पढ़ने के लिये स्वामीजी के पास कानपुर और फ़र्रुख़ाबाद भी गये।

यज्ञोपवीत पहनना चाहिए

दो बजे मध्यान्होत्तर तक स्वामीजी योगाभ्यास, भ्रमण, विचार आदि में रत रहते थे। अतः उस समय तक उनके पास कोई न आता था। चार बजे से सभा जुड़ती थी। केशवचन्द्रसेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रनाथ, पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति, पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि अनेक गण्यमान्य और विद्वान् लोग उनसे वार्त्तालाप करने आया करते थे।

विद्वत्सम्मेलन

स्वामीजी की केशवचन्द्र से पुनर्जन्म तथा अद्वैतवाद पर और राजनारायण वसु से होम के विषय पर बात-चीत हुई थी। राजनारायण वसु ने अपनी बनाई हुई पुस्तक 'हिन्दू

धर्म की श्रेष्ठता' स्वामीजी को सुनाई थी। उन्होंने उसे सुनकर कहा था कि पुराण और तन्त्र ग्रन्थों के प्रमाण न देकर शास्त्रों से महाभारत तक के ही प्रमाण देने चाहिएँ थे।

'पताका' पत्रिका के सम्पादक ने लिखा था कि स्वामीजी जब धर्म-प्रचार के निमित्त कलकत्ता पधारे थे तब चारों ओर बहुत ही आन्दोलन खड़ा हो गया था। क्या बाल, क्या वृद्ध, क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी चमकित हो उठे थे।

कलकत्ते में घोर आंदोलन

हमने जब पहिली पहल स्वामीजी की वक्तृता सुनी तो हमने एक नवीन बात देखी कि संस्कृत-भाषा में ऐसी सरल और मधुर वक्तृता हो सकती है। वह ऐसी सरल संस्कृत में व्याख्यान देने लगे कि संस्कृत से जो महामूर्ख है वह भी उनके व्याख्यान को समझने लगा। एक और विषय में भी हम बहुत ही आश्चर्यित हुए। अंग्रेजी भाषा के न जानने वाले एक हिन्दू संन्यासी के मुख से धर्म और समाज सम्बन्ध में ऐसा उदारमत हमने पहिले कभी नहीं सुना था।

संस्कृत भाषा की सरलता और मधुरता

एक दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ कृत ब्राह्म-धर्म्म ग्रन्थ पढ़वाकर सुना तो कहा कि जब इसमें सब श्लोकादि उपनिषदों के हैं तो इसका नाम 'उपनिषदों की व्याख्या' रखना उचित था।

कलकत्ता ब्राह्म-समाज के उत्सव के उपलक्ष में द्विजेन्द्रनाथ स्वामीजी को महर्षि देवेन्द्र नाथ के मकान पर बुलाकर लाये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने बहुत आदर सत्कार किया स्वामीजी ने धर्म्मोपदेश दिया और अनेक लोगों से दोपहर से सायङ्काल तक धर्म्मालोचना हुई जिससे सब बहुत संतुष्ट हुए। देवेन्द्रनाथ ने कहा कि उनके मकान पर आजावें। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं किसी गृहस्थ के मकान पर नहीं ठहरता हूँ। यह उत्सव २१ जनवरी सन् १८७३ मंगलवार को था। देवेन्द्रनाथ के मकान में एक मंडप था जिसमें चारों ओर संस्कृत के श्लोक लिखे हुए थे, स्वामीजी उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए थे। प्रमोदकानन में महर्षि देवेन्द्रनाथ का चित्र देखकर स्वामीजी ने कहा था कि इनका स्वाभाविक अनुराग ऋषि श्रेणी की ओर है।

ब्राह्मसमाज का उत्सव

एक दिन प्रमोदकानन में राजा सौरेन्द्रमोहन ठाकुर गये। अपराह्न के चार बजे का समय था, स्वामीजी आगन्तुक जन से बात-चीत कर रहे थे। राजा महोदय ने अपने एक सेवक को स्वामीजी के पास भेजा। उसने स्वामीजी से कहा कि आपको राजा साहब बुलाते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इस समय मैं और लोगों से बात-चीत कर रहा हूं, इसलिये उन्हें छोड़कर उठना ठीक नहीं है। यह सुनकर राजा महोदय स्वयं ही स्वामीजी के पास आ बैठे। (राजा साहब गान विद्या के आचार्य समझे जाते थे और वास्तव में वह इस कला में थे भी बहुत निपुण। उन्होंने कई ग्रन्थ इस कला पर लिखे हैं। जिनका सर्वत्र बड़ा मान है) राजा साहब ने स्वामीजी से 'स्वर' की उत्पत्ति पर प्रश्न किये। स्वामी ज़ी ने उनके उत्तर दिये परन्तु वह राजा साहब की समझ में न आये। स्वामीजी ने कुछ

गानविद्या के आचार्य कीं अनभिज्ञता

राजा चिढ़कर द्वेष करने लगा

विरक्ति प्रकट की और राजा महाशय क्रोध में भर कर उठकर चले गये। इसके पश्चात् राजा साहब के भृत्य और आश्रित लोग स्वामी जी की बुराई करने लगे। उनके आश्रित समाचारपत्र 'सोमप्रकाश' ने अपने अङ्क ता० २ मार्च सन् १८७३ ई०, अर्थात् फाल्गुन शु० ११ सं० १९२९ वि० में लिखा था—"दिग्विजय करते हुए यह (स्वामी दयानन्द) कलकत्ते में पहुँचे हैं। शङ्कराचार्य ने दिग्विजय से अद्वैतमत स्थापित करके जैसा जगत् का उपकार किया है स्वामीजी का ऐसा उद्देश्य है या नहीं, हम नहीं कह सकते हैं, परन्तु उनकी विचार-प्रणाली से जैसी कि हमने सुनी है स्पष्ट है कि अपनी पाण्डित्य प्रकाशित करके अपनी प्रसिद्धि प्राप्त करें।"

सम्पादक का पक्षपात

स्वामीजी के समर्थकों ने 'सोमप्रकाश' को इसका उत्तर लिखा, परन्तु सम्पादक ने उसे न छापा। तब उसे ढाके के 'हिन्दूहितैषी' पत्र में मुद्रित कराया गया।

अपूर्व व्याख्यान

२ मार्च सन् १८७३ को स्वामीजी का एक व्याख्यान बड़ानगर बोरन्यो कम्पनी के हाल में हवन के लाभों पर हुआ। उसमें ईश्वर के एक होने, जीवात्मा परमात्मा के सम्बन्ध, पञ्चमहायज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। दूसरा व्याख्यान बरहा-गौर स्कूल में फाल्गुन शु० ११ संवत् १९२९ अर्थात् ९ मार्च सन् १८७३ को हुआ। उसके विषय में कलकत्ता के अंग्रेजी दैनिक के १५ मार्च के अंङ्क में निम्नलिखित नोट दिया गया था:—

दूसरा व्याख्यान

"९ मार्च सन् १८८३ को पं० दयानन्द सरस्वती ने बरहागौरे के नाइट स्कूल में वैदिक-सिद्धान्तों पर एक व्याख्यान दिया। उस जगह प्रतिष्ठित सम्भ्रान्त पुरुषों की बहुत बड़ी संख्या थी। व्याख्यानदाता रेशमी धोती धारण किये बड़ी गम्भीरता से वेदी पर पधारे। व्याख्यान ३॥ बजे आरम्भ हुआ। पहले उन्होंने सर्वशक्तिमान् पिता से प्रार्थना की और फिर बड़ी ओजस्विनी और सरल संस्कृत में तीन घण्टे से अधिक वक्तृता दी। उन्होंने वेदों से बड़ी स्पष्ट और व्यक्त युक्तियों से परमेश्वर का एकत्व, जातपात की हानियाँ, बाल-विवाह की बुराइयाँ सिद्ध कीं। उनके कथन से सिद्ध होता है कि वह केवल बड़े विद्वान् ही नहीं है बल्कि अत्यन्त गहरे सोच विचार के भी पुरुष हैं। उनकी युक्तियाँ बड़ी प्रबल और अकाट्य हैं। उनकी वर्णन-शैली निर्भीक और वीरत्वयुक्त है।"

मार्च के अन्तिम भाग में भी दो तीन और व्याख्यान हुए जिसमें शिक्षित समुदाय ने बड़े सौमनस्य से लाभ उठाया।

संस्कृत पाठशालाओं की समालोचना

स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में यह भी कहा था कि वेदालोचन के बिना संस्कृत की शिक्षा से कोई लाभ नहीं। पुराणों की कुत्सित शिक्षा से लोग व्यभिचारी हो जाते हैं और जो विचारशील हैं वह धर्म्म से पतित होकर हानिकारक बन जाते हैं। बङ्गाल के लेफ्टिनेण्ट गवरनर ने कलकत्ते के संस्कृत कालेज को तोड़ देने का प्रस्ताव किया था। इस बात को सुनकर स्वामीजी ने भी कहा था कि ऐसे कालेज से जिसमें वेद नहीं पढ़ाये जाते कोई लाभ नहीं है। बाबू प्रसन्नकुमार ठाकुर ने मूलाजोड़ में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की थी।

वह उसमें गये थे और वहाँ उन्होंने यह प्रस्ताव किया था कि इसमें वेदों की शिक्षा दीजावे।

डाक्टर महेन्द्रलाल सर्कार से भी उनकी बातचीत हुई थी और स्वामीजी ने उन्हें संस्कृत आयुर्वेद के महत्व बतलाये थे।

व्याख्यान देने और वेदभाष्य करने का निश्चय

एक दिन स्वामीजी ने बलदेवप्रसाद से कहा कि बलदेव, रईसों के पुत्र तो फ़ारसी अंग्रेज़ी ने ले लिये, दरिद्रों के लड़के संस्कृत के लिये रह गये। इन वानरों से कुछ न होगा। उन्हों ने यह सङ्कल्प किया कि अब हम व्याख्यान दिया करेंगे और वेदभाष्य करेंगे।

न्योता क्यों खाया?

एक दिन गजानन विद्यार्थी विना स्वामीजी की आज्ञा के किसी मारवाड़ी के यहाँ निमन्त्रित होकर भोजन कर आया। स्वामीजी उस से अप्रसन्न हुए और आगे को ऐसा करने से उसे निषेध किया परन्तु उस के पश्चात् भी एक वार उस ने फिर ऐसा ही किया। तब स्वामीजी ने उसे निकाल दिया।

विना परिचय के परिचय

कहते हैं कि जब बाबू केशवचन्द्रसेन प्रथम वार स्वामीजी से मिले और बात-चीत की तो उन्हों ने स्वामीजी को अपना परिचय नहीं दिया था। बात-चीत की समाप्ति पर केशव बाबू बोले—

केशव०—आप बाबू केशवचन्द्र से मिले हैं।

दया०—हाँ मिला हूँ।

केशव०—परन्तु वह तो यहाँ थे नहीं।

दया०—मैं अवश्य मिला हूँ।

केशव०—जब वह कलकत्ते में थे ही नहीं, कैसे मिले।

दया०—आप ही बाबू केशवचन्द्रसेन हैं।

केशव०—आपने मुझे कैसे पहचाना?

दया०—जो बात-चीत आपसे हुई है वह किसी अन्य की हो ही नहीं सकती।

केशव बाबू स्वामीजी की पुरुष परीक्षा की अपूर्व योग्यता से बड़े प्रसन्न और चकित हुए और वह स्वामीजी के प्रीति-सूत्र में बद्ध होगये।

वैदिक धर्म ही सच्चा धर्म है

केशव बाबू ने एक दिन स्वामीजी से प्रश्न किया कि इस समय जगत् में तीन सब से बड़े धर्म्म हैं, कुरान का, बाइबिल का और वेद का, हम किसे सच्चा मानें। स्वामीजी ने वेद के सच्चा होने में छः युक्तियें दी थीं जिनमें से एक यह थी कि कुरान व बाइबिल में हर प्रकार के झगड़े बखेड़े और कथा, कहानी हैं, परन्तु वेद में उपदेश के अतिरिक्त कोई झगड़ा आदि नहीं है।

एक दूसरे की अनभिज्ञता पर शोक

एक दिन केशव बाबू ने स्वामीजी से कहा कि मुझे शोक है कि आप सरीखे वेदवेत्ता अंग्रेज़ी नहीं जानते, नहीं तो आप इंगलैंड जाने के लिये मेरे प्रीतिप्रद साथी होते। स्वामीजी ने तुरन्त उसका उत्तर दिया कि मैं भी ब्राह्म-समाज के नेता के संस्कृत न जानने पर शोक प्रकट करता हूँ कि वह एक सभ्य धर्म्म उस भाषा में भारतवासियों को सिखाने का दम भरता है जिसे वह प्रायः समझ भी नहीं सकते।

केशव बाबू ने ही स्वामीजी को संस्कृत के बदले भाषा में व्याख्यान देने का परामर्श दिया था और कहा था कि संस्कृत में आप कुछ कहते हैं और दूसरे लोग श्रोताओं को उसका आशय अन्यथा समझा देते हैं। इस परामर्श को स्वामीजी ने स्वीकार किया।

भाषा बोलने का परामर्श

वस्त्र धारण करने का परामर्श

स्वामीजी को वस्त्र धारण करने का परामर्श बाबू केशवचन्द्र-सेन और पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने दिया था और उसे भी स्वामीजी ने स्वीकार कर लिया था।

असत्य के त्याग पर उद्यत

स्वामीजी में जहाँ अनेक गुण थे उनमें एक गुण यह भी था कि वह सत्य और युक्तियुक्त परामर्शों को तुरन्त स्वीकार कर लेते थे चाहे परामर्श देने वाला विद्या, वय में उनसे कितना ही छोटा हो। वह हठी दुराग्रही न थे। वह सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग पर सदा उद्यत रहते थे। इसके दो उदाहरण तो यह ही पाठकों के सामने हैं। अन्य अवसरों पर भी उनकी जीवन-घटनाओं में ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं। इससे उनका महत्व घटता नहीं प्रत्युत कई गुना बढ़जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि उन्होंने कभी कोई भूल की ही नहीं या वह कभी भूल कर ही नहीं सकते थे वह उनके पद को ऊँचा नहीं प्रत्युत नीचा बनाते हैं। निर्भ्रान्त होना तो गुण केवल ईश्वर का है, उन्होंने कभी ईश्वर वा निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं किया। वह सदा यह ही कहते रहे कि मेरी सत्य बातों को मानो असत्य को नहीं। सत्यार्थप्रकाश भूमिका पृष्ठ ७९ शताब्दी संस्करण में वह स्वयं लिखते हैं:—

"इस ग्रन्थ में जो कहीं २ भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा। हाँ जो वह मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।"

ब्राह्मसमाज में मतभेद

बङ्गाल में उन दिनों एक और धार्म्मिक आन्दोलन हो रहा था। राजाराममोहनराय ने जो सुधारक संस्था स्थापित की थी वह ब्राह्मसमाज के नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मसमाज और स्वामीजी के सिद्धान्त कई अंशों में मिलते थे, मुख्य भेद यही था कि ब्राह्मसमाजी वेदों को ईश्वरकृत और आवागमन के सिद्धान्त को नहीं मानते थे। परन्तु फिर भी उन्होंने आर्य्यसंस्कृति से पूरा सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया था। उन दिनों ब्राह्मसमाज में एक नये सुधारक उत्पन्न होगये थे। इनका नाम बाबू केशवचन्द्र सेन था। यह अंग्रेजी के बड़े ओजस्वी और प्रगल्भ वक्ता थे। यह दावा करते थे कि वह ईश्वर के प्रेरित और प्रेषित व्यक्ति हैं। वास्तव में वह अपना वही पद समझते थे और लोगों को समझाते भी थे कि जो पद ईसा का था। उनके विचार ईसाई धर्म्म के सिद्धान्तों की ओर अधिक झुके हुए थे। ब्राह्म-समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे। उनसे बाबू केशवचन्द्र का मतभेद था। बाबू केशवचन्द्रसेन ने उनसे अलग होकर नवविधान-समाज स्थापित किया जिसके वह स्वयं आचार्य्य और अधिनायक बने थे।

एक दिन केशव बाबू ने स्वामीजी को अपने कोलूटोला वाले गृह पर निमंत्रित किया। केशव बाबू और स्वामीजी का इस विषय पर कि जन्म कर्माधीन है वा नहीं विचार हुआ था। केशव बाबू ने किसी प्रसङ्ग के उठने पर एक श्लोक पढ़ा था जिसका एक चरण था 'सुविशालमिदं विश्वं पवित्रं ब्रह्ममन्दिरम्'। स्वामीजी ने इसे सुनकर कहा था कि विश्व को ब्रह्म मन्दिर कहने से ब्रह्म को छोटा करना पड़ता है, वास्तव में ब्रह्म ही विश्व का मन्दिर है और ऐसा ही कहना उचित है।

केशव बाबू का निमन्त्रण

स्वामीजी संस्कृत बोलते थे, परन्तु वह इतनी सरल थी कि केशव बाबू को उसके समझने में कुछ भी कठनाई नहीं हुई।

केशव बाबू ने उसी दिन एक सभा भी बुलाई। उसमें स्वामीजी ने सरल संस्कृत में अपने मन्तव्यों को अभिव्यक्त किया। मूर्त्ति-पूजा, अद्वैतवाद, वर्त्तमान प्रणाली के जातिभेद के विरुद्ध अनेक बातें कहीं, विधवा-विवाह को समुचित बताया, कन्याओं का विवाह १८ वर्ष की आयु में होना चाहिये यह सम्मति भी प्रकट की।

मन्तव्यप्रकाश

सभा समाप्त होने के पश्चात् स्वामीजी, केशव बाबू तथा अन्य लोग तिमंजिले पर चले गये। जब स्वामीजी जीने पर चढ़ रहे थे तब एक बङ्गाली पण्डित ने उनके भाषण में व्याकरण की एक भूल दिखाई। स्वामीजी ने तुरन्त व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत करके सिद्ध कर दिया कि उनके कथन में कोई भूल न थी।

पण्डित की भूल

१३ फाल्गुन शाके १७९४ अर्थात् २३ मार्च सन् १८७३ को केशव बाबू के उद्योग से बाबू गोराचाँद के गृह पर स्वामीजी का एक व्याख्यान संस्कृत में ईश्वर और धर्म्म विषय पर हुआ। उसके सम्बन्ध में २५ मार्च सन् १८७३ के इण्डियन मीटर कलकत्ता में इस प्रकार लिखा था।

एक और व्याख्यान

"गत रविवार को प्रसिद्ध पं० दयानन्द सरस्वती की वक्तृता सुनने के लिये लगभग ४०० पुरुष एकत्र हुए। वह विना किसी तैयारी के दो घण्टे तक ईश्वर के एकत्व और गुणों और धर्म के लक्षणों पर बोले। व्याख्यान की समाप्ति पर व्याख्याता और पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज के बीच में गर्मागर्म वादविवाद हुआ। शास्त्रार्थ धीरे धीरे उत्तरोत्तर सजीव होता गया और सारी सभा में उत्तेजित होने का दृश्य दिखाई देने लगा। परन्तु सभा का शीघ्र ही विसर्जन होगया क्योंकि लोगों ने इस शाब्दिक विवाद को लम्बायमान करना अनावश्यक समझा"।

गर्मागर्म वादविवाद

इस सभा के सम्बन्ध में 'आचार्य केशवदेव' नामक पुस्तक के लेखक ने पृष्ठ ७००-७०१ पर इस प्रकार लिखा है—

"केशव बाबू के गृह पर सभा होने के पश्चात् उनके उद्योग से १३ फाल्गुन शाके १७९४ अर्थात् २३ मार्च सन् १८७३ को बाबू गोराचाँद के मकान पर स्वामी दयानन्दजी की

एक वक्तृता हुई। वक्तृता संस्कृत में थी। इस वक्तृता का विषय ईश्वर और धर्म्म था। ईश्वर विषय में उन्होंने शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीन प्रमाणों का प्रयोग प्रदर्शन किया था। धर्म्म का एकत्व वर्णन करते हुए उसके ११ (१० ?) लक्षण दिखाये थे। सभागत पण्डितों के साथ उनका तर्क-वितर्क भी हुआ था, परन्तु उनकी तीक्ष्ण मनीषा के सामने उन्हें (पण्डितों को) अपना पराजय स्वीकार करना पड़ा"।

हिन्दू नाम

इस व्याख्यान में स्वामीजी ने यह भी कहा था कि हिन्दू नाम से हमारा परिचय होना हमारी अवमानना का विषय है। अरब के (फ़ारिस के ?) लोग काफ़िर और दुष्ट को हिन्दू कहते हैं विदेशी यवनों ने हमें यह नाम दिया है।

स्वामीजी ने इस वक्तृता में वेद में बहुदेवता-वाद होने का खण्डन किया था। इसका पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने प्रतिवाद किया था और इसी पर स्वामीजी का उनसे शास्त्रार्थ होने लगा था।

पं० महेशचन्द्र ने स्वामीजी के व्याख्यान का अनुवाद करते हुए एक स्थल पर ऐसा कह दिया कि स्वामीजी ने अमुक बात कही है। परन्तु वास्तव में उन्होंने वह बात नहीं कही थी। इसी पर संस्कृत कॉलेज के कुछ विद्यार्थियों ने पण्डित महेशचन्द्र से कहा

न्यायरत्न का अन्याय

कि जब स्वामीजी ने यह बात कही ही नहीं थी तो आपने क्यों कह दिया कि उन्होंने यह बात कही है। यह सुन कर पं० महेशचन्द्र बहुत बिगड़े और उठ कर चले गये। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों ने यह बात शास्त्रार्थ के बीच में कही थी, यदि उन्होंने अनुवाद करते समय ही कही होती और इस पर ही पं० महेशचन्द्र बिगड़ कर चले गये होते तो स्वामीजी का उनसे शास्त्रार्थ ही कैसे होता, परन्तु यह निश्चित है कि शास्त्रार्थ हुआ था जैसा कि इण्डियन मीटर और "आचार्य केशवदेव" के उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध है।

एक दिन स्वामीजी पं० रामकुमार विद्यारत्न के साथ, जो पीछे से रामानन्द भारती के नाम से प्रसिद्ध हुए, एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल में गये थे। वहां उनकी बाबू प्रतापचन्द्र घोष से जो वहाँ के प्रधान कर्मचारी थे कुछ कथा-वार्त्ता हुई थी। पहले प्रतापचन्द्र घोष ने स्वामीजी को साधारण संन्यासी समझा था और इसी से उन्होंने उनके साथ

भूल पर पछताये

साधारण जनोचित व्यवहार किया था। परन्तु जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वह स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं तो उन्हें कुछ पश्चात्ताप हुआ और फ़िर उन्होंने स्वामीजी के प्रति विशेष सम्मान प्रकट किया।

स्वामीजी की कलकत्ते में अवस्थिति के समय पं० ताराचरण तर्करत्न भी कलकत्ते में ही थे। उनके सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपने पूना के व्याख्यान में जिसमें उन्होंने आत्म-वृत्त वर्णन किया था इस प्रकार कहा था—

ताराचरण सामने न आये

"राजा सौरेन्द्रमोहन ठाकुर के पास संवत् १९२९ में मेरी अवस्थिति के दिनों में पं० ताराचरण तर्करत्न नामक भाटपाड़ा ग्राम के निवासी ने जो कि हुगली के उस पार है (परन्तु आजकल वह काशिराज के पास रहते हैं) तीन बार जा जा कर यह प्रतिज्ञा की थी कि हम आज

अवश्य शास्त्रार्थ करने को चलेंगे, ऐसा ही तीन दिन तक कहते रहे, परन्तु एक वार भी शास्त्रार्थ करने न आये इससे बुद्धिमान लोगों ने उनकी बात झूठ जानली।"

पं० लेखराम कृत दयानन्द जीवन-चरित्र में पं० तारानाथ तर्क वाचस्पति के सम्बन्ध में मोतीराम मिर्ज़ापुर निवासी की वर्णित निम्न घटना लिखी है—

तर्कवाचस्पति के तर्कबाण निष्फल

"पं० तारानाथ तर्क वाचस्पति भट्टाचार्य लोगों को कहते थे कि हमारे सामने स्वामीजी का वाक् बन्द हो जावेगा। स्वामीजी ने लोगों को प्रेरणा करके उन्हें बुलाया। आते ही उन्होंने ७० प्रश्न किये जिनको वह अपने विचार में समझते थे कि बड़े कठिन हैं और उसका कोई उत्तर नहीं दे सकता, परन्तु स्वामीजी ने उन सब का २२–२३ उत्तरों में उत्तर दे दिया। जब उन्होंने उत्तर सुने तो स्वामीजी के पैरों पर गिर पड़े।"

जब संवत् १९३१ में स्वामीजी यहाँ (मिर्ज़ापुर) पधारे उन दिनों पं० तारानाथजी लखनऊ जाते हुए स्वामीजी के पास बाग़ में उतरे। स्वामीजी ने हमसे (पं० मोतीराम से) उनका परिचय कराया और कहा कि यह तारानाथ हैं। हमने (पं० मोतीराम ने) तारानाथजी से वार्त्ता की तो उन्होंने कहा कि आश्चर्य्य है हमने जब प्रश्न किये थे तब हमारा विचार था कि पृथ्वी भर में कोई उत्तर देने वाला नहीं, परन्तु इन्होंने दमभर में उत्तर दे दिये, उस दिन से हम इनसे अति प्रसन्न हैं।"*

ब्राह्म-समाज की पत्रिका, कलकत्ता ने स्वामीजी के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा था:—

ब्राह्म पत्रिका की सम्मति

"प्रसिद्ध दयानन्द सरस्वती कलकत्ते आये हैं। हिन्दू शास्त्र में उनका निश्चल अधिकार है। वह मूर्त्ति-पूजक नहीं हैं और अद्वैतवादी भी नहीं हैं। वह जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्वीकार करते हैं और एक निराकार ईश्वर की उपासना करते हैं। उनके मत में वेद का मन्त्रभाग अभ्रान्त है। अन्तरस्थ ऐश्वरिक ज्ञान को ही वह वेद का नाम देते हैं। मन्त्रभाग उस ज्ञान का प्रकाशक है। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में उनकी सम्मति युक्तिसंगत है। बाल्य-विवाह के वह नितान्त विरोधी हैं। वह यह सिद्ध करते हैं कि कन्या के लिए १८ और पुरुष के लिए ३० वर्ष की आयु विवाह के लिए प्रकृत समय और शास्त्रोक्त है। वह जाति-भेद स्वीकार नहीं करते; ज्ञान, धर्म के तारतम्य के अनुसार वर्ण-भेद वा अवस्था-भेद स्वीकार करते हैं। वह पुनर्जन्म वा योनि-भ्रमण में विश्वास करते हैं। जिस विषय को वह नहीं जानते उसे सरल भाव से कह देते हैं। वह बड़े विद्वान्, शिष्टाचारी, सदाचारी और सरल हैं, किन्तु मूर्त्ति-पूजा के बड़े विद्वेषी हैं। संस्कृत भाषा उनकी मातृभाषा होगई है। वह बिल्कुल अनायास ही श्रुति-मधुर संस्कृत भाषा में वार्त्तालापादि करते हैं। उनके साथ बात चीत करने से सभी प्रसन्न होकर आते हैं।"

---

* पं० तारानाथजी, तर्क वाचस्पति संस्कृत के एक बृहत् कोष वाचस्पत्यभिधान के रचयिता और बड़े प्रसिद्ध विद्वान् थे। इस घटना का उल्लेख हमें देवेन्द्र बाबू के काग़ज़ों में कहीं नहीं मिला। यदि ऐसी घटना हुई होती तो स्वामीजी पूना के उपर्युक्त व्याख्यान में उसका उल्लेख अवश्य करते। हमें यह घटना संदिग्ध जान पड़ती है। ऐसी घटना देवेन्द्र बाबू की दृष्टि से बचने वाली न थी। वह प्रश्न क्या थे और स्वामीजी ने उनका क्या उत्तर दिया यह भी ज्ञात नहीं। —संग्रहकर्त्ता.

'धर्मतत्व' ने फिर १ चैत्र १७९४ शक के अङ्क में "दयानन्द सरस्वती" शीर्षक देकर इस प्रकार लिखा था—

"वह एक दिग्गज पण्डित हैं, वह हिन्दू-शास्त्र-विशारद हैं, संस्कृत भाषा इनके आयत्ताधीन है। विशेष कर इनकी संस्कृत भाषा इतनी प्राञ्जल, श्रुतिमधुर और सरल है कि संस्कृत से अनभिज्ञ पुरुष भी उसे अनायास बहुत कुछ समझ सकते हैं। सरस्वती की बुद्धि बहुत परिष्कृत और तीक्ष्ण है। उनकी क्षमता असाधारण है, उनमें लोगों को आकर्षित करने की विलक्षण शक्ति है। वह बड़े मिष्टभाषी हैं। एक ईश्वर की उपासना का प्रचार और मूर्त्ति-पूजा का विनाश उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। पाश्चात्य विज्ञान के आलोक से आलोकित न होने पर भी वह जिस विशदरूप से उदारता के साथ सारे विषयों को प्रकट करते हैं, उसे देख कर अवाक् होना पड़ता है। अबतक उन्होंने कलकत्ते में तीन दिन व्याख्यान दिये हैं। पहले दिन ईश्वर के स्वरूप और धर्म्म पर, दूसरे दिन एक ईश्वर की उपासना पर, तीसरे दिन मनुष्य के कर्त्तव्य पर। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में जो बातें उन्होंने कहीं उनमें कई बहुत सूक्ष्म और गूढ़ थीं। आश्चर्य का विषय यह है कि वह सब विषयों को ऐसे परिष्कृत भाव से खोल कर कहते हैं कि वह सब की समझ में अनायास ही आजाते हैं। वह कहते हैं कि एक तो अज्ञान-निबन्धन से भारतवर्ष के लोगों की बुद्धि जड़ होगई है और जड़ की उपासना करने से वह और भी जड़ होगई है। एक, चैतन्य, निराकार ईश्वर की उपासना के बिना मनुष्य की मुक्ति नहीं हो सकती। यह उनका दृढ़ विश्वास है। उपासना के कई लक्षण हैं—चित्त-शुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह, मनः संयोग, प्रीति, ईश्वर-गुण-कीर्त्तन और प्रार्थना। उनकी सम्मति में भारतवासियों में से किसी को हिन्दू कहना उचित नहीं है, क्योंकि यवनों ने अपमान करने के अभिप्राय से ही हमें यह नाम दिया था। मनुष्य-जाति में कोई विभिन्नता नहीं है।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥*

कर्मों के द्वारा ब्राह्मण शूद्र होवे और शूद्र भी ब्राह्मण हो जावे यही पुरानी रीति है। यदि ब्राह्मण दुश्चरित, मूर्ख और धर्म्महीन हो तो उसे शूद्र बना देना चाहिए और शूद्र यदि ज्ञानी, सच्चरित और धार्मिक हो तो उसे ब्राह्मण पद पर प्रतिष्ठित कर देना चाहिये।

उनकी सम्मति में सन्तान पहले माता के पास शिक्षा पावे, पीछे उन्हें पिता शिक्षा देवे। भाषा, व्याकरण, धर्म्म, शास्त्र, वेद, दर्शनशास्त्र, पदार्थशास्त्रादि विषयों की शिक्षा देनी चाहिए। स्त्रियों को भी इसी प्रकार शिक्षा देनी चाहिए। स्त्रियों को इनमें से कई विषयों की विशेष शिक्षा देनी आवश्यक है, जैसे भाषा, धर्मशास्त्र, शिल्पविद्या, सङ्गीत-विद्या और वैद्यक शास्त्र। इनमें से वैद्यक शास्त्र स्त्रियों के लिए विशेष प्रयोजनीय है, क्योंकि स्त्रियों को यह जानना नितान्त आवश्यक है कि किन वस्तु के खाने से शारीरिक पुष्टि और स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। वह यह बार बार कहते हैं कि बाल-विवाह ही अनेक पापों का

* धर्मतत्व में मनु के इस श्लोक का आधा भाग उद्धृत किया है और वह भी इस रूप में "ब्राह्मणः शूद्रतामेति शूद्रो भवति ब्राह्मणः।" —संग्रहकर्त्ता,

मूल है। विशेष शिक्षा देकर कन्याओं का २० वर्ष की आयु में विवाह करना अच्छा है। जो स्त्री स्वामी की मृत्यु पर विवाह करना चाहे उसका विवाह कर देना चाहिए।

दयानन्द परमहंस होते हुए भी पृथ्वी के ऐश्वर्य के प्रति विरक्त नहीं हैं। उनका यही विशेष मत है कि गृहस्थ के साथ संन्यासी का कोई प्रभेद नहीं है। जो विवाह करना न चाहे उसे केवल ज्ञान, धर्म का प्रचार करना चाहिए। एक स्थान में बैठ कर ध्यान धरने मात्र से कोई धार्मिक नहीं हो सकता। यहाँ तक कि वह (लार्ड) नार्थब्रुक * से वैदिक विद्यालय स्थापित करने के लिए साहाय्य लेने के अभिलाषी हैं और इसके लिए केशव बाबू से भी अनुरोध करने में उन्होंने त्रुटि नहीं की। वह कहते हैं कि पुरोहित और भट्टाचार्यों ने देश का सर्वनाश कर दिया है। अर्थ के लोभ से सत्य का विलोप कर दिया है और अन्य लोगों को मूर्ख रक्खा है। फलतः वह उन्नीसवीं शताब्दी के उपयुक्त हैं। जैसी उनकी बुद्धि की तीक्ष्णता है वैसा ही उनका बहुशास्त्रदर्शन है। बड़े २ ज्ञानी, मानी अंग्रेज उनके सामने सहज में ही परास्त हो जाते हैं। जड़वादी और संशयवादी उनके महत्व और बुद्धि-परिष्कार की क्षमता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। फलतः हिन्दू-समाज में ऐसे पुरुष का अभ्युत्थान आश्चर्यकर है, यह कहना पड़ता है।

उनमें विनोद करने की क्षमता बहुत है। तर्कस्थल में वह जो दृष्टान्त देते हैं वह बड़े सुन्दर होते हैं। आश्चर्य का विषय यही है कि वेद के इतने पक्षपाती होते हुए भी वह अद्वैतवादी नहीं हैं। वह कहते हैं कि शङ्कराचार्य के शिष्यों ने ही अद्वैतवाद का प्रचार किया है।

वह वेद के टीकाकार सायणाचार्य को अत्यन्त अग्राह्य कहते हैं। वह कहते हैं कि सायणाचार्य ने ही वेदों के असली अर्थों का लोप कर दिया है। वेद में जो इन्द्र, अग्नि, वरुण प्रभृति शब्द हैं इसी लिए लोग मूर्त्ति-पूजा का प्रतिपादन करना चाहते हैं, परन्तु यह अत्यन्त मूर्खता है। इन्द्र परमैश्वर्यवान्, अग्नि पूजनीय, वरुण श्रेष्ठ, यही उनके असली अर्थ हैं। उस अद्वितीय ईश्वर के सिवाय और कौन परमैश्वर्यवान् हो सकता है, उसके सिवाय और किसके पूजनीय और श्रेष्ठ होने की सम्भावना है। 'इदि परमैश्वर्य्ये, अग् गतौ, वृञ् वरणे,' यही तो प्रकृत धात्वर्थ हैं। वह कहते हैं कि क्या इन शब्दों का प्रकृत अर्थ कभी जड़ पदार्थों में घट सकता है। दयानन्द जिस ढंग से बोलते हैं उससे सबको अवाक् कर देते हैं। इस विषय में हम और अधिक कहना नहीं चाहते। पुराणादि को तो वह सर्वथा अग्राह्य करते हैं। संस्कृत शास्त्र का विलोप हो जाने के कारण वह स्थान २ पर संस्कृत पाठशालाओं के स्थापन करने में विशेष प्रयत्नवान् हैं। अब भी उनकी अंग्रेजी पढ़ने की विशेष इच्छा है।

यही नहीं है कि सरस्वती केवल व्याख्यान ही देते हैं बल्कि वह प्रातःकाल और सायंकाल की दोनों सन्ध्याओं में पाँच छः घण्टे ईश्वर के ध्यान और उपासना में लगाते हैं। उनमें अन्तर्दृष्टि विशेषभाव से देखी जाती है। इन्द्रियनिग्रह, आत्मसंयम, उनके विश्वास के अनुगत हैं और इस विषय में उन्होंने विशेष यत्न किया है। इन्हें देखने से वीरत्व, महत्व, गाम्भीर्य, उच्चाशा के लक्षण सुस्पष्टतया लक्षित होते हैं। वह अपना जीवन प्रति दिन उपासना, अध्ययन, व्यायाम और धर्मालाप में बिताते हैं। वह जो कुछ कहते हैं उसमें से बहुत

---

* लार्ड नार्थब्रुक उन दिनों भारत के गवर्नरजनरल थे। —संग्रहकर्त्ता.

कुछ उनके जीवन की कथा है। केवल वेद की अभ्रान्तता, पुनर्जन्म, प्रभृति हिन्दू-धर्मानुगत कोई कोई संस्कार अभीतक उनके हृदय में वर्तमान हैं। उनका धर्म्म-प्रेम और भक्ति का मार्ग नहीं है। जैसे वह धर्म के प्रथम सोपान पर पहुँच गये हैं यदि ऐसे ही अन्य सोपानों पर पहुँच जायंगे तो उनका मत विशेषरूप से प्रचरित हो जायगा। हम आशा करते हैं कि उनके द्वारा हिन्दू समाज पुनर्जीवित हो जायगा। ईश्वर उनकी साधु इच्छा पूर्ण करे।"

हमने 'धर्मतत्व' से यह लम्बा उद्धरण केवल इस लिये दिया है कि कलकत्ते में शिक्षित और प्रतिष्ठित पुरुषों के क्या भाव थे और उन्होंने स्वामीजी की शिक्षा को किस दृष्टि से देखा और स्वामीजी के संसर्ग का उन पर क्या प्रभाव पड़ा था। दूसरा कारण यह भी है कि अन्य कहीं हमें यह विवरण नहीं मिलता कि स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में क्या कहा था। यह उद्धरण एक प्रकार से उनके भाषणों की संक्षिप्त रिपोर्ट है। पाठक देखेंगे कि उस समय भी स्वामीजी के मन्तव्य वही थे जो पीछे स्वामीजीकृत ग्रन्थों द्वारा प्रचरित हुए। इस उद्धरण का लेखक एक ब्राह्म-समाजी है जिसे वेद की निर्भ्रान्तता और पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनोनीत नहीं है और इसी कारण उसने लेख के अन्त में इन सिद्धान्तों पर दबे शब्दों में आक्षेप किया है। आक्षेप क्या एक प्रकार से उनकी हँसी उड़ाई है और स्वामीजी के प्रति भी कुछ ऐसा भाव प्रकट किया है कि आश्चर्य है कि स्वामीजी जैसे विद्वान्, बुद्धिमान्, विचारशील और उन्नीसवीं शताब्दी के विचार रखने वाले भी ऐसे लचर सिद्धान्तों को मानते हैं। यह दोनों सिद्धान्त युक्ति-संगत हैं और प्रबल प्रमाणों पर इनका आधार है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त तो अब इतना व्यापक होगया है कि पश्चिम के बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी उसे मानने लग गये हैं। वेदों की निर्भ्रान्तता अवश्य अभीतक इतनी ग्राह्य नहीं हुई है जितना पुनर्जन्म का सिद्धान्त, परन्तु यह इसी कारण से है कि अभीतक पश्चिम में वेद के सत्य अर्थों और उनकी शिक्षा का प्रचार नहीं हुआ है। परन्तु यह हो रहा है कि वेदों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के पूर्व विचार परिवर्तित होरहे हैं और अब उन्हें 'गडरियों का गीत नहीं समझा जाता, उन्हें पूर्वापेक्षा अधिक सम्मान की दृष्टि से देखाजाता है। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि पाश्चात्य विद्वान् वेदों को ईश्वरीय वाक्य मानने की ओर आरहे हैं परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पहले की अपेक्षा वेदों में उनकी श्रद्धा बढ़गई है और वह अब वेदों के उतने ऊटपटांग अर्थ नहीं करते जितने पहले करते थे। पाश्चात्य विद्वानों के अनुयायी भारतीय विद्वानों के विचारों में भी परिवर्तन होरहा है और वह वेदों के वैज्ञानिक अर्थ करने लगे हैं। यह परिवर्त्तन शुभ है और भविष्य के लिये आशाजनक है। हमें यह कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं है कि इन परिवर्तनों का कारण स्वामीजी का वेद-भाष्य और उनकी अर्थ करने की शैली ही है।

दूसरी पत्रिका की सम्मति

कई अन्य सुपठित और सम्मानास्पद वङ्गीय सज्जनों ने भी स्वामीजी के विषय में अपनी सम्मति प्रकट की थी और उनकी विद्या, तप, चरित्र और सुधार-कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। हम उनकी सम्मतियों को यहाँ ग्रन्थ का कलेवर बढ़ने के भय से उद्धृत नहीं करते। केवल एक उद्धरण 'तत्व-बोधिनी' पत्रिका का और देते हैं। स्वामीजी की कलकत्ता यात्रा के विषय में उसमें इस प्रकार लिखा था—

"थोड़े दिन हुए पण्डित-वर श्रीयुक्त दयानन्द सरस्वती अपने विद्या-प्रभाव से कलकत्ता निवासियों को आश्चर्य्यित कर गये हैं। बङ्ग देश के ब्राह्मण पण्डितों में बहुत से केवल शास्त्र-वचन को लेकर वाणिज्य व्यवसाय करने में निपुण हैं, परन्तु जब शास्त्र के प्रकृत मर्म, भाव वा तात्पर्य्य की व्याख्या करनी होती है तो वह चारों ओर अन्धकार ही देखते हैं। बङ्ग देश के पण्डित मूल शास्त्र को सर्वथा भूल गये हैं और केवल देशाचार और लोकाचार को ही सर्वस्व जानते हैं"।

शास्त्रार्थ

कलकत्ते में स्वामीजो का एक शास्त्रार्थ हिन्दू पण्डितों से बाबू ईशानचन्द्र मुखोपाध्याय के गृह पर भी हुआ था, परन्तु उसका विवरण ज्ञात नहीं हुआ।

नैयायिकों का जाल

कलकत्ते में नवद्वीप के पंडितों ने एक दिन एक सभा की। उसमें केशव बाबू स्वामीजी को गाड़ी पर अपने साथ सवार कराकर ले गये। नवद्वीप के नैयायिक भारत-वर्ष भर में प्रसिद्ध हैं। पण्डितों ने स्वामीजी को अपने न्याय-कौशल से निरुत्तर करने की चेष्टा की। 'भारतजीवन' के सम्पादक ने इस सभा के सम्बन्ध में लिखा था कि अन्त में पण्डितों ने स्वामाजी को न्याय के जाल में डाल कर कुछ निरुत्तर कर दिया था। केशव बाबू सभा के विसर्जन होने से पहले ही चले गये थे। चलते समय स्वामीजी के लिये गाड़ी तक का प्रबन्ध नहीं किया गया। कुछ देर प्रतीक्षा के पश्चात् एक सज्जन ने प्रबन्ध कर दिया तब कहीं वह डेरे पर पहुँचे। हम 'भारतजीवन' के सम्पादक की सम्मति मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि प्रथम तो उन्होंने जो प्रश्नोत्तर पण्डितों और स्वामीजी के बीच में हुए थे उनका उल्लेख नहीं किया जिसे देख कर कोई अन्य मनुष्य भी स्वामीजी के निरुत्तर होने न होने के विषय में अपनी सम्मति स्थिर कर सके; दूसरे यदि ऐसा हुआ होता तो पण्डितगण तो सहस्रमुख होकर अपनी विजय-घोषणा करते और विज्ञापनों और समाचारपत्रों द्वारा अपनी विजय-दुन्दुभि बजाते हुए नहीं थकते। परन्तु हम इसका कहीं एक चिन्ह भी नहीं पाते। यह हम मानने को तैयार हैं कि स्वामीजी नव्य न्याय की व्यर्थ, शुष्क और जटिल फक्किकाओं में पारङ्गत नहीं थे। वह स्वयं नव्य न्याय की भाषा को काक भाषा कहा करते थे और अनार्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन के नितान्त विरोधी थे। परन्तु वह गौतम के न्यायदर्शन और उसके वात्स्यायनभाष्य पर पूर्णतया अधिकार रखते थे और कोई नव्य-न्याय-विशारद पण्डित उनके सामने नहीं ठहर सकता था। और कभी भी कहीं भी कोई भी नैयायिक उनसे शास्त्रार्थ में वर नहीं हो सका था। अतः यह हम कैसे मान लें कि नवद्वीप के पण्डितों ने उन्हें निरुत्तर कर दिया था।

कलकत्ते रहने के समय स्वामीजी को वैदिक पाठशालाएँ स्थापित करने की चिन्ता रहती थी, परन्तु कलकत्ते में किसी ने इस विषय में कोई उत्साह-प्रदर्शन नहीं किया। यह ज्ञात नहीं कि वहाँ स्वामीजी ने वैदिक पाठशाला के लिये धन एकत्र करने का भी कोई यत्न किया था या नहीं। यदि किया हो तो यह स्पष्ट है कि उन्हें उसमें सफलता नहीं हुई।

स्वामीजी कलकत्ते में भी वस्त्रधारण नहीं करते थे, परन्तु जब लोग उनसे बात-चीत करने आते थे तो वह पैरों पर एक चादर या धोती डाल लिया करते थे। उन्होंने वस्त्र धारण करना कलकत्ता यात्रा से लौट आने के पश्चात् आरम्भ किया था।

हुगली

कलकत्ते से विदा होकर स्वामीजी १ एप्रिल सन् १८७३ को हुगली पहुँचे और बाबू वृन्दावनचन्द्रमण्डल के बाग़ में ठहरे। स्वामीजी के आते ही समस्त नगर में आन्दोलन उपस्थित हो गया और मनुष्यों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनों को जाने लगे।

पादरी लालबिहारी दे

उस समय हुगली कालेज के प्रिंसिपल पादरी बिहारीलाल दे थे। वह स्वामीजी से पहले से परिचित थे क्योंकि उनकी मुग़लसराय में स्वामीजी से बात-चीत हो चुकी थी। दे महोदय अपने समय के बड़े प्रसिद्ध विद्वान् थे। अंग्रेज़ी पर उनका विशेष वश था। प्रेसिडेंसीकालेज कलकत्ता के रो और वेब नामक दो अंग्रेज़ प्रोफ़ेसरों ने अंग्रेज़ी पढ़ने की विधि पर एक पुस्तक लिखी थी उसमें बङ्गालियों की अंग्रेज़ी की अशुद्धियों को लेकर खिल्ली उड़ाई गई थी। दे महोदय ने उसके उत्तर में स्वयं उन दोनों प्रोफ़ेसरों की अंग्रेज़ी भाषा में त्रुटियाँ दिखा कर उन्हें लज्जावनत किया था। दे महोदय हुगली में भी स्वामीजी से वार्त्तालाप करने के लिये आये थे और वर्ण-भेद के विषय में उनका और स्वामीजी का वार्त्तालाप हुआ था। अन्त को दे महोदय को अपने पक्ष की अलीकता स्वीकार करनी पड़ी थी।

हुगली का व्याख्यान

स्वामीजी ने वृन्दावन बाबू के उद्यान में ६ एप्रिल सन् १८७३ को एक व्याख्यान दिया जिसमें हुगली के सभी गण्य, मान्य, सम्भ्रान्त और शिक्षित पुरुष उपस्थित हुए। स्वामीजी के विषय-निरूपण की शैली और उन के श्रुति-सुखकर, मिष्ट और सरल संस्कृत से श्रोतृ-वर्ग मुग्ध हो गये। इस वक्तृता के सम्बन्ध में बाबू अक्षयकुमार घोष ने देवेन्द्र बाबू को लिखा था—"मेरी उपस्थिति में चूँचड़ा के मण्डलों के गृह पर पण्डितवर दयानन्द ने एक दिन अपराह्न में एक वक्तृता दी थी। उस समय भटपल्ली (भाट पाड़ा) के कई पण्डित उपस्थित थे। दयानन्द की सरल संस्कृत में बोलने की शक्ति को देखकर मैंने उनकी मन ही मन सौ बार प्रशंसा की थी। उससे पहले मेरा विश्वास नहीं था कि ऐसी सरल संस्कृत में ऐसे कठिन विषयों की व्याख्या हो सकती है। उनकी प्रचुर भङ्गी से ही अनेकों को उनकी भाषा सहज में ही बोधगम्य हो जाती थी।"

अक्षय बाबू, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजनाथ वसु वह लोग थे जो वर्त्तमान बङ्ग साहित्य के जन्मदाता और निर्माता समझे जाते हैं।

पं० ताराचरण शास्त्रार्थ से बचते रहे

बड़े २ नामी पण्डित तो व्याख्यान में आये, परन्तु काशिराज के राजपण्डित ताराचरण तर्करत्नजी न आये। काशी-शास्त्रार्थ के समय पाठकों का उनसे परिचय हो चुका है, सब से प्रथम इन्हीं से स्वामीजी ने प्रश्न किये थे और निरुत्तर हो जाने के कारण इन्हें वेदी पर से हटा लिया गया था। पं० ताराचरण सभा में तो न आये, परन्तु घर बैठे ही आस्फालन और अभिमान करते रहे। कलकत्ते में भी वह राजा सौरेन्द्रमोहन से प्रतिज्ञा करने पर भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने नहीं आये थे।

व्याख्यान से अगले दिन वृन्दावन बाबू ने स्वामीजी से पं० ताराचरण के अभिमान

अन्त को शास्त्रार्थ पर विवश हुए

की बात कही तो श्रीमहाराज ने उत्तर दिया कि यदि ताराचरण पण्डित हैं तो सभा में क्यों नहीं आते, अभिमान तो पण्डित का लक्षण नहीं है। उन्होंने तो एक बार भी हमारे सामने आकर पाण्डित्य का अभिमान प्रदर्शित नहीं किया। इस पर वृन्दावन बाबू पं० ताराचरण के पास गये और अनुरोध, अनुनय-विनय और आग्रह करके किसी न किसी तरह उन्हें स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने पर सहमत किया। मङ्गलवार ८ अप्रेल सन् १८७३ शास्त्रार्थ के लिये नियत हुआ। निर्दिष्ट दिवस और निश्चित समय पर पं० ताराचरण भाट पाड़ा के अनेक पण्डितों को साथ लिये हुए सभास्थल में पधारे। सभास्थल पहले से ही श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। सब लोग शास्त्रचर्चा सुनने के लिये उत्सुक और उत्कण्ठित थे और शास्त्रार्थ आरम्भ होने की व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों त्यों करके शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। बाबू भूदेव मुखोपाध्याय मध्यस्थ नियत हुए। शास्त्रार्थ का विषय था वही मूर्ति-पूजा।

शास्त्रार्थ—

तारा०—हम प्रतिमापूजन के स्थापन का पक्ष लेते हैं।

दया०—आपकी जो इच्छा हो वह पक्ष लीजिये। परन्तु मैं तो प्रतिमापूजन का उसके वेदविरुद्ध होने के कारण सदा खण्डन ही करूँगा।

तारा०—इस शास्त्रार्थ में वाद होना ठीक है या जल्प या वितण्डा ?

दया०—वाद ही होना ठीक है क्योंकि जल्प और वितण्डा करना पण्डितों को कदापि उचित नहीं है और वाद भी वही जो गौतम मुनि ने लिखा है।

तारा०—अच्छा वाद ही होगा।

उस समय यह भी प्रस्ताव किया गया कि प्रमाण में चार वेद, छः अङ्ग और छः उपाङ्ग ही लिये जावेंगे और किसी ग्रन्थ का प्रमाण न लिया जावेगा। इस प्रस्ताव से दोनों सहमत होगये।

तारा०—(एक संस्कृत वाक्य बोलकर) यह पतञ्जलि का सूत्र है कि चित्त विना स्थूल पदार्थ के स्थिर नहीं होता, इसलिये उपासना में स्थूल पदार्थ प्रतिमा का ग्रहण किया जाता है, यह व्यास-वचन है।

दया०—पातंजल शास्त्र में ऐसा सूत्र कहीं नहीं है, हाँ इस प्रकार अवश्य है कि मन की स्थिति का कोई विषय होता है, सो इस सूत्र के व्याख्यान में व्यासजी ने लिखा है कि नासिका के अग्रभाग में मन को स्थिर करे। आपके अशुद्ध पाठ से ज्ञात होता है कि आपने योगशास्त्र नहीं देखा और आपने जो पहले पतञ्जलि का सूत्र कहकर अन्त में उसे व्यास-वचन कहा सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यासजी ने योगशास्त्र के भाष्य में कहीं ऐसा नहीं लिखा। यदि यह योग-सूत्र हो तो व्यास-वचन नहीं हो सकता और जो इसे व्यास-वचन मानो तो पतञ्जलि का सूत्र नहीं हो सकता। इससे आपकी एक बात दूसरी को काटती है।

तारा०—एक पदार्थ आँखों से देखने से बुद्धि में साक्षात् होता है और यतः आँखों से स्थूल पदार्थ ही देखा जा सकता है, इससे उपासना स्थूल-विषय होने से प्रतिमा का ग्रहण होता है।

दया०—आप पहले मान चुके हैं कि इस शास्त्रार्थ में वेदादि सच्छास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रमाण न देंगे, फिर यह जो आपने वाचस्पति का प्रमाण दिया तो क्यों दिया। देखिये जब तक जागृत अवस्था रहती है तब तक दृष्टि में सब पदार्थ स्थूल रहते हैं, स्वप्न अवस्था में कोई पदार्थ स्थूल नहीं रहता, अतः आपके ही अनुसार स्वप्न में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होना चाहिये, परन्तु यह बात नहीं है। और आप यह स्वीकार कर चुके हैं कि हम जल्प और वितण्डा नहीं करेंगे फिर जाति-साधन से प्रतिमा-स्थापन कैसा? देखिये आपके इस कथन से स्थूल पदार्थों में ही मन स्थिर होता है। परन्तु इसमें दोष है, क्योंकि स्थूल-पदार्थों में सब संसार आ जाता है, क्या गधा, क्या घोड़ा, क्या वृक्ष, क्या ईंट आदि। आप बतलाइये कि आप किस का ध्यान करेंगे? केवल प्रतिमा ही तो स्थूल पदार्थ नहीं है जो आप उसी को लिये लेते हैं।

तारा०—आपके कहने से भी प्रतिमा की सिद्धि होती है क्योंकि वह स्थूल ही है। (चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति की उपासना का उल्लेख किया)

दया०—(ताराचरण ने अपने कथन में 'एव' शब्द का तीन वार प्रयोग किया था) आपका एव शब्द का तीन वार प्रयोग व्याकरण के विरुद्ध है। इससे आपकी संस्कृतज्ञता अच्छे प्रकार प्रकट होगई और ज्ञात होगया कि इसी कारण आपको इतना घमण्ड है। और लोकान्तरस्थ से जो आप चतुर्भुज विष्णु लेते हैं सो वह तो वैकुण्ठ में सुने जाते हैं, फिर उनकी उपासना अर्थात् उनका अपने समीप बुलाना और उनमें मन लगाना कैसे हो सकता है, कदापि नहीं। और पाषाणादि की मूर्ति एक शिल्पी के हाथ की बनाई हुई है वह विष्णु कैसे हो सकती है। बड़े आश्चर्य की बात है।

तारा०—(एक संस्कृतवाक्य का उद्धरण करके) इस वचन से दूसरे लोक में रहने वाले की भी उपासना आती है।

दया०—यह वचन इस विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि इससे उपासना तनिक भी नहीं आती। इसका तो यह अभिप्राय है कि जिस योगी को अणिमा आदिक सिद्धियाँ हो गई हैं वह, जिस २ लोक में जाने की इच्छा करता है वहाँ जाकर आनन्द करता है। आप जो यह कहते हैं कि मर कर उस लोक में जाता है वा पाषाण की उपासना इस लोक में करता है, यह दोनों बातें इस वचन से सिद्ध नहीं होती हैं।

तारा०—उपासना का जो स्थूल विषय कहा था उसमें प्रतिमा भी आ गई। आप देख लीजिये कि हम वाद ही करेंगे, जल्प वा वितण्डा कभी नहीं करेंगे।

दया०—आप जो वार वार स्थूलत्वसाधर्म्य से प्रतिमा-पूजन का स्थापन करना चाहते हैं, सो आप अपनी इस प्रतिज्ञा को कि हम वाद करेंगे नाश करता है।

तारा०—प्रथमतः अस्माभिः यत्—

दया०—(पं० ताराचरण ने इतना ही कहा था कि दयानन्द बोले) आपने जो यह संस्कृत बोला सो व्याकरण से अशुद्ध है, वह ऐसा होना चाहिये 'प्रथमतोऽस्माभिर्यत्' और यहाँ इसका कुछ सम्बन्ध भी नहीं है।

तारा०—जिस बात का दृष्टान्त दिया जावे उस दृष्टान्त में सब बातों का मिलना कुछ आवश्यक नहीं है।

दया—मैंने कब कहा कि दृष्टान्त सब प्रकार मिलना ही चाहिये। आपने जो यह वचन बोला था उसका तो एक अंश भी आपके पक्ष से सम्बन्ध नहीं रखता था। इसलिये उसका कहना और आपका पक्ष सब व्यर्थ ही है।

तारा०—उपासनामात्रमेव भ्रममूलम् अर्थात् उपासना मात्र ही भ्रम मूलक है।

दया०—देखिये आपका पक्ष जो प्रतिमा-स्थापन का था वह सिद्ध न हो सका तो आप ही उसका खण्डन करने लगे कि प्रतिमापूजन ही भ्रम-मूलक अर्थात् मिथ्या है।

जिस समय पंडितजी ने अपने मुँह से यह शब्द कहे उसी समय बाबू भूदेव मुखोपाध्याय, पं० हरिहर तर्कसिद्धान्त, बा० वृन्दावनचन्द्र यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि पंडित जी तो यह प्रतिज्ञा करके आये थे कि हम मूर्ति-पूजा सिद्ध करेंगे और यहाँ लगे उलटा उसका खंडन करने।

मूर्त्तिपूजन मिथ्या ही है

इसके पश्चात् स्वामीजी ने मुस्करा कर पं० ताराचरण से कहा कि मैं तो मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करता ही हूँ, परन्तु अबतो आपके कहने से ही उसका खण्डन होगया। इस पर पण्डितजी कुछ न बोले और मकान की दूसरी मंजिल पर चले गये। स्वामीजी भी उनके पीछे २ चले और जीने पर उन्हें पकड़ कर उनका हाथ अपने हाथ में लेकर कोठे पर पहुँच गये। वहाँ स्वामीजी ने वृन्दावन बाबू व अन्य भद्र पुरुषों के सामने पं० ताराचरणजी से कहा कि आप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं। पण्डितजी ने खुले मन से कहा कि मैं तो लोक-भाषा का खण्डन करता हूँ और सत्य शास्त्र पढ़ने पढ़ाने का भी उपदेश करता हूँ और पाषणादि मूर्त्तिपूजन भी मिथ्या ही जानता हूँ, परन्तु क्या करूँ जो सत्य सत्य कहदूँ तो मेरी जीविका ही चली जावे अर्थात् काशिराज मुझे निकाल कर बाहर करदें। इससे मैं सत्य सत्य नहीं कह सकता जैसा आप कहते हैं।

एक बंगाली युवक की भक्ति

बाबू मन्मथनाथ चौधरी बी० ए० एक बङ्गाली युवक स्वामीजी के उपदेश, उनके चरित्र उनकी विद्वत्ता, उन की विद्या पर इतने मुग्ध हुए कि कलकत्ते में प्रायः उनके साथ ही रहने लगे थे और उनके पास ही सोने लगे थे। वह कलकत्ते से हुगली भी उनके साथ ही आये थे। स्वामीजी भी उनसे बड़े प्रसन्न थे।

पण्डित अनुगत

शास्त्रार्थ की रात्रि को भाटपाड़ा के कई पण्डित महाराज के समीप उपस्थित हुए और उनके मन्तव्य की सत्यता को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया। महाराज उनके स्पष्ट भाषण से बहुत प्रसन्न हुए।

मन्मथ बाबू इस विषय में इस प्रकार लिखते हैं:—

"जब मैं और स्वामीजी एक कमरे में रात्रि के समय बैठे हुए थे तो कुछ पण्डित लोग जिनके नाम मुझे ज्ञात नहीं हैं उनके पास आये। उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ-सम्बन्धी विवाद करने के लिये क्षमा प्रार्थना की और उदारता पूर्वक अपना लघुत्व और अपने पक्ष की निर्बलता स्वीकार की। उन्होंने स्पष्टतया कहा कि हम आपके मन्तव्यों और उपदेश का विरोध केवल अपने कट्टर हिन्दू सहायकों के प्रसन्न करने के लिये करते हैं।"

स्वामीजी उनके इस स्पष्ट भाषण से बहुत प्रसन्न हुए।

मन्मथ बाबू ने स्वामीजी के सम्बन्ध में एक पत्र देवेन्द्र बाबू को लिखा था। उसे हम यहाँ नक़ल करना इसलिये चाहते हैं कि उसमें स्वामीजी के गुणों का, उनकी दिनचर्य्या का और जो प्रभाव स्वामीजी के चरित्र का उन पर हुआ उसका अत्यन्त रोचक और विशद वर्णन है। उस पत्र से महाराज के एक विशेष गुण का पता लगता है जो अच्छे से अच्छे मनुष्यों में भी कम पाया जाता है वह यह कि जितना किसी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता था उतना ही अधिक वह उनकी ओर आकृष्ट होता था और उतना ही अधिक वह उन्हें प्यार करता था। महाराज जैसे सभा में थे वैसे ही निज गृह पर भी थे, उनका बाहर भीतर एकसा था। वह सर्वथा निष्कपट, सरल सत्यसंध थे, वह सर्वथा द्वेषरहित थे। वह पूर्ण योगी थे, हिंसा वा प्रतिहिंसा का भाव उनमें लेशमात्र भी न था। थोड़े शब्दों में यदि किसी को पूर्ण मनुष्य कहा जा सकता है तो वह श्री महाराज थे।

मन्मथ बाबू अपने उक्त पत्र में लिखते हैं:—

"मैं वर्द्धमान * से स्वामीजी से विदा होकर कलकत्ते चला गया जहाँ मुझे कार्य था और स्वामीजी बिहार चले गये।

वर्द्धमान में अलग होकर मैं जोधपुर (राजपुताना) महाराजा के स्कूल का हेड मास्टर होकर चला गया और फिर मैं उनके उन्नायक सहवास का आनन्द लाभ न कर सका।

मन्मथ बाबू की सम्मति

स्वामीजी मुझसे अपने अन्तिम दिनों तक प्रेम करते रहे जैसा मुझे बहुत से मनुष्यों से ज्ञात हुआ। अब मुझे गहरा शोक है कि मैं ने नौकरी क्यों स्वीकार करली। मैं स्वामीजी के साथ सन् १८७३ में रहा था और अब सन् १९०० है। इन २७ वर्षों में मैं भारतवर्ष में बहुत घूमा हूँ, परन्तु मुझे एक पुरुष भी ऐसा नहीं मिला जो स्वामीजी से लग्गा खाता हो। मेरा जीवन दूसरे ही प्रकार का होता यदि मैं उनके साथ रहे आता।

चूँकि मैं उनके साथ रहा और सोया हूँ इसलिये मैं आपको कुछ ऐसी बातें बता सकता हूँ जो कोई अन्य पुरुष नहीं बता सकता। वह पक्के निरामिष-भोजी थे। उनकी दाल भाजी में विलक्षण प्रकार के मसाले पड़ते थे और उनका विलक्षण स्वाद होता था। अपने पश्चात् के जीवन में कभी कोई वस्तु उन जैसी नहीं खाई। वह फूस पर शयन किया करते थे और मैं भी उनके निकट ही सोया करता था। वह नियम से प्रति-दिन प्रातःकाल बहुत देर तक योगाभ्यास किया करते थे और उस समय भी मुझे अपने पास रहने की अनुमति दे दिया करते थे। मैंने बनारस में बहुतों को योगाभ्यास करते देखा है, परन्तु उनके समान किसी को नहीं देखा। उनकी दिनचर्य्या इस प्रकार थी—

दिनचर्य्या

वह तीन बजे के लगभग उठा करते थे और प्रातःकाल तक योगाभ्यास करते रहते थे। फिर वह शौचादि से निवृत्त होते थे तत्पश्चात् वह स्नान करते थे और देह पर भस्मी रमाते थे। ९ बजे वह दर्शकों से मिलते थे और १२ बजे तक उनसे बात-चीत करते रहते थे। फिर वह भोजन करते थे और एक बजे से रात्रि के ९ बजे तक निरन्तर दर्शकों के साथ विचार करते रहते

* स्वामीजी हुगली से वर्द्धमान गये थे और मन्मथ बाबू उनके साथ गये थे।"—ग्रंथकर्ता,

थे, मुझे आश्चर्य है कि उन्हें गले का Cancer रोग क्यों नहीं हुआ। मैंने और किसी मनुष्य को नहीं देखा जो प्रति दिन इतने घंटे महीनों और वर्षों संस्कृत में बोलता और वाद-विवाद करता रहे। मुझे विश्वास है कि उनका जन्म किसी विशेष उद्देश्य के लिये हुआ था।

वह इतना बोलते थे कि प्रतिदिन उनका गला बैठ जाता था, परन्तु अगले दिन फिर उसी कार्य के लिये प्रस्तुत होजाते थे। रात्रि में वह सूक्ष्म आहार करते थे और बहुत करके कुछ भी न खाते थे और सब भोजन हम लोगों को खाने के लिये बाँट देते थे।

अब मैं वह अनुभव वर्णन करता हूँ जो मुझे उनका हुआ था। यदि कोई मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र चरित्र लेकर उत्पन्न हुआ हो तो वह स्वामीजी थे। यदि किसी मनुष्य ने साम्यवाद को चरितार्थ किया हो तो वह स्वामीजी थे। वह यह जानते ही न थे कि 'वपुर्विशेषेष्वतिगौरवा क्रिया' के क्या अर्थ हैं। मैंने उनके पास राजाओं, महाराजाओं को बहुधा आते देखा है जो यह आशा करते थे कि उनका विशेषरूप से स्वागत किया जायगा। परन्तु स्वामीजी उनके प्रति लवलेश मात्र भी सम्मान प्रकट न करते थे। हम बहुत वार निःस्वार्थी पुरुषों और देशभक्तों का वर्णन सुनते हैं, परन्तु मेरे ज्ञान में तो यही एक निःस्वार्थी पुरुष और देशभक्त थे। यदि मुझे उनके निरन्तर सहवास का सौभाग्य प्राप्त न हुआ होता तो मुझे यह कभी ज्ञात न हुआ होता कि साम्यवाद क्या होता है, मुझे यह कभी ज्ञात न होता कि चरित्र बल क्या होता है।

यह भारतवर्ष का दौर्भाग्य है कि उनकी मृत्यु समय से पहले और संभवतः अनैसर्गिक (Unnatural) हुई। उनका स्थान लेने के लिये कोई नहीं है। ऐसा विद्वान् ऐसा भक्तिपूर्ण, संलग्नतापूर्ण और निःस्वार्थपूर्ण कोई नहीं है।

कट्टर पण्डितगण ने चिड़ाने के लिये उनका नाम नास्तिक रख छोड़ा था, परन्तु यदि वह नास्तिक थे तो मैं नहीं जानता कि आस्तिक कौन है।

मैं स्वामीजी की स्मृति से अत्यन्त प्रेम करता हूँ। मुझे सदा यह पश्चात्ताप रहा है कि मैंने नौकरी के लिये उनका सहवास त्याग किया।

मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि आप स्वामीजी का जीवन-चरित्र लिख रहे हैं क्योंकि मैं उनकी स्मृति की पूजा करता हूँ।"

वर्णभेद

हुगली में स्वामीजी ने एक व्याख्यान वर्णभेद पर कथन किया था। उन्होंने कहा था कि भारत में आजकल जहाँ तहाँ ब्राह्मण श्रेणी ही पाचक का कार्य करती दिखाई दे रही है, प्राचीन भारत में ऐसा नहीं था। ब्राह्मण का कार्य रसोई बनाना नहीं है। यदि ऐसा होता तो अज्ञातवास के समय विराट् भवन में भीमसेन प्रधान सूपकार कैसे बन सकते थे। यह बात नहीं थी कि पहले समय में वर्ण जन्मगत न हो। जन्म गत तो था, परन्तु निम्नस्थ जाति गुण कर्म से उन्नतर और उन्नतर कर्मदोष से निम्नतर होजाती थी। बाबू अक्षयचन्द्र सरकार स्वामीजी के निकटतर बैठे हुए थे। स्वामीजी ने उनकी ओर अंगुली से निर्देश करके कहा कि यदि पहला समय होता तो यह विनीत, शिष्ट, कृतविद्य बाबू अवश्य ही ब्राह्मण होजाता।

ब्रह्मास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि उस वाण के अग्र भाग में ऐसा रासा-

महास्त्र यनिक पदार्थ रहता था कि वायु में वेग से चलने पर वह जल उठता था और शत्रु सेना में गिरकर महान् अग्निदाह उत्पन्न कर देता था।

स्वामीजी हुगली में अधिक दिन नहीं रहे। केवल १० ※ दिन के लगभग ठहर कर वर्द्धमान चले गये। मन्मथदास चौधरी भी उनके साथ गये।

वर्द्धमान वर्द्धमान में स्वामीजी का आतिथ्य राजा वनबिहारी कपूर ने किया था। वर्द्धमान में उनका किसी से शास्त्रार्थ नहीं हुआ, परन्तु प्रतिदिन अनेक मनुष्य उनके स्थल पर आकर धर्म्म-सम्बन्धी शङ्कायें निवृत्त करते रहे वर्द्धमान के महाराजा भी उनके उपदेश में प्रतिदिन आया करते। परन्तु वह साधारण लोगों के साथ बैठना पसन्द नहीं करते थे अलग कुर्सी डलवाकर बैठे रहते थे। अतः उनका स्वामीजी से वार्त्तालाप नहीं हुआ और महाराज ने उनके पास जाने की परवाह नहीं की।

वर्द्धमान से मन्मथ बाबू तो कलकत्ता चले गये और स्वामीजी भागलपुर पहुंच गये।

भागलपुर कलकत्ते से लौटते हुए और वर्द्धमान होते हुए महाराज पुनः भागलपुर उतरे और बाबू पार्वतीचरण के ही बाग़ में ठहरे। वह भागलपुर वैशाख कृष्णा ५ सं० १९३० वि० अर्थात् ता० १७ अप्रेल सन् १८७३ ई० को पहुंचे और वहाँ एक मास तक निवास करके नगर निवासियों को अपने सदुपदेशों से लाभान्वित किया। †

पटना तारीख़ १७ मई सन् १८७३ ई० को स्वामीजी ने पटना के लिये प्रस्थान किया। ता० १८ मई सन् १८७३ अर्थात् ज्येष्ठ कृष्णा ६ सं० १९३० को स्वामीजी पटना पहुँचे और गुलाब बाग़ में उतरे।

स्वामीजी ने एक विज्ञापन भी दिया कि जिस किसी को कोई शङ्का हो उसे दूर करले, क्योंकि पहली बार जब महाराज पटने से चले गये थे तो पटना, बांकीपुर के पण्डितों ने यह

※ पं० लेखरामकृत दयानन्द जीवन-चरित में लिखा है कि स्वामीजी हुगली पूरे १५ दिन रहे, परन्तु यह ठीक नहीं है। उसमें महाराज के वर्द्धमान जाने का कोई उल्लेख ही नहीं है। परन्तु उनका वर्द्धमान जाना बा० मन्मथदास चौधरी के पूर्वोद्धृत पत्र से सिद्ध है। वर्द्धमान वह तीन दिन रहे। यदि एक दिन वर्द्धमान जाने का और एक दिन वर्द्धमान से भागलपुर जाने का रक्खा जाय तो हुगली में महाराज की स्थिति १० दिन ही रह जाती है। वह हुगली १ अप्रेल को आये थे और भागलपुर १७ अप्रेल को पहुँच गये थे अतः इन १६ दिन में ही वह हुगली और वर्द्धमान दोनों जगह रहे।

† पं० लेखरामकृत दयानन्द-चरित में लिखा है कि मन्मथदास चौधरी भागलपुर में स्वामीजी के साथ थे और वह साल डेढ़ साल उनके साथ रहे। वह ठीक नहीं है क्योंकि मन्मथ बाबू के पूर्वोद्धृत पत्र से सिद्ध है कि वह स्वामीजी के साथ केवल वर्द्धमान तक ही गये थे। और वहाँ से वह कलकत्ते चले गये थे और स्वामीजी विहार को चले गये थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि उसके पश्चात् स्वामीजी के शरीर पूरा होने तक उन्हें स्वामीजी के दर्शन नहीं हुए। मन्मथ बाबू का स्वामीजी से संसर्ग कलकत्ते में ही हुआ था, अतः उनका स्वामीजी के साथ साल डेढ़ साल रहना किसी तरह नहीं बनता। —संग्रहकर्त्ता.

शास्त्रार्थ का चैलेंज

कहना आरम्भ कर दिया था कि हमें उनके आगमन की खबर नहीं हुई अथवा हमें अवसर नहीं मिला, अन्यथा हम स्वामीजी से अवश्य शास्त्रार्थ करते। परन्तु विज्ञापन देने पर भी कोई पण्डित शास्त्रार्थ करने के लिए अग्रसर नहीं हुआ।

स्वामीजी के पास जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी। नगर के प्रतिष्ठित पुरुष और कालेज के विद्यार्थी बहुधा जाया करते थे। एक जिज्ञासु के किसी प्रश्न के उत्तर में अपनी सम्मति की पुष्टि में महाराज ने एक वेदमन्त्र प्रस्तुत किया। जिज्ञासु ने कहा कि वेद का क्या प्रमाण, तो इस पर कहा कि वेद स्वतः प्रमाण है। जैसे सूर्य्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे दीपक से दिखाने की आवश्यकता नहीं होती ऐसे ही वेद को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

वेद स्वतः प्रमाण हैं

इस वार स्वामीजी के दो व्याख्यान हुए। पहला मूर्ति-पूजा, पुराण, श्राद्ध, पिण्ड-प्रदान के खण्डन पर और दूसरा सृष्टि-उत्पत्ति पर। पण्डित लोग व्याख्यानों में उपस्थित थे, परन्तु किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया। सब लोग ध्यान से सुनते रहे।

स्वामीजी पटना केवल ८ दिन रहे। वहाँ से छपरा (बिहार) के लिये प्रयाण किया।

छपरा

ज्येष्ठ कृष्णा १४ संवत १९३० अर्थात् २५ मई सन् १८७३ को स्वामीजी छपरा में अवतीर्ण हुए। छपरा के सुप्रतिष्ठित और सम्भ्रान्त जमींदार राय शिवगुलाम साह बहादुर ने उनका बड़े प्रेम और सम्मान के साथ स्वागत किया और एक विशाल और सुसज्जित भवन में उन्हें ठहराया। महाराज के मिष्ट भाषण और प्रेमरससानी वाणी ने रायबहादुर को मुग्ध करदिया और वह अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से उनकी सेवा में तत्पर होगये। इससे पण्डितों, पुरोहितों और पुजारियों में ईर्ष्या और दाह की अग्नि भभक उठी। इधर महाराज के आगमन का शुभ समाचार नगर-वासियों को ज्ञात कराने और मूर्त्ति-पूजा आदि अवैदिक पाखण्डों पर उनके समर्थकों को शास्त्रार्थ के लिये आहूत करने के लिये नगर में विज्ञापन वितरण किया गया। पौराणिकी बासी कढ़ी में उबाल आया और उन्होंने यह सङ्कल्प किया कि प्रथम तो दयानन्द से शास्त्रार्थ किया जाय और यदि उसमें सफलता न हो तो उन्हें लाठियों से निरुत्तर किया जाय।

शास्त्रार्थ की आयोजना

छपरे में उन दिनों एक पंडित रहते थे जिनका नाम जगन्नाथ था और जिनकी विद्वत्ता और पवित्रात्मता का सिक्का सारे नगर पर बैठा हुआ था। छपरे में यदि कोई पंडित स्वामीजी से शास्त्रार्थ कर सकता था तो पंडित जगन्नाथ थे। पौराणिक वर्ग उन्हीं के पास गये और उनसे जाकर प्रार्थना की कि महाराज चलिये और नास्तिक दयानन्द से धर्म की रक्षा कीजिये। परन्तु पण्डितजी शास्त्रार्थ के नाम से कानों पर हाथ धर गये। उन्होंने कहा कि शास्त्रार्थ करने में मुझे उस नास्तिक का मुख देखना पड़ेगा जिसका शास्त्र में निषेध है और यदि मैंने ऐसा किया भी तो मुझे कठोर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

मैं नास्तिक का मुख नहीं देखूँगा

पण्डितजी के यह बचन सुनकर पौराणिक धर्म के पृष्ठपोषकों की आशाओं पर पाला पड़गया और वह तेजोहीन और हताश होकर वापिस चले आये। महाराज ने जब यह सुना तो उन्होंने पण्डित जगन्नाथ को इस उलझन से निकालने का एक विलक्षण परन्तु सरल उपाय बताया। उन्होंने कहा कि यदि पण्डित महोदय मेरा मुख नहीं देखना चाहते हैं तो मेरे सामने एक पर्दा डाल दियाजाय और वह उसकी ओट में शास्त्रार्थ करलें परन्तु शास्त्रार्थ करें तो सही।

मुख न देखो पर्दे के पीछे बैठो

अब तो पण्डितजी भी निरुपाय होगये। जो प्रधान आक्षेप उन्हें था वह भी न रहा और उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिये क्षेत्र में आना ही पड़ा। वह सभास्थल में अपने दलबल सहित पधारे। महाराज के मुख के सामने वास्तव में पर्दा डाला गया। एक ओर महाराज बैठे और पर्दे के दूसरी ओर पण्डित जगन्नाथ आसन पर सुशोभित हुए और विचित्र और मनोरञ्जक ढंग से शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

पर्दा नशीन जगन्नाथ

प्रथम स्वामीजी ने पण्डितजी से कुछ प्रश्न स्मृतियों में से किये जिनका उत्तर पण्डितजी ने दिया तो सही, परन्तु उनकी संस्कृत व्याकरण की अशुद्धियों से भरी हुई थी और उनका उत्तर भी स्मृतियों के कथनानुकूल न था। स्वामीजी ने उनकी अशुद्धियों को भरी सभा में वर्णन किया और उनके उत्तर की पोल खोली। स्वामीजी के बे रोकटोक, स्पष्ट, सुगम और ललित संस्कृत-भाषण और पण्डितजी के उत्तर की भाषा और भाव की अशुद्धियों और दोषों के स्पष्टीकरण से पण्डितजी के मुँह पर मुहर लग गई और उन्होंने हूँ हाँ तक न की। पण्डितजी की इस दशा या दुर्दशा को देखकर जनता को विश्वास होगया कि पण्डित जगन्नाथ पाण्डित्य में शून्य हैं और उनका पक्ष भी निर्बल और वेद के प्रतिकूल है।

शास्त्रार्थ

जगन्नाथ चुप

इसके पश्चात् महाराज ने संस्कृत में बोलना आरम्भ किया और निरन्तर चार घंटे तक अपनी वाग्मिता की गङ्गा बहाकर उपस्थित जन को आनन्द में मग्न कर दिया और परम-पुनीत वेदों के उपदेश-जल से उनके हृदयों का मालिन्य धो दिया। पुरोहित-मण्डली को निश्चय होगया कि उनकी हार होगई और नाक जाती रही। अतः मूर्खों का अन्तिम हथियार सँभालना ही उन्होंने युक्त समझा और वह गुण्डेपन पर उतर आये। वह एकदम शोर मचाने लगे कि वेदों के अनर्थ हो रहे हैं और स्वामीजी वेदों का अपमान कर रहे हैं। उनमें जो लोग अधिक नीच और दुष्ट थे उन्होंने कहा कि यदि यह नास्तिक हमें मार्ग में मिल जायगा तो इसे जीता न छोड़ेंगे। सभा में इनके हुलड़पन से गड़बड़ होगई और सब लोग उठकर चले गये।

चार घण्टे का व्याख्यान

'विहारदर्पण' के सम्पादक ने मई १८७३ के अङ्क में इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में रायबहादुर शिवगुलाम साह के नाम का उल्लेख करके इस प्रकार नोट दियागया था:—

"एकवार श्री दयानन्द सरस्वती से शास्त्रार्थ करने के लिये ब्राह्मणों को इकट्ठा किया,

परं दयानन्द के सम्मुख शास्त्रार्थ या उक्ति युक्ति करने में कौन ठहर सकता है। बड़े बड़े ईसाई, मुहम्मदी और बौद्धमत वालों का तो कुछ ठिकाना नहीं फिर इन साधारण ब्राह्मणों से क्या हो सकता है? लोग कहते हैं कि ब्राह्मणों ने ताली बजादी थी कि दयानन्द सरस्वती हार गये। राय शिवगुलाम साह बहादुर इस बात को जानगये कि ब्राह्मणों ने व्यर्थ उनके साथ गोलमाल करदिया। फिर स्वामीजी का शिष्टाचार भलीभाँति से किया और जाने के समय बहुत दूर तक साथ गये।" (विहारदर्पण पृष्ठ २५३)

स्वामीजी छपरा से आरा पधारे।

आरा

आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा संवत् १९३० वि० अर्थात् ता० ११ जून सन् १८७३ ई० को स्वामीजी ने आरा में पदार्पण किया। इस वार भी वह महाराज डुमराऊँ की कोठी में ही उतरे और उन्हीं लोगों ने उनके आतिथ्य का भार ग्रहण किया जिन्होंने पहली वार किया था।

मित्र अमित्र हो गया

मुंशी हरवंशलाल किसी कारण से स्वामीजी से विरक्त हो गये थे अतः उन्होंने स्वामीजी के प्रति विशेष प्रेम-प्रदर्शन नहीं किया। बल्कि वह उनके विरुद्ध आचारण करने लगे और उनसे शास्त्रार्थ करने के लिये उन्हीं पण्डित रुद्रदत्त को लिवा कर लाये जिन से उनका पहली वार शास्त्रार्थ हुआ था।

पं० रुद्रदत्त से शास्त्रार्थ—

प्रतिमा-पूजा के सम्बन्ध में बात चली। स्वामीजी ने पण्डित रुद्रदत्त से पूछा:—

दया०—प्रतिमा शब्द की सिद्धि कीजिये।

रुद्र०—प्रथम आप 'शब्द' इस शब्द की सिद्धि कीजिये।

दया०—'शब्द' शब्दने धातु से 'अच्' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है।

रुद्र०—इस प्रकार इसकी सिद्धि नहीं होती।

दया०—आप जानते नहीं हैं। उणादि प्रकरण में लिखा हुआ है कि शप धातु से आक्रोश के अर्थ में 'द' प्रत्यय करके निपातन से 'शब्द' सिद्ध होता है। पाणिनि का उणादि देखिये। यदि इस प्रकार 'शब्द' का आक्रोशात्मक अर्थ सिद्ध न करोगे तो आशीर्वाद किस प्रकार शब्द सिद्ध हो सकेगा। ❀

इस पर पं० रुद्रदत्त कुछ गोलमाल करना चाहते थे परन्तु स्वामीजी ने कहा आप पाणिनि ले आइये मैं दिखादूँगा। इसके पश्चात् मुं० हरवंशलाल और पं० रुद्रदत्त स्वामीजी के पास से चले गये।

आरा में उमानन्द एक जैन पुरोहित स्वामीजी के पास बहुत आते थे और अनेक विषयों पर तर्क वितर्क करते थे परन्तु स्वामीजी उनके तर्कों को चूर्ण-विचूर्ण कर देते थे।

स्वामीजी की यह बड़ी प्रबल इच्छा थी कि देश स्वतन्त्र होजाय।

हुंकार से घातक पलायित

एक दिन बाबू रजनीकान्त अपने पूर्वपरिचित भक्त से महाराज ने कहा था कि एक दिन हम ध्यानावस्थित थे तो एक विपक्षी तलवार लेकर हमें बध करने आया था परन्तु जब हमने हुङ्कार किया तो वह डर कर भाग गया।

❀ शप आक्रोशे। शाशपिभ्यां ददनौ। शादः, शब्दः॥ उणादि० । ४ । ९७ ॥

एक दिन रजनी बाबू से किसी प्रसङ्ग में क़ानून का विषय आगया। महाराज ने जो उस पर कथनोपकथन किया तो रजनी बाबू को यह देखकर कि वह अंग्रेजी क़ानून के गूढ़ तत्वों को भी जानते हैं बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछने पर महाराज ने उत्तर दिया कि हमने इस विषय को

क़ानून का ज्ञान

उपयोगी समझ कर जान छोड़ा है।*

इस वार स्वामीजी में एक परिवर्तन था। वह वस्त्र धारण करने लगे थे। वह किनारेदार धोती पहनते थे और उसकी लाँग छिटकाते थे। देह पर चादर और पैरों में जूता पहनते थे।

वस्त्र-धारण

इस वार भी आरा में स्वामीजी की कई वक्तृताएँ हुई। आरा में महाराज की एक मास से कुछ अधिक अवस्थिति रही। आरा से महाराज डुमराऊँ गये।

आरा से स्वामीजी २६ जुलाई सन् १८७३ को डुमराऊँ आए और रेलवे स्टेशन के पास महाराजा डुमराऊँ की उसी कोठी में ठहरे जिसमें कलकत्ता जाते हुए ठहरे थे। इस वार भी महाराज का आतिथ्य सत्कार राज्य की ओर से ही हुआ। बा० रजनीकान्त आरा से डुमराऊँ स्वामीजी के साथ आए थे।

डुमराऊँ

डुमराऊँ आने का प्रयोजन स्वामीजी का महाराजा से वैदिक पाठशाला के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करना था। आरा में ही उन्होंने रजनी बाबू से कह दिया था कि यदि महाराजा ने कुछ सहायता की तो वहाँ ठहर कर कुछ करेंगे अन्यथा चले जायंगे। महाराजा ने कुछ साहाय्य प्रदान नहीं किया और इसी कारण से स्वामीजी डुमराऊँ से ८ अगस्त सन् १९७३ को मिर्ज़ापुर चले गए।

मिर्ज़ापुर

डुमराऊँ से स्वामीजी मिर्ज़ापुर पहुँचे और सेठ रामरतन लड्डा के बाग़ में ठहरे।

पाठशाला की बहुत दुरवस्था होगई थी। पाठशाला में यह नियम था कि विद्यार्थियों को वस्त्र और पुस्तक पाठशाला की ओर से दिये जाते थे। विद्यार्थी यह धूर्तता करते थे कि वस्त्र और पुस्तक मिलने के अवसर पर आकर पाठशाला में नाम लिखा लेते थे और पीछे चले जाते थे। पं० ज्वालादत्त पाठशाला का प्रबन्ध न कर सकते थे। उस समय पं० देवदत्त शास्त्री जो पीछे कानपुर में एक पाठशाला के हेड पण्डित हुए उस पाठशाला में पढ़ते थे। एक दिन वह किसी मूर्त्ति पर बैठ गये, उनके एक सहपाठी ने इस बात पर झगड़ा किया, जब वह झगड़ा पं० ज्वालादत्त के पास गया तो उन्होंने पं० देवदत्त के सहपाठी का ही पक्ष लिया। इतने में ही स्वामीजी भी मिर्ज़ापुर आगये। उन्होंने भी उस झगड़े को सुना और सुन कर पं० ज्वालादत्त के कु-प्रबन्ध से असन्तुष्ट होकर पाठशाला को तोड़ दिया। फिर उन्होंने पं० गजाधर को २०) मासिक पर

पाठशाला तोड़दी

* पंडित लेखरामकृत दयानन्द-चरित में लिखा है कि कलकत्ते से लौटते हुए स्वामीजी जब दुबारा आरा गये तो मुं० हरवंशलाल के यहाँ ठहरे और उन्होंने उनका बड़ा आतिथ्य और सेवा शुश्रषा की। परन्तु यह ठीक नहीं है। स्वामीजी महाराजा डुमराऊँ की कोठी में ठहरे थे। मुं० हरवंशलाल उनसे कुछ विरक्त हो गये थे। —संग्रहकर्त्ता.

नियत करके पाठशाला चलाने को कहा और यह व्यवस्था की कि प्रत्येक विद्यार्थी को पाठशाला की ओर से केवल २) रु० मासिक दिया जावे, शेष व्यय के लिये हरएक विद्यार्थी भिक्षा द्वारा प्रबन्ध करे। परन्तु पं० गजाधर पाठशाला को न चला सके और अन्त को उसी वर्ष पाठशाला टूट गई।

इस बार स्वामीजी का एक व्याख्यान गवर्नमेंट हाईस्कूल में हुआ था।

काशी की पाठशाला का सूत्रपात

स्वामीजी ने काशी से पं० जवाहरदास उदासी को मिर्जापुर बुलाकर कहा था कि आप एक वर्ष मिर्जापुर रह कर पाठशाला की सुव्यवस्था कर दीजिए, परन्तु वह इस पर राजी न हुए तब स्वामीजी ने उनसे कहा कि यदि आप मिर्जापुर नहीं रह सकते तो काशी में ही वैदिक पाठशाला स्थापित करने का उद्योग कीजिए। इसे उन्होंने स्वीकार किया। इसके पश्चात् पंडित जवाहरदास ने डुमराऊँ, पटना, आरा, छपरा में घूम कर चालीस रुपये मासिक चन्दे का प्रबन्ध कर लिया और २ महीने के ८०) एकत्र करके अपने साथ ले भी आए। जब पं० जवाहरदास यह रुपया इकट्ठा करके काशी लौटे तो स्वामीजी फर्रुखाबाद थे। पं० जवाहरदास ने अपने उद्योग के परिणाम की सूचना दी तो स्वामीजी ने उनसे ८०) अपने पास मँगा लिए परन्तु फिर १००) उनके पास भेज दिये और उन्हें पाठशाला स्थापित करने को लिखा और यह आशा दिलाई कि हम और भी आर्थिक सहायता करेंगे।
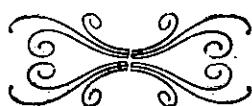
पाठशाला स्थापन

साधु जवाहरदास ने केदार घाट पर एक गृह ३।।।) मासिक किराये पर लेकर पौष कृष्णा २ सं० १९३० को पाठशाला स्थापित की। उन्होंने २० ब्राह्मणों को उसके स्थापित होने के उपलक्ष में मिष्टान्न और एक २ रुपया दक्षिणा दी। पं० शिवकुमार शास्त्री को जो पीछे आकर बनारस के दिग्गज पण्डितों में परिगणित हुए १५) मासिक पर अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ाने के लिए नियत किया गया। पण्डित शिवकुमार ने साधु जवाहरदास के पास स्वयं आकर पाठशाला में अध्यापक का कार्य करने की इच्छा प्रकट की थी। अन्य पण्डितों ने पण्डितजी को पाठशाला में कार्य करने से रोकना चाहा था, परन्तु वह नहीं माने थे और उन्होंने यह उत्तर दे दिया था कि मैं दयानन्द का मत नहीं मानूँगा, मैं तो केवल अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ाऊँगा। अष्टाध्यायी पढ़ने वाले छात्रों को ।।) और महाभाष्य पढ़ने वाले छात्रों को १) प्रति मास प्रति छात्र देने की व्यवस्था की गई। अष्टाध्यायी पढ़ने वाले छात्रों की संख्या २५ और महाभाष्य पढ़ने वालों की संख्या ८ हो गई थी। पाठशाला का नाम सत्यशास्त्र-पाठशाला रक्खा गया था।

द्वादश अध्याय

संवत् १९३० का शेष भाग

मिर्जापुर से महाराज प्रयाग आये और अलौपी बाग़ में कुछ दिन ठहर कर २० अक्टूबर सन् १८७३ को कानपुर चले गये। वहां आपने टूका घाट पर आसन जमाया। स्वामीजी ने फूलचन्द मक्खनलाल की कोठी में एक वक्तृता दी और उसमें मृत पितरों के श्राद्ध का खण्डन किया और कहा कि श्राद्ध जीवित पितरों का ही करना चाहिये, यह भी सिद्ध किया कि पृथ्वी चलती है और इसकी पुष्टि में यजुर्वेद का एक मन्त्र भी प्रस्तुत किया।

कानपुर

स्वामीजी ने बाबू दरगाहीलाल से कहा कि घाट पर एक यज्ञ कुण्ड बनादो, जो उन्होंने स्वीकार किया। उस समय दर्गाहीलाल अपने घाट की मरम्मत करा रहे थे और इसी कारण से स्वामीजी वहां नहीं ठहरे थे।

महाराज इस समय वस्त्र धारण करने लगे थे। जब लोगों ने इस परिवर्तन का कारण पूछा तो कहा कि हमें साहब और मेम लोगों से मिलना पड़ता है, और लोग हमें अपने घरों पर आमन्त्रित करते हैं और इस लिए स्त्रियों के सम्मुख होना पड़ता है, सभा-समितियों में व्याख्यान देने पड़ते हैं, पुस्तक-रचनादि के लिये काग़ज, क़लम, पुस्तकादि रखनी पड़ती हैं, इस लिये हम वस्त्र धारण करने और अन्य सामग्री रखने लगे हैं। इससे हमारे धर्म्म की भी हानि नहीं होती क्योंकि यह बातें धर्म की विरोधी नहीं हैं।

महाराज के पधारने के कुछ दिन पीछे उनके श्रद्धालु भक्तों ने उनसे अनुरोध किया कि आप परेड के मैदान में व्याख्यान दीजिये जो उन्होंने स्वीकार कर लिया।

तदनुसार परेड के मैदान में शामियाना खड़ा किया गया और फ़र्श बिछाया गया। व्याख्यान की विज्ञप्ति ढोल पिटवाकर नगर में दी गई। बात करते करते व्याख्यान-स्थल जनपूर्ण हो गया। व्याख्यान की तैयारी हो ही रही थी कि शहर के कोतवाल सुलतान अहमद आ धमके। उन्होंने लाला नन्नूमल, बाबू काशीनारायण मुंसिफ और बाबू [illegible] घोष

व्याख्यान में कोतवाल का आना

सबजज से कहा कि आप लोगों ने मैजिस्ट्रेट और म्युनीसिपल बोर्ड की आज्ञा बिना नगर में ढोल क्यों पिटवाया और शामियाना क्यों तनवाया। आप लोग न होते तो मैं इन सब चीज़ों को उठवा कर फिंकवा देता। मैं अभी मैजिस्ट्रेट के पास जाता हूँ।

मैजिस्ट्रेट से व्याख्यान की आज्ञा

कोतवाल की यह बातें सुन कर ला० नन्नूमल और बाबू क्षेत्रनाथ घोष तुरन्त ही डैनियल साहेब मैजिस्ट्रेट के पास गये और उनसे सब वृत्तान्त कहा। मैजिस्ट्रेट ने बिना किसी आक्षेप वा आपत्ति के कह दिया कि आप लोग किसी बात की चिन्ता न करें और व्याख्यान करावें। उसी समय कोतवाल साहब भी मैजिस्ट्रेट के पास पहुँचे और उनसे कहा कि स्वामीजी मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करते हैं जिससे हिन्दुओं में उत्तेजना उत्पन्न होती है और झगड़ा होने की आशङ्का बढ़ती है अतः स्वामीजी का परेड पर व्याख्यान होना उचित नहीं है। परन्तु साहब ने उसकी बातों पर कर्णपात न किया और उससे कहा कि व्याख्यान में बन्दोबस्त करो जिससे कुछ गोल माल न होने पावे। कोतवाल फिट्टे मुँह वापस आगया, परन्तु अपनी धूर्त्तता से न चूका और ऐसा ज्ञात होता है कि उसने कुछ लोगों को व्याख्यान में विघ्न डालने के लिये उकसा दिया; क्योंकि जब बाबू क्षेत्रनाथ घोष और नन्नूमल ने मैजिस्ट्रेट के पास से वापस आकर व्याख्यान आरम्भकराया और ज्योंही महाराज ने वेदी पर समासीन होकर श्री मुख से कुछ वेद मन्त्रों का उच्चारण करके उनकी व्याख्या आरम्भ की त्योंही एक ओर से एक पंडित ने और दूसरी ओर से एक मौलवी ने उच्च स्वर से कुछ अण्डबण्ड बकना शुरू कर दिया जिससे महाराज के लिये व्याख्यान देना असम्भव हो गया। महाराज यह देख कर व्याख्यान वेदी से नीचे उतर आये। कोतवाल ने उस विघ्न-कर्त्ता पण्डित और मौलवी से कुछ भी रोक टोक नहीं की।

कोतवाल की धूर्त्तता

गाली प्रदान

जिस स्थल पर स्वामीजी का व्याख्यान होने को था उससे थोड़ी दूर पर पंडित प्रयागनारायण की गुप्तमन्त्रणा से एक दूसरा शामियाना खड़ा किया गया था। उसमें एक गोसाईं मोहनगिर स्वामीजी को गालियाँ दे रहा था और कह रहा था कि दयानन्द को अंग्रेजों ने हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिये भेजा है। जो लोग उस शामियाने के नीचे बैठे थे उन्हीं में से कुछ दुष्टों ने कई ईंटें भी फेंकी थीं जिन में से एक स्वामीजी के पास आकर गिरी थी।

ईंट फेंकी

सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस का सौजन्य

तत्पश्चात् लाला नन्नूमल शामियाना खुलवाने लगे कि इतने ही में सुपरिण्टेंडेंट पुलिस आपहुँचे और उन्होंने लाला नन्नूमल से कहा कि आप शामियाना न खुलवाइये हम व्याख्यान में उपस्थित रह कर शान्ति रक्खेंगे। लाला नन्नूमल ने उत्तर दिया कि स्वामीजी ऐसे गोलमाल में व्याख्यान नहीं देंगे। और अब व्याख्यान संभवतः किसी अन्य दिन होगा। ऐसा ज्ञात होता है कि मैजिस्ट्रेट को कोतवाल की ओर से सन्देह होगया था और इसी कारण से उन्होंने सुपरिण्टेंडेंट पुलिस को प्रबन्ध के लिये भेज दिया था।

व्याख्यानमाला

इसके अनन्तर महाराज के व्याख्यान का शिवप्रसाद के राजगद्दी-हाल में प्रबन्ध हुआ और जिस गद्दी पर नवरात्र के पीछे रामचन्द्रजी का राजतिलक हुआ करता है उसी गद्दी पर महाराज का व्याख्यान हुआ। व्याख्यान में पुलिस के अनेक कर्मचारी प्रबन्धार्थ उपस्थित थे। व्याख्यान का विषय 'ईश्वरसिद्धि' था। दूसरा व्याख्यान इङ्गलिश थियेटर के हाल में 'आर्यावर्त्त की इदानीन्तन और प्राचीन अवस्था' पर हुआ। इस व्याख्यान में कतिपय अंग्रेज भी उपस्थित हुए थे। इसके पश्चात् १०—१२ व्याख्यान बाबू क्षेत्रनाथ घोष के बँगले पर विविध विषयों पर हुए। तदनन्तर महाराज फर्रुखाबाद चले गये।

शाक्त ने मांस मदिरा छोड़ दिये

मास्टर नन्नूलाल शाक्तमतावलम्बी थे, परन्तु वह महाराज के सदुपदेश से उस मत की भ्रान्तियों के जाल से मुक्त हो गये थे और उन्होंने मांसाहार और सुरापान आदि दुर्व्यसन छोड़ दिये थे और वैदिक धर्म्म के अनुष्ठान, सन्ध्या, गायत्री आदि करने लगे थे।

बाबू हेमचन्द्र चक्रवर्त्ती

बाबू हेमचन्द्र चक्रवर्त्ती कलकत्ते में स्वामीजी से मिले थे और उन्होंने महाराज से उपनिषद् पढ़नी आरम्भ की थी, परन्तु महाराज के कलकत्ते से चले आने के कारण वह अपना पठन समाप्त न कर सके थे। महाराज के अध्यापन से वह इतने सन्तुष्ट थे कि उपनिषद् पाठ समाप्त करने के लिये वह उनकी सेवा में कलकत्ते से कानपुर आये और उन्हीं के पास ठहरे। कानपुर में वह स्वामीजी की दिनचर्य्या इन शब्दों में वर्णन करते हैं।

दिनचर्य्या

स्वामीजी टूका घाट पर एक कुटिया में ठहरे हुए थे जिस में पियार बिछी हुई थी। स्वामीजी प्रातःकाल ही उठकर प्रातः कृत्य के लिए चले जाते थे और दन्तधावन व कुल्ला करने के पश्चात् हेमचन्द्र बाबू को उपनिषद् पढ़ाते थे। दोपहर को स्नान करते समय गङ्गा में सूर्याभिमुख चित्त तैरते हुए दूर तक चले जाते। एक घण्टे से अधिक में स्नान कर चुकते और फिर व्यायाम करके सूर्य की ओर मुख करके लेट जाते। जब भोजन तैयार हो जाता तो ब्रह्मचारी जो रसोई बनाता था, पहले बलिवैश्वदेव करता और फिर स्वामीजी भोजन करते। भोजन के पश्चात् एक रोटी चील कव्वों के लिए, एक कुत्तों के लिए फेंकते और एक मछलियों के लिए गङ्गा में डालते और कुछ देर विश्राम करते। एक ईंट खूब गर्म करके एक जलपूर्ण पात्र में डालते और पात्र के मुख पर कपड़ा बाँध देते। लोगों से बात-चीत करते समय जब आवश्यकता होती उस जल को घूँट २ करके पीते। सायङ्काल के पश्चात् आगन्तुकों को विदा कर देते और रात्रि में पाव भर गर्म दूध चाय के समान थोड़ा २ करके पीते और फिर हेम बाबू से हँसी खुशी बातें करते। फिर वह अलग जाकर योगासनारूढ़ होकर ध्यान में मग्न हो जाते। हेम बाबू कहते हैं कि रात्री में जब कभी भी हमारी आँख खुली हमने उन्हें ध्यानावस्थित ही पाया। शीताधिक्य होने पर भी वह कोई वस्त्र न पहनते थे। यदि कभी हमारे उच्च स्वर से बोलने से उनके ध्यान में विघ्न पड़ता तो 'हूँ' शब्द कर देते। बहुत सवेरे उठ कर हमें जगाते और कहते कि गायत्री जपो। स्त्रियों का दर्शन न

करते थे। यदि कोई उन्हें गर्म कपड़ा दे जाते तो उसे या तो ब्रह्मचारी को दे देते या ग़रीबों को बाँट देते, इसी प्रकार मिष्टान्न आदि भी लोगों को बाँट दिया करते थे।

इस बार स्वामीजी कानपुर में २० अक्टूबर से १९ नवम्बर सन् १८७३ तक रहे।

लखनऊ

कानपुर से स्वामीजी वहां के रईस ला० गजाधरप्रसाद के अनुरोध से लखनऊ पधारे और उन्हीं के बँगले पर ठहरे। ला० गजाधरप्रसाद से स्वामीजी की ज्योतिर्लिङ्ग के विषय पर बात-चीत हुई थी। स्वामीजी ने लाला से प्रश्न किया कि क्या ज्योतिर्लिङ्ग अन्धकार में भी ज्योतिः प्रदान कर सकता है। परन्तु इसका वह कुछ उत्तर न दे सके।

गङ्गाधर से शास्त्रार्थ

इसी समय पं० गङ्गाधर शास्त्री से स्वामीजी का मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ होने की चर्चा हुई। शास्त्रार्थ का दिवस मार्गशीर्ष कृष्णा १३ संवत् १९३० नियत हुआ। सर्व साधारण को उसकी सूचना देने के लिए विज्ञापन वितरण किया गया। शास्त्रार्थ के दिन सहस्रों मनुष्य सभा-स्थल पर एकत्र हुए। स्वामीजी का पक्ष था कि वेद में मूर्त्ति-पूजा की आज्ञा नहीं है, पं० गङ्गाधर शास्त्री का पक्ष था कि है। स्वामीजी ने एक वेदमन्त्र अपने पक्ष के समर्थन में प्रस्तुत करके उसका अर्थ किया। शास्त्रीजी ने उसका दूसरे प्रकार का अर्थ किया। और

शास्त्रार्थ में अन्याय

कहा कि यह अर्थ मेरा किया हुआ नहीं है, वरन् देखो (एक पुस्तक दिखाकर) यह वेद का पुस्तक कलकत्ते से आया है। इसमें इसी प्रकार का अर्थ है। स्वामीजी उस अर्थ का खण्डन करना चाहते थे कि तुरन्त ही सभा भङ्ग करदी गई और स्वामीजी को अपने अर्थों के समर्थन और शास्त्रीजी के अर्थों के खण्डन का समय नहीं दिया गया और हल्ला मचा दिया कि दयानन्द हार गये।

अन्याय का पारितोषिक

दूसरे दिन लाला गजाधरप्रसाद ने अपने स्थान पर एक सभा बुलाई और उसमें अनेक पण्डितों को निमन्त्रित किया और उसमें उन्होंने एक दुशाला, कुछ रुपया नक़द और बैलों सहित एक रथ पं० गङ्गाधर शास्त्री को उपहार में दिया। शास्त्रीजी उसी रथ पर सवार होकर उस बँगले के सामने से होते हुए जहाँ कि स्वामीजी ठहरे हुए थे सारे नगर में अपनी विजय घोषणा करते हुए घूमे।

अन्यायकारी रईस के स्थान का परित्याग

इस घटना के पश्चात् स्वामीजी लाला गजाधरप्रसाद के बँगले से राजा ओयल के अनुरोधानुसार उनके बँगले में जो क़ैसरबाग़ में था चले गये। शास्त्रार्थ से पहले स्वामीजी के व्याख्यान लाला गजाधरप्रसाद के बँगले पर ही हुआ करते थे। उसके पश्चात् एक व्याख्यान क़ैसरबाग़ में भी हुआ था।

रईस अपने किये पर लज्जित

इस शास्त्रार्थ में लाला गजाधरप्रसाद ने भी स्वामीजी के साथ वही चाल खेली और वैसा ही दुर्व्यवहार किया जो काशी शास्त्रार्थ में काशी नरेश ने खेली थी और जैसा दुर्व्यवहार किया था। अन्त में लाला गजाधरप्रसाद भी अपने किये पर लज्जित हुए जैसे काशी नरेश हुए थे। प्रत्युत उनसे

भी अधिक लज्जित हुए। हरद्वार के सं० १९३६ के कुम्भ और अन्य अवसरों पर स्वामीजी से साक्षात्कार की सुविधा होने पर भी वह महाराज के सामने जाने का साहस न करसके और स्वामीजी के सामने उनकी आँखें न हुईं। काशीनरेश ने तो अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लिया, परन्तु वह पाप की कालिमा अपने मस्तक पर लिये ही परलोक सिधारे।

स्वयं पं० गंगाधर का कथन

देवेन्द्र बाबू ने इस शास्त्रार्थ के विषय में स्वयं पं० गङ्गाधर शास्त्री से भी प्रश्न किये तो उन्होंने कहा कि स्वामीजी से हमारा तीन विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ था—

१—परमेश्वर की मूर्त्ति है।
२—तीर्थ की आवश्यकता।
३—श्राद्ध की कर्त्तव्यता।

दयानन्द इन तीनों को ही वेदविरुद्ध प्रतिपादित करना चाहते थे और हम इन्हें वेद-प्रमाणित सिद्ध करते थे। 'नि षु द गणपते' आदि ऋग्वेदीय मन्त्र* को उद्धृत करके हमने यह दिखाया था कि गणपति का विग्रह होता है और उसका आवाहन भी किया गया है। श्राद्ध के पक्ष में ऋग्वेद के सातवें मण्डल का और गृह्यसूत्र के चौथे अध्याय का प्रमाण उपस्थित किया था।

कथन की आलोचना

पं० गङ्गाधर शास्त्री यह तो क्यों स्वीकार करने लगे थे कि दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ में गोल माल किया था। वह यही कहते रहे कि हमने दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इतना उन्होंने स्वीकार किया कि वह कई बार गुप्तभाव से दयानन्द से मिले थे। शास्त्रार्थ से पहले लखनऊ में और तत्पश्चात् दरबार के समय दिल्ली में भी उन्होंने ऐसा ही किया था। जब दूसरे दिन लोगों ने हमसे पूछा

गङ्गाधर का मिथ्या भाषण

कि आप गुप्त रीति से दयानन्द के पास गये थे तो हमने इनकार कर दिया था। इस प्रश्न के उत्तर में कि आपने ऐसा क्यों किया था शास्त्रीजी महोदय ने कहा कि जिससे युद्ध करना हो यदि पहले ही उसके पास जाकर इस प्रकार बात-चीत न की जाय तो उसका बल किसप्रकार ज्ञात होसकता है।

जिस मनुष्य को झूठ बोलते हुए तनिक भी संकोच न हुआ और जो अपने असद् व्यवहार पर एक प्रकार से गौरव करता है उससे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह शास्त्रार्थ दिवस की घटना का याथातथ्य वर्णन करेगा? शास्त्रीजी स्वयं अपना अपराध स्वीकार न करें और मृषा बोल कर अपने पाप पर पर्दा डालें, पर हम उन्हीं के एक शिष्य से उनके असत्य को प्रकट कराते हैं।

गंगाधर के शिष्य का सत्य भाषण

श्री केदारनाथ चट्टोपाध्याय ने अपने एक पत्र में देवेन्द्र बाबू को लिखा था—"यह सन् १८७३ की बात है कि सुप्रसिद्ध स्वामी दयानन्द ने लखनऊ आकर वैदिक धर्म की पुष्टि में जैसा कि उसे वह समझते थे एक व्याख्यानमाला आरम्भ की। प्रतिदिन सायङ्काल के समय बहु-संख्यक लोग उनकी चित्ताकर्षक वक्तृता सुनने के लिए एकत्र होते

वक्तृताओं की प्रशंसा

थे और बहुत से लोग उनकी वाग्मिता से मुग्ध होकर यह विश्वास लेकर घर लौटते थे कि दयानन्दकृत वैदिक धर्म्म की व्याख्या सत्य

---

*ऋग्वेद, मं० १० । सू० ११२ । मन्त्र ९ ॥

है। वह व्याख्या इस ढंग से की जाती थी कि उन्हें उसके युक्तियुक्त होने में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती थी। स्वामी दयानन्द की सफलता ने निसर्गतः हिन्दू समाज के अधिक कट्टर लोगों में एक सच्चा रोष उत्पन्न कर दिया था। उन्होंने एक जनसाधारण की सभा का प्रबन्ध कर डाला ताकि उसमें उन विषयों पर शास्त्रार्थ किया जाय जिन पर स्वामीजी ने अपने और कट्टर हिन्दुओं के मनों में भेद उत्पन्न कर दिया था।

गंगाधर का परिचय

कट्टर हिन्दूवर्ग के नेता लाला गजाधरप्रसाद थे और उन्होंने अपनी ओर से बोलने के लिए पं० गङ्गाधर शास्त्री को चुना था जो उस समय कैनिंग कालेज लखनऊ में पूर्वीय शिक्षा विभाग के मुख्य पण्डित थे और जिनकी यह प्रसिद्धि थी कि वह वेदों और संस्कृत साहित्य के अन्य भागों में बहुत व्युत्पन्न हैं।

शास्त्रार्थस्थल का वर्णन

उस सायङ्काल को दो वेदियाँ एक दूसरे के सामने बनाई गईं थीं। जो वेदी पं० गङ्गाधर के लिये बनाई गई थी उसे शोभनीय ढङ्ग से सुनहरे कमख्वाब और अन्य बहुमूल्य वस्त्रों से सजाया गया था। स्वामीजी की वेदी पर केवल एक श्वेत वस्त्र बिछाया गया था। शास्त्रीजी बहुमूल्य वस्त्र पहने हुए थे, परन्तु दयानन्द वही मामूली सादा परिधान किये हुए थे। पं० गङ्गाधर शास्त्री हॉल में अपने बहुत से अनुयायिओं के साथ प्रविष्ट हुए जिनमें मुझे भी सम्मिलित होने का सौभाग्य था क्योंकि मैं भी उनका शिष्य था। स्वामीजी पहले से ही हॉल में बैठे हुए थे और उनके आस पास भी उनके कितने ही अनुयायी भी बैठे थे। स्वामीजी के अनुयायिगण अपने नेता की सफलता में विश्वास रखे हुए दिखाई देते थे, परन्तु शास्त्रीजी के अनुयायियों के मुखमण्डल पर शास्त्रार्थ के परिणाम के सम्बन्ध में चिन्ता के चिन्ह दृष्टि पड़ते थे। हॉल कुछ बहुत बड़ा नहीं था। उसमें दो सौ के लगभग मनुष्य थे जिनमें कुछ पण्डित लोग थे। इसके अतिरिक्त एक जनसमूह हाल के बाहर था, परन्तु मुझे यह पता नहीं कि उसकी संख्या क्या थी।

शिष्य को गुरु के पराजय की इच्छा

यद्यपि मेरी गणना शास्त्रीजी के पक्ष वालों में थी, परन्तु मेरी हार्दिक इच्छा स्वामीजी की सफलता के लिये थी, क्योंकि उन की वाग्मिता, उनके व्याख्यान की चित्ताकर्षक शैली, उनकी सीधी-सादी युक्तियों ने उनके प्रतिपादित किये हुए सिद्धान्तों के पक्ष में सम्पूर्णतया मेरी सम्मति प्राप्त कर ली थी ·····।

शास्त्रार्थ का वर्णन

शास्त्रार्थ का आरम्भ ऐसे हुआ कि शास्त्रीजी ने स्वामीजी से एक प्रश्न किया। इस समय मैं आप को यह नहीं बतला सकता कि शास्त्रार्थ के विषय क्या थे। परन्तु इतना मुझे स्मरण है कि शास्त्रार्थ के विषय वही थे जिन पर बहुत अधिक विवाद था। शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ था। स्वामीजी सरल संस्कृत बोलते थे, परन्तु शास्त्रीजी जटिल शब्दों का प्रयोग करते थे। स्वामीजी की भाषण-शैली शान्त, सम्बद्ध और युक्तियुक्त थी और शास्त्रीजी की उत्तेजनापूर्ण, उद्धत और ऐसी थी कि मानो वह किसी को आज्ञा दे रहे हैं।

गंगाधर भागे

शास्त्रार्थ लगभग एक घंटे तक होता रहा। उसके अन्त में शास्त्रीजी

स्वामीजी के उत्तर देते-देते एकदम उठ खड़े हुए और हॉल छोड़ कर जाने लगे। स्वामीजी ने उन से ठहरने और उत्तर सुनने की प्रार्थना की, परन्तु वह एक पल भी न रुके। शास्त्रीजी के अनुयायियों ने दयानन्द की हार प्रकट करने के उपलक्ष्य में तालियाँ पीटनी आरम्भ कीं, परन्तु निष्पक्ष दर्शकों के मन पर शास्त्रीजी के व्यवहार का साधारण प्रभाव यह पड़ा कि पराजय शास्त्रीजी का ही हुआ और वह जाने के लिये तब ही खड़े हुए जब उन्होंने समझ लिया कि उनकी स्थिति सुरक्षित नहीं है और उस का समर्थन नहीं हो सकता। परन्तु इस पर भी शास्त्रार्थ के प्रमुख आयोजनकर्त्ताओं ने शास्त्रीजी को शाल और अन्य वस्तुएँ उपहार में दीं। शास्त्रार्थ के थोड़े दिन पीछे कट्टर हिन्दुओं ने शास्त्रार्थ का जो वृत्तान्त छपवाया उसमें बहुत से दर्शकों की सम्मति में उस सायङ्काल की घटनाओं का याथातथ्य वर्णन नहीं था।

इस प्रकार मैंने, जहाँ तक मेरी स्मृति मेरी सहायता करसकी उस स्मरणीय सायङ्काल की घटनाओं का संक्षेप में वर्णन कर दिया है। शास्त्रीजी के व्यवहार से परिणाम निकालते हुए आरम्भ से ही मेरा यह विश्वास रहा है कि शास्त्रीजी का ही पराजय हुआ था। परन्तु चूँकि मैंने शास्त्रार्थ में कोई भाग नहीं लिया था इस लिये मैं यह कहने को उद्यत नहीं हूँ कि वास्तव में क्या बात थी जिसने शास्त्रीजी को एकदम शास्त्रार्थ से उठ जाने का प्रलोभन दिया।"

सत्य दबाया नहीं जा सकता

सत्य को झूठे आडम्बरों से छिपाया नहीं जा सकता, न कलह और कोलाहल मचा कर ही उसे दबाया जा सकता है। स्वामीजी का पक्ष इतना सबल और सप्रमाण था, इतना युक्तियुक्त और सारपूर्ण था कि पं० गङ्गाधर शास्त्री तो क्या उनसे कहीं बड़े बड़े पण्डित भी उसका खण्डन नहीं कर सकते थे! नहीं कर सके थे!! और कदापि नहीं कर सकेंगे!!! काशी के पण्डित शास्त्रार्थ के पीछे वार २ आहूत होने पर भी पुनः शास्त्रार्थ करने पर सन्नद्ध नहीं हुए। यदि वह विजेता थे और उनका पक्ष अजेय था तो वह क्यों मौन साधे पड़े रहे? पं० गङ्गाधर शास्त्री की काशी के पण्डितों के सामने क्या स्थिति थी, उनमें क्या बूता था जो उस कार्य को सिद्ध करते जिसे काशी के सैकड़ों और सहस्रों पण्डित भी सिद्ध नहीं कर सके थे? यदि हठधर्म्मी और हुल्लड़बाजी से ही तर्कयुद्ध जीता जा सकता है तो हम भी कहेंगे कि शास्त्रीजी जीते और काशी के पण्डित भी जीते।

स्वामीजी के इस वार लखनऊ पधारने के विषय में 'Friend of India' समाचार पत्र ता० १३ नवम्बर सन् १८७३ ई० के अङ्क में निम्नलिखित नोट प्रकाशित हुआ था:—

"सुप्रसिद्ध वैदिक सुधारक दयानन्द काशी में वैदिक पाठशाला स्थापित करने के निमित्त लखनऊ में धन एकत्र करने का यत्न कर रहे हैं। स्वामीजी ने अनेक विषयों पर वक्तृताएँ दी हैं जिनमें से एक भारतवर्ष की भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान दशा पर थी।"

फर्रुखाबाद

ता० २० नवम्बर १८७३ ई० सायङ्काल को स्वामीजी और बाबू हेमचन्द्रचक्रवर्त्ती घोड़ागाड़ी में सवार होकर २१ नवम्बर के प्रातःकाल ८ बजे फर्रुखाबाद पहुँचे और पाठशाला में ठहरे।

कुछ लोगों की ओर संकेत करके स्वामीजी ने बाबू हेमचन्द्र से कहा था कि

घातक भी भक्त होगये — यह पहले हमारे विरुद्ध थे और हमें मारने को आये थे, परन्तु अब हमारे भक्त हैं।

लाट को गोरक्षा का उपदेश — कहते हैं स्वामीजी कैम्पसन साहब, अध्यक्ष शिक्षा-विभाग और म्योर साहब, लेफ्टिनेंट गवरनर पश्चिमोत्तर प्रान्त (जो अब संयुक्त-प्रान्त आगरा व अवध कहलाता है) से भी मिले थे। स्वामीजी ने लाट साहब से कहा था कि भारतवर्ष से जाकर आप इण्डिया कौन्सिल के सदस्य होंगे। वहां आप गोवध बन्द करने का यत्न करें। कहते हैं कि म्योर साहब ने यत्न करने का वचन भी किया था। एक पादरी से भी स्वामीजी की इसी विषय पर बात चीत हुई थी और उन्हों ने पादरी को गोरक्षा के लाभ समझा कर सन्तुष्ट कर दिया था।

विवाह में व्यर्थ व्यय — एक दिन पं० राधाचरण गोस्वामी वृन्दावन निवासी सेठ निर्भयराम, पं० गङ्गादत्त तथा अन्य लोगों को साथ लेकर स्वामीजी के पास गये और उन के सामने कुछ मिष्टान्न रक्खा। स्वामीजी ने पूछा यह कैसा है तो सेठजी ने उत्तर दिया कि मेरे पुत्र के विवाह में मिष्टान्न बना था, उसी में से आपकी सेवा में लाया हूँ। स्वामीजी ने कहा कि हमने सुना है कि आपने पुत्र के विवाह में बहुत धन व्यय किया है। इस प्रकार आप कंगाल हो जायँगे और फिर आपको कोई सेठजी नहीं कहेगा। विवाह में इतना धन व्यय करना अनुचित है। अकर्मण्य, भोजनलोलुप ब्राह्मणों को खिलाने से कुछ इष्ट नहीं होता। पुलिस वालों को खिलाने से फल होता है, वह रात्रि में आपके घरों की रक्षा करते हैं।

प्रतीत होता है कि अन्तिम वाक्य महाराज ने विनोदार्थ कहा था।

जर्मन शर्मन — इससे अगले दिन महाराज ने पं० गङ्गादत्त से कहा था कि जर्मन शब्द 'शर्मन' शब्द का अपभ्रंश है। जर्मनी के लोग वेदों की आलोचना करते हैं।

अर्धरात्रि में भ्रम निवारण — पं० विश्वेश्वरदयालु शास्त्री सखरिया को लोगों ने बहका रक्खा था कि दयानन्द विद्वान् तो अच्छे हैं, परन्तु ईसाईयों के वेतन भोगी हैं अतः उनका दर्शन न करना चाहिए। परन्तु वह स्वामीजी की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर उनसे भेंट करने के बड़े उत्सुक थे। एक दिन वह एक अन्य पण्डित को साथ लेकर अर्द्धरात्रि के समय श्रीसेवा में पहुँचे। उस समय महाराज ध्यानावस्थित थे। दोनों आगन्तुक चुपचाप बैठ गये जब महाराज की समाधि टूटी तो उन्होंने आगन्तुकों से ऐसे समय पधारने का कारण पूछा। शास्त्रीजी ने कहा कि कारण तो मैं पीछे बताऊँगा पहले वर्णाश्रम पर श्रुति स्मृति के प्रमाणों से मेरे प्रश्नों का उत्तर दीजिए। महाराज का उत्तर ऐसा सन्तोषप्रद था कि शास्त्रीजी उसे सुन कर मुग्ध होगये। कुछ न्यायशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर पाकर उन्होंने पूछा कि ईसा ईश्वर-पुत्र था वा नहीं। उन्होंने इसका खण्डन किया तब शास्त्रीजी ने हँसते हुए कहा कि हमारे आने का अभिप्राय केवल यही ज्ञात करना था कि आप ईसाई वा ईसाइयों के वेतनधर्मी तो नहीं हैं।

हेम बाबू बीमार होकर कलकत्ते चले गये।

फर्रुखाबाद से चल कर स्वामीजी पौष कृष्णा ६ सं० १९३० को कासगंज विराजमान हुए। वहाँ लगभग १० दिन रह कर पाठशाला का निरीक्षण और प्रबन्ध किया। स्वामीजी विद्यार्थियों के सुख दुःख का बहुत ध्यान रखते थे। पाठशाला के जिस कमरे में विद्यार्थी पढ़ते थे उसके द्वार खुले हुए थे जिनसे वर्षा और वायु से विद्यार्थियों को बहुत कष्ट होता था। महाराज ने दीवार बनाने को कहा, परन्तु मजदूर न मिले और दीवार न बनी। तब छप्पर डालने को कहा। अध्यापकों ने कहा कि हमें छप्पर बनाना नहीं आता तो स्वयं उसे बनाकर दिखाया, तब उन लोगों ने पूरा छप्पर बना लिया।

कासगंज

छप्पर भी स्वयं बांधा

स्वामीजी शपथ खाने के बहुत विरुद्ध थे। एक बार अध्यापकों और विद्यार्थियों ने वेद उठाकर शपथ खाई कि हम आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ें पढ़ायेंगे। एक विद्यार्थी ने शपथ न खाई तो उसे पाठशाला से निकाल दिया। जब स्वामीजी कासगंज आये तो उसने सब वृत्तान्त उनसे कहा। उन्होंने सबको भर्त्सना की और उस विद्यार्थी को पुनः पाठशाला में ले लिया। एक विद्यार्थी मीराँ की जात देने को चला गया था। जब स्वामीजी को यह बात ज्ञात हुई तो उस पर २५) रु० जुर्माना किया फिर १०) छोड़ दिये और १५) पाठशाला में जमा करा दिये और सावधान कर दिया कि भविष्य में ऐसा कभी न करना।

शपथ न खाओ

मीरां की जात देने पर जुर्माना

पौष शुक्ला १ संवत् १९३० अर्थात् २० दिसम्बर सन् १८७३ को स्वामीजी कासगंज से छलेसर पधारे। उनके श्रद्धालु भक्तों ने राजघाट रेलवे स्टेशन पर स्वागत किया। छलेसर आकर वह पाठशाला में ठहरे और उसके प्रबन्ध में उचित परिवर्तन किया।

छलेसर

इन्हीं दिनों में एक दिन राजा जयकिशनदास, सी. एस. आई. डिप्टी कलक्टर जो उस समय अलीगढ़ में नियत थे महाराज के दर्शनों को आए और उनसे यह वचन लेकर कि वह छलेसर से अलीगढ़ पधारें उसी दिन अलीगढ़ को लौट गये।

राजा से भेंट

तीन चार दिन तक स्वामीजी के छलेसर में व्याख्यान होते रहे और आसपास के सहस्रों मनुष्य उपदेश-श्रवणार्थ आते रहे। इस बार उनके आने पर कोई आन्दोलन नहीं हुआ। जो पण्डित उनसे प्रश्न करते भी थे वह वादविवाद करने के अभिप्राय से नहीं करते थे, प्रत्युत अपनी शङ्काओं के निराकरणार्थ करते थे।

तारीख २६ दिसम्बर सन् १८७३ को हाथी पर सवार होकर अलीगढ़ के लिए रवाना हुए। साथ में ठाकुर मुकुन्दसिंह तथा २०-२५ क्षत्रिय घोड़ों पर सवार होकर उनके साथ हुए और चार बजे अपराह्न में अलीगढ़ पहुँच गये।

तारीख २६ दिसम्बर सन् १८७३ अर्थात् पौष संवत् १९३० को छलेसर से आकर अचल तालाब पर चाऊलाल की आम्रवाटिका में ठहरे और राजा जयकिशनदास के अतिथि हुये।

अलीगढ़

स्वामीजी के आगमन का समाचार पाते ही सहस्रों मनुष्य अलीगढ़ और आस पास के ग्रामों से उनके दर्शनार्थ इकट्ठे होगये और स्वामीजी से प्रश्नोत्तर करते रहे। रात्रि के दस बजे तक भीड़भाड़ रही।

व्याख्यानमाला

२७ दिसम्बर सन् १८७३ को उसी वाटिका में महाराज का प्रथम व्याख्यान हुआ। उस दिन पूर्वाह्न में ८ बजे से १२ बजे तक व्याख्यान हुआ था। इसमें नगर के प्रतिष्ठित पुरुष हिन्दू और मुसलमान, वकील, सेठ, साहूकार, उच्च राजकर्मचारी बड़ी संख्या में उपस्थित हुये थे। व्याख्यान के अन्त में कुछ लोगों ने प्रश्न भी किये थे। इसके पश्चात् कई दिन तक लगातार व्याख्यान होते रहे।

पण्डित का शंका समाधान

पण्डित बुद्धिसागर अलीगढ़ के सुविख्यात विद्वानों में से थे। उनसे स्वामीजी का संस्कृत में वार्त्तालाप होता था। वह बड़ी शिष्टता से शङ्काएँ करते थे और स्वामीजी उनका बड़ी योग्यता से समाधान करते थे। वह स्वामीजी की विद्वत्ता पर मुग्ध होगये और उनकी प्रशंसा करते रहे।

वकील की डींग

लाला बद्रीप्रसाद अलीगढ़ के प्रसिद्ध वकीलों में थे। उन्होंने एक संस्कृत पाठशाला स्थापित कर रक्खी थी जिसमें पं० मिहरचन्द अध्यापक थे। वह सदा यह कहा करते थे कि जब दयानन्द अलीगढ़ आवेंगे मैं उनसे शास्त्रार्थ करूँगा और दो मिनट में परास्त करदूँगा। स्वामीजी ने यह सुनकर उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिये बुलाया, परन्तु वह न आये और यह कहा कि चूंकि स्वामीजी मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करते हैं अतः मैं उनकी सूरत नहीं देखना चाहता। स्वामीजी ने उन्हें कहला भेजा कि सूरत न देखिये परन्तु शास्त्रार्थ तो कीजिये, बीच में एक पर्दा डाल लीजिये वा छोटी सी दीवार खड़ीकर लीजिये, परन्तु वह किसी प्रकार शास्त्रार्थ करने पर उद्यत न हुए।

पर्दा डालकर शास्त्रार्थ करलो

वृक्षपर बैठा कौवा पण्डितजी से ऊँचा है

एक दिन एक पण्डित आया और शिवालय के चबूतरे पर बैठकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने लगा। उस समय स्वामीजी चबूतरे से नीचे फ़र्श पर बैठे थे और सौ डेढ़ सौ मनुष्य उनके पास बैठे थे। लोगों ने बहुतेरा कहा कि यदि आपको शास्त्रार्थ करना है तो नीचे फ़र्श पर आकर बैठिये और सभ्यतापूर्वक शास्त्रार्थ कीजिये, परन्तु वह अपनी जगह से न हिला। स्वामीजी ने कहा कि कुछ चिन्ता नहीं, ऊपर नीचे बैठने से कोई बड़ा छोटा नहीं होता, देखो यह कौवा जो वृक्ष पर बैठा है पण्डितजी से भी ऊँचा है।

भँगेड़ी साधु की गालियाँ

एक दिन एक भँगेड़ी चरसी साधु आया और असभ्यता पूर्वक पूछने लगा कि दयानन्द कौन है और कहाँ है। उस समय १००-१५० पुरुष स्वामीजी के पास बैठे थे। लोगों ने संकेत से बताया कि यह हैं। स्वामीजी ने उससे पूछा कि तुमने गले में क्या डाल रक्खा है। उसने कहा कि रुद्राक्ष है। स्वामीजी बोले तुम रुद्र की आँख निकाल लाये हो। वह निरक्षर भट्टाचार्य क्या समझता कि रुद्राक्ष के क्या अर्थ हैं, क्रोध में भरकर लगा

महाराज को गालियाँ देने, परन्तु उन्होंने तनिक भी बुरा न माना। परन्तु जब वह बक बक करता ही गया तो स्वामीजी उठकर शौच को चले गये।

महाराज बड़े विनोदप्रिय थे और कभी कभी ऐसे लोगों को जान बूझकर छेड़ा करते थे।

ठाकुर गुरुप्रसाद जाट बेसवाँ जिला अलीगढ़ के रईस थे। वह अपने को बड़ा संस्कृतज्ञ और वेदज्ञ समझते थे। उन्होंने पंडित अङ्गदराम शास्त्री आँवला जिला बरेली-वाले की, (जिनसे पाठक परिचित होचुके हैं) सहायता से यजुर्वेद के महीधर भाष्य का हिन्दी में अनुवाद करके छपवाया था। एक दिन वह स्वामीजी से मिलने आये और स्वामीजी से अपने वेदभाष्य के विषय में सम्मति पूछी। स्वामीजी ने मुँह देखी कहना कभी सीखा ही न था, स्पष्ट कहदिया कि वह नितान्त अशुद्ध और वेदविरुद्ध है। ठाकुर साहब इसे सुनकर मन में तो अप्रसन्न ही हुए, परन्तु प्रकट में यह कहा कि मैं इसे शुद्ध करदूँगा और यदि आप भी सहायता दें तो बड़ा कृतज्ञ हूँगा। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वामीजी से बेसवाँ पधारने की भी आग्रहपूर्वक प्रार्थना की और महाराज ने स्वीकार भी करली, परन्तु अलीगढ़-निवास के दिनों में ही ठाकुर साहब की धर्म्मपत्नी का देहान्त होगया इस कारण से वह बेसवाँ न जासके।

जाट रईस का वेदभाष्य

एक दिन मुरादाबाद के प्रसिद्ध मुंशी इन्द्रमणि भी अलीगढ़ आये थे और उन्होंने स्वामीजी से अनेक धर्म्म-सम्बन्धी विषयों पर विशेषत: जीव के अनादित्व पर बात-चीत की थी।

इन्द्रमणि से वार्त्तालाप

एक दिन ठाकुर भूपालसिंह का पुत्र ऊधोसिंह विदेशी वस्त्र पहन कर महाराज की सेवा में आया तो उन्होंने उसे स्वदेशी वस्त्र पहनने का उपदेश किया।

स्वदेशी वस्त्र पहनो

एक दिन ठाकुर मुकुन्दसिंह की प्रार्थना पर महाराज ने सामगान किया था जिसे सुनकर श्रोता मुग्ध हो गये थे।

महाराज समय का पालन बड़ी दृढ़ता से करते थे। हर कार्य के लिए समय नियत था। एक दिन वह पत्रों के उत्तर लिखा रहे थे कि सर सय्यद अहमदख़ाँ मिलने आगये और उन्हें कार्य में व्यापृत देख कर कमरे के बाहर ही ठिठक गये। ऊधोसिंह ने उन्हें देख लिया और महाराज को उनके आने की सूचना दी तो महाराज ने उन्हें अन्दर बुला कर सत्कारपूर्वक आसन दिया और क्षमा चाह कर पूर्ववत् कार्य में लग गये। जब उससे निवृत्त हुए तब सर सय्यद से वार्त्तालाप किया। सर सय्यद ने एक दिन महाराज से कहा कि आपकी अन्य बातें तो युक्तिसंगत हैं, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि थोड़े से हवन से वायु का सुधार कैसे होता है। महाराज ने कहा कि जैसे थोड़े से बघार से सारी दाल सुवासित होजाती और दूर तक उसकी सुगन्ध जाती है ऐसे ही हवन में डाली हुई सामग्री छिन्न-भिन्न होकर वायु में फैल कर उसका सुधार कर देती है। इससे उनका संशय दूर होगया।

सैय्यद अहमदख़ां से वार्त्तालाप

स्वामीजी जबतक अलीगढ़ रहे राजा जयकिशनदास उनका बड़े प्रेम और श्रद्धा से आतिथ्य-सत्कार करते रहे। वह नित्यप्रति स्वामीजी के व्याख्यानों में आते और घण्टों उन से बातें करके अपने सन्देहों की निवृत्ति करते रहे। यहाँ ही उनमें और स्वामीजी में मित्रता का सूत्रपात हुआ

राजा से मित्रता

जो उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया जिसका फल यह निकला कि राजा साहब ने स्वामीजी के उपदेशों को आर्य-जाति और भारतवर्ष के लिए इतना उपयोगी समझा कि आगे चल कर स्वामीजी से उन्हें लेखबद्ध करने के लिए अनुरोध किया, केवल अनुरोध ही नहीं, उन्हें लेखबद्ध कराने और पुस्तकाकार छपवाने का समस्त व्यय भी स्वयं वहन करने का वचन दिया। यही उपदेश-माला सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश के नाम से मुद्रित और प्रकाशित हुई।

२२ जनवरी सन् १८७४ को अलीगढ़ में एक मास से कुछ कम निवास करने के पश्चात् स्वामीजी ने हाथरस के लिए प्रयाण किया।

हाथरस

ज़िला अलीगढ़ में हाथरस एक प्रसिद्ध क़स्बा है। यह एक व्यापारिक नगर है। यहाँ के व्यापारी बड़े समृद्ध हैं। साथ ही यह मूर्त्ति-पूजा का भी छोटा सा गढ़ है। इसके अतिरिक्त यह अशिष्टता और उजड्डता और दुराचार के लिए भी काफ़ी बदनाम है। गुण्डों की संख्या भी यहाँ कुछ कम नहीं है।

राजा की हित-चिन्ता

इसी हाथरस में महाराज ने पदार्पण किया। राजा जयकिशनदास, संभवतः अनिष्ट-सम्भावना की आशङ्का से, अथवा महाराज के सत्संग लाभ की लालसा से, वहाँ पहले से ही पहुँच गये थे और उन्होंने उनके निवास-आहार का प्रबन्ध कर दिया।

हाथरस में महाराज की सेवा में उनके अनन्य भक्त ठाकुर मुकुन्दसिंह व ठाकुर भूपालसिंह भी उपस्थित थे।

हाथरस में प्रथमबार पदार्पण

स्वामीजी एक बार पहले भी हाथरस पधारे थे। उस समय वह दण्डी विरजानन्द के पास अध्ययनार्थ जारहे थे। तब दयानन्द को कौन जानता था? उस समय वह शिक्षा पाने जा रहे थे। किसी को न उपदेश देते थे, न किसी मत का खण्डन करते थे, न किसी से शास्त्रार्थ करते थे। उस समय दयानन्द हाथरस आये और चले गये। किसी ने भी न जाना कि कौन आया और कौन गया, कब आया और कब गया।

जगद्गुरु दयानन्द

इस बार दयानन्द जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित हो कर आये थे, शिक्षा पाने नहीं वरन् देने आये थे। अब सब जगह उनके नाम की धूम थी। मूर्त्ति-पूजा के वह परम शत्रु थे, उनके उपदेश से लाखों मनुष्यों ने मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी थी। जिन ब्राह्मणों की जीविका मूर्त्ति-पूजा पर ही निर्भर थी, पाठक जानते हैं, उनके दयानन्द के प्रति क्या भाव थे। वह दयानन्द के प्रकट और प्रच्छन्न शत्रु थे। उनकी ओर से दयानन्द के प्राण-हरण की कई बार चेष्टाएँ हो चुकीं थीं।

दयानन्द का स्वांग

अतः जब दयानन्द हाथरस आये और सेठ विष्णुदयाल की वनवाटिका में उन्होंने विश्राम किया तो हाथरस में मानो भूकम्प आगया। कई दिन तक हाथरस की गुंडा-टोलियों ने बड़ा कोलाहल मचाया और उपद्रव करने का यत्न किया। इतना ही नहीं उन में जो अत्यन्त दुष्ट प्रकृति के थे उन्होंने तो दयानन्द का स्वांग बना कर निकालना चाहा। परन्तु कुछ तो राजा जयकिशनदास के भय से और कुछ क्षत्रियगण की उपस्थिति के कारण उपद्रवकर्त्ता अपने अशुभ मनोरथ में सफल न हो सके।

केलव एक ही व्याख्यान

हाथरस में स्वामीजी ने एक ही व्याख्यान दिया जिस का विषय मृतक-श्राद्ध-खण्डन था। उस में स्वामीजी ने मृतक-श्राद्ध का मिथ्यात्व प्रबल युक्तियों और शास्त्र-प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया। बीच में मूर्त्ति-पूजा का खण्डन किया।

पंडित सामने न आये

हाथरस में पण्डित हरजसराय नैयायिक प्रसिद्ध थे और उस समय हाथरस में ही थे, परन्तु वह स्वामीजी के सम्मुख न आये। स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का उनमें सामर्थ्य ही न था। एक बार पहले भी वह प्रयाग के माघ मेले में शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं हुए थे, यद्यपि उन्हें शास्त्रार्थ के लिये कई बार आहूत किया गया था।

कन्हैयालाल अलखधारी की सम्मति

हाथरस के व्याख्यान के सम्बन्ध में मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी ने अपने पत्र 'नीति प्रकाश' में लिखा था—"एक उपदेश दयानन्द सरस्वती ने हाथरस में सर्वसाधारण को किया। वहाँ के बिरहमन डरगये कि उन्होंने हामारी रोटियों को खोया और हमारी चिड़ियों को जाल में से निकालता है। शोक है कि स्वार्थी अपने लाभ के कारण जानवर को आदमी नहीं बनने देते हैं। बल्कि आदमी को जानवर बनाया करते हैं। भारतवासी प्रशंसा के योग्य हैं कि उनके माज़, मही, महिला के बिरहमन, मुसलमान, ईसाई सब इच्छुक हैं बल्कि अपना स्वत्व समझते हैं। परन्तु इतना होते हुए भी यह अभी तक मरे नहीं" [रिसाला नीतिप्रकाश (उर्दू) पृष्ठ ४१ सन् १८७४]

हाथरस में ५–६ दिन रह कर स्वामीजी ने मथुरा के लिये प्रयाण किया।

ज्ञानपिपासु ज्ञान-स्रोत पर पहुँच गया

संवत् १९१७ में एक दाक्षिणात्य संन्यासी मथुरा में आया था, वहाँ वह अज्ञात और अविख्यात था, वह सनाथ न था, कोई उसके साथ न था, कोई उसे पहचानता न था, वह किसी को जानता न था। न जाने वह कई दिन आश्रय और आश्रयदाता की खोज में मथुरा की गलियों और बाजारों में फिरा होगा, कई दिन रात्रि को निराहार सोया होगा। वह ज्ञानपिपासु था, उसने सुन रक्खा था कि मथुरा में ज्ञान का स्रोत बहता है। उसी स्रोत पर वह अपनी पिपासा शान्त करने के लिये लम्बी यात्रा का कष्ट-क्लेश सहन करता हुआ मथुरा पहुँचा था। यह ज्ञानपिपासु दयानन्द सरस्वती और वह ज्ञान का स्रोत प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द था।

दयानन्द ने तीन वर्ष मथुरा में रह कर विरजानन्द के चरणकमलों में बैठ कर ज्ञानोपार्जन किया और गुरु से सत्य वैदिक-धर्म्म के पुनरुद्धार में अपना शेष जीवन व्यय करने की प्रतिज्ञा करके वह मथुरा से बाहर गया।

ज्ञानपिपासु का मथुरा में पुनः आगमन

आज वही दयानन्द मथुरा में फिर आया है। अब वह अज्ञात और अविख्यात नहीं है, आज उसका नाम सहस्रों की जिह्वा पर है, आज वह शिष्य नहीं गुरु है, आज वह अकेला नहीं है, आज उसके सहस्रों अनुयायी हैं, आज उसके नाम का डङ्का बजता है, उसका नाम सुन कर पौराणिक धर्म्म के दुर्गों की बुनियादें हिलने और गढ़कप्तानों

के कलेजे दहलने लग जाते हैं, वह उन क़िलों की दीवारों पर मूर्त्ति-पूजा-खण्डनात्मक वक्तृताओं के गोले बरसाता है, क़िलों की दीवारों में छेद कर देता है, गोले पौराणिक सेना की छावनियों में गिरते हैं और सैकड़ों सहस्रों सैनिकों और सेनापतियों को हताहत करते हैं, परन्तु क़िलों की तोपें चुप हैं, गोलन्दाज़ यत्न भी करते हैं कि उसकी गोलाबारी का उत्तर दें। परन्तु उनकी तोपें रंजक चाट कर रह जाती हैं, गोले मिट्टी के बने सिद्ध होते हैं, सेनापति और क़िलेदार अपनी प्राणरक्षा के लिये इधर उधर छिपने लगते हैं।

हाँ आज दयानन्द मथुरा आया है। उसे यह ज्ञात था कि मथुरा वृन्दावन में उसे निवास के लिये स्थान मिलना भी कठिन होगा, कोई उस की बात तक भी न पूछेगा। अतः वह राजा जयकिशनदास से मथुरा के डिप्टी कलक्टर पण्डित देवीप्रसाद के नाम एक चिट्ठी लाया है कि वह उस के निवासादि का प्रबन्ध करदें।

एक अज्ञात परन्तु प्रभावशाली भक्त

स्वामीजी को संभवतः यह ज्ञात न था कि मथुरा में उनका भी एक भक्त है, जो समृद्ध और शक्ति-संपन्न है। वह भक्त राजा उदितनारायणसिंह रईस मथुरा के थे। उन्होंने जब सुना तो सवारी लेकर स्टेशन पर पहुँचे और उन्हें अपने घर पर लाये और अति प्रेम और सम्मान पूर्वक उनका आतिथ्य किया।

वृन्दावन के लिये चार पहरेदार

स्वामीजी ने उनसे कहा कि हम वृन्दावन जा रहे हैं आप वहाँ हमारे स्थान पर पहरा देने के लिये चार मनुष्य नियत कर दीजिये। राजा साहब ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि आज कल ब्रह्मोत्सव है और राव कर्णसिंह बरौली वाला हम से शत्रुता रखता है और वह रङ्गाचारी का चेला है। वह प्रति वर्ष उत्सव में आता है। संभव है वह कुछ दुष्टता करे और व्याख्यान में विघ्न डाले। यह सुन कर राजा साहब ने चार पहरेदार नियत कर दिये।

ईसाई बख़्शी का सौजन्य

स्वामीजी पण्डित देवीप्रसाद डिप्टी कलक्टर से भी मिले। उन्होंने वृन्दावन की चुंगी के बख़्शी महबूब मसीह को स्वामीजी के ठहरने आदि का प्रबन्ध करने के लिये एक पत्र लिख दिया। उक्त कर्म्मचारी ने स्वामीजी को रङ्गजी के मन्दिर के पीछे मलूकदास के बाग़ में जिसे राधा बाग़ भी कहते हैं ठहरा दिया और उनके लिये सब प्रकार की सुविधा कर दी और दो चपरासी उनके डेरे पर नियत कर दिये और दिन में एक बार अवश्य वह स्वामीजी की सेवा में आते थे।

वृन्दावन

स्वामीजी वृन्दावन में फाल्गुन शुक्ला ११ संवत् १९३० अर्थात् २६ फ़रवरी सन् १८७४ को दिन के १० बजे पहुँचे।

महबूब मसीह यद्यपि ईसाई थे परन्तु बड़े उदारचरित और सज्जन थे, उन्होंने वृन्दावन में हर प्रकार से स्वामीजी को सुखी रखने का यत्न किया।

स्वामीजी के वृन्दावन पधारने का मुख्य अभिप्राय रङ्गाचार्यजी से शास्त्रार्थ करना था। स्वामीजी के एक सहाध्यायी थे जिन का नाम था पण्डित गङ्गादत्त।

वृन्दावन जाने का कारण

वह मथुरा में निवास करते थे। एक वार उन्हें स्वामीजी ने फर्रुखाबाद से एक चिट्ठी और १०) रुपये भेजे थे और उन्हें लिखा था कि आप फर्रुखाबाद की पाठशाला में पढ़ाने के लिये आजाइये। वह जाने को उद्यत भी हुए परन्तु चौबों ने उनसे कहा कि दयानन्द के उपदेश से फर्रुखाबाद में बहुत लोगों ने शालिग्राम आदि की मूर्त्तियां गङ्गा में फेंक दी हैं, यदि तुम दयानन्द की नौकरी करोगे तो तुम्हारी बड़ी निन्दा होगी। अतः उत्तर में उन्होंने यह सब वृत्तान्त स्वामीजी को लिख दिया और यह भी लिखा कि जब तक आप यहाँ आकर मूर्त्ति-पूजा का खण्डन न करें तब तक हम आप के पास कैसे आसकते हैं। मथुरा में सोने की मूर्त्तियों के बड़े २ स्तम्भ खड़े हैं और रङ्गाचार्य सब देश में डंका बजा और दिन में मशअल जला कर फिर आये हैं।

ब्राह्मोत्सव

स्वामीजी ने उन्हें वचन दे दिया था कि हम वृन्दावन अवश्य आवेंगे। रथ के मेले का दूसरा नाम ब्राह्मोत्सव है जिस में दूर-दूर से सहस्रों नरनारी, राजे महाराजे, सेठ साहूकार तथा अन्य गण्यमान्य पुरुष इकट्ठे होते हैं। धर्म्मोपदेश के लिये यह अवसर बहुत ही उपयुक्त था। वृन्दावन भारतवर्ष में मूर्त्ति-पूजा का सुदृढ़ दुर्ग है, जहाँ सहस्रों स्त्रीपुरुष घरवार छोड़ कर निवास करते हैं क्योंकि वृन्दावन-वास मुक्ति का साधन समझा जाता है। इस दुर्ग के दुर्गपाल प्रसिद्ध रङ्गाचार्य्य थे जिन के सैकड़ों चेलों ने स्वामीजी के उपदेश से मूर्त्ति-पूजा छोड़ और कण्ठी तोड़ दी थी। स्वामीजी के समान जैसे मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करने वाला अन्य नहीं था। ऐसे ही रङ्गाचार्य्य के समान मूर्त्ति-पूजा का समर्थन करने वाला भी दूसरा न था।

इन सब कारणों से स्वामीजी की प्रबल इच्छा थी कि एक वार रङ्गाचार्य्य से शास्त्रार्थ हो जाय।

व्याख्यानों का विज्ञापन

स्वामीजी के आते ही मिस्टर महबूब मसीह की ओर से हिन्दी में नोटिस लिख कर नगर में कई स्थानों पर चिपाका दिये गये कि होली के पश्चात् चैत्र कृष्णा २ से स्वामीजी मूर्त्ति-पूजा, अवतार, तिलक छाप आदि के खण्डन में ४ बजे से ६ बजे तक व्याख्यान देने आरम्भ करेंगे। एक चिट्ठी रङ्गाचार्यजी के पास भी भेजी गई जिस का सारांश यह था कि आप कहते हैं कि मूर्त्ति-पूजा, कण्ठी, तिलक वेद से सिद्ध हैं सो कृपया अब उन्हें सिद्ध करके दिखलाइये। इसका उत्तर रङ्गाचार्य्यजी ने यह दिया कि शास्त्रार्थ ब्राह्मोत्सव के पश्चात् होगा। स्वामीजी ने यह चिट्ठी रङ्गजी के मन्दिर के द्वार पर चिपकवादी।

रंगाचार्य से शास्त्रार्थ होगा

व्याख्यानों की झड़ी

५ मार्च से स्वामीजी ने व्याख्यानों की झड़ी लगादी। उन्होंने सब दस व्याख्यान दिये। उनमें प्रबल प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों से मूर्त्ति-पूजा, अवतारवाद, तिलक, छाप, कण्ठी, आदि का खण्डन किया। व्याख्यानों में देसी परदेसी सैकड़ों मनुष्य आते और स्वामीजी के तर्क और प्रमाणों को सुन कर अवाक् रह जाते। स्वामीजी का पहला व्याख्यान सृष्टि विषय पर हुआ था।

व्याख्यान आरम्भ करने से पहले भी स्वामीजी ठाली नहीं रहते थे। उनके स्थल पर जिज्ञासुओं की हरदम भीड़ लगी रहती थी और वह बड़े प्रेम से सब के प्रश्नों का उत्तर देते रहते थे। राजा उदितनारायणसिंह नित्यप्रति व्याख्यान श्रवणार्थ आते थे। प्रथम दिन के व्याख्यान में पण्डित देवीप्रसाद डिप्टी कलक्टर मथुरा से आये थे।

दयानन्द के शत्रु से भेंट

एक दिन राजा उदितनारायणसिंह स्वामीजी के डेरे से लौटे हुए जा रहे थे कि उनकी राव कर्णसिंह बरौली वाले से मार्ग में भेंट हो गई। राजा साहब और राव साहब में मैत्री थी। राव साहब ने पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं। राजा साहब ने उत्तर दिया कि श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराज के पास से आरहा हूँ। राव साहब ने बड़े क्रोध में आकर और स्वामीजी के लिये दुर्वाक्य निकाल कर कहा कि आप ऐसे नास्तिक के पास क्यों जाते हैं। उन्हें यह शब्द बहुत बुरे लगे और उन्होंने राव साहब से कहा कि आपको स्वामीजी को गाली देना उचित नहीं है। राव साहब ने कहा कि आप तो उसके चेले हैं। राजा साहब ने प्रत्युत्तर दिया कि यद्यपि मैं स्वामीजी का चेला नहीं हूँ, परन्तु जिनकी सहस्रों मनुष्य प्रशंसा करते हैं उनके विषय में ऐसे कटुवचन कहना नहीं सजता, मैं यद्यपि रङ्गाचार्यजी का चेला नहीं हूँ, परन्तु यदि मैं उन्हें गाली दूँ तो क्या आप को क्रोध न आयगा।

स्वामीजी जिन युक्ति-प्रमाणों से मूर्त्ति-पूजा आदि का खण्डन करते थे उन सब की सूचना रङ्गाचार्यजी के चेले उन्हें देदेते थे। वह उन्हें सुन तो लेते थे, परन्तु उनका उत्तर उन्हें कुछ न सूझता था।

रंगाचार्य शास्त्रार्थ से पराङ् मुख

मेला समाप्त होगया, परन्तु रङ्गाचार्यजी शास्त्रार्थ करने के लिये रङ्गजी के मन्दिर से बाहर न निकले और जान बूझ कर बीमार बन गये। बख्शी महबूब मसीह ने स्वामीजी से कहा कि वास्तव में रङ्गाचार्यजी बीमार नहीं हैं, केवल शास्त्रार्थ के भय से बीमार बन गये हैं। स्वामीजी को निश्चय होगया कि रङ्गाचार्यजी किसी प्रकार शास्त्रार्थ करने पर सन्नद्ध न होंगे, अतः उन्होंने अपने अन्तिम व्याख्यान में यह घोषणा करदी कि मूर्त्ति-पूजादि वास्तव में वेदविरुद्ध है और यही कारण है कि रङ्गाचार्यजी सामने नहीं आये। क्योंकि यदि वह शास्त्रार्थ करते तो अवश्यमेव परास्त होते और वर्षों की कमाई उनके हाथ से जाती रहती।

रंगाचार्य वास्तव में रुग्ण थे

ऊपर जो कुछ पं० रङ्गाचार्य के रुग्ण न होने के विषय में लिखा गया है वह पं० लेखरामकृत दयानन्द-चरित के आधार पर लिखा गया है। देवेन्द्र बाबू के अनुसन्धान के अनुसार पं० रङ्गाचार्य उस समय वास्तव में रुग्ण हो गए थे, वह केवल दुग्धाहार करके रहते थे और उठ बैठ नहीं सकते थे। इसकी सत्यता इससे भी प्रकट होती है कि स्वामीजी के वृन्दावन-त्याग के एक मास पश्चात् ही पं० रङ्गाचार्य की मृत्यु हो गई थी।

पं० लेखरामकृत दयानन्द-चरित में भी एक सज्जन के यह वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

"यह बात मेरी आँखों देखी है और मैं सौगन्द लेकर कहता हूँ कि रङ्गाचार्य कोई ऐसा बीमार न था कि यदि हिम्मत करता तो शास्त्रार्थ न कर सकता"। इससे भी यह भाव

निकलता है कि रङ्गाचार्यजी बीमार तो अवश्य थे, पर इतने बीमार न थे जो शास्त्रार्थ न कर सकते।

हम पेट के कारण सत्य नहीं कह सकते

स्वामीजी के व्याख्यानों में जो पण्डित जाया करते थे वह घर से अनेक प्रश्न सोच कर लेजाया करते थे। परन्तु जब स्वामीजी व्याख्यान के अन्त में यह घोषणा करते कि यदि किसी को कुछ पूछना हो तो पूछले, तो कोई कुछ न पूछता, बल्कि यही कहते कि महाराज आप तो सब सत्य कहते हैं परन्तु हम पेट के कारण सत्य नहीं कह सकते।

रङ्गाचार्यजी ने एक सज्जन से यहाँ तक कहा था कि हमें शास्त्रार्थ के क्या लाभ? यदि दयानन्द हार गया तो उस साधु का क्या बिगड़ेगा, परन्तु यदि हम हार गये तो हमारी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी।

सहपाठी का परामर्श

एक दिन स्वामीजी के सहपाठी पंडित उदयप्रकाश ने स्वामीजी से कहा कि आप मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करना छोड़ दीजिए। स्वामीजीने उत्तर दिया कि यदि मूर्त्ति-पूजा असत्य है तो आप भी उसका निषेध करें और यदि सत्य है तो मुझसे शास्त्रार्थ करलें। मैं तो इस अन्धेर को जो वैरागियों, गोसाइयों आदि मत-मतान्तरों के आचार्यों ने मचा रक्खा है नहीं देख सकता।

पुराने पुजारी ने मूर्त्ति-पूजा छोड़दी

जय गोविन्दगिर संन्यासी वृन्दावन के गोपेश्वर महादेव तथा अन्नपूर्णा के मन्दिर में रहते थे और बहुत काल तक वह पुजारी भी रहे थे। वह स्वामीजी के सब व्याख्यानों में आते और उन्हें ध्यानपूर्वक सुनते थे। स्वामी जी के उपदेशों से उनका चित्त मूर्त्ति-पूजा से हट गया, विशेषकर रङ्गाचार्यजी के शास्त्रार्थ से मुख मोड़ने पर तो उन्हें उसकी असत्यता का पूर्ण विश्वास हो गया और उससे उन्हें इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने उसे सदा के लिए तिलाञ्जलि देदी। इसी प्रकार अन्य कई पुरुष मूर्त्ति-पूजा छोड़ कर एक निराकार ईश्वर के उपासक बन गये।

कई बङ्गाली ब्राह्म समाजियों ने भी स्वामीजी से बात चीत की थी।

शास्त्रार्थचर्चा

श्री राधारमणजी के मन्दिर के आचार्य्य गोस्वामी सखालालजी थे। वह गौड़ेश्वर-वैष्णव और उच्च-कोटि के वैयाकरण थे। उनके पास न शास्त्रार्थ के लिये कोई सन्देश भेजागया था और न उन्होंने स्वयं ही इस विषय में स्वामीजी से कोई लिखा पढ़ी की थी। बीच के लोगों ने ही उनसे शास्त्रार्थ की बात छेड़ी थी। उन्होंने उस पर कहा था कि हम बिना मध्यस्थ के शास्त्रार्थ न करेंगे, इधर स्वामीजी ने किसी को मध्यस्थ बनाना स्वीकार न किया। गोस्वामीजी ने यह भी कहा था कि ऐसी लिखा पढ़ी होजानी चाहिये कि जो शास्त्रार्थ में हारे वह सदा के लिये अपना पक्ष छोड़दे। स्वामीजी ऐसी चालों में कब आने वाले थे और यह झगड़ा बीच का बीच में रहगया।

अपूर्व सहनशीलता

मुंशी हरदेवगोविन्द एक कट्टर हिन्दू थे। वह उद्धत और झगड़ालू प्रकृति के थे। एकबार वह फौजी गोरों से भी लड़ पड़े थे जो वृन्दावन के जङ्गल में शिकार खेलने आये थे। एक दिन उन्होंने यह दुष्टता की कि मुट्ठी में धूल भरकर स्वामीजी के ऊपर डालदी। स्वामीजी की सहन-शीलता,

और सम्मान-अपमान की ओर से उपेक्षा की पराकाष्ठा देखिये कि उन्हें कुछ भी न कहा।

दूसरे के स्थान पर शास्त्रार्थ करने न जायँगे

एक दिन महाराजा ग्वालियर के गुरू ब्रह्मचारी गिरिधरदास ने स्वामीजी से कहला कर भेजा कि ज्ञान-गुदड़ी में आकर हमारे पण्डितों से शास्त्रार्थ कर लीजिये। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हम अपने स्थान को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर न जायँगे। ब्रह्मचारीजी ने शास्त्रार्थ की चर्चा केवल 'हम भी हैं पाँचवें सवारों में' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करने के लिये ही की थी ताकि वह यह कहसकें कि हमने दयानन्द को शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया था परन्तु उसकी हिम्मत उसे स्वीकार करने की न हुई।

वध करने का षड्यन्त्र

एक वैरागी ने स्वामीजी के प्राण-हरण का भी सङ्कल्प किया था और कुछ गुण्डों को १०००) रुपये का लालच देकर यह कुकर्म कराना चाहा था, परन्तु वह राजी न हुए।

हाथी और गन्ने का सामना

एक दिन एक नवयुवक पण्डित घनश्याम नामक कहीं से दो चार पुराने पत्रे ढूंढ-ढाँढकर स्वामीजी से जा भिड़े। फिर तो हाथी और गन्ने का सामना होगया। और उनके सारे विचार और युक्तियाँ स्वामीजी के पाण्डित्य के प्रवाह में बह गये।

नवयुवक गोस्वामी की उपदेशों में रुचि

गोस्वामी राधाचरण जो पीछे आकर हिन्दी के मार्मिक लेखक बने उस समय १४-१५ वर्ष की आयु के थे। स्वामीजी के उपदेशों में उनकी बड़ी रुचि होगई थी। वह कहते हैं कि स्वामीजी की वक्तृताओं का असर वृन्दावन वालों पर कुछ नहीं हुआ; केवल पण्डित छीतरसिंह दीवान रियासत हाथरस पर, मुझ पर और मेरे मित्र मधुसूदन गोस्वामी पर स्वामीजी का कुछ २ रंग चढ़ा था; परन्तु थोड़े दिनों में ही पण्डित छीतरसिंह को तो बिलकुल भूल गया, मैं और मेरे मित्र उनकी शिक्षा के पाबन्द नहीं रहे; मेरे मित्र स्वामीजी के पूरे शत्रु हो गये।

गोस्वामी राधाचरणजी का यह कथन कि स्वामीजी की वक्तृताओं का वृन्दावन वालों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ किसी अंश तक ठीक हो, परन्तु सर्वांश में ठीक नहीं है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि कई लोगों ने मूर्त्ति-पूजा से किनारा कर लिया था।

जयपुराधीश छिप कर मिले

गोस्वामी राधाचरणजी कहते हैं कि स्वामीजी ने उनसे एक दिन कहा था कि गत रात्रि में महाराजा जयपुर प्रच्छन्न भाव से आकर बातें कर गये हैं। महाराजा रामसिंह उन दिनों दिल्ली एक सभा में सम्मिलित होने के लिये आये थे जो नहर खोलने के उपलक्ष्य में हुई थी।

सेठ लक्ष्मणदास भी

स्वामीजी ने गोस्वामीजी से यह भी कहा था कि सेठ लक्ष्मणदासजी (मथुरा के प्रसिद्ध सेठ जिन्होंने रंगजी का विशाल मन्दिर कई लाख रुपयों की लागत से बनवाया था) गुप्त रूप से हमारे पास आये थे।

गोस्वामीजी से स्वामीजी ने यह भी कहा था कि हमने सत्यार्थप्रकाश छपने को दे दिया है। गोस्वामीजी को स्वामीजी ने अपने उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण भी लिखा दिया था और कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों के नाम भी लिखाये थे और यह कहा था कि यह सब ग्रन्थ

रंगजी के मन्दिर में पाठशाला स्थापित करो

महाराजा अलवर के पुस्तकालय में हैं जिसके समान संस्कृत ग्रन्थों का पुस्तकालय भारतवर्ष में अन्यत्र नहीं है। उन्होंने यह भी कहा था कि सेठजी के मन्दिर में से रंगजी की मूर्त्ति उठा कर उसकी जगह वैदिक पाठशाला स्थापित करनी चाहिये और मन्दिर की आय * भी उसी के प्रयोग में आनी उचित है।

गोस्वामीजी को स्वामीजी ने कुछ ग्रन्थों के नाम लिखा दिये थे और कहा था कि इन्हें हमारे लिये भेज देना। गोस्वामीजी ने उनके लिये वात्स्यायनभाष्य प्रस्तुत भी किया था, परन्तु पीछे वह ग्रन्थ उन्हें अन्यत्र मिल गया, इस कारण गोस्वामीजी ने उनके पास नहीं भेजा।

गोस्वामीजी से स्वामीजी ने काशी की पाठशाला में जाकर पढ़ने का अनुरोध किया था, परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि हम बचपन से ही काव्य के रसिक थे और वैदिक पाठशाला में काव्य का पठन होता नहीं, इस लिये हम काशी न गये।

दयानन्द-निन्दा-काव्य

मथुरा के एक पौराणिक पण्डित मोहनलाल ने निम्न लिखित श्लोक लिख कर वृन्दावन में कई जगह लगाया था:—

दयानन्दो मन्दोऽखिल···सन्दोह भरितो।
निरातङ्को रङ्को भ्रमति भुवि संकोचरहितः॥
असद्वादोयादोनिधिरिव महादोषपयसा।
अमन्दात्तो दात्त्योज्झित इव पराभूतिमयिता॥

एक दूसरी कविता भाषा में भी थी:—

सभा मध्य कीनी जिन निन्दा पुराणन की याही के पाप जोधपुर ते निकारो है।
जयपुर में जा को शिव द्रोही लखि राजा ने ता दिन ते ताको मुख दर्शन बिसारो है॥
ऐसो महा नीच ताही कीनों गुरु लोगन ने·······························।
पण्डित श्री गोपाल धर्म राख्यौ फ़रूक्काबाद पापी पाखण्डी को कीनो मुख कारो है॥

रङ्गाचार्यजी के चेले चाँटों ने कुछ धूर्त्तता करनी चाही थी। इस पर कुछ लोगों ने कहा कि महाराज आप बाहर न जाया करें। स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया कि कल सम्भवतः आप लोग यह कहेंगे कि मैं कोठी के भीतर ही छिप कर बैठा रहूँ।

वृन्दावन जाने से पहले स्वामीजी ने बलदेवसिंह को वहाँ स्थान ढूँढ़ने को भेजा था और यह कह दिया था कि ऐसा स्थान निश्चित करना जहाँ बन्दर और पत्थर न हों।

जब स्वामीजी ने देखा कि उनका वृन्दावन आने का उद्देश्य जो रङ्गाचार्यजी से शास्त्रार्थ करना था, पूरा नहीं हो सकता तो उन्होंने अधिक दिन वृन्दावन ठहरना अनुपयोगी समझा और वह चैत्र कृष्णा ११ को वृन्दावन से मथुरा चले आये।

मथुरा

मथुरा में स्वामीजी गोस्वामी पुरुषोत्तमदास के बलदेव बाग़ में ठहरे थे और प्रशंसित गोस्वामीजी ने ही उनके आहार का प्रबन्ध किया था।

* रङ्गजी के मन्दिर की आय १०,०००) मासिक है।

उन्होंने मथुरा आने से पहले पं० गङ्गादत्त अपने सहपाठी के द्वारा अन्य सहपाठियों से कहला भेजा था कि जहाँ कहीं जाता हूँ वहाँ के पण्डित मुझसे कहते हैं कि हमारे स्थान पर आकर शास्त्रार्थ करो, मेरे स्थान पर नहीं आते और जब मैं उनके स्थान पर नहीं जाता तो कह देते हैं कि दयानन्द हार गया, तुम ऐसा न करना, इस लिये तुम जिस स्थान पर कहो मैं वहां ही ठहर जाऊँ। पं० गङ्गादत्त ने लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में ठहरने को कहा, परन्तु वह स्थान संकुचित था, अतः वहाँ न ठहरे। उन्होंने पं० गङ्गादत्त से यह भी कह दिया था कि शास्त्रार्थ करने दण्डीजी के विद्यार्थी पहले न आवें, अतः वह लोग न गये, अन्य पण्डित गये; परन्तु निरुत्तर होकर लौट आये।

सहपाठी को परामर्श

स्वामीजी ने मथुरा में भी व्याख्यान दिये पर यह ज्ञात नहीं कि कितने। उनमें स्वामीजी ने मूर्त्ति-पूजा आदि बेधड़क होकर खण्डन किया परन्तु किसी की उनसे शास्त्रार्थ करने की हिम्मत न पड़ी।

उपदेशदान

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान देरहे थे कि कुछ धूर्तों ने एक कलवार और एक क़साई को भेजा। उन्होंने जाकर गुल मचाकर स्वामीजी से कहना आरम्भ किया कि हमारे शराब और मांस के दाम तो दे दीजिये। स्वामीजी ने हँसकर कहा कि बहुत अच्छा! व्याख्यान के पश्चात् तुम्हारा हिसाब भी करदूंगा। व्याख्यान के पश्चात् स्वामीजी ने एक हाथ से एक का और दूसरे से दूसरे का सिर पकड़ कर कहा कि बतलाओ तुम्हारे कितने २ दाम हैं। जब उन्होंने देखा कि स्वामीजी उनके सिरों को आपस में टकरा कर उनका कचूमर निकालदेंगे तो उन्होंने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी और कहा कि हमें तो अमुक पुरुषों ने बहका कर भेजा था। दयालु दयानन्द तो अपने बुरे से बुरे शत्रु से भी बदला न लेना चाहते थे, उन्हें तुरन्त क्षमा करदिया।

दो दुष्टों की दुर्गति

एक दिन पाँडे मदनदत्तजी जिनकी आयु ८० वर्ष की थी बहुत से तिलक छाप लगाकर और रंगबरंग के टुकड़ों की गुदड़ी पहन कर अपने पोते गरुड़ध्वज और शिष्य बालकृष्ण के साथ स्वामीजी के पास गये। पाँडेजी ४० वर्ष तक दुग्धाहार करके रहे थे और अत्यन्त भक्ति-शील सज्जन थे। स्वामीजी ने सत्कारपूर्वक उन्हें आसन दिया और कुशल प्रश्न के पश्चात् दण्डीजी की पाठशाला का वृत्तान्त भी पूछा। फिर उनके पौत्र से पूछा कि क्या पढ़ते हो। उसके यह उत्तर देने पर कि व्याकरण पढ़ता हूँ, स्वामीजी ने उससे अष्टाध्यायी के 'एचोयवायावः' (पा० अ० ६।१।७८) सूत्र के अर्थ पूछे, उससे न बताये गये, परन्तु उनके शिष्य ने बतादिये। इस पर स्वामीजी ने अप्रसन्न होकर पांडेजी से कहा कि आपने इस लड़के को बिगाड़ दिया है, यदि ऐसा ही रहा तो महामूर्ख होगा। शिष्य से भी पूछा कि तुम क्या पढ़ते हो और जब उसने कौमुदी का नाम लिया तो कहा अष्टाध्यायी पढ़ा करो, कौमुदी बुद्धि को बिगाड़ देती है।

८० वर्ष का ब्राह्मण मिलने आया

इसके पश्चात् न जाने पाँडेजी के क्या जी में आई कि सब के सामने मूर्त्ति-पूजा और समस्त वेद-विरुद्ध संप्रदायों का खण्डन आरम्भ करदिया जिसे देख कर सबके सब चकित रहगये और कहने लगे कि स्वामीजी के पास

अपूर्व चमत्कार
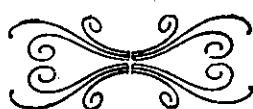
जादू है। पाँडेजी मूर्त्ति-पूजा का मण्डन करने आये थे और करने लगे खण्डन, उलटी गङ्गा बहाने लगे।

शालिग्राम यमुना में
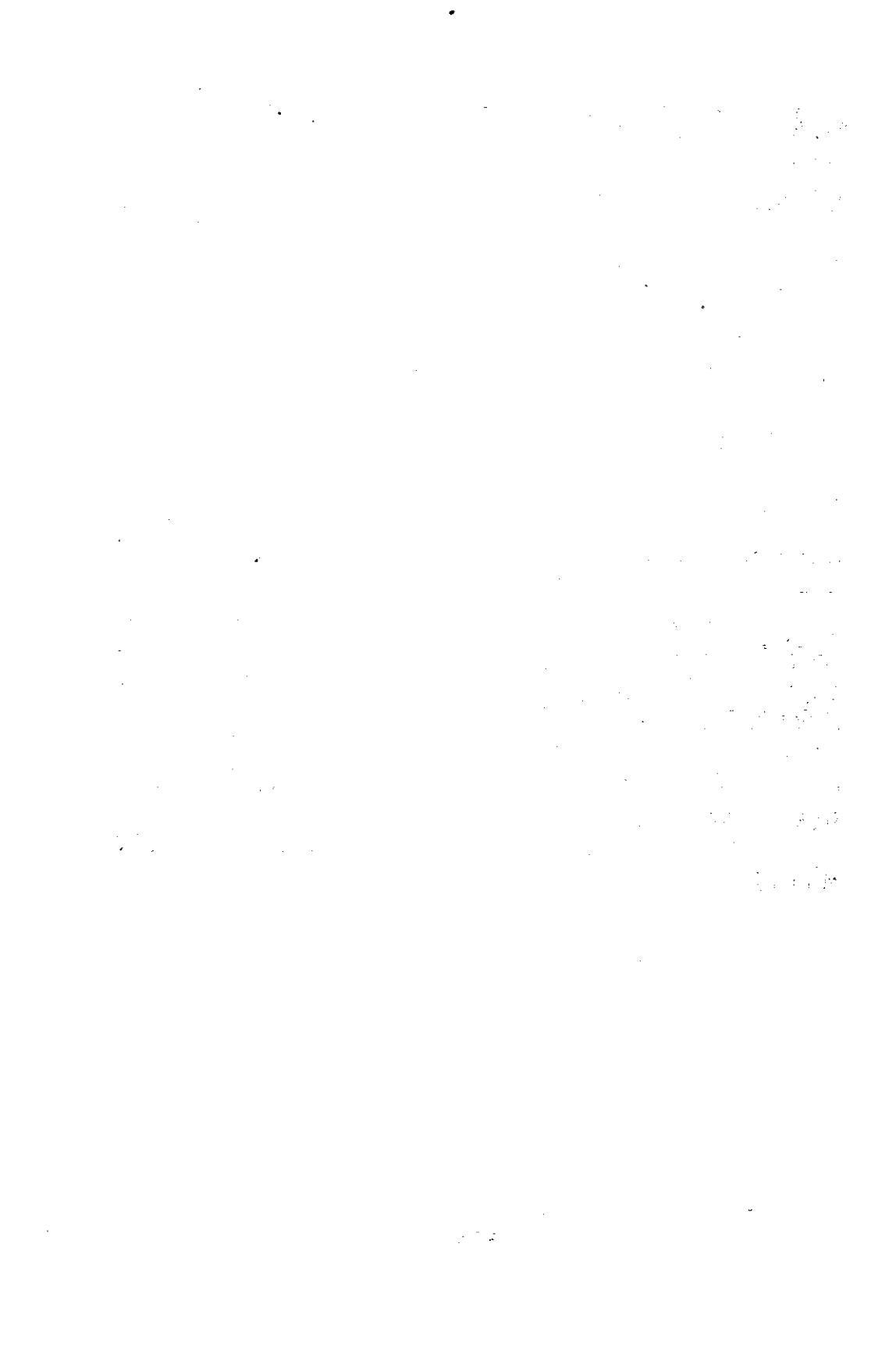
इस घटना के दूसरे दिन एक ब्रह्मचारी ने भी शालिग्राम की मूर्त्तियों का पर्यङ्क स्वामीजी के उपदेश से यमुना में डाल दिया था।

खण्डन न करने की प्रार्थना

कहते हैं कि गोस्वामी पुरुषोत्तमदासजी ने स्वामीजी के पास एक चिट्ठी भेजी थी कि आप हमारे मत का खण्डन न करें। स्वामीजी ने वह चिट्ठी सभा में सैकड़ों मनुष्यों के सामने सुना दी।

मिट्टी क्यों लगाते हो

एक चौबे ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि जब आप तिलक छाप का खण्डन करते हैं तो शरीर पर मिट्टी क्यों लगाते हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इससे मक्खी नहीं सताती, अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं है।

चौबों का आक्रमण

जिस दिन स्वामीजी मथुरा से चलने को हुए उस दिन पण्डित देवीप्रसाद डिप्टी कलक्टर ने उनसे कहा कि आज आप और ठहर जाइये, आज अवश्य शास्त्रार्थ होगा। स्वामीजी ठहर गये। परन्तु हुआ यह कि चार पाँच सौ चौबे एकदम लाठियाँ लिये हुए और गालियाँ बकते हुए स्वामीजी के निवास-स्थान पर चढ़ आये। यह हल्ला सुन ठाकुर भूपालसिंह रिसालदार घबरा उठे और उन्होंने बाग़ का फाटक बन्द कर दिया। परन्तु स्वामीजी को कुछ भी घबराहट न हुई। इतने में ही स्वामीजी के अनुयायी कतिपय कर्णवास-निवासी क्षत्रियगण आगये और बाग़ का फाटक खोल दिया, परन्तु किसी उपद्रवी को उसके भीतर जाने का साहस न हुआ। फिर पण्डित देवीप्रसाद भी आगये और उन्हें देखकर चौबे तितर बितर होगये। डिप्टी साहब ने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये बुलाया भी, परन्तु उनमें नियम-पूर्वक शास्त्रार्थ का सामर्थ्य कहाँ था, कोई आगे न आया। रहे चौबे, उनके पास लाठी शास्त्र और गाली प्रमाण के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं। जिन्हें काला अक्षर भैंस बराबर था वह शास्त्रार्थ क्या करते?

मथुरा में स्वामीजी पाँच दिन रह कर राजा साहब मुरसान की प्रार्थना पर मुरसान चले गये।

त्रयोदश अध्याय

संवत् १९३१ आश्विन तक

चैत्र शुक्ला २ संवत् १९३१ अर्थात् १९ मार्च सन् १८७४ को स्वामीजी राजा साहब मुरसान की फ़िटन पर सवार होकर मुरसान पहुँचे। मुरसान के राजा टीकमसिंह स्वामीजी का बड़ा सम्मान करते थे। वह स्वयं सवारी लेकर स्वामीजी को लिवाने के लिये मथुरा गये थे। उन्होंने हाथरस में ही स्वामीजी से मुरसान आने का बचन लेलिया था। जब स्वामीजी मुरसान पहुँचे तो उन्होंने स्वामीजी की बड़ी शुश्रूषा की।

मुरसान

पहले भी एक बार स्वामीजी मुरसान आये थे। यह संवत् १९१७ की बात है। उस समय स्वामीजी दण्डीजी की सेवा में मथुरा जाते हुए हाथरस ठहरे थे। वहाँ उन्होंने सुना कि दण्डीजी का मुरसान में किसी पण्डित से पहले शास्त्रार्थ हो रहा है, परन्तु जब स्वामीजी मुरसान पहुँचे तो उससे पहले ही दण्डीजी मथुरा चले गये थे।

मुरसान में पूर्व पदार्पण

राजा साहब ने ठाकुर गुरुप्रसाद बेसवाँ वाले के पास सूचना भेजी कि स्वामीजी मुरसान ठहरे हुए हैं। आप कहा करते हैं कि आपने जो यजुर्वेद का भाष्य किया है वह ठीक है, परन्तु स्वामीजी उसे अशुद्ध बताते हैं; आप यह भी कहा करते हैं कि स्वामीजी वेदों का अर्थ नहीं जानते, आप मुरसान आकर उनसे निर्णय करलें। राजा साहब ने शास्त्रार्थ का दिन भी नियत कर दिया और उसका विज्ञापन दे दिया।

अपने भाष्य की सत्यता सिद्ध करो

नियत तिथि पर ठाकुर गुरुप्रसाद बड़े आडम्बर और आस्फालन के साथ ५०० या ६०० मनुष्यों की भीड़ साथ लिये हुए मुरसान पहुँचे।

जिस बँगले में स्वामीजी ठहरे हुए थे उस भीड़भाड़ को साथ लिये हुए वहाँ उपस्थित हुए। स्वामीजी और राजा साहब बँगले के भीतर बैठे थे, ठाकुर साहब भीतर न गये, बाहर खड़े हुए ही अपनी विद्या की वृथा प्रशंसा के गीत गाते रहे। उन्हें राजा साहब ने बहुतेरा बुलाया,

वेदभाष्यकर्त्ता ठाकुर की दुर्गति

परन्तु वह अन्दर न गये। तब राजा साहब ने उनसे कहा कि आप कहते थे दयानन्द कुछ नहीं जानते, परन्तु वास्तव में आप स्वयं कुछ नहीं जानते, जाइये अपने ग्राम को सिधारिये। तत्पश्चात् वह अपना सा मुँह लेकर जैसे आये थे वैसे ही चले गये।

उन्होंने सोचा था कि मेरे साथ भीड़भाड़ को देख कर और मेरे दुन्द मचाने से स्वामीजी भयभीत हो जायँगे और शास्त्रार्थ न करेंगे और फिर मैं अपनी विजय की भेरी बजा दूँगा। परन्तु उन को यह ज्ञान न था कि दयानन्द जैसा केसरी उन सरीखे शृगालों की गीदड़-भभकियों से डरने वाला नहीं था।

इसके पश्चात् राजा साहब ने बड़े सम्मान के साथ स्वामीजी को विदा किया और स्वयं फिटन में सवार करा कर उन्हें हाथरस जंक्शन, रेलवे स्टेशन पर पहुँचा गये जहाँ से स्वामीजी प्रयाग के लिये रेल में सवार हो गये और प्रयाग से काशी चले गये।

काशी

मई सन् १८७४ में स्वामीजी काशी पधारे और गोसाईं रामप्रसाद उदासी के बाग़ में ठहरे। इस बार उनके साथ दो तीन बैगों में पुस्तक और वस्त्र थे, तथा एक नौकर भी साथ था।

आक्षेप का उत्तर

इस बार स्वामीजी वस्त्र-परिधान करने लगे थे और उन्होंने भाषा बोलने का भी सङ्कल्प कर लिया था। जवाहरदासजी ने महाराज से कहा कि आपके लिये तो प्रथम अवस्था ही अच्छी थी। परन्तु महाराज ने उनका समाधान करदिया। भाषा बोलने के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि संस्कृत सर्वसाधारण समझते नहीं और पण्डित लोग स्वार्थवश हमारे कथन के विपरीत लोगों को समझा देते हैं।

भाषा में प्रथम व्याख्यान

जिस दिन महाराज ने पहला व्याख्यान दिया उस दिन पहले से ही लोगों को सूचना देदी थी कि व्याख्यान भाषा में होगा। व्याख्यान भाषा में ही हुआ, परन्तु संस्कृत बोलने के अभ्यास और भाषा बोलने के अनभ्यास के कारण व्याख्यान में वाक्य के वाक्य संस्कृत में बोल गये। भाषा में व्याख्यान देने का यह परिणाम तो अवश्य हुआ कि सर्वसाधारण अधिक संख्या में व्याख्यान सुनने आने लगे, परन्तु पण्डितों की उपस्थिति कम होगई।

विद्यार्थियों का परीक्षा व प्रबन्ध-परिवर्त्तन

पाठशाला को खुले हुए छः मास होगये थे। स्वामीजी ने विद्यार्थियों की परीक्षा ली और परीक्षा-फल से सन्तुष्ट हुए, परन्तु विद्यार्थियों को जो मासिक-वृत्ति दीजाती थी वह उनके मनोनीत न हुई, अतः उसे बन्द करदिया। पंडित शिवकुमार से उन्होंने कहा कि आप वैदिकधर्म्म का प्रचार कीजिये। उन्होंने उत्तर दिया कि यदि आप ५०) मासिक वेतन दें तो कर सकता हूँ। स्वामीजी ने इसे स्वीकार न किया। पं० शिवकुमार वेदज्ञ न थे। अतः उनके स्थान में उन्होंने पं० गणेशश्रोत्रिय को नियत करदिया जो वैदिक-विषयों के अच्छे पण्डित थे, परन्तु वह वैयाकरण अच्छे न थे।

अब तक पाठशाला केदार घाट पर थी। स्वामीजी ने उस स्थान को नापसन्द किया और वहाँ से उठा कर पाठशाला को दशाश्वमेध घाट पर लेगये। वहाँ एक गृह २) मासिक

पाठशाला का स्थान-परिवर्तन

किराये पर लेकर पाठशाला को उसमें रक्खा गया। पाठशाला के लिये चन्दा एकत्र करने के लिये स्वामीजी ने पंडित शिवसहाय गौड़ कानपुर निवासी को कानपुर, लखनऊ, फ़र्रुखाबाद, शाहजहाँपुर की ओर भेजा था। काशी से ज्येष्ठ शुक्ला १३ संवत् १९३१ अर्थात् २९ मई सन् १८७४ को एक चिट्ठी स्वामीजी ने पं० शिवसहाय को काशी से लिखी थी जिसमें उन्हें पाठशाला के स्थान-परिवर्त्तन की सूचना दी थी, रुपया और पुस्तकें उनसे मँगाई थीं।

समाचारपत्रों में विज्ञापन

पाठशाला के सम्बन्ध में स्वामीजी ने एक विज्ञापन भी 'कविबचन-सुधा' काशी में २० जून सन् १८७४ को छपाया था जिसे पीछे आषाढ़ शुक्ला १४ संवत् १९३१ के 'विहारबन्धु' के अङ्क में सम्पादक ने छाप दिया था।

एक समाचार सबको विदित हो कि आपका आर्य्य विद्यालय काशी में संवत् १९३० तदनुसार दिसम्बर सन् १८७३ में केदार घाट पर जिसका आरम्भ हुआ था वहीं अब मित्र-पुर मुहल्ला, मिश्र दुर्गाप्रसाद के स्थान में संवत् १९३१ मिति आषाढ़ सुदी ५ शुक्रवार १९ जून सन् १८७४ प्रातःकाल ७ बजे से उपरान्त आरम्भ होगा। इसका प्रबन्ध अब अच्छे प्रकार होगा। प्रातः सात बजे से पठन और पाठन होगा दस ग्यारह तक और फिर एक बजे से पाँच बजे तक। इसमें अध्यापक गणेश श्रोत्रियजी रहेंगे। सो पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, पातञ्जल, सांख्य, वेदान्त दर्शन, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरेय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक दश उपनिषद्, मनुस्मृति, कात्यायन और पारस्कर गृह्यसूत्र, इनको पढ़ाया जावेगा। थोड़े समय के पीछे चार बेद, चार उपवेद तथा ज्योतिष् के ग्रन्थ भी पढ़ाये जावेंगे और एक उप-बैयाकरणी रहेगा, वह अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, आदि गण, शिक्षा और प्रातिपदिक, गणपाठ यह पाँच पाणिनिमुनिकृत और पतञ्जलिमुनिकृत भाष्य, पिङ्गलमुनिकृत छन्दोग्रन्थ, यास्कमुनिकृत निरुक्त, निघण्टु और काव्य, अलङ्कार सूत्रग्रन्थ इन सब को पढ़ना होगा। जिनको पढ़ने की इच्छा होवे सो आकर पढ़ें। जो विद्या और श्रेष्ठाचार की परीक्षा में उत्तम होगा उसको परीक्षा के पीछे पारितोषिक यथायोग्य मिलेगा, सो परीक्षा मास मास में होगी। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेद पर्य्यन्त और शूद्र मन्त्रभाग को छोड़ कर सब शास्त्र पढ़ेंगे। फिर जब जब इस आर्य विद्यालय के लिए अधिकाधिक चन्दा होगा तब तब अध्यापक और विद्यार्थी लोगों को भी बढ़ाया जायगा। इसकी रक्षा और वृद्धि के लिये एक आर्यसभा स्थापित हुई है और एक 'आर्य-प्रकाश' पत्र भी निकलेगा मास मास में। इन तीनों बातों की प्रवृत्ति के लिये बहुत से भद्र लोग प्रवृत्त हुए हैं और बहुत प्रवृत्त होंगे। इससे भी आर्यावर्त्त देश की उन्नति होगी। इस विद्यालय में यथावत् शिक्षा दी जावेगी जिससे कि सब उत्तम व्यवहारयुक्त हों। हस्तलिखित दयानन्द सरस्वती (विहार बन्धु भाग २ अङ्क २१ तारीख़ ८ जुलाई सन् १८७४)।

विज्ञापन की समालोचना

अनुमान होता है कि प्रयत्न करने पर भी पाठशाला की दुरवस्था होती गई। आर्य-सभा ने कुछ कार्य नहीं किया, न 'आर्य-प्रकाश' पत्र ही निकला। इस विज्ञापन से यह भी प्रकट होता है कि उस समय तक स्वामीजी की सम्मति शूद्रों को मन्त्रभाग वेद पढ़ाने की नहीं थी। इस नूतन

प्रबन्ध में साधु जवाहरदास का हाथ नहीं था, सब प्रबन्ध मुन्शी हरवंशलाल अध्यक्ष लाइटनिंग प्रेस काशी के हाथ में था। २३ जनवरी सन् १८७५ की चिट्ठी में स्वामीजी ने मुन्शी हरवंशलाल को लिखा था,—"पाठशाला की व्यवस्था आपलोगों पर है जैसे चले चलाओ,।"

पाठशाला टूट गई

इससे ज्ञात होता है कि पाठशाला की दशा उस समय बहुत अवनत हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि फ़रवरी सन् १८७५ में पाठशाला टूट गई।

इस बार की मुख्य घटना स्वामीजी को राजा जयकिशनदास सी. एस. आई. डिप्टी कलक्टर से भेंट होना है। राजा साहब स्वामीजी से पहले से ही बहुत प्रसन्न थे और स्वामीजी में उनका बहुत अनुराग था। उन्होंने स्वामीजी के उपदेशों को सुन कर विचार किया कि यदि वह उपदेश लिख लिये जावें और पुस्तकाकार में छप जावें तो जनता का बड़ा उपकार हो, क्योंकि अबतो उन्हीं लोगों को लाभ पहुँचता है जिन्हें स्वयं श्रीमहाराज के मुख से उन्हें सुनने का अवसर प्राप्त होता है सो उनमें से भी सब लोग सब उपदेश सुन नहीं पाते और सर्वत्र महाराज जा नहीं सकते, अतः वहां के लोग इस लाभ से वञ्चित रहते हैं। पुस्तकाकार छप-जाने से उपदेश स्थायी हो जायँगे। यह सब विचार राजा साहब ने महाराज के सम्मुख रक्खे और इसके साथ ही पुस्तक लिखाने और छपाने का भार भी अपने ऊपर लिया। महाराज ने राजा साहब के प्रस्ताव को स्वीकार किया।

उपदेश लेखबद्ध करने का परामर्श

राजा साहब ने पुस्तक लिखने के लिए एक महाराष्ट्र पं० चन्द्रशेखर को नियत कर दिया और १२ जून सन् १८७४ से 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना आरम्भ हो गई। स्वामीजी बोलते जाते थे और चन्द्रशेखर लिखते जाते थे। अन्त को सत्यार्थप्रकाश का पहला संस्करण सन् १८७५ में राजा जयकिशनदास के साहाय्य से मुन्शी हरवंशलाल काशी निवासी के लाइट प्रेस में छप कर प्रकाशित हुआ।

सत्यार्थप्रकाश का आरम्भ

यह पुस्तक अनेक अमूल्य उपदेशों से युक्त थी। इसके कई स्थल तो बड़े ही महत्व के हैं जिनसे ज्ञात होता है कि स्वामीजी वास्तव में ऋषि अर्थात् द्रष्टा थे, वह अपनी अलौकिक प्रतिभा से भविष्य में होने वाली घटनाओं का अनुमान कर सकते थे। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण निम्नलिखित है:—

प्रथम संस्करण का महत्व

श्री महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी ने जब शान्तिमय असहयोग प्रचलित किया तो उन्होंने जिस क़ानून को सब से पहले तोड़ा वह नमक का क़ानून था। सरकार ने नमक बनाने का अधिकार अपने हाथ में ले रक्खा है और सर्वसाधारण के लिये उसका बनाना वर्जित है। महात्माजी ने इस क़ानून के विरुद्ध बिना सरकार की आज्ञा के नमक बनाया। महाराज ने सन् १८७५ में ही सन् १९३० से ५५ वर्ष पहले नमक तथा जंगलात के क़ानून की अनीति और अन्याय को अनुभव कर लिया था और इन दोनों क़ानूनों के विरुद्ध

दयानन्द के ऋषि होने का प्रमाण

सन् १८७५ के सत्यार्थप्रकाश में अपनी सम्मति प्रकट की थी कि इनसे ग़रीब लोगों को बहुत हानि पहुँचती है।

इस सत्यार्थप्रकाश में श्राद्धतर्पण का समर्थन किया गया था और श्राद्ध में मांस के पिण्ड देने लिखे थे। पुस्तक छपने के पश्चात् जब स्वामीजी का ध्यान इस की ओर आकर्षित किया गया तो उन्हें अत्यन्त दुःख और आश्चर्य हुआ कि उनकी धारणा और उपदेश के विरुद्ध ऐसे लेख को पुस्तक में कैसे स्थान मिला। स्वामीजी ने तुरन्त ही पुस्तक को वापस ले लिया।

लेखक की दुष्टता

आर्य्यसमाज के विरोधी इस बात को लेकर स्वामीजी पर अब तक कटाक्ष करते रहते हैं और यह कहते हुए नहीं थकते कि स्वामीजी वास्तव में श्राद्ध-तर्पण और मांसाहार के पक्षपाती थे।

विरोधियों का दुराग्रह

यह तो हम कहने को तैयार नहीं कि किसी समय भी वह श्राद्धतर्पण के समर्थक नहीं थे, या यज्ञ में वह पशुबलि को शास्त्र-सम्मत नहीं समझते थे। परन्तु हम यह निश्चय और दृढ़ विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि इस सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ होने, अर्थात् जून सन् १८७४ से बहुत पूर्व वह अपनी सम्मति मृत पितरों के श्राद्ध-तर्पण और मांसाहार के विरुद्ध स्थिर कर चुके थे। इसके हमें अनेक प्रमाण मिलते हैं।

पण्डित लेखरामकृत जीवन-चरित्र के पृष्ठ ६७ में लिखा है कि जब स्वामीजी संवत् १९२५ में अनूपशहर में थे तो उन्होंने कहा था कि 'जीवित का श्राद्ध करना चाहिये'। फिर पृष्ठ ६४ पर लिखा है कि स्वामीजी ने मायाराम जाट लम्बरदार शफ़ीनगर से चासी में भी कहा था कि 'जीवित का श्राद्ध सदैव करते रहो' और ज्वालादत्त को पद्धति बनवा कर दे गये थे। जब स्वामीजी कानपुर में सन् १८६९ में गये थे तब भी मृतक श्राद्ध का खण्डन करते थे। कलकत्ते जाते हुए जब वह भागलपुर में ठहरे थे तो उन्होंने बाबू पार्वतीचरण से जो भागलपुर के सन्त और पवित्रतम व्यक्ति समझे जाते थे कहा था कि "जीवित माता-पिता का श्राद्ध-तर्पण करना उचित है"। वह मरे हुओं के श्राद्ध-तर्पण का समर्थन नहीं करते थे।

विरोधियों का सप्रमाण उत्तर

इस के अतिरिक्त स्वयं राजा जयकिशनदासजी ने देवेन्द्रबाबू से कहा था,—"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामीजी का लिखा गया वा जो कुछ पीछे परिवर्तित हुआ उसके लिये स्वामीजी इतने उत्तरदाता नहीं हैं। स्वामीजी को उस समय प्रूफ़ देखने का अवकाश ही नहीं था। पहले-पहले स्वामीजी सभी लोगों को अच्छा समझ कर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक वा मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थ-प्रकाश में छप गया हो और यह भी हो सकता है कि उनका मन पीछे परिवर्तित हो गया हो।"

राजा की साक्षी

उपर्युक्त साक्षियों से स्पष्ट है कि मृतक श्राद्ध के विषय में जो कुछ प्रथम बार के सत्यार्थप्रकाश में छपा वह स्वामीजी के मन्तव्य के प्रतिकूल छपा और सब कुछ उस पौराणिक लेखक की करतूत है। उस को अपनी ओर से पुस्तक में मिला देने की हर प्रकार की सुविधा थी। संभवतः स्वामीजी उसके लिखे को दुबारा नहीं देखते थे और देखते भी हों तो भी उसको छापने के लिये प्रतिलिपि भी तो वही करता था। प्रतिलिपि करते समय

यदि उसने कुछ वाक्य अपनी ओर से मिला दिये हों तो उसे रोकने वाला कोई न था। उसकी मिलावट पकड़ी जाने वाली भी न थी, क्योंकि स्वामीजी प्रूफ़ देखते ही न थे।

मत-परिवर्त्तन नहीं हुआ

उपर्युक्त स्वतन्त्र साक्षियों को देखते हुए यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि मृतकश्राद्धसम्बन्धी सब लेख प्रथम वार के सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी का है। रहा यह कि स्वामीजी का इस विषय में पीछे आकर मत परिवर्तन होगया तो यह प्रश्न उठता ही नहीं क्योंकि सत्यार्थप्रकाश की रचना से बहुत पहले स्वामीजी मृतक-श्राद्ध का खण्डन करते रहे थे।

पादरी हूपर से वार्त्तालाप

इन्हीं दिनों स्वामीजी का पादरी हूपर से साक्षात् हुआ। स्वामीजी ने बात-चीत में उनसे कहा कि ईसाइयों का परमेश्वर पक्षपाती है, क्योंकि उसने इबराहीम और उसकी सन्तान को इलहाम देने के लिए पसन्द किया। इसके उत्तर में पादरी साहब ने कहा कि परमेश्वर हर एक जाति को उसके सद्गुणों के कारण पसन्द करता है जो अन्य जातियों में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार उसने आर्य्य जाति को भी पसन्द किया था क्योंकि जो उत्तम गुण आर्यजाति में थे वह दूसरी जातियों में नहीं थे।

फूल तोड़ने पर आक्षेप

लाला माधोलाल (जिन्हें पीछे सरकार की ओर से राजा की उपाधि मिली) के बाग़ से प्रति दिन फूलों की टोकरी उनके घर जाया करती थी। एक दिन स्वामीजी ने उनसे पूछा कि यह फूलों की टोकरी कहां जाती है। उन्होंने कहा कि ठाकुरों के लिए हमारे घर जाती है। इसे सुन कर स्वामीजी ने कहा कि शोक है आप अभी तक मूर्त्ति-पूजा किये जाते हैं। देखो यह फूल यदि पौधों पर लगे रहते तो अधिक सुगन्धि देते, इनकी पंखड़ियां गिर कर खाद का काम देतीं और यदि आप इनका गुलदस्ता बना कर रखते तो भी अच्छा था, परन्तु वहाँ तो यह निष्फल हैं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि हमारे घर में सब मूर्त्ति-पूजक हैं यदि यहाँ से फूल न जावें तो १॥) २) रु० प्रतिदिन फूलों पर ही व्यय करना पड़े, आप ही बताइये कि हम क्या करें। इसे सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और बोले कि ऐसी दशा में तो कठिन है।

सर सय्यद अहमद खाँ से भेंट

इसी वार सर सय्यद अहमदख़ां से जो उनदिनों काशी में सबजज थे स्वामीजी का परिचय हुआ। और उनके बँगले पर स्वामीजी का व्याख्यान भी हुआ, उन्हों ने स्वामीजी को काशी के कलक्टर मिस्टर शेक्सपियर से भी मिलाया और यह भी कहा जाता है कि उन्होंने ही स्वामीजी को महाराजा काशी से मिलने पर उद्यत किया। महाराजा काशी से मिलने का वृत्त इससे पूर्व लिखा जा चुका है।

संग्रहकर्त्ता की सम्मति

स्वामीजी ने साधु जवाहरदास से कहा था कि जाती वार हम आपके स्थल पर आवेंगे। तदनुसार वह रात्रि के समय उनके यहाँ गये और प्रातःकाल नौका पर चढ़कर गङ्गा को पार करके मिर्ज़ापुर को चले गये। परन्तु हमारी धारणा यह है कि स्वामीजी बङ्गाल की ओर से जब लौटे तो वह प्रथम मिर्ज़ापुर गये। कारण यह कि स्वामीजी अगस्त

सन् १८७३ की ८ तारीख को डुमराऊँ से चले, परन्तु वह सीधे काशी नहीं आये बल्कि मिर्ज़ापुर गये; क्योंकि वहाँ की जब पाठशाला टूट गई तो साधु जवाहरदास को स्वामीजी ने मिर्ज़ापुर बुलाया था और उन्होंने साधुजी से मिर्ज़ापुर की पाठशाला चलाने के लिए कहा, परन्तु उन्होंने अस्वीकार किया। इस पर स्वामीजी ने साधुजी से काशी में ही पाठशाला स्थापित करने का अनुरोध किया और इसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। काशी की पाठशाला पौष बदी २ संवत् १९३० को स्थापित हुई और फिर स्वामीजी मई सन् १८७४ के वा ज्येष्ठ संवत् १९३१ के अन्त में काशी पहुँचे।

जिज्ञासुओं के साथ सद्व्यवहार

बाग के जिस मकान में महाराज ठहरे हुए थे वह उस के बरामदे में दर्शकों से बात-चीत किया करते थे। एक कुर्सी पर तो स्वयं विराजमान रहते थे और अन्य कुर्सियों पर दर्शक लोग बैठते थे। अनेक लोग आते और धार्मिक विषयों पर बात-चीत करते तथा अपने सन्देह निवृत्त करते रहते थे। महाराज जिज्ञासु की पूरी बात सुन कर उसका उत्तर देते थे। एक १४-१५ वर्ष का मुसलमान नवयुवक प्रतिदिन महाराज के सत्संग में आता और उसकी समाप्ति कर चला जाता। एक दिन ऐसा हुआ कि जब वह स्वामीजी के पास पहुँचा

मुसलमान नवयुवक की शंका

तो वह अकेले थे। स्वामीजी ने उससे कहा कि तुम रोज़ हमारे पास क्यों आया करते हो। उसी पर उससे बात-चीत आरम्भ होगई। उसने महाराज से पूछा कि मांस खाना अच्छा है या बुरा तो महाराज ने उत्तर दिया कि मांस कामरिपु का वर्द्धक है। इसी से मुसल-

मांस खाना बुरा है

मान बहुत कामासक्त होते हैं। मांस खाना हानिकारक है और मांस का खाना अनुचित है।

नास्तिक मुसलमान से वार्त्तालाप

एक दिन एक और मुसलमान आया जिसने कहा कि मैं नास्तिक हूँ। वह पुनर्जन्म पर प्रश्न करने लगा। वह अधिक शिक्षित न था। और इसी लिये स्वामीजी के कथन को समझ न सकता था। महाराज ने उससे कहा कि तुम किसी शिक्षित मुसलमान को साथ लेकर आओ तब इस विषय में बात-चीत होगी। अगले दिन वह मौलवी को साथ लेकर आया। स्वामीजी ने अनेक युक्तियों से पुनर्जन्म सिद्ध किया। न तो मौलवी ही और न वह स्वयं ही महाराज की युक्तियों का उत्तर दे सका। अन्त में वह यह कहकर कि मेरे सन्देह दूर नहीं हुए और मेरा सन्तोष नहीं हुआ, मैं कल फिर आऊँगा चला गया, परन्तु अगले दिन वह न आया।

साधु जवाहरदास की सम्मति

साधु जवाहरदास ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि स्वामीजी की न्यायशास्त्र में प्रगाढ़ व्युत्पत्ति न थी और न यह ज्ञात होता है कि उनकी अन्य शास्त्रों में ही पूर्ण दृष्टि थी। वह नैयायिकों की भाषा को काकभाषा कहा करते थे। वह व्याकरण में व्युत्पन्न थे और अष्टाध्यायी महाभाष्य पर उनका पूर्ण अधिकार था। खण्डन-मण्डन में उनकी सविशेष दक्षता और बुद्धिचातुर्य्य का परिचय पाया जाता था। जिस समय वह किसी बात का खण्डन करते थे उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि उसका किसी प्रकार भी मण्डन हो

ही नहीं सकता। यह शक्ति उनमें उनके तप और अखण्डित ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से ही थी। उनके ब्रह्मचर्य्य के सम्बन्ध में उनके परम शत्रु भी दोषारोपण करने में असमर्थ थे।

यज्ञ की प्रथा उठ जाने से हानि

स्वामीजी कहा करते थे कि भारतवर्ष में यज्ञ की प्रथा उठ जाने के पश्चात् मूर्त्ति-पूजा चल पड़ी और लोगों का इस प्रकार का विश्वास होगया कि अग्नि, वायु आदि की एक एक अधिष्ठात्री देवता है, परन्तु यह कपोल-कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

साधु जवाहरदास की सम्मति की समालोचना

साधु जवाहरदास की यह सम्मति कि स्वामीजी न्याय तथा अन्य दर्शनों में सविशेष व्युत्पन्न न थे, इतने अंश में तो कुछ ठीक हो सकती है कि प्राचीन दर्शनों पर जो नवीन खोल चढ़ा दिया है और जिसने उनके प्रकृत रूप को ही तिरोहित कर दिया है यहाँ तक कि उनका पठन-पाठन भी कम हो गया है, उसके भीतर वह प्रविष्ट नहीं हुए थे, परन्तु वह समस्त दर्शनों में और उनके आर्ष भाष्यों में व्युत्पन्न थे, इस में कोई सन्देह नहीं है। यह मानते हुए भी कि साधु जवाहरदास की सम्मति में कुछ तथ्य है, हम तो नहीं देखते कि स्वामीजी को नव्य दर्शनों में व्युत्पन्न न होने के कारण कुछ हानि पहुँची हो। नव्य दर्शन के धुरन्धर पण्डित गर्व में मदमत्त हस्ती की न्याई महाराज से टक्कर लेने आये। परन्तु उन्होंने महाराज को चट्टान के समान पाया और भग्नगण्ड होकर ही वापस गये। हमने तो कभी न देखा कि नव्य न्याय वा अन्य नव्य दर्शनों की प्रगल्भता शास्त्रार्थ में किसी के काम आई हो।

इस बार स्वामीजी का एक व्याख्यान सर सय्यद अहमदखाँ के बँगले पर वेदों के अपौरुषेयत्व पर हुआ था। पं० लेखरामकृत जीवनचरित्र में लिखा है। २-३ व्याख्यान हुए थे।

स्वामीजी के पास पादरी लोग अकसर आया करते थे।

स्वामीजी अजेय हैं

पण्डित पन्नालाल जोधपुर निवासी ने देवेन्द्रबाबू से कहा था कि मैं उन दिनों काशी ही में था और स्वामीजी की सेवा में उपस्थित रहता था। मैं जिस किसी भी पण्डित के पास जाता था और स्वामीजी का जिक्र करता था तो वह यही कह दिया करता था कि स्वामीजी को परास्त करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है।

बाबू सुरेशचन्द्र चौधरी माधव बाबू के, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, मित्र थे। वह ग्वालियर से महाराज के दर्शनों को काशी आये थे। उनसे महाराज ने कहा था कि बंगाली संस्कृत अच्छी नहीं जानते और उनका उच्चारण ठीक नहीं है। बाबू केशवचन्द्र के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि उनकी बातों में बड़ा लालित्य है, परन्तु उनके अनुयायियों के रहन-सहन को देख कर सन्देह होता है कि वह ईसाई हो जायँगे।

स्वामीजी इस बार काशी में एक मास के लगभग रहे। फिर वह काशी से प्रयाग चले गये।

प्रयाग

आषाढ़ बदी २ संवत् १९३१ वि० अर्थात् १ जुलाई सन् १८७४ ई० को स्वामीजी प्रयाग पधारे और नगर के बाहर अलोपी बाग में ठहरे। आते ही उन्होंने नगर में यह विज्ञापन बँटवाया कि जो कोई मुझ से किसी धर्म्मसंबंधी

विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहे वह नियत समय पर मेरे स्थल पर आकर कर सकता है।

इस पर एक दिन पण्डित काशीनाथ शास्त्री, म्योर कालेज के संस्कृत के प्रोफ़ेसर, कॉलेज के कुछ विद्यार्थी तथा निहेमिया नीलकण्ठ घोरे एक मरहटा ईसाई स्वामीजी के पास आये। नीलकण्ठ से वेदार्थ के विषय में बात-चीत हुई। वह मैक्समूलर के पक्के अनुयायी थे और उनका किया हुआ ऋग्वेदांश का अंग्रेजी अनुवाद भी साथ लाये थे। नील-

ईसाई नीलकण्ठ शास्त्री से वार्त्तालाप

कण्ठ यह तो स्वीकार करते थे कि वेद में मूर्त्ति-पूजा नहीं है। परन्तु यह कहते थे कि वेद में अग्नि आदि जड़ पदार्थों को देवता मान कर उनकी पूजा का विधान है। स्वामीजी उन की इस स्थापना को सर्वथा अस्वीकार करते थे। उनका पक्ष था कि वेद ब्रह्म का प्रतिपदान करते हैं। स्वामीजी ने यह भी कहा था कि मैक्समूलर को ईसाई मत का बहुत पक्षपात है। यदि उसने वेदों का ऐसा अनर्थ किया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उसका हार्दिक अभिप्राय यह है कि भारतवासी वेदों के ऐसे अर्थों को देख कर भ्रम में पड़ जावें और वेदों को छोड़ कर बाइबिल को ग्रहण करलें। अतः उसका अनुवाद प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

तौरेत में लिखा है कि एक वार बाबल नगर के लोगों ने एक बहुत ऊँचा बुर्ज बना कर आसमान पर चढ़ने का परामर्श किया। तदनुसार वह बुर्ज बनाने लगे। इसे देख कर बाइबिल के परमेश्वर को भय हुआ कि कहीं वह आसमान पर चढ़ न आवें अतः उसने उनकी भाषा में गड़बड़ डालदी जिससे वह एक दूसरे का आशय समझने में असमर्थ होगये और उन्होंने बुर्ज बनाना छोड़ दिया।

बाइबिल की एक कहानी

स्वामीजी ने इस कहानी की ओर संकेत करके कहा कि इससे बाबल वालों की कितनी मूर्खता प्रकट होती है कि वह आसमान को ठोस पदार्थ समझ कर उस पर चढ़ने का यत्न करने लगे। ईश्वर को भी यह ज्ञात न हुआ कि आसमान कोई ठोस पदार्थ है ही नहीं तो वह उस पर चढ़ेंगे कैसे, फिर वह डरा ही क्यों और अपने ही उत्पन्न किये हुए जीवों से उसका डरजाना कैसा हास्योत्पादक है। इससे यह भी प्रकट होता है कि ईसाइयों का परमेश्वर सर्वव्यापक नहीं किन्तु एकदेशी है।

ईसाइयों के परमेश्वर की अज्ञता और कायरता

इस पर नीलकण्ठ और अन्य उपस्थित मनुष्यों ने तो कुछ उत्तर न दिया, परन्तु पं० काशीनाथ शास्त्री ने बड़ी असभ्यता से पूछा कि किस अभिप्राय से सारे देश में कोलाहल कर रक्खा है?

हिन्दू पण्डित की असभ्यता

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मुझसे पहले पण्डितों ने बड़ा पाखण्ड फैला रक्खा है, उनकी बुद्धि पत्थरों के पूजने से पत्थर हो गई है, जिस कारण से वह सत्य के सिद्धान्तों को न समझ सके।

निहेमिया नीलकण्ठ से बात-चीत होते २ सायङ्काल होगया। उस समय उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण से यह स्थल उद्धृत किया "अग्निर्देवानाम्" इत्यादि और कहा कि देखिये इसमें अग्नि को अन्य देवों से छोटा कहा गया है। स्वामीजी इसका उत्तर देने को ही थे कि राजा जय-

किशनदास के पुत्र कुँवर ज्वालाप्रसाद ने आकर कहा कि अतिकाल होगया है, आप सन्ध्या कर लीजिये। अतः नीलकण्ठ के साथ विचार-शिथिल करना पड़ा। अगले दिन स्वामीजी ने उनका उत्तर लिखकर नीलकण्ठ के पास भेजदिया परन्तु उन्होंने कोई उत्तर न दिया।

हिन्दू पण्डित की दुराशा

पं० काशीनाथ तथा अन्य हिन्दू-लोग प्रतीक्षा कर रहे थे और आशा लगाये बैठे थे कि किसी प्रकार दयानन्द हारजायँ तो वह ताली बजाकर और शोर मचाकर अपना आनन्द प्रकट करें। उन्हें एक ईसाई की जीत प्रीतिकर थी परन्तु दयानन्द का जीतना उन्हें सह्य न था।

विद्यार्थियों से आवागमन पर बातचीत

म्योर कॉलेज के कुछ विद्यार्थियों का आवागमन के सिद्धान्त पर विश्वास न था। मैक्समूलर ने अपने किसी ग्रन्थ में लिखा है कि ऋग्वेद में पुनर्जन्म-परक कोई मन्त्र नहीं है। इसी के आधार पर वह भी इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे। उन्होंने यह भी कहा था कि जीव एकवार ही उत्पन्न किया गया है और यही ठीक भी है। वर्त्तमान समय में कोई सभ्य मनुष्य इस सिद्धान्त को नहीं मानता, इसे मानना पुराने हिन्दुओं की भूल थी। अतः उन्होंने स्वामीजी से कहा कि आप भी इसे मानना छोड़दें।

पुनर्जन्म का वेद से समर्थन

स्वामीजी ने उक्त सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी प्रबल युक्तियाँ दीं जिनमें से एक यह थी कि पशु आदि प्राणियों में स्वाभाविक ज्ञान है जो, परमेश्वर ने उन्हें इस जगत् में काम करने के लिये दिया है। उन्होंने ऋग्वेद का एक मन्त्र भी प्रस्तुत करके वेद से इस सिद्धान्त को सिद्ध किया था।

म्लेच्छ शब्द का अर्थ

एक विद्यार्थी ने म्लेच्छ शब्द के अर्थ पूछे तो उन्होंने कहा कि जिसका उच्चारण शुद्ध न हो उसे म्लेच्छ कहते हैं।

स्वामीजी ने कुँवर ज्वालाप्रसाद से सन्ध्या की पुस्तक भी कॉलेज के विद्यार्थियों को पढ़वा कर सुनवाई थी। उस पुस्तक की उस समय हस्तलिपि ही थी, तब तक वह छपी न थी।

मौलवी का कपट

मौलवी निज़ामुद्दीन बी. ए. धर्म्मचर्चा में बड़ी रुचि प्रकट करते थे। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि मुसलमानों का विश्वास परमेश्वर के विषय में कैसा है तो उन्होंने क़ुरान आदि से तो कोई वाक्य उद्धृत न किया अपितु सर डब्ल्यु. हैमिल्टन की मेटाफिज़िक्स जिल्द १ से परमेश्वर के चार गुण वर्णन करदिये और स्वामीजी ने विश्वास कर लिया कि मुसलमानों का वैसा ही विश्वास है।

मुसलमानों में बुतपरस्ती

इसके पश्चात् मौलवी साहब नमाज़ को चलेगये। उनके चले जाने पर स्वामीजी ने कहा कि मुसलमानों ने औरों की छोटी छोटी मूर्त्तियों को तो तोड़ दिया परन्तु अपनी मूर्त्ति की पूजा न छोड़ी। मुसलमानों की मूर्त्ति कृष्ण पाषाण (हजरुल् अस्वद) है जो मक्के के मन्दिर में बड़ी सुन्दरता से लगा हुआ है जहाँ मुसलमानों के झुंड के झुंड पृथ्वी के सब भागों से जाते हैं और मुसलमानों में मक्के की यात्रा (हज) मोक्ष का साधन मानी जाती है।

नोट—पण्डित लेखरामकृत दयानन्द-चरित के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त समस्त घटनाएँ एक ही दिन हुईं, और जब स्वामीजी आवागमन पर कथन कर रहे थे तब कुँवर ज्वालाप्रसाद

ब्रह्मचारिणी से धर्मालाप

एक दिन एक विद्यासम्पन्न ब्रह्मचारिणी भी सत्संग में आई थी। उसने स्वामीजी से कहा था कि आप सदा मूर्त्ति-खण्डन करते हैं, परन्तु आज मैं मूर्त्ति-खण्डन करूँगी और आप उसका मण्डन करेंगे। उसने वेदान्त विषय पर भी बात-चीत की थी।

दयानन्द के पास जाओगे तो पाप होगा

विपक्षियों ने नगर में एक विज्ञापन बाँटा था कि जो कोई दयानन्द के पास जायगा उसे महापाप होगा। परन्तु फिर भी सैकड़ों लोग महाराज के पास आकर सन्देह निवृत्ति करते और उनके धर्मोपदेश से लाभ उठाते रहे।

बंगाली के घर पर व्याख्यान

एक दिन सायं समय स्वामीजी ने एक बङ्गाली सज्जन के गृह पर धर्म्म-विषय पर एक व्याख्यान दिया था, जिस में १००० के लगभग श्रोता उपस्थित हुए थे। उसमें उन्होंने धर्म के दस लक्षण वर्णन करके कहा था कि इनका किसी विशेष मत से सम्बन्ध नहीं है, ऐसे धर्म्म को मनुष्य का प्रबल से प्रबल प्रयत्न भी नाश नहीं कर सकता। उन्होंने प्रचलित पर्दे की प्रथा पर भी खेद

पर्दे की निन्दा

प्रकट किया था जिसके कारण महिलाएँ पब्लिक व्याख्यानों से लाभ उठाने से वञ्चित रहती हैं और अपनी अविद्या को दूर नहीं कर सकतीं। इसी व्याख्यान में उन्होंने यह भी कहा था कि जब महाराजा नल महाराजा ऋतुपर्ण को दमयन्ती के स्वयंवर में ले गये थे तो उन्होंने एक कलायुक्त रथ का प्रयोग किया था।

गंगातट पर भ्रमण का कारण

गङ्गातट पर भ्रमण करने का कारण स्वामीजी यह बताते थे कि गङ्गा का जल-वायु विशुद्ध और उपकारी है, वहाँ साधु-सन्तों का समागम और देश की स्थिति का परिज्ञान होता है।

सत्य को मानो

स्वामीजी कभी किसी से नहीं कहते थे कि जो हम कहते हैं उसे ही मानो। उनका आग्रह यह था कि सब बातों को सुन कर और सोच समझ कर जो सत्य हो उसे ग्रहण करो और तदनुकूल आचरण करो।

शोकपत्रिका

स्वामीजी जन्म-पत्रिका को शोक-पत्रिका कहा करते थे।

गर्दभ-तापिनी उपनिषत्

स्वामीजी ने राम-तापिनी और गोपाल-तापिनी उपनिषदों की तरह एक गर्दभ-तापिनी उपनिषत् भी बना रक्खी थी, जिसमें से वह कभी २ वचन उद्धृत करके सुनाया करते थे। (खेद है कि उस की कोई लिपि नहीं रक्खी गई। यदि वह होती तो अवश्य ही उससे पाठकों का बड़ा मनोरञ्जन होता)।

ने उनसे कहा था कि रात्रि के ८ बज गये हैं और सन्ध्या के लिये देर हो गई है। हमारी सम्मति में निहेमिया नीलकण्ठ से जिस दिन बात-चीत हुई उसी दिन आवागमन आदि पर नहीं हुई। यह सर्वथा सम्भव है कि दोनों दिन बात-चीत करते २ अतिकाल हो गया हो और कुँवर ज्वालाप्रसाद ने दोनों दिन स्वामीजी को यह कह कर कि सन्ध्या के लिये देर हो गई है बात-चीत को बन्द कराया हो। उक्त पुस्तक में निहेमिया नीलकण्ठ के ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण प्रस्तुत करने और स्वामीजी का ऋग्वेद से आवागमन सिद्ध करने का उल्लेख नहीं है ? परन्तु प्रकरण को दृष्टि में रखते हुए विश्वास होता है कि यह दोनों बातें अवश्य हुई होंगी। —संग्रहकर्त्ता,

कल कारखाने खोलो

स्वामीजी की यह प्रबल इच्छा थी कि देश में कल कारखानों की उन्नति हो।

मुझे गुरु मत मानो

स्वामीजी स्वयं गुरु वा अवतार बनना नहीं चाहते थे। वह लोगों से कहा करते थे कि ऋषि-प्रणीत प्रणाली का अनुसरण करो, मुझे गुरु मानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है।

प्रथम वार के में कुरान की आलोचना क्यों नहीं की

स्वामीजी ने प्रथम वार के सत्यार्थप्रकाश में मुसलमानी मत का खण्डन नहीं लिखा था। इसके विषय में उन्होंने कहा था कि हमने अभीतक क़ुरान अच्छी तरह नहीं देखा है यदि कोई मौलवी हम पर आक्षेप करेगा तो हम क्या कहेंगे।

ब्राह्मण वेद नहीं है

स्वामीजी कहते थे कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्य में सायणाचार्य ने ब्राह्मणों का वेद होना स्वीकार नहीं किया है।

छूआछूत का बखेड़ा

एक जन ठाकुरप्रसाद स्वामीजी के बड़े भक्त थे। वह नित्य अपने गृह से स्वामीजी के लिए भोजन लाया करते थे। प्रथम दिन वह नंगे पैर भोजन लाये तो महाराज ने इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि कच्चा भोजन जूते पहन कर लाना अच्छा नहीं। स्वामीजी ने कहा कि मैं इस छूआछूत को नहीं मानता, आप भी इस बखेड़े में न पड़िये।

दीन विद्यार्थी पर दया

लाला बंशीधर ने रामायण छपवाकर उसे दीन विद्यार्थियों में वितरण करने का प्रबन्ध किया था। यह कार्य उन्होंने एक पण्डित को सौंप दिया था, परन्तु वह अपने परिचितों को ही पुस्तक देता था। एक दिन एक दीन विद्यार्थी महाराज के पास आकर रोने लगा कि मुझे बार-बार

नोटः—दयानन्द-प्रकाश में प्रयाग की दो घटनाएं और लिखी हैं:—

(१) म० ठाकुरदास ने एक दिन स्वामीजी को योगाभ्यास करते हुए कमरे के किवाड़ों की दरार में से झाँक कर देखा तो उन्हें धीरे-धीरे पृथ्वी से ऊपर उठते पाया और थोड़ी देर में ही वह अधर में स्थित हो गये। देवेन्द्रबाबू ने भी इस घटना का उल्लेख किया। परन्तु वह अवसर दूसरा था और देखने वाले का नाम भी और था।

(२) एक दिन महाराज ध्यान से निवृत्त होकर हँसते हुए बाहर आये तो पण्डित सुन्दरलाल ने हँसने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि एक मनुष्य मेरी ओर आ रहा है थोड़ी देर ठहर जाइये, उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा। थोड़ी देर पीछे एक मनुष्य आया और नमोनारायण करके बैठ गया। उसने कुछ मिठाई महाराज के आगे रख कर पाने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि थोड़ी सी मिठाई तुम भी लो, परन्तु उसने न ली, तब महाराज ने डाट कर कहा, तो भी उसने न ली और वह कांपने लगा। महाराज ने कहा कि यह हमारे लिये विषाक्त मिष्टान्न लाया है। पण्डित सुन्दरलाल ने उसे पकड़ना चाहा, परन्तु महाराज ने उसे उन्हें पकड़ने न दिया और उसे क्षमा कर दिया। फिर उसमें से पण्डित सुन्दरलाल ने थोड़ी सी मिठाई एक कुत्ते को खिलाई, कुत्ता उसे खाकर मर गया।

देवेन्द्रबाबू के अनुसार यह घटना कुछ परिवर्तन के साथ काशी की है देखो। पृ० १८०।

मांगने पर भी पुस्तक नहीं मिली। महाराज तुरन्त उठ कर दानी के पास गये और पुस्तक दिलादी और दानी को उपदेश किया कि यह कार्य ऐसे मनुष्य को दो जो पुस्तक वितरण करने में पक्षपात न करे।

अपनी नहीं, दूसरों की मुक्ति की चिन्ता

एक दिन एक वृद्ध महात्मा ने जो गङ्गातट पर रहते थे महाराज से कहा कि यदि आप परोपकार के झगड़े में न पड़ते तो इसी जन्म में आपकी मुक्ति हो जाती। महाराज ने उत्तर दिया कि मुझे अपनी मुक्ति की चिन्ता नहीं, मुझे तो उन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता है जो दुखी, दीन और दरिद्र हैं।

जबलपुर

अक्टूबर सन् १८७४ की किसी तारीख को स्वामीजी जबलपुर पधारे और गोकुलदास के उद्यान में ठहरे। वह म० कृष्णराव एक्स्ट्रा-असिस्टेंट कमिश्नर की प्रार्थना पर जबलपुर गये थे और म० कृष्णराव ने ही उनका आतिथ्य किया था।

व्याख्यान

एक दिन सरदार मल्हार राव इङ्गलौर के गृह पर राजा बलवन्तराव के सभापतित्व में उनका व्याख्यान हुआ था, जिसमें उन्होंने साधारण विषयों पर कथन किया था और अपने जीवनसम्बन्धी कुछ घटनाएँ भी सुनाई थीं। जबलपुर के प्रसिद्ध पण्डित शङ्करशास्त्री से शास्त्रार्थ की बात-चीत हुई थी। स्वामीजी मौखिक शास्त्रार्थ करना चाहते थे और शास्त्रीजी लेखबद्ध पर बल देते थे। अन्त को स्वामीजी लेखबद्ध शास्त्रार्थ करने पर ही सहमत होगये। तब शास्त्रीजी पश्चात्पद होगये और शास्त्रार्थ नहीं हुआ। शास्त्रीजी के पक्षवालों ने शास्त्रार्थ के लिये बहुत दलबल बाँधा था और एक झंडा भी खड़ा किया था, परन्तु शास्त्रीजी के पीठ दिखाने के कारण उनका सब प्रयास विफल होगया।

शास्त्री शास्त्रार्थ से पश्चात्पद

स्वामीजी का फोटो

एक दिन म० कृष्णराव स्वामीजी को अपने घर लेगये और वहाँ उन्होंने स्वामीजी का फ़ोटो खिंचवाया। वह फ़ोटो उस समय तक जब देवेन्द्रबाबू उनसे मिले उनके यहाँ सुरक्षित था।

जबलपुर में कुछ दिन निवास करके स्वामीजी नासिक चले गये।

नासिक

नासिक में स्वामीजी बायजाबाई की हवेली में ठहरे थे। बायजाबाई हुल्कर राजघराने से सम्बन्ध रखती थीं। जिस समय देवेन्द्रबाबू नासिक गये थे उस समय वह हवेली गिर चुकी थी।

पञ्चवटी

नासिक के अन्तर्गत ही पञ्चवटी स्थान है, जहाँ श्रीरामचन्द्र वनवास के समय ठहरे थे। इसी कारण नासिक तीर्थस्थान समझा जाता है और वहाँ कई सहस्र पण्डा रहते हैं जिनका निर्वाह तीर्थ-यात्रा करने वाले हिन्दुओं के दान से होता है।

दो व्याख्यान

स्वामीजी नासिक केवल चार दिन रहे। इनमें से दो दिन उन्होंने दो व्याख्यान दिये। एक व्याख्यान नासिक के प्रसिद्ध राम-मन्दिर में हुआ और दूसरा ताप्ती नदी के तट पर। राम-मन्दिर नासिक के पञ्चवटी भाग में है।

व्याख्यानों में जन-साधारण बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए। एक व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा था कि पञ्चवटी में श्रीरामचन्द्र वनवास के समय आकर रहे थे तो इससे उसे तीर्थ मानने का क्या कारण है ?

शास्त्रार्थ का आयोजन

उस समय नासिक में रावबहादुर विष्णुमोरेश्वर भिड़े सबजज थे। उनके गृह पर स्वामीजी के साथ पण्डितों के शास्त्रार्थ का प्रबन्ध किया गया था और विशेष २ पण्डितों को निमन्त्रित किया गया था। इस सम्बन्ध में एक लेखक ने बम्बई के समाचार पत्र 'इन्दुप्रकाश' में इस प्रकार लिखा था:—

दयानन्द की शास्त्र-दर्शिता

"हमारे शास्त्रियों में न तो जिज्ञासा भाव ही है और न उन्हें सत्य के अनुसन्धान की ही रुचि है। इस लिये हमें यह देखकर आश्चर्य्य नहीं हुआ कि उनकी ओर से शास्त्र-विचार सुस्थिर नहीं रहा। उनके ग्लानिद्योतक मौन और विचारमूढतासूचक दृष्टि से केवल यही प्रकट होता था कि वह पण्डित दयानन्द के विश्वास और सुधारपरक विचारों को अच्छा नहीं समझते। स्वामीजी की मानसिक शक्तियाँ दुर्लभ हैं, उनकी वाणी बड़ी प्रभावोत्पादिका है, उनकी स्मृति चूकने वाली नहीं है। इसके साथ ही वह अपने सुधार-कार्य्य में उच्च कोटि के संस्कृत-पाण्डित्य और हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों के गहन परिचय से योग लेते हैं। उनके तत्क्षण व्याख्यानों में वेदों के इतने मन्त्रों के उद्धरण होते हैं, हिन्दुओं के भिन्न २ दर्शनों के गूढ़ ग्रन्थों के इतने संकेत होते हैं कि हमारी सम्मति में किसी लिखित निबन्ध में भी और अच्छे पुस्तकालय की सहायता से भी इतने वचनों का उद्धृत करना सहज नहीं है। पण्डित दयानन्द में ऐसे वैयक्तिक गुण हैं जो उन्हें दूसरों से अलग करते हैं। उनके हिन्दूधर्म्मसम्बन्धी विचार बहुत ठीक और उदार हैं। पण्डित दयानन्द उस कपट के सच्चे मन से विद्वेषी हैं जिसमें पुरोहित श्रेणी की मक्कारी ने हमारे सरलचेता और असन्दिहान जनसाधारण को धर्म्म के नाम पर फाँस रक्खा है। अतः पण्डित दयानन्द में प्रकृत और उद्योगोपार्जित गुणों का दुर्लभ सम्मिलन है, इस लिये यह देखकर हम सब को विशुद्ध प्रसन्नता हुई है कि उन्होंने अपने जीवन को अपने देशस्थ लोगों के सुधार में लगाने का निश्चय कर लिया है, और मूर्त्ति-पूजा के दमन करने का व्रत-धारण कर लिया है, जो सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होने में रुकावट डालने वाले और युक्ति-विरुद्ध विचारों का उर्वर उत्पत्ति-स्थल है। पण्डित दयानन्द अपने देशस्थ बन्धुओं से उनके उत्तमभावों के नाम पर, उनकी प्रियतम वस्तुओं के नाम पर, मनुष्य प्रकृति में जो कुछ भी उत्तम, नीतियुक्त और पुण्यमय है, उसके नाम पर, प्राचीन वेदों के नाम पर, जिन पर उन्हें इतना गर्व है, अपने देश के पतित लोगों को उन रीतियों के पञ्जे से छुड़ाने के लिये अपील करते हैं, जो न केवल वर्त्तमान ताँती के लोगों को लज्जास्पद बनाती है, वरन् स्वामीजी की सम्मति में प्राचीन ऋषियों और उनके अत्युत्तम ग्रन्थों को भी लज्जाग्रस्त करती हैं। इस लिये समस्त पुरुषों को जिन्हें हिन्दूसमाज की उन्नति और हिन्दूप्रजा के अभ्युत्थान में मनोलग्नता है, उचित है

सुधार-कार्य की प्रशंसा

कि पण्डित दयानन्द की उनकी उपासना के युक्तियुक्त और विशुद्ध रूप को स्थापित करने में सहायता करें। नदी के तट पर विचारमूढ़ ब्राह्मणों के वृहत्समूह के सामने पुरोहित दल की बुराइयों और उन लोगों के अविद्याजन्य दोषों को जिन्हें हिन्दुओं की मानसिक शिक्षा सौंपी गई है, निर्भीकता और अटल भाव के साथ स्पष्टाक्षरों में वर्णन करने के कारण इस स्थान के लोग पण्डित दयानन्द से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने श्रोताओं के आल्हाद और साधुवाद के बीच पण्डित दयानन्द को बहुमूल्य वस्त्र उपहार में दिये।"

दयानन्द की निर्भीकता

आगे चलकर स्वामीजी के मन्तव्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—

"जिस अर्थ में कि जाति शब्द साधारणतया ग्रहण किया जाता है वह उसे उस अर्थ में ग्रहण नहीं करते। उनकी सम्मति जिसे वह वेदों पर आश्रित बताते हैं वर्ण के विषय में यह है कि मनुष्यों को उनकी मानसिक और आत्मिक योग्यता के अनुसार विभक्त करने का नाम वर्ण है। यदि एक शूद्र पर्याप्त ज्ञानसम्पन्न है तो वह ब्राह्मण है और एक पापकर्मा ब्राह्मण शूद्र से भी नीचे वर्ण का है। उनकी सम्मति में वर्ण एक परिस्थिति का नाम है, जिसे मनुष्य स्थिर और असन्दिग्ध नियमों के पूरा न करने पर खो सकता है, और पूरा करने पर प्राप्त कर सकता है। मूर्त्ति-पूजा के वह अदम्य शत्रु हैं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह एक मन्दिर से लौटे, परन्तु उन्होंने मन्दिर की मूर्त्तियों के प्रति इतना ही आदर भाव प्रकट किया जितना उन्होंने मन्दिर के फ़र्श के पत्थरों के प्रति किया। विदेश-यात्रा और उन देशों की यात्रा के जो भयावह अटक के पार हैं, वह घोर पक्षपाती हैं और हमें कुछ भी आश्चर्य न होगा, यदि हम एक दिन सुनें कि पण्डित दयानन्द हाइड पार्क वा वैस्ट मिंस्टर गिर्जों में वेदों का प्रचार करने के लिये जहाज़ पर सवार होकर योरोप को जा रहे हैं। वह पुनर्विवाह के सच्चे और उत्साही समर्थक हैं। हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इन विद्वान् पण्डितों के मुख से यह सुनकर कि अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन ने उस समय के अमेरिका के राजा की भगिनी से विवाह किया था, आश्चर्यान्वित हुआ। इन विद्वान पण्डितों को यह शोक है कि गत सहस्र वर्षों में हमने उन जातियों की जो भारत में एक के पीछे दूसरी राज्य करने आई, बुराइयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सीखा, उनकी भलाई एक भी नहीं सीखी। उन्हों ने कहा कि विना विवाह के स्त्रियाँ रखने की प्रथा तो उन्होंने मुसलमानों से सीख ली। परन्तु एक जो बात उनसे सीखनी चाहिये थी अर्थात् परमेश्वर की एकता वह नहीं सीखी। उनकी सम्मति है कि हिन्दू बुराई सीखने की बान जितना शीघ्र छोड़दें उतना ही अच्छा है। दान के विषय में उनकी सम्मति बहुत ही ठीक है। वह कहते हैं कि देश के वर्त्तमान क्लेश-कष्ट का सब से बड़ा कारण यह है कि वह भिन्न प्रकार के नाम और विलक्षण चाल ढाल के भिखमँगों से आप्लावित है। उनकी इच्छा है कि सारे वैरागी, गोसाईं, बाराजी और भिक्षुक सीधे-सादे और शान्तिप्रिय कृषक अथवा काम के श्रमजीवी बन जावें। उनकी सम्मति है और हम समझते हैं कि इससे सब सहमत होंगे कि इन भिखमँगों में सब प्रकार के व्यर्थ इधर उधर घूमने वाले, निठल्ले और समाज की नीचतम श्रेणी के लोग सम्मिलित हैं और इनके दमन

मन्तव्य-विवरण

से जाति को बहुत सुख पहुँचेगा। पण्डित दयानन्द ने सब से आश्चर्य-जनक जो बात कही, वह यह थी कि भारत में प्रकृत अर्थ में अंग्रेज ही ब्राह्मण हैं। पण्डित हास्य-रस में भी प्रवीण हैं जिससे सुनने वालों को आनन्द आता है। एक वैष्णव मस्तक पर सीधी काली रेखा का तिलक लगा कर उनके सामने आया। उन्होंने उससे कहा कि यदि वैष्णव समझते हैं कि एक काली रेखा से उन्हें स्वर्ग का मार्ग शीघ्रता से समाप्त करने में सहायता मिलेगी तो यदि वह अपना सारा मुँह काला कर लें तो उससे उनकी स्वर्ग यात्रा बहुत ही सुगम हो जायगी।"

चतुर्दश अध्याय

आश्विन सं १९३१—मार्गशीर्ष सं० १९३१.

बम्बई

तारीख २६ अक्टूबर सन् १८७४ को स्वामीजी बम्बई पहुँच गये।

उत्तर भारत के एक भद्र पुरुष पं० विश्वनाथ प्रभुराम बम्बई का पत्र उनके पितृव्य जयकृष्ण जीवनराम के नाम लेकर बम्बई पहुँचे जिसमें उनसे बम्बई में स्वामीजी के रहन-सहन तथा उनके व्याख्यानों के लिये स्थानादि का प्रबन्ध करने की प्रार्थना की गई थी। वह पत्र उनके चचा ने उनके पिता रा. रा. प्रभुराम और उनके पिता के मित्र, रा. रा. लीलाधर ऊधोजी को दिखाया। आपस में परामर्श होने के पश्चात् उन्होंने उक्त भद्र पुरुष को लखमीदास खेमजी के पास भेजदिया और उन्होंने स्वामीजी के निवास के लिये बम्बई नगर से दो कोस दूर बालकेश्वर पर गोशाला नाम का स्थान निश्चित कर दिया। उस भद्र पुरुष के पास बम्बई के और भी कई सज्जनों के नाम पत्र थे।

बंबई में स्थानादि का प्रबन्ध

इसके थोड़े ही दिन पीछे स्वामीजी बम्बई पहुँच गये। रेल्वे-स्टेशन पर कई सज्जनों ने उनका स्वागत किया और उन्हें गाड़ी पर सवार कराकर बालकेश्वर में उक्त स्थान पर ठहरा दिया गया। दारागंज प्रयाग के निवासी पं० मण्डनराम उनके साथ थे और उनके लेखक का कार्य करते थे, बलदेवसिंह पाचक का कार्य्य करते थे और वह भी प्रयाग से ही उनके साथ आये थे। स्वामीजी गेरुआ वस्त्र पहनते थे और बाहर जाते हुए चाँदी की मूठ की एक छड़ी हाथ में रखते थे। पैरों में काले चमकदार जूते होते थे।

बंबई में स्वागत

स्वामीजी के आते ही एक विज्ञापन निकाला गया जिसमें धर्म-जिज्ञासुओं को सूचना दीगई कि जिस किसी को धर्म्म-सम्बन्धी बात-चीत करनी हो वह स्वामीजी के स्थान पर आकर करले।

धर्मालाप का विज्ञापन

स्वामीजी के बम्बई पधारने का समाचार प्रचरित होते ही सारे नगर में घोर आन्दो-

लन उपस्थित होगया। शतशः लोग उनके दर्शन और सम्भाषण के लिये आने लगे। उनके

घोर आन्दोलन

सम्बन्ध में विद्वेषियों ने उनके चरित्र को दूषित करने और उनके पास लोगों को जाने से रोकने के लिये अनेक प्रकार की मिथ्या बातें फैलानी आरम्भ कर दीं। कोई कहता था कि दयानन्द अंग्रेजी सरकार का गुप्तचर है,

विद्वेषियों का दोषारोपण

कोई कहता था कि वह संन्यासी के वेष में कोई योरोपियन है, जो लोगों को ईसाई बनाने आया है। किसी २ द्वेषपरायण दुष्ट ने सरकार को उनके विरुद्ध करने के लिये यहाँ तक कहा कि वह सिपाही द्रोह में भाग लेने वाले नाना साहब का भेजा हुआ दूत है।

वम्बई में निमन्त्रित करने वालों की इच्छा

स्वामीजी के बम्बई पधारने के विषय में यह सुना जाता है कि बम्बई के जयकृष्ण वैद्य अद्वैतवादी और लखमीदास खेमजी वल्लभाचारी के भाई धर्मसी काशी शास्त्रार्थ के समय उपस्थित थे। यह दोनों ही स्वामी जी के विद्या और तपोबल से अभिभूत हो गये थे। वैद्य महोदय की इच्छा थी कि स्वामीजी के समान कोई प्रभावशाली पुरुष बम्बई जाकर वैष्णवादि मत का खण्डन करके उनका मार्ग परिष्कृत करदे। धर्मसी और उनके भाई लखमीदास खेमजी भी यही चाहते थे पर उनके लिए वैष्णव मत के खण्डन कराने की इच्छा का कारण दूसरा था। वह वल्लभ मत के गोसाइयों से महाराजा के मानहानि के मुक़द्दमे के कारण बहुत रुष्ट थे। दोनों का यह विश्वास था कि इस कार्य को उत्तम रूप से स्वामीजी ही सिद्ध कर सकेंगे। इस लिये इन दोनों व्यक्तियों ने उसी समय स्वामीजी से बम्बई जाने के लिये अनुरोध किया था। उस समय स्वामीजी ने यह उत्तर देदिया था कि हम अपने सुविधानुसार आवेंगे और अपने आने की आप लोगों को सूचना देदेंगे। तदनुसार ही स्वामीजी ने अपने बम्बई आने की सूचना इन दोनों व्यक्तियों को तार द्वारा दी और पत्र भी भिजवाया।

वल्लभ-सम्प्रदाय के खण्डन का संकल्प

बम्बई में आकर स्वामीजी को जब वल्लभ-संप्रदाय के गोसाइयों की गुप्त लीला का, सम्भवतः इन्हीं व्यक्तियों द्वारा, वृत्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी उनके मत के खण्डन का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया।

वेद-धर्म-सभा

स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध फ़ामजी काऊसजी हॉल में किया गया था। उक्त हॉल में एक व्याख्यान के लिये १७) रु० देना पढ़ता था। बम्बई में पहले से एक वेद-धर्म्म सभा स्थापित थी जिसके प्रमुख कार्य-कर्त्ता भ्राताद्वय जयकृष्ण जीवनराम, प्रभुराम जीवनराम, लखमीदास खेमजी तथा लीलाधर ऊधोजी थे। इन्हीं लोगों ने स्वामीजी के व्याख्यानों के व्यय के लिये चन्दा एकत्रित किया था।

वल्लभ-संप्रदाय वाले शत्रु होगये

वैष्णव मत के विरुद्ध सम्मति प्रकट करने और दैनिक सत्सङ्ग में उसका तीव्र खण्डन करने के कारण वल्लभ संप्रदाय के लोग स्वामीजी के शत्रु होगये थे। इस संप्रदाय के प्रमुख आचार्य गोसाई जीवनजी थे। वैष्णवों ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का आयोजन किया और एक व्यक्ति ने लिखकर प-ग-न के नाम से कार्त्तिक शुक्ला ४ संवत् १९३१ को २४ प्रश्न

स्वामीजी के पास भिजवाये जिनका उत्तर स्वामीजी की अनुमति से एक जन पूर्णानन्द संन्यासी ने विज्ञापन द्वारा दिया। यह तो ज्ञात नहीं हुआ कि वह प्रश्न क्या थे, परन्तु उनके जो उत्तर दिये गये वह ज्ञात हैं और उनसे भलीभांति अनुमान हो सकता है कि वह प्रश्न क्या थे? हम नीचे उनके उत्तरों का सारांश देते हैं। पूर्णानन्द ने उस विज्ञापन में लिखा था कि स्वामीजी प्रत्यक्षादि प्रमाण मानते हैं, चारों वेद संहिताओं का (परिशिष्ट भाग को छोड़कर) प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। उनके मन्तव्य वही हैं जो वेदप्रतिपादित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ, शिक्षा आदि वेदाङ्ग के ग्रन्थ, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा आदि वेद के उपाङ्ग, मनुस्मृति का प्रमाण वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वह वेद के अनुकूल हैं, वाल्मीकिकृत रामायण और महाभारत को इतिहास ग्रन्थ समझते हैं। पुराण, उपपुराण, तन्त्र ग्रन्थ, याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों का प्रामाण्य मानना तो क्या, उनमें कुछ भी श्रद्धा नहीं करते, जगदुत्पत्ति जैसी वेद में लिखी हैं वैसी ही मानते हैं, जब से सृष्टि का क्रम हुआ है उस काल की कोई संख्या नहीं है (?), शाखाओं में जिन कर्मों का करना लिखा है, वह वेदानुकूल हों तो करने चाहियें परन्तु वेदोक्त विधि सबको माननी चाहिए। वैष्णव, स्वामीनारायण आदि सम्प्रदायों का वेद विरुद्ध होने के कारण खण्डन करते हैं, ईश्वर सर्वशक्तिमान्, अन्तर्य्यामी, निरवयव, परिपूर्ण और न्यायकारी है, उसका जन्म-मरण कभी नहीं होता, जिसका जन्म-मरण होता है वह ईश्वर हो ही नहीं सकता।※

वल्लभियों के २४ प्रश्नों का उत्तर

इस विज्ञापन के उत्तर में विपक्ष की ओर से कोई विज्ञापन नहीं निकला, न स्वामी जी के पास ही इनका प्रत्युत्तर भेजा गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रश्न स्वामीजी से केवल उनका मन्तव्यामन्तव्य जानने के लिये किये गये थे ताकि शास्त्रार्थ में उनका उपयोग हो सके।

प्रश्न क्यों किये गये

इस विज्ञापन के अन्त में स्वामीजी की ओर से लिखा गया था कि यदि हम आर्य्य लोग वेदोक्त धर्म्म के विषय में प्रीतिपूर्वक पक्षपात को छोड़कर विचार करें तो सब प्रकार का कल्याण ही है, यही मेरी इच्छा है, जिसके लिये सदा प्रतिदिन सभा होनी चाहिये तो श्रेष्ठ समझो, जिस रीति से बहुत प्रकार के धर्म्मों का नाश होजाय वैसा सबको करना चाहिये।

स्वामीजी की इच्छा

गोस्वामी जीवनजी तो स्वामीजी के परम-शत्रु होगये थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी के पाचक बलदेव को बुलाकर कहा कि यदि तुम स्वामीजी को मार डालो तो हम तुम्हें १०००) देंगे और तुरन्त उसे ५) और ५८ सेर मिठाई दे भी दी और १०००) देने की चिट्ठी लिखदी। अभी बलदेव जीवनजी के पास लौटकर आया भी न था कि किसी ने स्वामीजी को सूचना देदी कि आपका भृत्य जीवनजी के पास खड़ा है। जब वह लौटकर आया तो स्वामीजी ने उससे पूछा—

वध के लिये पाचक को लोभ

※ यह उत्तर हमने पं० लेखरामकृत दयानन्द-चरित के आधार पर लिखे हैं। इनमें एक उत्तर जिस पर (?) चिन्ह दे दिया है सन्दिग्ध-सा प्रतीत होता है, सम्भवतः इसके अर्थ हैं कि सृष्टि प्रवाह रूप से अनादि है।

पाचक ने सब स्वीकार करलिया—

स्वामीजी—तुम गोकुलियों के मन्दिर में गये थे ?

बलदेव—हाँ महाराज गया था।

स्वामीजी—क्या ठहरा ?

बलदेव—५) नक़द ५ सेर मिठाई और यह चिट्ठी दी है कि यदि मारदो तो १०००) लो।

स्वामीजी—मुझे कई वार विष दिया गया है ·· परन्तु मैं मरा नहीं अब भी नहीं मरूँगा।

बलदेव—महाराज मेरे कुल का काम विष देना नहीं है और फिर ऐसे को जिससे सब जगत् को लाभ पहुँच रहा है।

स्वामीजी—(मिठाई फिंकवा कर और चिट्ठी फड़वा कर) सावधान! आगे उनके यहाँ कभी मत जाना।

एक दिन गोकुलिये गोसाइयों के अनुयायी कच्छी बनियों की २० मनुष्यों की टोली

पीटने की चेष्टा

स्वामीजी को पीटने के उद्देश्य से बालकेश्वर गई थी, परन्तु अपनी दुष्ट चेष्टा में सफल न होसकी।

बालकेश्वर में महादेव व अन्य देवताओं की मूर्त्तियाँ थीं। वहाँ मूर्त्ति-पूजक ब्राह्मण रहते थे। वह जब मन्दिर में पूजन करने जाते तो महाराज को नमस्कार करते, परन्तु पीछे उनकी निन्दा किया करते थे।

घातकों की नियुक्ति

कुछ दुष्टों ने स्वामीजी के वध के लिये घातकों को नियुक्त किया था और वह बालकेश्वर में सुयोग की खोज में रहते थे। स्वामीजी बलदेव को साथ लेकर समुद्र तट पर टहलने जाया करते थे। घातक लोग उनका पीछा किया करते थे। स्वामीजी को यह बात मालूम होगई थी और एक दो वार स्वामीजी ने उन्हें अपना पीछा करते देख भी लिया था। एक दिन स्वामीजी की

घातकों से मुठभेड़

उनसे मुठभेड़ होगई। स्वामीजी ने उनसे कहा कि कहो क्या विचार है, तुम हमें मारने के लिये ही आते हो। उत्तर में वह कुछ न बोले और उस दिन के पश्चात् उन्होंने स्वामीजी का पीछा करना छोड़ दिया। स्वामीजी पूर्ववत् उसी सड़क पर टहलने जाते रहे।

डाक्टर भण्डारकर

पं० विष्णुपरशुराम शास्त्री की संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डितों में गणना थी। ऐसे ही डाक्टर आर० जी० भण्डारकर संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् समझे जाते थे। वह सरकार से भी सम्मानित थे और शिक्षा-विभाग के उच्चपदस्थ कर्म्मचारी थे। वह सरकार की ओर से संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसन्धान और संग्रहकार्य पर नियुक्त हुए थे और बम्बई में संस्कृत-अध्ययन-विभाग के निरीक्षक और अध्यक्ष रहे थे, उन्हें डाक्टर की उपाधि प्राप्त हुई थी और अन्त में उन्हें सरकार ने 'सर' की उपाधि देकर सम्मानित किया था।

पंडित विष्णुपरशुराम शास्त्री और डाक्टर भण्डारकर दोनों ही प्रार्थना-समाज के सभासद् थे, जिस नाम से कि बम्बई प्रान्त में ब्राह्मसमाज विख्यात है। बम्बई में ब्राह्म-समाजियों ने उसका ब्राह्मसमाज नाम न रखकर प्रार्थना-समाज नाम रक्खा था। यह दोनों महानुभाव सुधारक दल के नेता थे।

पण्डित विष्णुपरशुराम मूर्त्ति-पूजा में विश्वास न रखते थे और विधवा-विवाह के घोर पक्षपाती थे। वह स्वभाव से क्रोधनशील, असहिष्णु और चिड़चिड़े थे। उन्हें और डाक्टर भण्डारकर को अपनी विद्या का बड़ा अभिमान था। वेदों को वह अपौरुषेय नहीं मानते थे, प्रत्युत अनेक ऋषियों का रचा हुआ स्वीकार करते थे। यह बात उनके प्रार्थना-समाज के सभासद् होने से ही स्पष्ट है! दोनों ही वेदों को बहुदेवतावाद का समर्थक समझते थे।

पं० विष्णुपरशुराम शास्त्री

एक दिन जिसकी ठीक तारीख़ ज्ञात नहीं हुई, परन्तु जो १३ नवम्बर सन् १८७४ से कुछ पूर्व थी, पण्डित विष्णुपरशुराम और डाक्टर भण्डारकर स्वामीजी से मिलने गये। सुधार-कार्य और वेदों के बहुदेवतावाद पर बात-चीत हुई। स्वामीजी ने विधवा-विवाह से असम्मति प्रकट की *। इसपर शास्त्रीजी स्वामीजी से रुष्ट होगये।

दोनों का दयानन्द से वार्त्तालाप

शास्त्रीजी रूठ गये

डाक्टर भण्डारकर यह प्रतिपादित करना चाहते थे कि वेदों में बहुदेवतावाद है। इसके प्रमाण में उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण से शुनःशेप की कथा का उल्लेख किया था। इसके सम्बन्ध में डाक्टर भण्डारकर ने देवेन्द्र-बाबू को एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने कहा था कि "जब स्वामी दयानन्द बम्बई थे तो मैं स्वर्गीय विष्णुपरशुराम शास्त्री पण्डित के साथ उनसे मिलने गया था। हमने उनके इस सिद्धान्त की आलोचना की थी कि वेदों में अमिश्रित ऐकेश्वरवाद है। मैंने ऐतरेय ब्राह्मण के कां० ७ खं० १५ का उद्धरण किया था, जिसमें कहा गया है कि जब शुनःशेप को यूप से बाँध दिया गया और उसका वरुण के लिये बलिदान होने को हुआ तो उसके विषय में कहागया है कि उसने अपने छुड़ाने के लिये एक देवता के पीछे दूसरे देवता की आराधना की और हरएक देवता ने उसे दूसरे देवता की आराधना करने के लिये कहा और अन्त में जब उस ने उषा की आराधना की तो वह छूट गया। इस पर मैंने कहा कि यहां स्पष्टाक्षरों में अनेक देवताओं का वर्णन है, इसके होते हुए यह कहना सम्भव नहीं है कि वेद अमिश्रित ऐकेश्वरवाद की शिक्षा देते हैं। विष्णुपरशुराम शास्त्री ने भी कुछ प्रश्न किये और विवाद इतना उत्तेजनापूर्ण हो गया कि सबसे पहले स्वामीजी ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया। विष्णुशास्त्री ने वैसे ही शब्दों में उत्तर दिया। यह मुझे स्मरण नहीं है कि मुझे स्वामीजी ने क्या उत्तर दिया था। उस समय यह प्रतीत नहीं होता था कि वह ब्राह्मणों को ईश्वरवाक्य नहीं मानते थे।

डाक्टर का पक्ष

डाक्टर का पत्र

उक्त उद्धरण में जिन देवताओं का वर्णन है, उन्हें सम्बोधन करके ऋक् संहिता में बहुत से मन्त्र आये हैं और जिन मन्त्रों का कर्त्ता शुनःशेप को कहा गया है उनकी ओर संकेत किया गया है।

---

* हमें यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि स्वामीजी द्विजों के लिये विधवा-विवाह को अवैध मानते थे। उनके लिये वह नियोग को ही वेदसम्मत समझते थे। शूद्रों के लिये पुनर्विवाह की आज्ञा देते थे। —संग्रहकर्त्ता.

इसके कुछ समय पीछे स्वामी दयानन्द ने एक व्याख्यान हिन्दी के प्रार्थना समाज के हॉल में दिया था और उस समय उन्होंने जो प्रभाव हमारे चित्त पर डाला वह अच्छा था।

डाक्टर भण्डारकर को स्मरण नहीं रहा कि स्वामीजी ने उन्हें क्या उत्तर दिया था। हमें इसका खेद है। परन्तु यह स्पष्ट है कि उपर्य्युक्त समस्त वर्णन आलङ्कारिक है। यह बात योरोपियन विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। अन्यथा यह भी स्वीकार करना चाहिए कि यदि वेदों में नहीं तो कम से कम ऐतरेय ब्राह्मण के समय में नरबलि की प्रथा भारत में अवश्य प्रचलित थी। परन्तु यह किसी का अभिमत नहीं है। बहुदेवतावाद का आक्षेप कोई नया आक्षेप नहीं था। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामीजी ने उसका भली प्रकार निराकरण कर दिया है। डाक्टर भण्डारकर का यह विचार कि उस समय ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि स्वामीजी ब्राह्मणों को परमेश्वर का वाक्य नहीं मानते थे, ठीक नहीं हो सकता क्योंकि स्वामीजी इससे पूर्व प्रकट कर चुके थे कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं।

समालोचना

यह हमें विश्वास नहीं होता कि स्वामीजी ने प्रथम कठोर शब्दों का प्रयोग किया हो। वास्तव में बात यह थी कि विष्णुराम परशुराम शास्त्री अत्यन्त असहिष्णु प्रकृति के पुरुष थे। वह स्वामीजी के विधवा-विवाह के प्रतिकूल सम्मति प्रकट करने पर अप्रसन्न होगये थे। दूसरे जब डाक्टर भण्डारकर से बात-चीत हुई तो स्वामीजी ने उनसे ऋषि मुनियों की निन्दा सुनकर न रहा गया और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि ऋषिमुनियों के विषय में कुछ न जानते हुए और वेदों को अच्छी तरह पढ़े बिना आप सरीखे महानुभावों को ऐसा कहना अनुचित है। दूसरे स्वामीजी ने डाक्टर महोदय की रचित 'मार्गोपदेशिका' पुस्तक की कुछ भूलें भी उन्हें दिखाई थीं। डाक्टर साहब ने उनकी कौमुदी के आधार पर सिद्धि करने का यत्न किया, परन्तु स्वामीजी ने उनके कथन का अष्टाध्यायी और महाभाष्य के आधार पर खण्डन कर दिया, जिसका वह कोई उत्तर न देसके। डाक्टर महोदय को अपनी विद्वत्ता का बड़ा अहङ्कार था, पाठक समझ सकते हैं कि जब स्वामीजी ने उसे विचूर्णित करके रख दिया तो उनको कितना रोष आया होगा और उन्होंने क्या कुछ न कहा होगा? स्वामीजी के इन्हीं उपर्य्युक्त शब्दों के विषय में डाक्टर साहब कहते हैं कि स्वामीजी ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया।

मिथ्या दोषारोपण

फल यह हुआ कि दोनों ही महानुभाव स्वामीजी से रुष्ट होकर चले आये।

शास्त्रीजी तो स्वामीजी के पूरे शत्रु ही हो गये और जबतक जीवित रहे उनसे चिड़ते रहे। पहले वह यह मानते थे कि वेदों में मूर्त्ति-पूजा नहीं है। परन्तु उस दिन के मिलन के पीछे कहने लगे कि अब मैं यह भी नहीं मानता कि वेदों में मूर्त्ति-पूजा नहीं है। यही नहीं उन्होंने 'इन्दुप्रकाश' नामक पत्र में स्वामीजी के विरुद्ध लिखना आरम्भ कर दिया और स्वामीजी को गाली देने और उनपर मिथ्या दोषारोपण करने तक में सङ्कोच नहीं किया। उन्होंने स्वामीजी को उद्धत, कर्कशभाषी, धूर्त्त और असत्यवादी तक लिख डाला। एक बार उन्होंने लिखा कि स्वामीजी 'दूरस्थाः पर्वता रम्याः' की लोकोक्ति के समान दूर से ही भले लगते हैं और यह कि स्वामीजी अपने को सर्वज्ञ समझ कर अभिमान करते हैं। इस सब को देखकर यदि स्वामीजी

शास्त्रीजी की शत्रुता

ने कोई कठोर शब्द शास्त्रीजी के सम्बन्ध में कह भी दिया हो तो आश्चर्य्य ही क्या है।

दोषी कौन था

अब पाठक स्वयं विचार करें कि कर्कशभाषी, उद्धत, अभिमानी, धूर्त्त, असत्यवादी कौन था, स्वामीजी वा शास्त्रीजी! धूर्त्त और असत्यवादी शास्त्रीजी थे, जिन्होंने यह कहना आरम्भ कर दिया कि अब मैं यह भी नहीं मानूँगा कि वेद में मूर्त्ति-पूजा नहीं है जो उनके आत्मा के सर्वथा विरुद्ध था, क्योंकि वह वास्तव में यही मानते थे कि मूर्त्ति-पूजा वेद विहित नहीं है, या स्वामीजी थे! जो जैसा उनके मन में होता था वैसा ही वाणी से भी कहते थे। अहङ्कार और अभिमान दयानन्द में था वा शास्त्री महोदय में?

पहला व्याख्यान

मूर्त्ति-पूजा का प्रबल खण्डन

लोग दलबल के सहित

वेचर शास्त्री के प्रश्न

हल्ला हो गया

स्वामीजी का पहला व्याख्यान फ्रामजी काऊसजी हॉल में २५ नवम्बर सन् १८७४ को हुआ। व्याख्यान मध्यान्होत्तर में २ बजे से ६ बजे तक हुआ था। उसका विषय मूर्त्ति-पूजा था। उसमें महाराज ने अनेक वेदमन्त्र उद्धृत करके और प्रबल युक्तियों से मूर्त्ति-पूजा का खण्डन किया था और वैष्णव-मत, विशेषतः वल्लभ-सम्प्रदाय की तीक्ष्ण आलोचना की थी। उक्त सम्प्रदाय के लोगों ने पूर्व से ही यह निश्चय कर रक्खा था कि उक्त व्याख्यान के अवसर पर ही स्वामीजी से प्रश्नोत्तर किये जायँ। इसके लिये उन्होंने वेचर शास्त्रीको नियत किया था और वे व्याख्यान में गये थे। वेचर शास्त्री विनीत स्वभाव और सरल प्रकृति के मनुष्य थे परन्तु उनके साथी ऐसे न थे। प्रतीत होता है कि यह लोग घर से ही व्याख्यान में विघ्न डालने का सङ्कल्प करके गये थे। वेचर शास्त्री ने स्वामीजी से कुछ प्रश्न किये, परन्तु नियमपूर्वक शास्त्रार्थ आरम्भ भी न होने पाया था कि वल्लभ-सम्प्रदाय के लोगों ने हल्लागुल्ला कर दिया और लाठी चलने लगी। हॉल के मैनेजर ने यह देख कर उसे बन्द करने के लिये गैस बन्द कर दी। अन्धकार हो जाने से हल्लागुल्ला बन्द होगया और इस भय से कि कहीं दुष्ट लोग महाराज पर हाथ न छोड़ बैठें उन्हें एक बन्द गाड़ी में सवार कराकर बालकेश्वर भेज दिया गया। वेचर शास्त्री की ओर से तो यह शङ्का हो नहीं सकती कि वह लड़ने के अभिप्राय से व्याख्यान में गये हों, क्योंकि उन्होंने व्याख्यान के पीछे स्वामीजी के विषय में कहा था कि वह एक सुयोग्य वक्ता हैं।

दूसरा व्याख्यान

'इन्दुप्रकाश' की आलोचना

स्वामीजी का दूसरा व्याख्यान उसी हॉल में २८ नवम्बर सन् १८७४ को पाँच बजे मध्यान्होत्तर में हुआ। उसमें उन्होंने आर्य्यों का इतिहास वर्णन किया था—"पाँच या साढ़े पाँच सहस्र वर्ष पूर्व आर्य्य जाति अत्युन्नत दशा में थी। उसका विज्ञान विस्तृत था और उसमें सत्कर्म्म और धार्मिकता का प्राबल्य था। आर्य्य जाति की अधोगति का कारण राजगण की मूर्खता हुई जो एक विशेष समय (महाभारतयुद्ध) के पश्चात् क्रमशः प्रगाढ़तर होती गई। उससे पहले राजगण विद्वान् होते थे। वह निस्सन्देह साहस-सम्पन्न वक्ता हैं और उन्हें अपनी विद्या पर अति-विश्वास है। वर्त-

मान समय के कपटी धर्म्माचार्य्यों के विषय में उनकी हास्यमय उक्तियों ने बनियों के बृहत् समुदाय में जो उनका व्याख्यान सुनने गये थे बड़ी सनसनी उत्पन्न करदी है। जो कुछ उन्होंने अन्त में कहा उससे प्रकट होता है कि इस समय वह वेदभाष्य की रचना करने में लगे हुए हैं"।

वेद-भाष्य की रचना

("इन्दुप्रकाश" ३० नवम्बर सन् १८७४)

पहिले व्याख्यान में जनसमूह बहुत अधिक हो गया था और इससे शान्ति भङ्ग होने की आशङ्का थी, अतः इस व्याख्यान में हॉल के अन्दर उन्हीं लोगों को जाने दिया गया था जिनके पास टिकट थे। यह टिकट सभा-स्थल पर व्याख्यान के समय से एक घण्टा पूर्व लोगों को बांटे गये थे।

टिकट से प्रवेश

इन वक्तृताओं के सम्बन्ध में 'गुजरात मित्र' के १६ दिसम्बर सन् १८७४ के अङ्क में सम्पादक ने इस प्रकार लिखा था:—

"हमें बताया गया है कि पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी ने बम्बई में धार्मिक विषयों पर दो व्याख्यान दिये हैं। सुधार और धर्म्म-विषय में उनकी सम्मति जानने के लिए लोग सहस्रों की संख्या में उनके पास एकत्र हो गये हैं। कहा जाता है कि वह संस्कृत के गम्भीर विद्वान् हैं और उन्होंने वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है। यह भी कहा जाता है कि वह मुख्यतः उन्हीं प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों (वेदों) की ओर अपील करते हैं और उनकी सम्मति है कि वेद विधवा-विवाह और अन्य सुधारों का प्रतिपादन करते हैं जिनका पक्ष यह पत्र और अन्य पत्र लेते हैं। वह उन लाखों साधुओं का क्रोध और घृणा के साथ उल्लेख करते हैं जो धार्मिक पुरुष होने का दम्भ करते हैं और दूसरों के दान पर अपना पेट पालते हैं। उनका विश्वास है कि जैसे पाखण्डी यह लोग हैं, वैसे बुरे पाखण्डी दुनिया में कभी देखने में नहीं आये। वस्तुतः दयानन्द पूर्ण सुधारक हैं, परन्तु वह अपने कथन को प्राचीन परम्परा वा प्राचीन ग्रन्थों पर निर्भर करते हैं। यह स्पष्ट नहीं होता कि वह उन देशी लोगों से क्यों उपेक्षा करते हैं जो हमारे कॉलेजों में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। वह स्वयं संस्कृत के विद्वान् हैं, इस लिये इस देश के हर एक रहने वाले को उक्त भाषा की शिक्षा प्राप्त करने का परामर्श देना उनके लिये स्वाभाविक ही है। वह कहते हैं कि हमें अंग्रेजी केवल एक घण्टा प्रतिदिन पढ़नी चाहिए और शेष समय वेदों के अध्ययन में लगाना चाहिये। हम नहीं कह सकते कि हममें से कितने इस परामर्श को पसन्द करेंगे, परन्तु हमें विश्वास है कि यदि कोई मनुष्य अंग्रेजी साहित्य को एक घण्टा प्रतिदिन से अधिक न पढ़ कर उस भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सकेगा तो वह एक अलौकिक घटना (Miracle) होगी।"

'गुजरात मित्र' की सम्मति

स्वामीजी प्रचलित शिक्षाप्रणाली के क्यों विरुद्ध थे? यह बात सम्पादक 'गुजरात-मित्र' की समझ में उस समय न आई जैसे कि अब भी बहुतों की समझ में नहीं आरही है। इस शिक्षा प्रणाली का यह परिणाम है, और हुआ है कि हम अंग्रेजी साहित्य में तो व्युत्पन्न होजाते हैं, परन्तु अपने प्राचीन साहित्य, सभ्यता और गौरव से अनभिज्ञ रहते हैं।

उक्त सम्मति की आलोचना

हम पश्चिम के मानसिक दास बन जाते हैं। हमारे आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल पश्चिमी सभ्यता के साँचे में ढल जाते हैं और हम अपनी जातीयता को सर्वथा खो बैठते हैं। न हमें अपने धर्म्म का ज्ञान प्राप्त होता है, न उससे हमें प्यार होता है, हम अपने धर्मानुष्ठानों को निरर्थक और ढकोसला समझने लगते हैं। हमें अपने भूत से प्रेम नहीं रहता, न उसका हमारी दृष्टि में कुछ गौरव रहता है, न उस पर हम कुछ गर्व करते हैं। हम एक केवट रहित नौका की भांति भविष्य के असीम समुद्र पर जिधर हवा के थपेड़े हमें लेजाना चाहें उधर बहे हुए चले जाते हैं। यह एक इतिहाससिद्ध सिद्धान्त है कि जिस जाति को अपने भूत पर गर्व नहीं होता उसका भविष्य कभी उन्नत और उज्ज्वल नहीं होसकता और वह शीघ्र ही नष्ट होजाती है। स्वामीजी की दिव्य दृष्टि ने प्रचलित शिक्षाप्रणाली के दोषों को उस समय देखलिया था, जिस समय वह किसी को दिखाई न देते थे। आज वह सबको दिखाई देरहे हैं। आज महात्मा गाँधी ने उक्त दोषों को सब के सामने खोलकर रखदिया है। आज लोग समझने लगे हैं कि पाश्चात्य शिक्षापद्धति हमारी मानसिक दासता का मुख्य हेतु और हमारे चरित्र की चूकों का प्रधान कारण है। दयानन्द ने इन्हीं सब कारणों से वर्तमान शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट की थी और इसी लिये वह चाहते थे कि हमारी शिक्षा में मुख्य स्थान संस्कृत साहित्य और इतिहास को और गौण स्थान अंग्रेजी को दिया जाय। यदि हम अंग्रेजी में अधिक व्युत्पन्न न भी हों तो कोई बड़ी हानि नहीं, परन्तु संस्कृत में व्युत्पन्न न होने से तो हमारे सर्वनाश के दिन निकट आरहे हैं। यही सब कारण थे जिन से स्वामीजी प्रचलित गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली का पुनरुद्धार और प्रचार करना चाहते थे, जिसके अनुसार विद्यार्थी गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य्यव्रत का पालन करता हुआ, चरित्र गठन करता हुआ वेद वेदाङ्ग तथा अन्य विषयों का ज्ञाता होकर समाज का लाभदायक अङ्ग बन सके। इसी कारण स्वामीजी ब्रह्मचर्य्य, सत्यनिष्ठा, अव्यभिचार, योग, वेद के पठन पाठन प्रभृति पर विशेष बल देते थे। वह कहा करते थे कि बिना ब्रह्मचर्य्य किये, बिन वीर्य्य रक्षा किये ईश्वर प्राप्ति तो दूर रही, मनुष्य की बुद्धि और ज्ञान भी परिष्कृत और उज्ज्वल नहीं हो सकते। उनका यह अविचलित विश्वास था कि वेद के प्रचार और वैदिक धर्म्म के प्रचार से ही देश और जाति का कल्याण होगा।

स्वामीजी की दिव्य दृष्टि

स्वामीजी के बम्बई पधारने के सम्बन्ध में २१ दिसम्बर सन् १८७४ की 'सुबोध-पत्रिका' में इस प्रकार लिखा गया था :—

"वल्लभाचारी सम्प्रदाय के आचार्यों ने और अन्यान्य लोगों ने पहले यह समझा था कि दयानन्द उनके पक्ष का अवलम्बन करेंगे। परन्तु उनके व्याख्यान आदि को सुनकर उनकी धारणा अन्य प्रकार की होगई। उन्होंने यह बात उपस्थित करके कि वेद में प्रतिमा शब्द है, यह घोषणा की कि वेद में भी तो मूर्त्ति-पूजा है। जब वह दयानन्द की युक्तियों के खण्डन में असमर्थ हुए तो उन्होंने स्वामीजी की निन्दा और ग्लानि से पूर्ण एक विज्ञापन प्रकाशित किया। किसी किसी ने स्वामीजी के उपदेशों से परिचालित होकर अपनी देवमूर्त्तियों को मुम्बादेवी के तालाब में फेंक दिया है।

'सुबोध पत्रिका' का लेख

मूर्त्तियाँ मुम्बादेवी के तालाब में

देवमूर्त्तियाँ म्यूज़ियम में

सेवक लाल कर्शनदास ने अपनी देवमूर्त्तियों को टाउन हॉल में म्यूज़ियम में रख दिया है। मांस-भोजन के विषय में स्वामीजी कहते हैं कि क्षत्रिय लोग मांस खाते हैं, किन्तु यह सार्वभौम नहीं है, इसी कारण इसका वेद में उल्लेख नहीं है। स्वामीजी ब्राह्मण भाग को वेद नहीं मानते और उसका खण्डन करते हैं।"

आलोचना

'सुबोध पत्रिका' के संपादक की यह सम्मति कि पहले वल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य वा अन्य लोग यह समझते थे कि स्वामीजी उनके पक्ष का समर्थन करेंगे, नितांत भ्रान्त थी, क्योंकि स्वामीजी के मूर्त्ति-पूजा खण्डन करने की बात उस समय तक सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो चुकी थी। सत्य तो यह था कि कुछ लोग वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों (जिन्हें उनके भक्त महाराजा कहते हैं) के दुर्व्यवहार और विशेषकर उस कलङ्कमय मुकद्दमे से महाराजाओं के विरुद्ध होगये थे। वह यह जानते ही थे कि दयानन्द मूर्त्ति-पूजा के घोर विरोधी हैं। वह स्वामीजी से वल्लभ कुल के मन्तव्यों का खण्डन कराने के इच्छुक थे, परन्तु इसमें उन लोगों का एक स्वार्थ निहित था, वह यह चाहते थे कि स्वामीजी के बम्बई से चले जाने के पश्चात् जब कि स्वामीजी के उपदेशों से लोग वैष्णव मत से विरक्त हो जायंगे तो उन्हें अपने मत के प्रचार का अच्छा अवसर मिलेगा। इन लोगों में प्रमुख जयकृष्ण जीवनराम थे जिन्होंने स्वामीजी को बम्बई बुलाया था और उनके निवास तथा व्याख्यानों का प्रबन्ध कराया था। वह घोर अद्वैतवादी थे। उन्होंने जब देखा कि स्वामीजी न केवल वैष्णव मत का ही खण्डन करते हैं वरन् वह अद्वैतवाद को भी अवैदिक समझते हैं और उस पर तीव्र आक्रमण करते हैं, तो वह स्वामीजी से रुष्ट हो गये और उनके विरुद्ध आचरण करने लगे। उनका पक्ष लेकर भाई शङ्कर नाना भाई समाचार पत्रों में स्वामीजी के विरुद्ध लिखने लगे और स्वामीजी का पक्ष लेकर गिरिधारीलाल दयालदास कोठारी 'बॉम्बे गज़ट' और 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में उनके लेखों का उत्तर देने लगे।

स्वार्थी मित्र विरक्त हो गये

समाचार पत्रों में वाद-विवाद

सर टी. माधवराव से वार्त्तालाप

एक दिन बड़ौदे के दीवान सर टी. माधवराव और नायब दीवान मिस्टर जनार्दन कीर्त्तनीय स्वामीजी से मिलने आये थे। दीवान साहब उनसे धर्म्म विषय पर बात-चीत कर रहे थे। दीवान साहब के किसी कथन पर स्वामीजी ने उनसे कहा था कि दीवान साहब आप इस विषय में कुछ कम समझते हैं।

दो भिन्न मत रखने वाले एकत्र

पण्डित कृष्णराम इच्छाराम स्वामीजी की गुणगाथा सुनकर ही मुग्ध हो गये थे और उनके दर्शनों के बड़े लालसी थे। जब महाराज बम्बई पधारे तो वह उनसे भेंट करने आये, पण्डितजी उस समय घोर अद्वैतवादी और स्वामीजी अद्वैतवाद के घोरतर शत्रु थे। यद्यपि महाराज के पाण्डित्य और महत्व से मुग्ध हो गये थे, परन्तु अद्वैतवाद में उनके विचारों में परिवर्त्तन नहीं हुआ था। वह अपने मन में कहते थे कि क्या दयानन्द

शङ्कराचार्य्य और योगवशिष्ठ के कर्त्ता से भी बड़े हैं। स्वामीजी ने उन्हें अपने कार्य्य की सहायता के लिए नियुक्त किया परन्तु उन्होंने कहा कि मैं नौकर के भाव से नहीं रहूँगा प्रत्युत सहकारी भाव से रहूँगा। स्वामीजी ने उनकी इस बात से प्रसन्न होकर उन्हें रख लिया।

वेदान्तध्वान्त निवारण

स्वामीजी ने अद्वैतवाद के खण्डन में 'वेदान्तध्वान्त निवारण' पुस्तक रचा और आश्चर्य्य है कि उसे पण्डितजी से ही लिखाया। स्वामीजी ने उस पुस्तक को दो ही दिन में समाप्त करा दिया।

वेदभाष्य का नमूना

उसके पीछे ही स्वामीजी ने ऋग्वेद के पहले सूक्त का भाष्य जिसमें गुजराती और मरहठी भाषा में अनुवाद भी था, वेदभाष्य नमूने के तौर पर प्रकाशित किया ※ जिसमें ऋग्वेद के पहले मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितम्' आदि के दो अर्थ किये थे, एक भौतिक और दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा यदि किसी को इस पर आपत्ति हो तो पहले से ही सूचित करदे ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूँ।

नमूना विद्वानों के पास भेजा गया

यह नमूना स्वामीजी ने काशी के पण्डित बालशास्त्री, स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भेजा था, परन्तु किसी ने उसकी समालोचना नहीं की, न उस पर कोई आपत्ति उठाई।

वल्लभ-सम्प्रदाय वालों ने एक वार और स्वामीजी के बध का यत्न किया था। उन्होंने इस कार्य पर दो गुण्डों को नियत किया था।

घातक कमरे में घुस आये

एक दिन वह सुयोग पाकर स्वामीजी के कमरे में रात्रि के समय घुस आये। सेठ सेवकलाल कर्शनदास उस समय स्वामीजी के पास बैठे थे। उन्होंने घातकों को कमरे में घुसते हुए देख लिया और उन्हें पकड़ लिया। धमकाने पर उन गुण्डों ने स्वीकार किया कि स्वामीजी को बध करने के लिये उन्हें २००) मिले थे।

बलदेवसिंह पाचक जो प्रयाग से स्वामीजी के साथ आया था, कुछ दिन के पश्चात् स्वामीजी के पास से चला गया था।

खाकी बलदेव का उद्धार

उन दिनों बालकेश्वर में एक दूसरा बलदेवसिंह रहा करता था जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण था और ब्रह्मचारी और खाकी बाबा के नाम से प्रसिद्ध था। उसके सिर पर जटा जूट थे और देह पर भस्मी रमाये बालकेश्वर में स्वामीजी के मार्ग में पड़ा रहता था। महाराज ने उसे समझाया और उपदेश दिया तो उसने अपने जटा-जूट मुँडवा दिये और महाराज की दया और प्रेम की दृष्टि से आकृष्ट होकर उनकी सेवा में रहने लगा। वह शरीर से हृष्ट-पुष्ट और तेजस्वी था।

जीवनजी का शिष्य अनुगत

मथुरा पन्थ एक भाटिया थे और गोकुलिये गोसाईं जीवनजी के चेले थे। उन्होंने स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर वल्लभ

※ इस नमूने को स्वामीजी ने मिस्टर ग्राउस, कलक्टर बुलन्दशहर व ग्रिफ़िथ साहब के पास भी सम्मत्यर्थ भेजा था और उन्होंने उस पर विरुद्ध सम्मति दी थी।

सम्प्रदाय को त्याग दिया था और कण्ठी तोड़डाली थी। उसने अपने कितने ही साथी बना लिये थे।

ख्याति समुद्र को पार करगई

महाराज की अपूर्व विद्वत्ता की ख्याति भारतवर्ष की सीमा को लाँघ कर योरोप में भी पहुँच गई थी। जुलाई सन् १८७५ में एक व्यक्ति ने लेप्ज़िग से 'लेप्ज़िग का एक ब्राह्मण' के नाम से कलकत्ता के समाचार पत्रादि 'नेशनल' पेपर में लिखा था "कि पण्डित दयानन्द सरीखा मनुष्य ही योरोप के लोगों में यह विचार उत्पन्न कर सकता है कि हमारी भूमि की नैसर्गिक शक्तियाँ बिना किसी योरोपियन प्रभाव के कैसे विस्तृत तार्किक बुद्धि और गम्भीर विद्वत्ता रखने वाले पुरुषों को उत्पन्न कर सकती है।"

बम्बई में सेवकलाल कर्शनदास, रामदास छबीलदास प्रभृति स्वामीजी से दर्शनशास्त्र अध्ययन किया करते थे। मिस्टर रामदास छबीलदास ने एक पत्र में स्वर्गीय देवेन्द्रबाबू को लिखा था कि मैं स्वामीजी के प्रति कितनी ही बातों के लिये आभारी हूँ। मैंने उनसे वैशेषिक सूत्र और कुछ भाग पूर्वमीमांसा का पढ़ा था।

महाराज कहा करते थे कि भारत का बहुत सा धन विलायत जाता है, परन्तु यह बन्दूक़ की गोली के समान कार्य करेगा, क्योंकि जितना धन जायगा, अंग्रेज़ उतने ही आलसी और भोगी (विलासप्रिय) होकर आपदस्थ होंगे।

वह यह भी कहा करते थे कि ब्राह्मण क्षत्रियों को ही संस्कृत करके सच्चे ब्राह्मण और क्षत्रिय बनाना चाहिए। किसी योरोपियन को ब्राह्मण, क्षत्रिय बनाने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामीजी ब्राह्मणों की प्रशंसा भी किया करते थे और कहा करते थे कि यदि ब्राह्मण वेदों को कण्ठस्थ करके सुरक्षित न रखते तो वेद कहाँ रहते।

अनेक अंग्रेज़ राजकर्म्मचारी स्वामीजी से मिलने और व्याख्यान सुनने आया करते थे और उनकी प्रशंसा करते थे। स्वामीजी भी अंग्रेज़ी राज्य की बहुत प्रशंसा किया करते थे। इसी कारण बहुत से लोग उन्हें अंग्रेज़ों का गुप्तचर कह दिया करते थे।

स्वामीजी ने बम्बई निवास के दिनों में ही नवम्बर सन् १८७४ में वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के खण्डन में 'वल्लभाचार्य्य मत खण्डन' नामक एक ट्रैक्ट रचा था जो पहलीवार निर्णयसागर प्रेस बम्बई में छपा था।

पं० गट्टूलाल का परिचय

पण्डित गट्टूलाल एक आँख से काणे थे और दूसरी आँख से भी उन्हें दिखाई देना बन्द होगया था। उनकी प्रतिभा और स्मरणशक्ति असाधारण थी। वह चक्षुहीन होते हुए भी केवल अपनी स्मरणशक्ति के बल पर शतरञ्ज खेल सकते थे और विरले ही मनुष्य ऐसे निकलते थे जो उन्हें इस खेल में पराजित कर सकें। वह शतावधानी कहलाते थे। वह सौ वस्तु वा विषय का अवधान पूर्वक यथा-क्रम विचार करने वा उत्तर देने का सामर्थ्य रखते थे। यदि सौ बातें चाहे जिस भाषा में कही जाती थीं तो वह उन्हें यथा-क्रम दोहरा देते थे। अनेक वार अनेक स्थानों में उन्होंने अपनी इस असामान्य मेधा शक्ति का प्रमाण दिया था। शतावधानी की उपाधि उनकी अलौकिक प्रतिभा और विद्या पर

मोहित होकर काशी के पण्डितों ने उन्हें प्रदान की थी। वह सौ श्लोकों को केवल एक बार सुनकर यथा-क्रम विना एक भी अशुद्धि के दोहरा सकते थे। यद्यपि वह गोसाईं कुलोत्पन्न न थे परन्तु उनके उपर्युक्त गुणों के कारण महाराजाओं में उनका बड़ा मान था। वह १०-१२ वर्ष की आयु से ही संस्कृत में कविता करने लगे थे।

स्वामीजी से शास्त्रार्थ न करने का कारण

यह सब कुछ होते हुए भी वह स्वामीजी के सामने आकर शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे। और इसका कारण यह बतलाते थे कि उनके पास कोई ऐसा आशुलेखक विद्वान् नहीं था जो उभय पक्ष के कथन को ठीक २ अक्षरशः लिपिबद्ध कर सके।

स्वामीजी की प्रतिज्ञा

स्वामीजी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई यह सिद्ध कर देगा कि मूर्त्ति-पूजा वेद प्रतिपादित है तो मैं संन्यास छोड़ कर उसका अनुसरण करूँगा और तिलक, त्रिपुंड्र आदि धारण कर लूँगा, परन्तु उसे भी यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि यदि वह वेद से मूर्त्ति-पूजा का समर्थन न कर सकेगा तो देव-मन्दिरों से मूर्त्तियाँ उठा देगा और मन्दिर २ में वैदिक-पाठशाला स्थापित कर देगा। इस दुर्जेय प्रतिज्ञा को सुनकर लोग स्तम्भित हो गये और उन्होंने जब यह बात पण्डित गट्टूलाल से जाकर कही और स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये उनसे अनुरोध किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें तो कोई क्षति नहीं कि मैं दयानन्द से पराजित हो जाऊँ, परन्तु मेरे पराजय के साथ यदि देवमूर्त्तियों को भी मन्दिर-

गट्टूलाल के आक्षेप पर प्रतिज्ञा में परिवर्त्तन

च्युत होना पड़े तो इसका उत्तरदायी कौन होगा। जब लोगों ने लौट कर यह बात स्वामीजी से कही तो उन्होंने कहा कि मूर्त्ति-निरसन की प्रतिज्ञा हम छोड़े देते हैं, इसकी कोई चिन्ता नहीं परन्तु पण्डित गट्टूलाल हमारे पास आकर मूर्त्ति-पूजा सिद्ध तो करें।

पण्डित गट्टूलाल इस पर भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं हुए।

दयानन्द कण्टक को दूर करने के लिये सभा

स्वामीजी से पण्डित गट्टूलाल का शास्त्रार्थ होगा यह जनरव होता ही रहा, यद्यपि पण्डित गट्टूलाल स्वामीजी की उपर्युक्त प्रतिज्ञा के उत्तर में शास्त्रार्थ करने से नकार चुके थे। बात यह थी नकार करने पर भी पण्डित गट्टूलाल यह यत्न अवश्य कर रहे थे कि दयानन्द कण्टक को किस प्रकार दूर किया जावे। इसी अभिप्राय से उन्होंने गोसाईं जीवनजी के मन्दिर में एक सभा की। उसमें जीवनजी ने पण्डित गट्टूलाल से कहा कि दयानन्द के व्याख्यानादि से वैष्णव धर्म्म का बड़ा अनिष्ट हो रहा है, बहुत से लोगों ने उसे छोड़ दिया है और मथुरा पन्थ ने भी अनेक मनुष्यों को उससे विमुख कर दिया है, यदि आत्मरक्षा का उपाय न किया गया तो वैष्णव धर्म्म संसार से उठ जायगा।

सभा का निश्चय

इस सभा में यह निश्चय हुआ कि लाल बाग़ में पण्डित गट्टूलाल का दयानन्द के सिद्धान्तों के खण्डन में एक व्याख्यान कराया जावे और दयानन्द को भी शास्त्रार्थ के लिये उसमें बुलाया जावे।

स्वामीजी से गट्टूलाल का शास्त्रार्थ कराया जावे वा नहीं, यह परामर्श करने के लिये

दूसरी सभा

एक प्राइवेट मीटिंग सेठ ब्रजभूषण के गृह पर भी हुई थी, जिस की सूचना एक लेखक ने नारद मुनि के उपनाम से २ दिसम्बर सन् १८७४ के 'बम्बई समाचार' में छपवाई थी। उसमें भी यही निर्धारित हुआ था कि स्वामीजी से पण्डित गट्टूलाल का शास्त्रार्थ कराया जावे।

इधर स्वामीजी के पक्ष वालों की भी गोशाला में प्राइवेट मीटिङ्ग हुई।

शास्त्रार्थ की शर्तों का विज्ञापन

कार्त्तिक कृष्णा १ संवत् १९३१ को पण्डित गट्टूलालजी के पक्ष की ओर से 'आर्य्य जन हितेच्छु' के नाम से एक विज्ञापन दिया गया कि यदि कोई सज्जन सभा का प्रबन्ध करदें और उस सभा में कोई गोलमाल भी न होने पावे और बिना पक्षपात के कार्य्य हो तो पण्डित गट्टूलालजी स्वामी दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ करके इस बात की मीमांसा कर सकते हैं कि कौन विषय सत्य और धर्म्मसङ्गत है।

विज्ञापन का उत्तर

स्वामीजी के पक्ष की ओर से उक्त विज्ञापन के उत्तर में कार्त्तिक कृष्णा ५ को किशन बाबा के नाम से एक विज्ञापन दिया गया, जिसमें कहा गया कि जब तक कुछ महाराजा लोग अपने नाम से सभा नहीं बुलाते और प्रकट रूप से यह विश्वास नहीं दिलाते कि उक्त सभा सज्जनों की सभा होगी और उसमें कोई गोलमाल नहीं होगा और विज्ञापन में स्पष्ट रूप से यह नहीं लिखा जाता कि किस विषय पर विचार होगा तब तक स्वामीजी किसी सभा में जाकर शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं होंगे।

किशन बाबा एक सदाशय संन्यासी थे। वह स्वयं कुश्ती लड़ा करते थे और दूसरों को कुश्ती लड़ना सिखाते थे। वह साधारणतः सब ही सार्वजनिक हित के कार्य्यों में भाग लेने पर उद्यत रहते थे। जहाँ कोई गोलमाल होता था, वहाँ वह सार्वजनिक हितार्थ कार्य्य करने वालों का पक्ष लेने और रक्षा करने के लिये उपस्थित रहते थे। लोग उन्हें दादा कहा करते थे। उन्होंने भूलेश्वर में एक पब्लिक लाइब्रेरी भी स्थापित की थी।

प्रत्युत्तर

इस विज्ञापन के उत्तर में ३ दिसम्बर, कार्त्तिक कृष्णा ७ को गोविन्द बालकृष्ण, लालजी मुरारजी, दामोदर माधवजी, नागरदास, परमानन्द दास, हरिलाल मोहनलाल के नाम से एक विज्ञापन निकाला गया, जो इस प्रकार था:—

दयानन्द सरस्वती स्वामी का निमन्त्रण अर्थात् दयानन्द सरस्वती स्वामी का प्रति-निमन्त्रण

"आपने संवत् १९३१ कार्त्तिक शुक्ला सप्तमी को विज्ञापन प्रकाशित किया था कि "आर्य लोग सत्य भाव से प्रेरित होकर बिना पक्षपात के आर्य्य धर्म्म की आलोचना करें, यह हमारी इच्छा है। इस विषय की आलोचना के लिये हम प्रतिदिन सभा का अधिवेशन करने के इच्छुक हैं। बहुत शताब्दियों से आर्य्य-लोग जिस भ्रम जाल में पड़े हैं, उससे उन्हें निकालने के लिये ही ऐसी सभा करके आर्य्य-साधारण को उत्तेजित करना हमें वाञ्छनीय है।"

२८ नवम्बर के 'आर्य्यमित्र' में आप के २५ नवम्बर के व्याख्यान का सारांश छपा

है, जो आपने फ़ामजी काऊसजी हॉल में दिया था। उसे पढ़ने से मालूम हुआ कि आप के व्याख्यान की समाप्ति पर एक मारवाड़ी ब्राह्मण ने उसके सम्बन्ध में कुछ कहने का यत्न किया था। उसे देखकर आप ने कहा था कि यदि कुछ वाद-प्रतिवाद करने की इच्छा हो तो उसके लिये एक अलग दिन निर्धारित कीजिये, मैं उस दिन निश्चय उपस्थित हूँगा। इस लिये निम्नलिखत पुरुष जिनके हस्ताक्षर हैं, आप से शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से एक सभा करने के इच्छुक हैं। इसके अनुसार आगामी कार्त्तिक कृष्णा द्वादशी शनिवार, ५ दिसम्बर सायङ्काल के चार बजे से आठ बजे तक लाल बाग़ में सभा का अधिवेशन होगा। इस सभा में आर्य्यधर्म्म विषयक वाद-प्रतिवाद होगा। इस सभा में उपस्थित होने के लिये आप को प्रकाश्य भाव से निमन्त्रण दिया जाता है और इसके साथ ही आपके पक्ष के आर्य विद्वान् और आर्य सद्गृहस्थों के साथ सभा में उपस्थित होने के लिये ५० टिकट भेजे जाते हैं। इस सभा में शान्ति रखने के लिये, पुलिस का बन्दोबस्त किया गया है। आप विज्ञापनादि द्वारा जिस विषय का प्रचार करते हैं, यदि आप सभा में उपस्थित होकर उस विषय का प्रतिपादन कर सकेंगे तो आप के मत के सत्यासत्य को जनसाधारण समझ लेंगे।"

सभा की तिथि का रहस्य

इस सभा को ५ दिसम्बर को रखने में भी एक रहस्य था। बात यह थी कि स्वामीजी ने २८ नवम्बर के व्याख्यान में यह घोषणा करदी थी कि ५ दिसम्बर को फ़ामजी काऊसजी हॉल में हमारा एक और व्याख्यान होगा। विज्ञापनदाताओं को यह बात मालूम थी। उन्होंने सोचा था कि उस तारीख़ को स्वामीजी कदापि अपना व्याख्यान छोड़कर हमारी सभा में न आवेंगे और हम यह बात फैलादेंगे कि स्वामीजी के लिये सभा करने और उसमें उन्हें निमंत्रित करने पर भी वह सभा में नहीं आये और हमारा कार्य्य सिद्ध होजायगा।

स्वामीजी का शास्त्रार्थ के लिये प्रयत्न

स्वामीजी को यह विज्ञापन ३ दिसम्बर को ही मिलगया था। इसे पढ़कर उन्होंने गोवर्धनदास मूलजी से कहा कि मथुरादास लौजी मेरे भी मित्र हैं और पण्डित गट्टूलालजी के भी, अतएव आप उनसे जाकर शास्त्रार्थ-सम्बन्धी यह सब बातें कहिये और फिर आप और वह मिलकर पण्डित गट्टूलालजी के पास जाइये और विनयपूर्वक कहिये कि दयानन्द आप से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत है। गोवर्धनदास ने ऐसा ही किया। वह, मथुरादास लौजी और पन्नाचन्द आनन्दजी ४ दिसम्बर को प्रातःकाल के दस बजे पण्डित गट्टूलालजी के पास गये। पण्डित गट्टूलाल उस समय अपने पिता घनश्यामजी के पास बैठे हुए थे।

स्वामीजी के संदेशहरों का पं० गट्टूलाल से निवेदन

इन लोगों ने पण्डितजी से कहा कि आप बम्बई में वल्लभ-सम्प्रदाय में सब से प्रबल और प्रधान हैं और इस सम्प्रदाय के मुख्य पण्डित कहलाते हैं, इसलिये दयानन्द को आप से शास्त्रार्थ करना वाञ्छनीय है। आप को यह प्रतिपादित करना होगा कि वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त शास्त्रसिद्ध हैं और वल्लभाचार्य्य के वंश के लोग ही गुरुपद के योग्य हैं। दयानन्द का पक्ष यह होगा कि जैसे वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त शास्त्रसिद्ध नहीं हैं, वैसे ही वल्लभाचार्य्य के वंशीयगण भी गुरु माने जाने योग्य नहीं हैं।

इस विचार्य्य विषय के नीचे आपके और दयानन्द के हस्ताक्षर होंगे और उनकी एक एक प्रति उभयपक्ष के पास रहेगी। सभा में षट्शास्त्रवेत्ता पण्डित उपस्थित रहेंगे। ५० शिक्षित भद्र पुरुष आपकी ओर से और ५० दयानन्द की ओर से उपस्थित होंगे। प्रत्येक पक्ष की ओर से नियत पुरुष सभा के समस्त कार्य्य-विवरण को लिखते रहेंगे। सभा प्रति दिन दो घण्टे हुआ करेगी। सभा विसर्जन होने पर उस दिन के लिखित कार्य्य-विवरण पर उभय-पक्ष के हस्ताक्षर होंगे और सभास्थ-पण्डितों के और मध्यस्थों के भी साक्षीरूप से हस्ताक्षर हुआ करेंगे। जो पक्ष कोई शास्त्र-वचन प्रमाण में प्रस्तुत करेगा उसे तत्क्षण वह वचन शास्त्र में दिखाना होगा और उसका पता लेखकगण लिख लेंगे। जो पक्ष किसी प्रमाण को शास्त्र में न दिखा सकेगा तो ग्राह्य न होगा। जब तक एक पक्ष का वक्तव्य पूरा न होगा तब तक दूसरा पक्ष बोलने न पावेगा। जितने दिन तक शास्त्रार्थ-विषय का विवेचन समाप्त न होगा उतने दिन तक सभा का कार्य्य चलता रहेगा। जब सभा का कार्य्य समाप्त हो जायगा तब कार्य्य-विवरण पर उभयपक्ष और मध्यस्थों के हस्ताक्षर होंगे और उसे छपाकर जन साधारण में बाँट दिया जायगा। सभा का समस्त कार्य्य आद्योपान्त शिष्टता और मानमर्य्यादा के साथ सम्पन्न करना होगा।

शास्त्रार्थ से पण्डित गट्टूलाल की असम्मति

यह बातें सुन कर पण्डित गट्टूलाल तथा उनके पिता ने शास्त्रार्थ करने से असम्मति प्रकट की। पण्डित गट्टूलाल ने कहा कि यदि शास्त्रार्थ में हमारी जय हुई तो अच्छा ही है, परन्तु यदि पराजय हुआ तो सारा दायित्व हमारे ही कन्धों पर आकर पड़ेगा, अतएव महाराजाओं की सम्मति के विना हम ऐसे नियमों के अनुसार शास्त्रार्थ करने पर उद्यत नहीं हैं और महाराजा लोग भी इस प्रकार के शास्त्रार्थ की अनुमति नहीं देंगे।

जब प्रशंसित सज्जनों ने यह संवाद स्वामीजी से कहा तो उन्हें अगत्या पंडित गट्टूलाल से शास्त्रार्थ करने का सङ्कल्प छोड़ना पड़ा।

पंडित गट्टूलाल की सभा

स्वामीजी सभा में क्यों नहीं गये ?

५ दिसम्बर को इधर तो लाल बाग में पंडित गट्टूलालजी की सभा हुई और उधर फ्रामजी काऊसजी हॉल में स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। पंडित गट्टूलाल की सभा में स्वामीजी जाही नहीं सकते थे, क्योंकि उसी तारीख को और उसी समय उनका व्याख्यान होने को था। दूसरा कारण उनके न जाने का यह भी था कि वल्लभाचारियों ने उनको अपमानित करने का सङ्कल्प कर लिया था और यह बात उन्हें मालूम हो गई थी। बंबई के शिक्षित समुदाय की भी यही सम्मति थी कि उन्हें उक्त सभा में नहीं जाना चाहिए।

"बम्बई गजट" ने अपने तारीख ४ दिसम्बर सन् १८७४ के अङ्क में लिखा था:—

"हमें ज्ञात हुआ है कि हिन्दू समाज के प्रभावशाली सदस्यों ने यह प्रबन्ध किया है कि शनिवार को एक पब्लिक मीटिंग कीजाय और उस में स्वामी दयानन्द को बुलाया जाय और उनसे अपने सिद्धान्तों पर पंडित गट्टूलालजी से अथवा अन्य २०० पंडितों में से किसी एक से, जो उन पर आक्रमण करना चाहे, शास्त्रार्थ करने को कहा जाय। मूर्ति-पूजा की शास्त्रानुकूलता में जिनका विश्वास है, उन में से जो अधिक उत्तेजनापूर्ण स्वभाव के हैं,

उनका विचार है कि यदि स्वामी दयानन्द अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के इस पब्लिक चैलेंज को स्वीकार न करेंगे तो वह अवश्य भीरु, पाखण्डी और अनेक भयावह गुणों से सम्पन्न हैं। परन्तु हम नहीं कह सकते कि स्वामी ऐसी सभा में जाना स्वीकार करेंगे भी जहाँ यह अधिक संभावना है कि एक पक्ष की ओर से उस मनुष्य के प्रतिकूल जिसने उस के प्राचीनतम और अत्यन्त प्रतिष्ठास्पद परम्परा (मूर्त्ति-पूजा) पर आक्रमण करने का साहस किया है, हुल्लड़ मचाया जावेगा। स्वामी अपने वैदिक सिद्धन्तों को चुपचाप ढंग से अथवा पुस्तकों द्वारा उतनी ही कृतकार्यता के साथ सिद्ध कर सकते हैं, जितनी कृतकार्यता के साथ ऐसी सभा में जाकर कर सकते हैं, जिसमें पुलिस से आने की प्रार्थना की गई है।

इस लिये ऐसी पब्लिक मीटिङ्ग—जिसमें उनके पक्ष के लोग बहुत ही न्यून होंगे और उनके विरोधी बहुत अधिक, वह विरोधी जिनके प्रियतम परम्परागत विचारों पर उन्होंने प्रहार किया है,—उन अत्यावश्यक समस्याओं के सुलझाने का सर्वोत्तम उपाय नहीं है, जो उन्होंने उत्पन्न की हैं।

सभा का विवरण

पण्डित गट्टूलाल सभा में पधारे। सभापति का आसन एक भाटिया सेठ ठाकुर इन्द्रजी नारायणजी ने ग्रहण किया। कुछ देर तक स्वामीजी के आने की प्रतीक्षा की गई। जब वह नहीं आये तो हीरालाल मोहनलाल नामक एक व्यक्ति ने खड़े होकर उच्च स्वर से कहा,—"स्वामी दयानन्द अब कहाँ हैं? उन्हीं के लिये यह सभा बुलाई गई है। अब वह आकर अपने पक्ष का समर्थन करें। यतः वह सभास्थल में नहीं आये हैं, अतः उन्हें प्रतारक के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।"

पं० गट्टूलाल का व्याख्यान

स्वामीजी की प्रतीक्षा करने के पश्चात् पण्डित गट्टूलाल ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। व्याख्यान में मूर्त्ति-पूजा के समर्थन में षड्विंश ब्राह्मण का "प्रतिमा-हसन्ति रुदन्ति" इत्यादि प्रमाण दिया, पुष्टिमार्ग के मण्डन में एक भी प्रमाण न दिया। केवल इतना ही कहा कि वेद और शास्त्र सब ही इसका समर्थन करते हैं। यह भी कहा कि पुराण और इतिहास भी प्रामाणिक हैं।

राजकृष्ण महाराज भी कई साथियों को लेकर सभा में गये थे। उनसे पण्डित गट्टूलालजी का कुछ वादविवाद हुआ था।

पण्डित गट्टूलाल ने व्याख्यान में यजुर्वेद के आठवें अध्याय का एक मन्त्र उद्धृत करके कहा था कि इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द आया है, इससे स्पष्ट है कि वैदिक समय में मूर्त्तियाँ थीं। उन्होंने यह भी कहा था कि देवता ईश्वर के ही अङ्ग हैं। अतः दयानन्द का यह कथन कि वेद मूर्त्ति-पूजा का समर्थन नहीं करते ठीक नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में यह कहा गया है कि हे अग्ने! तेरी सहस्र प्रतिमाएँ हैं और हम तुझसे प्रार्थना करते हैं, इत्यादि।

जनार्दनगोपाल ने इस पर पण्डित गट्टूलाल से कहा कि प्रतिमा शब्द के अर्थों को देवमूर्त्ति के अर्थ में ही सीमित करने के लिये क्या युक्ति है, क्योंकि प्रतिमा शब्द का अर्थ प्रतिमा शब्द के यौगिक अर्थ किसी भौतिक पदार्थ की प्रतिकृति का

चित्र के हैं ? इसका पण्डित गट्टूलालजी से कोई उत्तर न बनसका और वह चुप होगये।
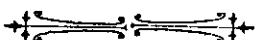
स्वयं पण्डित गट्टूलालजी के शिष्य कालिदास पण्डित ने उन से प्रश्न किया कि महाराज ! लालजी (माखननिर्मित बाल गोपाल) की मूर्त्ति वेद में कहाँ है ? पण्डित गट्टूलाल इस प्रश्न का उत्तर कहाँ से देते, कहीं वेद में मूर्त्ति का उल्लेख होता तो कुछ कहते। उन्हें निरुत्तर होना पड़ा। उनके साथियों ने पण्डित गट्टूलालजी को साधारण कोटि के विद्वानों के सामने निरुत्तर होता देख कर कोलाहल करना आरम्भ कर दिया और सभा विसर्जन होगई।

पं० गट्टूलाल के शिष्य का प्रश्न

गुरु निरुत्तर

५ दिसम्बर को ही जिस दिन यह सभा हुई, भगवानलाल इन्द्रजीत ने एक विज्ञापन दिया था कि समझ में नहीं आता कि इस सभा का क्या प्रयोजन है, यदि स्वामी दयानन्द सभा में न आवें तो पण्डित गट्टूलालजी ही स्वयं उनके पास जाकर शास्त्रार्थ क्यों न करलें।

स्पष्ट ही है कि वास्तव में इस सभा के करने से सत्यासत्य के निर्णय का उद्देश्य न था। अन्यथा जिन नियमों के अनुसार स्वामीजी शास्त्रार्थ करना चाहते थे और जिनसे विषय में उन्हें मथुरादास लौजी और गोवर्धनदास मूलजी ने ४ दिसम्बर को अर्थात् इस सभा के होने से एक दिन पूर्व ही सूचित कर दिया था उन्हें स्वीकार करके शास्त्रार्थ कर लेते। वहाँ तो उद्देश्य ही कुछ और था। वहाँ तो यह अभीष्ट था कि शास्त्रार्थ भी न करना पड़े और विजयपताका भी फहराने का अवसर मिलजाय। परन्तु दौर्भाग्य से वल्लभाचारियों की अभीष्टसिद्धि न हुई। स्वामीजी के उस सभा में न जाने से किसी को भी यह विश्वास न आया कि स्वामीजी पण्डित गट्टूलाल से शास्त्रार्थ नहीं कर सकते थे और इसी भय से वह सभा में न आये थे। यद्यपि स्वामीजी उस सभा में न आये परन्तु फिर भी पण्डित गट्टूलाल जी का पराजय ही हुआ, वह न जनार्दनगोपाल सालिसिटर के प्रश्न का ही उत्तर देसके और न अपने ही शिष्य कालिदास पण्डित का। इस सभा और पण्डित गट्टूलाल के भाषण का यही प्रभाव हुआ कि लोगों को यह विश्वास होगया कि वास्तव में मूर्त्ति-पूजा वेद-मूलक नहीं हैं।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने सूरत आदि स्थानों में गुजरात, काठियावाड़ निवासियों के सन्मार्ग दर्शनार्थ भ्रमण करने का विचार किया।

जब वह बम्बई से चलने लगे तो विपक्षियों को फिर यह सूझी कि स्वामीजी अब जा ही रहे हैं, रुकेंगे तो हैं नहीं, चलो इतना तो कहदो कि वह शास्त्रार्थ के भय के कारण ही बम्बई से पलायन कर रहे हैं। उन्होंने ऐसा ही किया भी। ऐसे ही शब्दों का उल्लेख करके उन्होंने एक विज्ञापन वितरण किया। इस के उत्तर में गिरिधारीलाल प्रभृति ने दूसरा विज्ञापन देदिया कि आप लोग मध्यस्थों को नियत करने का पक्का प्रबन्ध करें हम स्वामीजी को वापस बुला कर शास्त्रार्थ करा देंगे। परन्तु वहाँ ऐसा कौन करता, वह तो एक कथन मात्र था, कार्य करना तो था ही नहीं, मध्यस्थ नियत करने से इनकार कर दिया।

विरोधियों की कुटिलता

पञ्चदश अध्याय

मार्गशीर्ष संवत् १९३१ से माघ संवत् १९३१

स्वामीजी की इच्छा हुई कि गुजरात के अन्य नगरों तथा काठियावाड़ में भी धर्म्मप्रचारार्थ यात्रा करें अतः उन्होंने सूरत जाने का विचार किया। पंडित कृष्णराम इच्छाराम से उन्होंने कहा कि वहां उनके ठहरने का प्रबन्ध करा दें। पण्डितजी ने अपने कविता-गुरु पंडित नर्मदाशङ्कर को पत्र लिखा, जिसके उत्तर में कविजी ने स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध करना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और एक पत्र स्वामीजी को भी लिखा जिसमें अनुनय पुरस्सर उनसे सूरत पधारने की प्रार्थना की। इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने बम्बई के किसी प्रतिष्ठित पुरुष से भी सूरत के डिप्टी कलक्टर राव बहादुर जगजीवनदास के नाम एक परिचय-पत्र लिया और बलदेवसिंह को अपने जाने से पूर्व ही सूरत भेज दिया कि वहाँ जाकर उनके निवासस्थान का प्रबन्ध करे। स्वामीजी को सबसे अधिक निवास-स्थान की चिन्ता रहती थी। स्थान का न केवल रमणीय, एकान्त और बस्ती से बाहर होना आवश्यक था, प्रत्युत वह ऐसा भी होना चाहिए था, जहाँ स्त्रियों का आना जाना न हो।

सूरत

स्वामीजी एक दिसम्बर को ही सूरत के लिए प्रस्थित होगये। जब वह सूरत पहुँचे तो उन्होंने देखा कि रेलवे स्टेशन पर उनके स्वागत के लिये कोई भी उपस्थित न था। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के पश्चात् राव बहादुर जगजीवनदास की गाड़ी आई। स्वामीजी और पण्डित कृष्णराम इच्छाराम उस में सवार होकर राव बहादुर के बाग़ में चले गये। यही स्थान उनके ठहरने के लिये नियत किया गया था। स्वामीजी तो बाग़ में ठहर गये, परन्तु पं० कृष्णराम इच्छाराम पं० नर्मदाशङ्कर के घर चले गये। पण्डितजी ने अपने गुरु को उपालम्भ दिया कि स्टेशन पर एक व्यक्ति भी स्वामीजी के स्वागत के लिये नहीं पहुँचा। उनके गुरुजी ने कहा कि इसमें हमारी भूल होगई। तत्पश्चात् गुरु और शिष्य दोनों स्वामीजी की सेवा में पहुँचे।

स्वागत के लिये कोई न आया

क्यों न आया

स्वामीजी ने उनसे जगजीवनजी के बाग़ में ठहरने की अनिच्छा प्रकट की क्योंकि वह ताँडा नदी के तटपर था और नदी पर स्नानादि के लिए स्त्रियाँ आती थीं, जिनका कोलाहल उनके कानों तक पहुँचता था। इस पर पंडित कृष्णराम इच्छाराम ने उनके ठहरने का सेठ नगीनदास के सौदागर प्रेस वाले बँगले में प्रबन्ध कर दिया जो कातार ग्राम के मार्ग पर था। सूरत-वास के शेष दिनों में स्वामीजी इसी बँगले में ठहरे रहे और यहाँ ही उन्होंने पण्डित कृष्णराम इच्छाराम से संस्कारविधि लिखानी आरम्भ की।

स्थान-परिवर्तन

संस्कारविधि का आरम्भ

सूरत में स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध तो समुचित रीति से हो गया परन्तु उनके आहारादि का प्रबन्ध किसी ने न किया। सम्भव है सूरत वालों ने यह सोचा हो कि बम्बई के बड़े बड़े सेठ उनके भक्त हैं और राजे महाराजे तक उनके सेवक हैं उन्हें कमी किस बात की है। इधर जो रुपया उनके पास था वह दो चार दिन में ही समाप्त होगया और जो २-४ रुपये पं० कृष्णराम इच्छाराम के पास थे वे भी व्यय हो गये। वह स्वामीजी को बाजार से खिचड़ी लाकर खिलाते रहे। परन्तु स्वामीजी ने अपने किसी भाव-भङ्गी से अर्थ कष्ट की बात किसी दर्शक पर प्रकट न की। परन्तु जब द्रव्य का सर्वथा अभाव होगया तो पंडित कृष्णराम इच्छाराम को पंडित नर्मदाशङ्कर से वास्तविक अवस्था कहनी ही पड़ी। इसे सुन कर वह अत्यन्त दुःखित और लज्जित हुए और उन्होंने तुरन्त ही रुपया इकट्ठा कर दिया।

आहारादि का प्रबन्ध न हुआ

खिचड़ी पर ही निर्वाह

सूरत में पं० दुर्गाराम मोता नागर ब्राह्मण बड़े प्रतिष्ठित थे। यद्यपि वह अंग्रेज़ी नहीं पढ़े थे परन्तु सुधारकों में अग्रगण्य थे, यहाँ तक कि लोग उन्हें सूरत का लूथर कहा करते थे। वह देशाभिमानी और कुरीतियों के घोर प्रतिवादी थे। वह देशी शिल्प के भी बड़े पक्षपाती थे। वह गवर्नमेंट गुजराती स्कूल के हेडमास्टर थे। उनके और पंडित नर्मदाशङ्कर के परामर्श से यह निश्चित हुआ कि सूरत में स्वामीजी के चार व्याख्यान कराये जावें।

सूरत का लूथर

स्वामीजी का पहला व्याख्यान २ दिसम्बर १८७४ को एन्ड्रूज़ पब्लिक लाइब्रेरी में हुआ। सभापति का आसन डिप्टी जगजीवनदासजी ने ग्रहण किया। व्याख्यान का विषय था—"वल्लभाचार्य्य, राममोहनराय, स्वामी नारायणमत के प्रवर्त्तक सहजानन्द और रामानुजाचार्य्य"। स्वामीजी ने राममोहनराय के विषय में कई प्रशंसासूचक वचन कहे और उनके साथ वर्त्तमान ब्राह्मसमाज का पार्थक्य दिखाया। फिर वल्लभाचार्य्य का थोड़ासा जीवन-चरित्र वर्णन किया और तदनु उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया। सभानेता यद्यपि स्वयं वल्लभ-सम्प्रदाय के थे, परन्तु वह शान्तभाव से स्वामीजी-कृत आलोचना को सुनते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने सहजानन्द के सिद्धान्तों की समालोचना करनी आरम्भ की। स्वामीजी ने इस विषय पर थोड़ा ही कथन कर पाया था कि 'गुजरातमित्र' के तत्कालीन सम्पादक का भ्राता गेलाभाई

पहला व्याख्यान

विद्वेषी सम्पादक

उठकर कहने लगा कि स्वामीजी ने जो कुछ कहा है वह सब मिथ्या है। पाठकों को स्मरण रहे कि उक्त सम्पादक स्वामीजी के अत्यन्त विद्वेषी थे और कोई अवसर उनपर कटाक्ष किये बिना न जाने देते थे। सभापति ने गेलाभाई को तुरंत रोक दिया और कहा कि आपको जो कुछ कहना हो व्याख्यान की समाप्ति पर कहना। तदनुसार स्वामीजी ने अपना व्याख्यान समाप्त किया और श्रोतृवर्ग से कहा कि सहजानन्द के मत के विषय में जिस किसी को शास्त्रार्थ करना हो वह सम्मुख आवे, परन्तु न तो गेलाभाई ही और न अन्य ही कोई सहजानन्दी आगे आया। इसके पीछे निर्भयराम मनसुखराम कन्ट्रैक्टर ने खड़े होकर कहा कि मैं सहजानन्द के सम्प्रदाय में दश वर्ष रह चुका हूँ और उसके सब भेद और रहस्य मुझे ज्ञात हैं। यह कहकर उसने उक्त सम्प्रदाय का विशेष रूप से खण्डन किया।

शास्त्रार्थ का चैलैंज

स्वामीजी की दूसरी वक्तृता ४ दिसम्बर को गवर्नमेंट हाई स्कूल के अहाते में हुई और उसके सभापति प्रिंसिपल साहब थे। वक्तृता का विषय था बुद्धोक्त, जिनोक्त, पुराणोक्त, तन्त्रोक्त धर्म में आर्य धर्म का स्वरूप।

तीसरी वक्तृता सेठ रामचन्द्र की कन्या पाठशाला में हुई।

व्याख्यान मन्दिर बन्द

स्वामीजी की चौथी वक्तृता ७ दिसम्बर को रघुनाथपुरे के सेठ ठाकुरभाई चुन्नीलाल चाकावाले के शिव मन्दिर से मिले हुए एक मकान में होने को थी परन्तु जब वक्तृता का समय हुआ और लोग वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि मकान का द्वार भीतर से बन्द है। लोगों ने द्वार को बहुतेरा खटखटाया और आवाजें दीं परन्तु किसी ने न सुना। सेठ ठाकुरभाई चुन्नीलाल स्वामीजी में बहुत श्रद्धा प्रकट करते थे और उनके पास भी आये थे, परन्तु वहाँ उनका भी पता न था।

व्याख्यान यहाँ ही होगा

श्रोतृवर्ग में से किसी २ ने स्वामीजी से यह प्रस्ताव किया कि यदि आपकी अनुमति हो तो व्याख्यान का अन्यत्र प्रबन्ध करदिया जाय और उनमें से कई ऐसा प्रबन्ध करने पर उद्यत भी हुए, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि ऐसा नहीं होसकता, व्याख्यान इसी स्थान पर होगा, क्योंकि यहाँ होने की ही घोषणा कीगई है। किसी ने उनके लिये एक कुर्सी लादी और उसी पर बैठकर स्वामीजी ने व्याख्यान देना आरम्भ करदिया।

श्रोता धूप में बैठे रहे

श्रोता लोग वहीं धूप में और भूमि पर बैठकर शान्तिपूर्वक व्याख्यान सुनने लगे। व्याख्यान के बीच में ही सूरत के एक मठधारी मोहन बाबा ब्रह्मचारी आये। उन्होंने स्वामीजी को दण्डवत् होकर प्रणाम किया। स्वामीजी ने उन्हें हाथ पकड़कर उठाया और दूसरी कुर्सी मँगाकर अपने बराबर बिठाया। यथासमय स्वामीजी ने अपना वक्तृत्व समाप्त किया और श्रोतागण उपदेश से सुख और शान्ति लाभ करके और स्वामीजी के धैर्य्य और मर्य्यादा-पालन की प्रशंसा करते हुए अपने २ घरों को गये।

वृद्ध मठधारी

मोहन बाबा बड़ोदे के नृसिंह आचारी के गुरु थे, उनका वयःक्रम अस्सी वर्ष के लगभग था। वह संस्कृतज्ञ नहीं थे, परन्तु गुजराती अच्छी जानते थे। गुजराती में उन्होंने बहुतसे भजनों की रचना की थी। वह

मोहन बाबा

मूर्त्ति-पूजा के घोर विरोधी थे और उनके भजनों में भी मूर्त्ति-पूजा का खण्डन रहता था। वह योगवासिष्ठ की कथा कहा करते थे। सूरत के शिक्षित और सम्भ्रान्त लोगों की उनमें विशेष श्रद्धा थी और वह उनका बहुत सम्मान करते थे। सूरत में स्वामीजी के आगमन से पहले से ही ब्रह्मचारीजी की उनमें गहरी श्रद्धा थी। वह कहा करते थे स्वामी दयानन्द एक अवतारी पुरुष हैं, मैं उन्हें सूरत बुलाऊँगा और उनका विशेष सम्मान करूँगा। ब्रह्मचारीजी को स्वामीजी के पद प्रान्त में दण्डवत् होता देख कर सूरत के लोग अत्यन्त विस्मित हुए।

दयानन्द अवतारी मनुष्य हैं

व्याख्यान की समाप्ति पर ब्रह्मचारीजी ने स्वामीजी से विनीत भाव से प्रार्थना की कि आप मेरे स्थल पर पधारने का अनुग्रह कीजिये। स्वामीजी ने कहा कि इस समय तो हम नहीं जा सकते, यदि आप आवश्यक समझें तो जिस बँगले में हम ठहरे हुए हैं. वहाँ आकर हमसे मिलिये।

बँगले पर पहुँच कर स्वामीजी ने पण्डित कृष्णराम इच्छाराम से पूछा कि ब्रह्मचारी जी कैसे पुरुष हैं और उनकी ओर से किसी कपट व्यवहार के होने की तो आशङ्का नहीं है। पण्डितजी ने ब्रह्मचारीजी की बहुत प्रशंसा की और हर प्रकार से उनका सन्तोष कर दिया। अगले दिन ब्रह्मचारीजी स्वामीजी के पास आये और अपना निमन्त्रण दोहराया। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया।

मोहन बाबा कैसे पुरुष हैं

पाँचवीं वक्तृता पण्डित नर्मदाशङ्कर के घर के निकट एक मैदान में हुई। उसमें सभापति दुर्गाराम मोता थे। वक्तृता का विषय अद्वैतवाद था। पण्डित इच्छाशङ्कर शास्त्री ने उसका प्रतिवाद करना आरम्भ कर दिया। सभापति ने उन्हें रोक दिया और कहा कि आपको जो कुछ कहना हो व्याख्यान के समाप्त होजाने पर कहिये। व्याख्यान के समाप्त होजाने पर पण्डित इच्छाशङ्कर और कतिपय अन्य शास्त्री स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से आगे आये, परन्तु स्वामीजी ने दो चार बातों में ही उन्हें निरुत्तर कर दिया। तब तक सन्ध्या समय होगया था और अँधेरा होने लगा था कि इतने में सभा में दो चार ईंटें आकर गिरीं, अतः इस भय से कि अन्धकार से लाभ उठा कर दुष्ट लोग कुछ और उपद्रव न कर बैठें, सभा विसर्जन करनी पड़ी। लोग स्वामीजी को पण्डित नर्मदाशङ्कर के मकान पर लेगये और फिर उन्हें गाड़ी में सवार कराकर बँगले पर पहुँचा आये।

शास्त्री का शास्त्रार्थ

सभा में ईंटें आईं

पूर्वोक्त गेलाभाई और कुछ दूसरे दुष्ट प्रकृति के लोगों ने स्वामीजी को अपमानित करने का सङ्कल्प किया था और सम्भवतः उन्हीं लोगों के षड्यन्त्र से सभा में ईंटें आई थीं। ऐसा भी अनुमान है कि यह भी गेलाभाई के ही प्रयत्न का फल था, जो रघुनाथपुरे की वक्तृता के दिन व्याख्यान के लिये पूर्व से निर्धारित मकान अन्दर से बन्द कर दिया गया था। सेठ ठाकुरभाई उस मकान के स्वामी वल्लभ-सम्प्रदाय के थे, सम्भव है कि उनके गुरु गोसाइयों ने ही उन्हें मकान बन्द करा देने पर बाध्य किया हो।

अपमानित करने का संकल्प

सभा समाप्त हो जाने पर ब्रह्मचारी मोहन बाबा के निमन्त्रणानुसार स्वामीजी पण्डित नर्मदाशङ्कर, दुर्गाराम मोता और पण्डित कृष्णराम प्रभृति को साथ लेकर स्वामीजी ब्रह्मचारीजी के मठ पर गये। ब्रह्मचारीजी ने उस दिन मठ को खूब सजाया था और मठ के द्वार और प्रवेशपथ पर बहुमूल्य वस्त्र लटकाये थे। ऐसा ज्ञात होता था, कि लाट साहब के स्वागत की तैयारी हो रही है। यह सब आयोजन स्वामीजी की अभिरुचि के प्रतिकूल था, अतः स्वामीजी उससे कुछ प्रसन्न नहीं हुए। ब्रह्मचारीजी ने बड़े प्रेम और सम्मान से स्वामीजी का स्वागत किया, उन्हें उच्च आसन पर बिठाया और चन्दन, जयमाल और पुष्पवृष्टि आदि से उनका सत्कार किया और अपनी शिष्य-मण्डली सहित उनकी जय बोली।

मठधारी की सेवा शुश्रूषा

ब्रह्मचारीजी ने एक दूसरे कमरे में अपनी शिष्याओं को बिठा रक्खा था। उन्होंने स्वामीजी का वृत्तान्त पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा था और उनके दर्शनों की अभिलाषिणी थीं। जब ब्रह्मचारीजी ने स्वामीजी से स्त्रियों को दर्शन देने की प्रार्थना की तो उन्होंने उसे [illegible]कार नहीं किया, परन्तु पण्डित नर्मदाशङ्कर आदि ने उनसे [illegible] आप जितेन्द्रिय पुरुष हैं और यह स्त्रियाँ आपके दर्शनों की अभिलाषा से यहाँ आ[illegible] निराश करना उचित नहीं है, तो स्वामीजी को उनके [illegible] रक्षा करनी पड़ी और वह स्त्रियों के प्रकोष्ठ में गये, परन्तु [illegible]की ओर न देख कर भूमि की ओर ही टकटकी लगाये बैठे रहे। स्त्रियों ने दूर ही से उनपर पुष्प-वृष्टि की। स्त्रियों ने उनके चरण छूने की नितान्त इच्छा प्रकट की परन्तु इस पर वह किसी प्रकार भी सहमत नहीं हुए।

मठधारी की चेलियों को भी दर्शन दिये

स्त्रियों की ओर न देखा

ब्रह्मचारीजी ने स्वामीजी के लिये अनेक प्रकार के व्यञ्जन प्रस्तुत कर रक्खे थे। जब वह स्त्रियों को दर्शन देकर बाहर आये तो ब्रह्मचारीजी ने उनसे भोजन करने के लिये बहुत आग्रह किया। इस पर वह पण्डित नर्मदाशङ्कर आदि के साथ भोजन करने बैठे और उन्होंने भी गुजराती रीति के अनुसार अन्य वस्त्र उतार कर और केवल मुकटा धारण करके भोजन किया। भोजन के पश्चात् ब्रह्मचारीजी के सेवा सत्कार से सन्तुष्ट होकर स्वामीजी बँगले पर चले गये थे।

मठधारी का भोजन स्वीकार किया

मुकटा धारण

बँगले पर स्वामीजी की रक्षा के लिये डिप्टी जगजीवनदास ने दो पुलिस कॉन्स्टेबिलों को नियत करा दिया था जो हर समय बँगले पर उपस्थित रहते थे।

एक दिन कातार ग्राम के कुछ आलोवाला देशवई ब्राह्मण स्वामीजी के पास आये और उनसे ग्राम में पधारने की प्रार्थना की। यह लोग यद्यपि ब्राह्मण हैं, परन्तु भिक्षावृत्ति नहीं करते और कृषि का व्यवसाय करते हैं। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और ग्राम में पहुँचकर आम्रकानन में विराजे और ग्रामवासियों को उपदेश से कृतार्थ किया। उसके पश्चात् उन लोगों ने अग्नि में नई ज्वार भून कर स्वामीजी को खिलाई जो

ग्रामवासियों का निमन्त्रण

पौंक भी खाई

उन्होंने सब लोगों के साथ बड़े प्रेम से खाई। तत्पश्चात् स्वामीजी बँगले को लौट आये। वह इतने वेग से चलते थे कि न तो पण्डित कृष्णराम इच्छाराम ही और न दोनों कॉन्स्टेबिल ही उनके साथ चल सकते थे, वह आगे निकल जाते थे और यह लोग पीछे रह जाते थे और वह बार २ इन लोगों की प्रतीक्षा करने को खड़े होजाते थे। स्वामीजी कॉन्स्टेबिलों से कहते थे कि तुम लोग सिपाही होकर भी हमारे साथ नहीं चल सकते, देखो हम तो कुछ भी वेग से नहीं चल रहे हैं।

भय से मार्ग छोड़ दिया

सूरत में स्वामीनारायण मत के लोग स्वामीजी से इतना भय करने लगे थे कि यदि कभी उन्हें आता हुआ देख लेते थे तो मार्ग से हट जाते थे। कातार ग्राम में स्वामीनारायण मत वालों का एक मन्दिर था, जिस में उस मत के कुछ संन्यासी रहते थे। उन्हें सूरत जाते हुए उसी बँगले के सामने से आना जाना पड़ता था, जिसमें स्वामीजी ठहरे हुए थे। जबतक उसमें स्वामीजी की अवस्थिति रही तबतक इन संन्यासियों ने बँगले के सामने होकर आना जाना छोड़ दिया था और दूसरे मार्ग से आने जाने लगे थे।

औचित्य में भी अनौचित्य

'गुजरात-मित्र' के तत्कालीन सम्पादक स्वामीजी के अत्यन्त विरुद्ध थे, वह उनकी हरएक बात में दोष निकालने पर तत्पर रहते थे। औचित्य में भी उन्हें अनौचित्य दिखाई देता था। स्वामीजी व्याख्यान के बीच में किसी को बोलने की आज्ञा नहीं देते थे। यदि कोई कुछ कहना चाहता था तो कह दिया करते थे कि व्याख्यान के समाप्त होने पर कहना, अथवा हमारे डेरे पर आकर पूछना। ऐसा करना सर्वथा समीचीन ही था यदि व्याख्यान के बीच में ही लोगों को प्रश्न वा आक्षेप करने की आज्ञा दे दी जाती तो व्याख्यान ही न हो पाता। परन्तु 'गुजरात-मित्र' के सम्पादक को इसमें भी बुराई ही दिखाई पड़ी और उनसे बिना आक्षेप किये न रहा गया। इस बात का उल्लेख करके उन्होंने लिखा कि "स्वामी दयानन्द इस समय सूरत में नगर से दो-तीन मील दूर कातार ग्राम के बँगले में ठहरे हैं, उनसे प्रश्न करने इतनी दूर कौन जावे"। इसमें स्पष्ट व्यंग्य है, मानो प्रश्नोत्तर से बचने के लिये ही वह नगर से इतनी दूर ठहरे थे और इसी लिये वह व्याख्यान के बीच में किसी को प्रश्न करने की आज्ञा नहीं देते थे। परन्तु सम्पादक महोदय ने यह नहीं सोचा कि यदि स्वामीजी का यही भाव होता तो वह व्याख्यान के समाप्त होने पर लोगों को प्रश्न करने की आज्ञा क्यों देते।

सरकार के प्रतिकूल भड़काने का यत्न

सम्पादक महोदय ने केवल इतने पर ही बस नहीं किया, उन्होंने इससे भी कहीं अधिक नीच और घृणित व्यवहार किया। उन्होंने सरकार को स्वामीजी के प्रतिकूल भड़काने में भी इतस्ततः नहीं किया।

'गुजरात-मित्र' के १२ दिसम्बर १८७४ के अङ्क में स्वामीजी के व्याख्यानों की समालोचना करते हुए उन्होंने अपना हृदयोद्गार इस प्रकार निकाला—"स्वामीजी ने अपनी समस्त वक्तृताओं में एक मात्र वेद और आर्य्य धर्म्म को छोड़ कर अन्यान्य सब धर्म्मों

और सब सम्प्रदायों पर ऐसा तीव्र आक्रमण किया है और उससे यहाँ के लोक साधारण ऐसे तीव्र भाव से उत्तेजित हो उठे हैं कि यदि सूरत ब्रिटिश राज्य के भीतर न होता तो हम नहीं कह सकते कि क्या होजाता। उनके सभी व्याख्यान आदि से अन्त तक तीव्र आक्रमणों से परिपूर्ण थे। पहले व्याख्यान के सिवाय अन्य व्याख्यानों में स्थानीय लोगों में जो सुशिक्षित, सम्भ्रान्त और भद्र पुरुष हैं वह नहीं गये।"

लेख के अन्त में सम्पादक महोदय ने लिखा कि "या तो दयानन्द को ऐसी तीव्र आक्रमणपूर्ण वक्तृता नहीं देनी चाहिये, अन्यथा गवर्नमेंट को उन्हें सावधान कर देना चाहिए कि वह ऐसी तीव्र आक्रमणपूर्ण वक्तृता न दिया करें।"

इस लेख में तो सम्पादक महोदय ने यह भी विचार नहीं किया कि जो कुछ वह लिख रहे हैं वह सङ्गत है वा असङ्गत। उनके अनुसार नगर के सुशिक्षित, सम्भ्रान्त और भद्र पुरुषों ने तो स्वामीजी की पहली वक्तृता के पश्चात् अन्य व्याख्यानों में जाना छोड़ ही दिया था, क्योंकि उसमें स्वामीजी ने अन्य समस्त धर्मों और सम्प्रदायों पर तीव्र आक्रमण किया था और लोक साधारण उसे सुनकर इतने उत्तेजित होगये थे कि यदि सूरत ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत न होता तो न जाने क्या उपद्रव होजाता। अतः वह भी स्वामीजी के शेष व्याख्यानों में क्यों गये होंगे। स्वामीजी ने फिर व्याख्यान किसे सुनाये होंगे और किसने उन्हें सुना होगा? यदि सम्पादक महोदय का कहना ठीक होता तो सभापति का आसन गवर्नमेंन्ट हाईस्कूल के प्रिंसिपल और दुर्गाराम मोता जैसे सुशिक्षित और प्रतिष्ठित पुरुष क्यों ग्रहण करते। स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनने के लोग कैसे उत्सुक थे, यह तो रघुनाथपुरे की घटना से ही स्पष्ट है, कि जब व्याख्यान के लिये मकान का द्वार नहीं खुला तो लोगों ने फ़र्श रहित भूमि पर और धूप में बैठकर भी उनके व्याख्यान को सुना। यदि स्वामीजी ऐसे अप्रियवादी थे, जैसे कि उन्हें 'गुजरात-मित्र' के सम्पादक बताते हैं, तो लोग उनके व्याख्यान सुनने के लिये इतना कष्ट क्यों उठाते?

स्वामीजी ने सूरत में ही स्वामीनारायण मत-खण्डन पर एक पुस्तक लिखी।

एक दिन व्याख्यान के अन्त में एक सेठ ने एक बहुमूल्य शाल प्रेमोपहार के तौर पर श्रीसेवा में निवेदन करना चाहा, परन्तु महाराज ने उसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इस समय शाल लेने के अर्थ यह हैं कि मैं भी अपनी कथा पर चढ़ावा चढ़वाता हूँ, जैसा पौराणिक कथावाचक करते हैं।

मैं कथा पर चढ़ावा नहीं चढ़वाता

डिप्टी जगजीवनदास ने सूरत से भड़ौच डिप्टी कलक्टर प्राणलाल माहवरदास को लिख दिया था कि स्वामीजी के लिये स्टेशन पर गाड़ी भेजदें।

भड़ौच

भड़ौच में स्वामीजी नर्मदा के तट पर भृगुऋषि की धर्म्मशाला में ठहरे। यह धर्म्मशाला यद्यपि नगर में थी, परन्तु एकान्त स्थान में थी। स्वामीजी के आहार आदि का प्रबन्ध ठाकुर उमरावसिंह एक धनी वणिक्, मोहनलाल वकील और अचरतलाल वकील ने किया था।

स्वामीजी के व्याख्यान उसी धर्म्मशाला में हुए। पहले व्याख्यान की समाप्ति पर

माधवराव से शास्त्रार्थ

पण्डित माधवराव त्र्यम्बकराव स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने को सम्मुख आये। पण्डित माधवराव दक्षिणी ब्राह्मण थे और अनेक सम्भ्रान्त लोग उनके शिष्य थे। वह थे तो गृहस्थी, परन्तु महन्त समझे जाते थे और भड़ौच के लोग उनका बहुत सम्मान करते थे। वह कट्टर सनातनी और दाम्भिक थे। वह सभा में शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से ही आये थे और अपने अनेक शिष्यों को साथ लाये थे। उनके एक शिष्य ने स्वामीजी से कहा कि पण्डित माधवराव आप से शास्त्रार्थ करने के इच्छुक हैं। स्वामीजी के यहाँ क्या देर थी। उन्होंने तुरन्त उत्तर दे दिया कि हम उद्यत हैं। इस पर पण्डित माधवराव आगे आये। और निम्न प्रकार प्रश्नोत्तर हुए:—

दया०—आपने क्या पढ़ा है?

माधव०—कौमुदी आदि व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा है।

दया०—जब आपने वेदादि आर्ष ग्रन्थ पढ़े ही नहीं तो आप उनके विषय में शास्त्रार्थ कैसे करेंगे?

माधव०—मैंने कुछ ऋग्वेद भी पढ़ा है।

दया०—चारों वेदों में से किसी मन्त्र को लेकर उसका पदच्छेदपूर्वक अर्थ करके दिखाइये कि उससे मूर्त्ति-पूजा सिद्ध होती है। फिर मैं आर्ष ग्रन्थों की रीति के अनुकूल उसका अर्थ करूँगा और तत्पश्चात् अपने और आप के अर्थ काशी आदि स्थानों के बड़े बड़े पण्डितों के पास भेज दिये जायंगे कि वह किसके अर्थों का अनुमोदन करते हैं।

माधवराव वेदमन्त्र का अर्थ न करसके

स्वामीजी के इतना कहते ही पण्डित कृष्णराम ने चारों वेदों के पुस्तक स्वामीजी के सामने लाकर रख दिये। तब स्वामीजी ने कहा कि चारों वेदों में से किसी वेद का कोई मन्त्र निकाल कर अर्थ कीजिए। पं० माधवराव ने ऋग्वेद का एक मन्त्र निकाला और वह उसका अर्थ करने लगे। स्वामीजी ने पद पद पर उनके अर्थों की अशुद्धि दिखानी आरम्भ की। परिणाम यह हुआ कि पण्डित माधवराव थोड़ी ही देर में चुप होकर बैठ गये। तब स्वामीजी ने उनसे कहा कि अभी आप कुछ और पढ़िये और तब शास्त्रार्थ करने आइये। माधवराव ने समझा कि स्वामीजी मेरा अपमान करते हैं, विशेषकर शिष्यों के सामने इस प्रकार के पराजय से वह बहुत क्रोध में आये और उसी दशा में अपने शिष्योंसहित सभा से उठकर चले गये।

शिष्यों के सामने अपमान

शिष्य की असभ्यता

शास्त्रार्थ के बीच में ही माधवराव का एक शिष्य स्वामीजी की ओर हाथ करके उनके लिये कुछ अप-शब्द कह बैठा था। इस पर बलदेवसिंह को इतना आवेश आया कि वह खड़े होगये और कड़क कर बोले कि क्या तुम श्रीमहाराज का अपमान करने आये हो, मेरी उपस्थिति में ऐसा नहीं हो सकता। स्वामीजी माधवराव के शिष्य के असभ्य व्यवहार से तनिक भी धैर्य्यच्युत नहीं हुए। वह गम्भीर जलवत् शान्त रहे। उन्होंने बलदेवसिंह को यह कह कर शान्त कर दिया कि क्यों क्रोध करते हो, यह भी तो हमारा भाई ही है।

स्वामीजी की शान्तिप्रियता

कल आपका खण्डन करूँगा

सभा से जाते समय माधवराव स्वामीजी से कह गये कि मैं कल एक व्याख्यान दूँगा और उसमें आपका खण्डन करूँगा, आप उसमें अवश्य आवें।

स्वामीजी की अद्भुतशक्ति

जो पण्डित शास्त्राभिमानी होकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आता था, स्वामीजी इसी प्रकार उसके उच्चारण और व्याकरण की अशुद्धियाँ और दोष दिखाकर चुप कर दिया करते थे और फिर उसे शास्त्रार्थ करने का साहस ही नहीं रहता था। बम्बई प्रान्त में कई स्थानों पर बगल में पोथियाँ दबा २ कर अनेक पण्डित स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये, परन्तु स्वामीजी को देखकर ही निष्प्रभ होकर बैठ गये। स्वामीजी में न जाने कौनसी ऐसी अद्भुतशक्ति थी, जो साधारण पण्डितों को सामने आते ही नीरव कर देती थी।

अप्रासंगिक व्याख्यान

अगले दिन पंडित माधवराव ने व्याख्यान दिया। स्वामीजी स्वयं तो उसमें नहीं गये, परन्तु पंडित कृष्णराम को उसका वृत्त जानने के लिये भेजदिया। व्याख्यान में पंडित माधवराव ने इधर-उधर की अप्रासङ्गिक बातें कहनी आरम्भ कीं, वेद का कभी कोई और कभी कोई मन्त्र लेकर कहते रहे कि देखो इससे मूर्त्ति-पूजा सिद्ध होती है। स्वामीजी के लिये भी अपशब्द कहने में उन्होंने सङ्कोच नहीं किया।

माधवराव के खण्डन में व्याख्यान

पंडित कृष्णराम ने वापस आकर सारा वृत्तान्त स्वामीजी से कहा। वह उसे सुनकर हँस पड़े। इसके कुछ दिन पीछे स्वामीजी ने उसी धर्म्मशाला में एक वक्तृता दी जिसमें पंडित माधवराव के कथन का खण्डन किया। उसमें नगर के सैकड़ों लोग उपस्थित थे और पंडित माधवराव अपनी शिष्य-मण्डली के सहित व्याख्यान सुनने आये थे। उन दिनों भड़ौच में सेना की छावनी थी और उत्तरीयभारत के रहने वाले सिपाहियों की पलटन वहाँ रहती थी। यह लोग स्वामीजी के व्याख्यानों में आया करते थे और उनके भक्त बनगये थे। यतः स्वामीजी हिन्दीभाषा में व्याख्यान देते और बात-चीत करते थे, उन्होंने समझा था कि स्वामीजी उनके ही देश के मनुष्य हैं। उस दिन के व्याख्यान में सिपाही लोग अच्छी संख्या

शिष्य की फिर असभ्यता

में आये थे। व्याख्यान के बीच में ही पंडित माधवराव के एक शिष्य ने खड़े होकर अण्ड-बण्ड बकना आरम्भ करदिया और लगा स्वामी जी को अपशब्द कहने। ऐसा जान पड़ता था कि जैसे वह मद्य पिये हुए हो और स्वामीजी का अपमान करने का सङ्कल्प करके ही व्याख्यान में आया हो। डिप्टी प्राणलाल भी सभा में उपस्थित थे। उन्होंने उस दुष्ट को

सैनिकों का क्रोध

डाँटा और उसे बिठा दिया। सिपाही लोग भी उसके इस दुष्ट व्यवहार से इतने आवेश में आये कि खड़े होगये और उस पर आक्रमण करने के लिये उद्यत होगये और यदि स्वामीजी उन्हें शान्त न कर देते तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, कि वह उसे विना पीटे न छोड़ते।

उन दिनों भड़ौच का स्टेशन मास्टर एक पारसी था जो रोमन कैथलिक ईसाई

पारसी ईसाई का व्याख्यान

होगया था। व्याख्यान में वह भी उपस्थित था। व्याख्यान की समाप्ति पर उसने खड़े होकर कहा कि मैं मूर्त्ति-पूजा के समर्थन में व्याख्यान दूँगा। स्वामीजी उसे सुनने आवें।

अगले दिन उस ईसाई स्टेशन मास्टर ने उसी धर्म्मशाला में मूर्त्ति-पूजा के समर्थन में एक व्याख्यान दिया। स्वामीजी भी उसके श्रवणार्थ पधारे और अन्य साधारण श्रोताओं की भांति सभा में बैठ गये। इसके कुछ दिन पश्चात् स्वामीजी ने भी उसके कथन के खण्डन में एक वक्तृता दी।

शास्त्रार्थ से नकार

पौराणिक लोग स्वामीजी के मूर्त्ति-पूजा पर किये हुए आक्रमणों से व्याकुल तो बहुत होते थे और चाहते भी थे कि उनका उत्तर भी दिया जाय, परन्तु बेचारे निरुपाय थे। कोई भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये अग्रसर न होता था। वह जिससे भी शास्त्रार्थ करने का अनुरोध करते थे वही किसी न किसी बहाने से शास्त्रार्थ करने से इनकार कर देता था। उन दिनों भड़ौच में अद्वैतानन्द संन्यासी रहते थे जिन की विद्या की बहुत प्रसिद्धि थी और जिनके बहुत से चेले चेलियाँ थीं। लोग उनके पास भी गये कि सम्भव है, वही उनकी कुछ सहायता करें। परन्तु उन्होंने भी यह कह कर कि मैं ऐसे नास्तिक से शास्त्रार्थ नहीं करूँगा उनकी आशा भङ्ग कर दी।

स्त्रियों को उपदेश

एक दिन ऐसा हुआ कि स्वामीजी के उपदेश श्रवण करने की अभिलाषा से बहुत से भार्गव ब्राह्मण और स्त्रियाँ धर्म्मशाला में आईं। स्त्रियों में अधिक संख्या अद्वैतानन्द की चेलियों की थी। स्वामीजी स्त्रियों से वार्त्तालाप नहीं करना चाहते थे, परन्तु उन्होंने विशेष आग्रह और अनुरोध पर उनके और अपने बीच में एक पर्दा डालकर उन्हें उपदेश दिया जिस का सारांश नीचे दिया जाता है:—

स्वामीजी ने उनसे कहा कि पति-सेवा करना ही तुम्हारा धर्म्म है और अपने पतियों से ही उपदेश लेना तुम्हारा कर्त्तव्य है। मन्दिरों आदि स्थानों में आना जाना और साधु संन्यासियों के दर्शनों के लिये इधर-उधर घूमना, स्त्री-जाति के लिये अत्यन्त अनुचित है। स्त्री-जाति का मुख्य धर्म्म पतिसेवा और उत्तम रीति से सन्तति का पालन पोषण ही है।

मुझे शिष्य बनालो

एक दिन ठाकुर उमरावसिंह ने जो स्वामीजी के आगमन दिवस से ही उनकी सेवा शुश्रूषा में तत्पर थे स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज मुझे अपना शिष्य बना लीजिये और मुझे मन्त्र दे दीजिये। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि हम किसी को शिष्य नहीं बनाते हैं। जो हमारे सिद्धान्तों को मानता है, वही हमारा सेवक व शिष्य है और जो लोग हमारे कार्य में सहायक होते हैं, वही हमारे भाई हैं। हमारे पास मन्त्र देने की कोई फुँकनी नहीं है, जिससे हम किसी के कान में मन्त्र फूँकें और मन्त्र तो सारे वेद में हैं ही, हम क्या मन्त्र देंगे?

हम कनफुँकवा गुरु नहीं हैं

एक दिन जेठालाल वकील ने महाराज से कहा कि यदि आप मूर्त्ति-पूजा का मण्डन करने लगें तो हम आप को शङ्कर का अवतार मानने लगें। उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे

ऐसे प्रलोभनों से सत्य को नहीं दबा सकता। उपर्य्युक्त महाशय ने एक दिन स्वामीजी से कहा कि आप की संस्कृत बहुत सरल होती है और पण्डितों की बहुत जटिल। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मेरा उद्देश्य लोगों को समझाना है, न कि अपना पाण्डित्य जताना, फिर मुझे इतना अवकाश कहाँ जो भाषा को जटिल बनाने में अपना समय लगाऊँ।

स्वामीजी अपने कर्म-चारियों को भी विश्राम करने की अनुमति दिया करते थे। एक दिन एक विद्यार्थी उनकी ओर पैर करके सोगया। स्वामीजी ने सब कर्म-चारियों को उपदेश दिया कि तुम जिनसे विद्या ग्रहण करते हो वा जो माननीय व्यक्ति हैं, उनके सामने बिना बुलाये बोलना वा उनकी बातों में बीच में बोलना वा उनकी ओर पैर करके सोना, आर्य-मर्यादा का उल्लंघन करना है। इसे सुनकर विद्यार्थी बहुत लज्जित हुआ और अपने अपराध पर उसने पश्चात्ताप किया।

एक दिन एक विद्यार्थी से स्वामीजी ने कुएँ से जल लाने को कहा, तो उसने तड़क कर उत्तर दिया कि मैं ब्राह्मण हूँ; मेरा काम पानी ढोना नहीं है। स्वामीजी ने उसे समझाया कि गुरु की सेवा करना धर्म है। मुझे भी एक वार गुरूजी की मार खानी पड़ी थी। मेरे सह-पाठी गुरूजी की कृपा देखकर मुझसे द्वेष करते थे। उन्होंने एक दिन गुरूजी से झूठी शिका-यत करदी कि दयानन्द आपके सामने तो विनीत बना रहता है, परन्तु पीछे आपकी नक़ल उतारता है, आँखें बन्द करके लाठी लेकर चलता है और आपकी हँसी उड़ाता है। गुरूजी ने इसे विश्वास कर लिया और मुझे लाठी से पीटा। देखो चोट का चिन्ह अबतक मेरी भुजा पर है।

पण्डित कृष्णराम को एक दिन ज्वर आगया। महाराज स्वयम् उनका सिर दबाने लगे। पण्डितजी ने कहा कि महाराज आप क्या करते हैं, मैं आप से कैसे सेवा करा सकता हूँ। महाराज बोले इसमें कोई हानि नहीं, दूसरों की सेवा करना मनुष्य का धर्म है; यदि बड़े छोटों की सेवा न करेंगे तो छोटों में भी भाव नहीं आयगा।

भड़ौच से स्वामीजी अहमदाबाद चले गये।

अहमदाबाद

११ दिसम्बर की रात्रि में स्वामीजी अहमदाबाद पहुँचे। रेल्वे स्टेशन पर, महीपतराम रूपराम और गोपालराव हरिदेशमुख जज प्रभृति उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी को माणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहराया।

व्याख्यानमाला

१२ दिसम्बर रविवार को स्वामीजी का पहला व्याख्यान हिमाभाई इंस्टिट्यूट में मूर्त्ति-पूजा के खण्डन पर हुआ, दूसरा माणिकेश्वर के मन्दिर में १३ दिसम्बर को वर्णभेद विषय पर और तीसरा १४ दिसम्बर को हुआ।

शास्त्रार्थ का उपक्रम

उन्हीं दिनों प्रार्थना-समाज का वार्षिकोत्सव था, उसके उपलक्ष्य में भी ट्रेनिंग कॉलेज में स्वामीजी की एक वक्तृता हुई। उस सभा में राव बहादुर बेचर-दास अम्बाईदास, राव बहादुर गोपालराव हरिदेशमुख, राव बहादुर भोलानाथ साराभाई, रणछोड़दास छोटेलाल ने यह परामर्श किया कि दयानन्द के साथ शास्त्रियों का शास्त्रार्थ होना चाहिए। तदनुसार उपर्य्युक्त सज्जनों ने अपने हस्ताक्षरों से एक विज्ञापन दिया जिसका अभिप्राय निम्न लिखित था:—

महापुरुष स्वामी दयानन्द यहाँ उपस्थित हुए हैं। उनके साथ वेदप्रतिपादित धर्म्म के

सम्बन्ध में विचार करने के लिये निम्न लिखित पण्डितों को आहूत किया जाता है, पण्डित महोदय १९ दिसम्बर को ट्रेनिंग कॉलेज में पधारें। पण्डित सेवकराम, लल्लूभाई, भास्कर, भाईशङ्कर, भट्ट दामोदर प्रभृति ३० पण्डित आहूत किये गये थे।

शास्त्रार्थ का निमन्त्रण

इस विज्ञापन को पण्डित रेवाशङ्कर शास्त्री, हेड मास्टर फीमेल ट्रेनिंग कॉलेज, शास्त्रियों के पास लेकर गये। पण्डित बापाजी, केशव शास्त्री प्रभृति पण्डितों ने कहा कि चार पुरुष मध्यस्थ होने चाहियें और सभा में किसी यवन का प्रवेश न होना चाहिए। यह दोनों बातें स्वीकार करली गई। सभा आरम्भ होने का समय १ बजे का नियत किया गया था। स्वामीजी नियत समय पर सभास्थल में उपस्थित होगये, परन्तु आहूत पण्डितों में से एक भी न आया। एक दो अन्य ब्राह्मण आये और उन्होंने जो कुछ पूछा उसका स्वामीजी ने उचित उत्तर देकर सन्तुष्ट कर दिया। जब शास्त्री लोग न आये तो स्वामीजी ने जन्मान्तरवाद पर एक वक्तृता दी और सभा विसर्जन हुई।

शास्त्रार्थ की शर्तें

शास्त्रीगण न आये

स्वामीजी के अहमदाबाद आगमन के सम्बन्ध में ४ जनवरी सन् १८७५ ई० के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में इस प्रकार लिखा है:—

"स्वामीजी अहमदाबाद दो सप्ताह से कुछ अधिक रहे। वह एक दिन व्याख्यान देते थे और उससे अगले दिन माणिकेश्वर मन्दिर में जहाँ वह ठहरे हुए थे शङ्का समाधान करते थे। उन्हें न केवल वेदों का विस्तृत ज्ञान है, वरञ्च हिन्दुओं के धर्म्म-ग्रन्थों से भी बहुत बड़ा परिचय है और जैनियों, ईसाइयों और मुसलमानों के धर्म्म ग्रन्थों का भी ज्ञान है। उनके व्याख्यान देने की शैली अत्युत्तम है। इसी कारण से लोग उनकी वक्तृताओं में बड़ी संख्या में जाते हैं और उन्हें पसन्द करते हैं। यहाँ के शास्त्रियों ने यह कह कर कि रमते संन्यासी की बातें की क्या प्रतीति है, उनकी ओर से उपेक्षा की है। शास्त्रियों को जब इनसे वार्त्तालाप करने के लिये बुलाया गया तो कोई भी न गया। जो कुछ बिना बुलाये गये थे, वह एक घण्टे से अधिक उनसे शास्त्रार्थ-चर्चा न करसके। शास्त्री लोग कहते हैं कि दयानन्द के विजय का कारण यह है कि सुधारकदल के पुरुष दयानन्द का पक्ष करते हैं और उनसे सहानुभूति रखते हैं"।

अहमदाबाद से एक दिन के लिये श्रीमहाराज निम्राद गये थे। निम्राद गुजरात देश में हिन्दूधर्म्म का एक सुविख्यात तीर्थ स्थान है और वहाँ पौराणिकों का बड़ा प्राबल्य है।

निम्राद

नोट:—पण्डित लेखरामकृत दयानन्द-चरित्र में लिखा है:—

गोपालराव हरिदेशमुख जज अहमदाबाद का पुत्र जो कि बैरिस्टर है, आनकर स्वामीजी को अहमदाबाद लेगया। फिर लिखा है कि लगभग एक मास स्वामीजी अहमदाबाद में रहे। यह दोनों ही बातें अयथार्थ हैं। स्वामीजी बम्बई से पहले सूरत गये और वहाँ से अहमदाबाद, जहाँ वह दो सप्ताह के लगभग ठहर कर भड़ौच चले गये। उक्त पुस्तक में सूरत और भड़ौच की यात्रा का कोई उल्लेख नहीं है।

पञ्चादश अध्याय

पौष कृष्णा ५ संवत् १९३१ अर्थात् २८ दिसम्बर सन् १८७४ ई० को स्वामीजी अहमदाबाद से राजकोट चले गये।

जब स्वामीजी अहमदाबाद से राजकोट चले गये तो एक लेखक ने ७ जनवरी सन् १८७५ के 'हितेच्छु' में इस प्रकार लिखा था:—

अहमदाबाद में स्वामी जी का प्रभाव

"पण्डित दयानन्द ने अपने थोड़े दिन के निवास में ही अहमदाबाद वालों को विशेषकर शिक्षित समुदाय को आश्चर्यान्वित और आल्हादित करदिया था। आश्चर्यान्वित इस लिये कि उन्होंने अपने देश गुजरात में किसी शास्त्री को हिन्दूधर्म्म की ऐसी योग्यता और बुद्धिमत्ता से व्याख्या करते देखा वा सुना नहीं था, जैसी कि विद्वान् पण्डित दयानन्द ने की थी और आल्हादित इस लिये कि पवित्र वेदों की दयानन्दकृत व्याख्या उनके विचारों के अनुकूल थी जो उन्होंने स्वयम् इस विषय में निर्धारित किये थे। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित दयानन्द का संस्कृतसाहित्य का ज्ञान अति विशाल है। मूर्त्ति-पूजकों की लोभमय और असद्भावपूर्ण संस्थाओं की जो धर्म्म के मिष से लोगों को भिक्षुक बना रही हैं, बुराइयों

उसी पुस्तक में लिखा है: —"अहमदाबाद का एक भाटिया रईस स्वामीजी को स्टेशन पर लेने आया था, जो बहुत बड़ा धनाढ्य था, यहाँ तक कि उसने दो तीन लाख रुपया लगा कर अपना मन्दिर बनाया था। मार्ग में उसने स्वामीजी से अपने मन्दिर की प्रशंसा करनी आरम्भ की। स्वामीजी ने उसके उत्तर में खेद प्रकट किया और गाड़ी में हाथ मार कर कहा कि इतना रुपया तुमने एक पत्थर पर लगाया, यदि किसी पाठशाला पर लगाते तो वेद के पढ़े हुए ब्राह्मण जगत् को लाभ पहुँचाते। ऐसी ही मूर्खता के कारण हम लोगों की यह दुर्दशा हो रही है, कि वेद जर्मनी से आते हैं तब पढ़ने को नसीब होते हैं।

उसने कहा कि मैं प्रतिमा सिद्ध करा दूँगा। उसने मल्हारराव राजा से यह बात कही और पण्डित बुलाये और एक जज के बाग़ में जहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे, शास्त्रार्थ की ठहरी। दो ढाई सौ पण्डित इकट्ठे हुए, ५ ६ घण्टे तक शास्त्रार्थ होता रहा। अन्त को जब वह लोग प्रतिमा सिद्ध न कर सके तो उल्टे गालियाँ देने लगे। तब गोपालराव हरिदेशमुख जज व भोलानाथ (सारा) भाई ने कहा कि ज्ञात हुआ कि प्रतिमा-पूजा का वर्णन वास्तव में वेद से तो सिद्ध नहीं होता मानना न मानना अपनी इच्छा रही।"

यह सारा ही वृत्तान्त ठीक नहीं है, न तो स्वामीजी अहमदाबाद में किसी जज के बाग़ में ठहरे और न उनके स्थान पर २००-२५० पण्डित इकट्ठे हुए। यदि ऐसा हुआ होता तो तत्कालीन किसी समाचार पत्र में ऐसी बड़ी घटना का अवश्य उल्लेख होता। 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में केवल उसी घटना का उल्लेख है, जिसमें राव बहादुर महीपतराम रूपराम आदि ने ३० शास्त्रियों को विज्ञापन देकर बुलाया था और वह नहीं आये थे। उस भाटिया रईस का नामोल्लेख भी नहीं है और न यह ज्ञात है कि जब स्वयम् राव बहादुर गोपालराव हरिदेशमुख का पुत्र स्वामीजी को बम्बई से अहमदाबाद लिवा कर लाया था तो वह भाटिया रईस स्टेशन पर कैसे पहुँचा और स्वामीजी गोपालराव की गाड़ी में न सवार होकर उसकी गाड़ी में क्यों सवार हुए। हमें यह सारी ही घटना ठीक नहीं प्रतीत होती। —संग्रहकर्त्ता.

को और बाल-विवाह, जातिभेद आदि के दोषों को खोलकर वर्णन करना उन लोगों के हृदयों पर सदा के लिये अङ्कित रहेगा, जिन्हें उनके व्याख्यानों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। निस्सन्देह पण्डित दयानन्द ही ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी हिन्दुओं की वर्तमान अधःपतित अवस्था के लिये आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि यदि उन सरीखे बहुत से मनुष्य देश में सर्वत्र घूम कर, सत्य धर्म्म का प्रचार करते और खान, पान, स्नान, व्रत के सम्बन्ध में मूर्खतायुक्त विचारों का जिन्हें धर्म्म का, अङ्ग माना जाता है, खण्डन करते तो भारतवर्ष वैसा न होता जैसा कि अब है, अर्थात् निर्बल शरीर और निर्बल बुद्धि वाले मनुष्यों की जाति न होता।

"मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि इस स्थान के शास्त्रियों ने अपने नगर में स्वागत करने के बदले उनके आगमन को शत्रु का आगमन समझा। उनको चाहिये था कि जब पण्डित दयानन्द को बुलाया गया था तो उनके पास जाते और जिन बातों पर मतभेद था, उनपर शास्त्रार्थ करते और यह स्मरण रखते कि इस पृथ्वी पर कोई भी निर्भ्रान्त नहीं है और यह संभव है कि वह स्वयं वा पण्डित (दयानन्द) ही भ्रमयुक्त हों। परन्तु शास्त्रीगण न केवल स्वयम् ही दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ करने से बचते रहे, बल्कि उन लोगों को भी दयानन्द के व्याख्यान सुनने जाने से रोकने का यत्न करते रहे जिनकी उनकी विद्या में कुछ श्रद्धा थी और यह कहते रहे कि दयानन्द क्रिस्तान वा ब्राह्मसमाजी हैं। परन्तु उनकी यह चाल सफल न हुई। जब उन्होंने यह देखा कि जनता उनका ही उपहास और निरादर करती है, तब उन्होंने दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का साहस किया, परन्तु उनके हास्यजनक प्रश्नों और युक्तियों से उनकी वह बुरी गति हुई कि मिस्टर रणछोड़भाई के समान जो थोड़े बहुत उनके प्रशंसक भी थे, यह कहने लगे कि इससे तो यही अच्छा होता कि यह लोग अपने घर बैठे रहते। इस प्रकार शास्त्रियों ने जनता की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा खो दी। यदि उनमें प्रतीति का कुछ भी लवलेश है तो उन्हें पण्डित दयानन्द के सम्मुख होने की तैयारी करनी चाहिये। जब वह राजकोट से फिर वापिस आवें तो दयानन्द के सिद्धान्तों को असत्य सिद्ध करके, अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा वापस करनी चाहिये। परन्तु यदि शास्त्रीगण ऐसा करसकें तो संसार में यह दशवाँ आश्चर्य होगा।

"जिन बुराइयों से हमारा वर्तमान हिन्दू-समाज हानि उठा रहा है, उन्हें दूर करने के हेतु पण्डित दयानन्द ने आर्यसमाज और वैदिक पाठशाला स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। इससे तो इनकार नहीं हो सकता कि इन दोनों संस्थाओं के बहुत बड़े लाभ हैं, परन्तु मेरे विचार में अहमदाबाद के लोग अभी तक अपने जातिगत पूर्व संस्कारों को तिलाञ्जलि देने और एक समाज में सम्मिलित होने पर उद्यत नहीं हैं।"

अहमदाबाद में स्वामीजी ने स्वामीनारायण मत का खण्डन किया और स्वामीनारायणमत-खण्डन नामक पुस्तक रची।

स्वामीजी का विचार बड़ौदा जाने का था, परन्तु वहां ब्रिटिश सरकार ने बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ को वहाँ के रेजिडेंट कर्नल फेयर 'Phayer' को विष देकर मार डालने का यत्न करने के अपराध में जनवरी सन् १८७५ में पकड़कर सिंहासनच्युत कर दिया था और वहाँ बहुत गड़बड़ होरही थी, अतः स्वामीजी ने वहाँ जाने का विचार शिथिल कर दिया और सीधे अहमदाबाद को लौट गये।

स्वामीजी २८ दिसम्बर को अहमदाबाद से राजकोट जाने के लिये रवाना हुए और ३१ दिसम्बर को वहाँ पहुँचकर कैम्प की धर्मशाला में ठहरे। स्वामी जी राजकोट हरगोविन्ददास द्वारकादास के उद्योग से गये थे और उन्होंने उनके आहार व मार्ग-व्यय के लिये चन्दा एकत्रित करके सब प्रबन्ध किया था।

राजकोट

स्वामीजी के उसी धर्म्मशाला में ८ व्याख्यान निम्न विषयों पर हुए। पहला, ईश्वर विषय पर; दूसरा, धर्मोदय पर; तीसरा, वेदों के अनादित्व और अपौरुषेयत्व पर; चौथा, पुनर्जन्म पर; पाँचवा, विद्या अविद्या पर; मुक्ति और बन्ध पर; छठा व सातवाँ, आर्य्यों के इतिहास पर और आठवाँ, कर्त्तव्य पर। एक दिन व्याख्यान होता था और अगला दिन शङ्कासमाधान के लिये रक्खा जाता था, ताकि जिस किसी को कोई सन्देह हो उसे निवृत्त करले अथवा किसी को कुछ पूछना हो तो पूछले।

८ व्याख्यान

व्याख्यानों के विषय स्वामीजी ने स्वयम् निश्चित नहीं किये थे। जिस जिस विषय पर लोगों ने स्वामीजी के मन्तव्य सुनने चाहे, उसी-उसी विषय पर उन्होंने व्याख्यान देना स्वीकार किया था। वेदविषयक व्याख्यान अपूर्व ढंग का था। उसके विषय में हरगोविन्ददास कहते हैं,—"उस दिन हमें स्वामीजी की विद्वत्ता, गम्भीर चिन्तन और सूक्ष्म विचार का परिचय मिला। मैंने ऐसी वक्तृता कभी नहीं सुनी"।

ऐसी वक्तृता कभी नहीं सुनी

महाराज के उपदेशों से लाभ उठाने अनेक लोग उनके पास आते थे। कोई कोई किसी विषय पर वाद-प्रतिवाद भी करते थे। एक दिन पण्डित महीधर और जीवनराम शास्त्री उनके साथ मूर्त्ति-पूजा और अद्वैतवाद पर शास्त्रार्थ करने आये। पण्डित महीधर ने पहले मूर्त्ति-पूजा सिद्ध करने का प्रयास किया, परन्तु स्वामीजी ने शीघ्र ही उन्हें निरुत्तर कर दिया। फिर उन्होंने वेदान्त विषय पर बात-चीत की। स्वामीजी ने उनसे कहा कि यदि आप ब्रह्म हैं तो अपने शरीर के साढ़े तीन करोड़ लोमों में से एक को उखाड़ कर पुनः स्थापित कर दीजिये। ब्रह्म सर्वज्ञ और आप अल्पज्ञ हैं, फिर आप ब्रह्म कैसे होसकते हैं। इस पर पण्डित महीधर कुछ न कहसके और निरुत्तर होगये।

शास्त्रार्थ

ब्रह्म हो तो अपने शरीर का एक लोम तो बनादो

राजकोट में काठियावाड़ के राजाओं के पुत्रों की शिक्षा के लिये राजकुमार कॉलेज है। उसके छात्र स्वामीजी के व्याख्यानों को बड़ी रुचि से सुनने आया करते थे और उन्हें बहुत पसन्द करते थे। एक दिन कुछ राजकुमारों ने महाराज से कॉलेज में पधारने और व्याख्यान देने की प्रार्थना की। महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार किया। कॉलेज में जाकर उन्होंने 'अहिंसा परमो धर्मः' का उपदेश दिया और मांसभक्षण के दोष इस ढङ्ग से दिखाये कि कॉलेज के प्रिंसिपल मेकनाटेन साहब सुनकर चकित रह

राजकुमार कालेज में व्याख्यान

प्रिंसिपल चकित

गये। उन्हें स्वामीजी के कथन के विरुद्ध कोई युक्ति न सूझ सकी, उन्हें केवल एक बात कहने को मिली। स्वामीजी ने कहा था कि मांसभक्षण पाप है। इस पर प्रिंसिपल महोदय ने व्यङ्गपूर्ण स्वर में उनसे कहा कि यदि मांसाहार पाप है तो यह सब राजकुमार मांसाहारी होने के कारण नरक में जायँगे। किसी भी ईसाई के मस्तिष्क में यह बात सहसा नहीं पैठ सकती कि मांसाहार और प्राणिहिंसा पापकर्म है। यदि मांस बिना हिंसा के प्राप्त होसकता और उसमें अन्य दोष न होते तो आर्य्य शास्त्र उसे हेय न ठहराते। पाप तो हिंसा में है, न कि मांसाहार में, और हिंसा भी यदि लोक हित की दृष्टि से अनिवार्य्य हो तो वह भी उपेक्षणीय होजाती है। स्वामीजी ने यही उत्तर उन्हें दिया कि जिस समय आर्य्य लोग भारतवर्ष के वन जङ्गलों को काट कर अपनी बस्तियाँ और खेतियाँ बढ़ारहे थे तो सिंह आदि हिंस्र जन्तु उनके पशुओं का और स्वयं उनका प्राण नाश करते थे और मृगादि जीव उनकी खेतियों को हानि पहुँचाते थे तो आर्य्य-ऋषियों ने उक्त प्राणियों का शिकार करना क्षत्रियों के लिये विहित करदिया था, क्योंकि बिना उसके उनके प्राण, धन, धान्य और पशुओं की रक्षा नहीं होसकती थी। जो बात कर्त्तव्य होती है उसमें पाप नहीं होता। प्रिंसिपल महोदय इस उत्तर को सुनकर निरुत्तर और अवाक् हो गये। वह स्वामीजी के वार्त्तालाप और व्याख्यान से इतने सन्तुष्ट हुए कि अपनी कृतज्ञता और प्रसन्नता प्रकट करने के निमित्त स्वामीजी के विदा होते समय उन्होंने मैक्समूलर सम्पादित ऋग्वेद उनकी भेट किया।

क्या सब राजकुमार नरक में जायँगे ?

मृगया क्षत्रियों के लिये विहित है

ऋग्वेद का पुस्तक उपहार में

उस समय स्वामीजी वेदसंहिता की प्रामाणिकता पर ही बल देते थे, और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रामाणिकता केवल उसी अंश तक स्वीकार करते थे, जिस तक वह वेदानुकूल सिद्ध हों। अपने व्याख्यानों में वह शतपथ ब्राह्मण के वचन बहुधा उद्धृत किया करते थे।

घोर आन्दोलन

स्वामीजी के राजकोट आने से प्रायः दो वर्ष पहले से राजकोट में प्रार्थना-समाज स्थापित था। वहाँ के अनेक सुशिक्षित सज्जन उसके सदस्य थे, हर-गोविन्ददास द्वारकादास उसके मन्त्री थे। स्वामीजी के व्याख्यानों से राजकोट में घोर आन्दोलन उपस्थित होगया था। प्रार्थना-समाज के सदस्य तथा अन्य शिक्षित पुरुष महाराज के उपदेशों की ओर विलक्षण रूप से आकर्षित होगये थे।

आर्यसमाज स्थापित करने का प्रस्ताव

स्वामीजी ने यह प्रस्ताव किया कि राजकोट में आर्य्यसमाज स्थापित किया जाय और प्रार्थना समाज को ही आर्य्यसमाज में परिणत कर दिया जाय। प्रार्थना-समाज के सभी लोग इस प्रस्ताव से सहमत होगये। वेद के निर्भ्रान्त होने पर किसीने आपत्ति नहीं की। स्वामीजी के दीप्तिमय शरीर और तेजस्विनी वाणी का लोगों पर अयस्कान्त (चुम्बक) जैसा प्रभाव पड़ता था, वह सब को नतमस्तक करदेता था। आर्य्यसमाज स्थापित होगया,

आर्यसमाज स्थापित होगया

मणिशङ्कर जटाशङ्कर और उनकी अनुपस्थिति में उत्तमराम निर्भयराम प्रधान का कार्य करने के लिये और हरगोविन्ददास द्वारकादास और नगीनदास ब्रजभूषणदास मन्त्री का कर्त्तव्य पालन करने के लिये नियत हुए।

आर्यसमाज के नियम

स्वामीजी ने आर्य्यसमाज के नियम बनाये, जो मुद्रित करालिये गये। इनकी ३०० प्रतियाँ तो स्वामीजी ने अहमदाबाद और बम्बई में वितरण करने के लिये स्वयम् रखलीं और शेष प्रतियाँ राजकोट और अन्य स्थानों में बाँटने के लिये रखली गई जो राजकोट में बाँटदी गई और गुजरात, काठियावाड़ और उत्तरीय भारत के प्रधान नगरों में भेज दी गई। उस समय स्वामी जी की यह सम्मति थी कि प्रधान आर्य्यसमाज अहमदाबाद और बम्बई में रहें। आर्य्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन प्रति आदित्यवार को होने निश्चित हुए थे।

१६ जनवरी सन् १८७५ को हरगोविन्ददास द्वारकादास ने एक पत्र रा. रा. गोपालराव हरिदेशमुख को अहमदाबाद भेजा था। उसमें आर्य्यसमाज के विषय में निम्न प्रकार लिखा था:—

राजकोट में एक समाज स्थापित हो गया है, जिसके अधिवेशन प्रति रविवार को हुआ करेंगे और उसमें स्वामीजी के सिद्धान्तों पर विचार हुआ करेगा, ताकि यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र आर्य्यसमाज स्थापित किया जाय। ...... स्वामीजी की नियोग और ब्रह्मचर्य्य विषयक सम्मतियों पर इस समय कार्य्य नहीं हो सकता। इनसे इस समय में सुधारक प्रायः सहमत न होंगे। यदि स्वामीजी से एक दर्जन पुरुष भी हों तो भारत का अभ्युत्थान बहुत ही निकट आजायगा। ...... यदि नियोग आदि विषयों पर लोग सहमत न होंगे तो स्वामीजी उन्हें छोड़ने पर उद्यत हैं ......।

भ्रान्त सम्मति

नोट—जिस समाज का पत्र-लेखक ने उल्लेख किया है, वास्तव में वही आर्यसमाज था और स्वामीजी ने उस ही के लिये नियम बनाये थे और वैसे ही समाज वह अहमदाबाद और बम्बई में स्थापित करना चाहते थे। हरगोविन्ददास ने सम्भव है यह समझा हो कि चूँकि कुछ लोग स्वामीजी की नियोगविषयक सम्मति से सहमत नहीं हैं अतः अन्य समाज के स्थापित करने की आवश्यकता होगी जिसके सदस्य स्वामीजी की समस्त सम्मतियों को स्वीकार करने वाले होंगे।

हरगोविन्ददास का यह भी भ्रम था कि स्वामीजी किसी कारण से भी अपने सिद्धान्तों को जिन्हें वह वेदमूलक समझते थे छोड़ने पर उद्यत होंगे। यदि वह ऐसा करने पर उद्यत होते तो वह अपने व्यक्तित्व को खो बैठते, आज एक की और कल दूसरे की सम्मति के अनुसार सिद्धान्त परिवर्तन करते रहते और वायुगति-परिचायक मुर्गे के समान जिस ओर का वायु चलता उसी ओर को देखने लगते। ऐसी ढुलमुल नीति रखते हुए उनका कौन विश्वास करता और उनके अनिश्चित सिद्धान्तों की ओर किसकी श्रद्धा होती? हम ऐसी सब बातों को, चाहे उनके कहने वाले कैसे ही उच्चपदस्थ व्यक्ति हों, महाराज के शुभ्रचरित्र पर मिथ्या दोषारोपण समझते हैं। सम्भव हो सकता है कि किन्हीं ने भ्रम में पड़कर यह समझ लिया हो कि स्वामीजी उनके आग्रह पर, उनकी बातों को मानने पर उद्यत हो

एक लेखक ने २१ जनवरी सन् १८७५ के 'हितेच्छु' नामक समाचार-पत्र में लिखा था,—"राजकोट के शिक्षित समुदाय के अधिकांशों ने स्वामीजी के सिद्धान्तों को प्रायः स्वीकार कर लिया है। कुछ लोगों ने नियोग-प्रथा का अनुमोदन नहीं किया और इस बात को भी पसन्द नहीं किया कि ४८ वर्ष के प्रौढ़ पुरुष के साथ ३० वर्ष की स्त्री का पाणिग्रहण होने से अधिक परिमाण में ब्रह्मचर्य्य बल की रक्षा होगी।"

संवाददाता की सम्मति

उसी पत्र के उसी लेख में यह भी लिखा है कि नियम मुद्रित होने के पश्चात् राजकोट के बन्धुओं ने उन पर विचार किया और उन्हें ग्रहण करके वह आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हुए। सदस्यों की संख्य ३० थी।"

राजकोट का आर्य्यसमाज ही वास्तव में भारतवर्ष का सबसे पहला आर्य्यसमाज था।

आर्य्यसमाज राजकोट का काम ५-६ मास तक चलता रहा, परन्तु फिर एक अप्रत्याशित कारण से उसका कार्य्य बन्द हो गया। वह विश्रृङ्खला यह थी कि उस समय बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ की राज्यच्युति पर घोर आन्दोलन हो रहा था। धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख सभी का चित्त उस समय आलोडित हो रहा था और हर जगह उसी का चर्चा थी।

आर्य्यसमाज का कार्य्य बन्द होगया

स्वामीजी के राजकोट से चले जाने के कुछ दिन पीछे पण्डित गट्टूलालजी शतावधानी राजकोट आये। उनकी असाधारण स्मरणशक्ति की परीक्षा करने के लिये एक दिन उन्हें आर्य्यसमाज में बुलाया गया और उनसे विविध विषयों पर तत्क्षण कविता करने के लिये अनुरोध किया गया। कविता के विषयों में एक विषय महाराज मल्हारराव की सिंहासनच्युति भी थी। पण्डित गट्टूलाल ने सभी विषयों पर तुरन्त शुद्ध और सुललित भाषा में कविता करके सबको चकित कर दिया। आर्य्यसमाज के मन्त्री नगीनदास ने हरगोविन्ददास की सम्मति से उस सभा का आद्योपान्त सविस्तर विवरण 'बम्बई गजट' और 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में अपने नाम से मुद्रित होने के लिये भेज दिया। उनमें से एक समाचार पत्र में तो वह प्रकाशित होगया, परन्तु दूसरे पत्र में उसका प्रकाशन तार भेज कर रोक दिया गया। प्रशंसित दोनों सज्जनों में से नगीनदास वकील और हरगोविन्ददास सरकारी कर्मचारी थे।

पण्डित गट्टूलाल की कविता

सभा का विवरण समाचार पत्र में

जायंगे, परन्तु यदि किसी ने ऐसा समझा भी हो तो उनकी भारी भूल थी। और इस बात को तो हम एक क्या, सौ और सहस्र मनुष्यों के कहने पर भी मानने को उद्यत नहीं हो सकते कि स्वामीजी प्राइवेट में कुछ और प्रकट में कुछ कहते हों। दयानन्द का बाहर भीतर एकसा था, उनके हृदयवक्ष में उलटा सीधा रुख़ नहीं था। उनका सारा जीवन निष्कपटता और सत्यपरायणता का जीवन था और यह उनके चरित्र के सर्वोज्ज्वल गुण थे। जो कोई इसके विरुद्ध कहता है वह सूर्य्य पर धूलि फेंकता है। —संग्रहकर्त्ता.

इस समय काठियावाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट मिस्टर जेम्स पील (Mr. James Piel) थे। उन्होंने वह मुद्रित लेख पढ़ा। उसे पढ़ कर वह इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने नगीनदास से कुछ पूछताछ किये बिना ही उन्हें वकालत से पदच्युत कर दिया। पीलं साहब ने हरगोविन्ददास को बुलाकर समझाया कि यद्यपि तुमने जो कुछ किया वह सद्भाव से प्रेरित होकर किया था, परन्तु तुम्हें ऐसा करना उचित न था। आर्यसमाज के दूसरे मन्त्री निर्भयराम भी सरकारी कर्मचारी थे। पूना की सार्वजनिक सभा और 'अमृत बाजार पत्रिका' कलकत्ता के सम्पादक ने उक्त लेख लिखने के लिये तार द्वारा उत्साहित किया था। हरगोविन्ददास तो इतने भयभीत हुए कि उन्होंने आर्यसमाजसम्बन्धी कागजात किसी दूसरे स्थान पर भेज दिये। आर्यसमाज में योग देना तो अलग रहा, वह आर्य्यसमाज के नाम तक से घबराने लगे। इन्हें इस प्रकार भीत और त्रस्त देख कर अन्य सदस्य अपने आप ही समाज से अलग होगये और आर्य्यसमाज का अस्तित्व लुप्त होगया।

पोलिटिकल एजेन्ट का क्रोध

आर्य्यसमाज के अधिकारी दण्डित और भयभीत

आर्य्यसमाज टूट गया

नगीनदास ने बम्बई जाकर अनेक यत्न किये और बड़े-बड़े अंग्रेज अफ़सरों से मिले, तब कहीं जाकर वह अपने पद पर पुनः प्रतिष्ठित हुए।

उन दिनों राजकोट में काठियावाड़ के राजगण का एक सम्मेलन हुआ था, उसके सम्बन्ध में जूनागढ़ के दीवान मिस्टर गोकुलजी झाला राजकोट आये थे। वह स्वामीजी से भी मिले थे और उनसे धार्म्मिक विषयों पर वार्त्तालाप किया था। कहते हैं कि एक दिन स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में किसी उपनिषद्-वाक्य का स्वामी शङ्कराचार्य्य से भिन्न अर्थ किया था, इस पर दीवान साहब ने आपत्ति की तो स्वामीजी ने विनोद के ढंग पर कहा कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भाँग पीकर वैसा अर्थ किया है। दीवान साहब ने भी उसी ढंग से उत्तर दिया कि कौन जानता है कि आप भी भाँग पीकर ऐसा अर्थ नहीं कर रहे ?

स्वामीजी और दीवान का उत्तर-प्रत्युत्तर

राजकोट में स्वामीजी का फ़ोटो लिया गया था और आर्यसमाज के सदस्यों ने बड़े चाव से उसकी प्रतियाँ ली थीं।

स्वामीजी का फ़ोटो लिया गया

एक व्याख्यान में स्वामीजी ने यह भी कहा था कि प्राचीन समय में धूम्रयान (भाप से चलने वाला यान) भारतवर्ष में था। अमेरिका प्राचीन आर्य्यों को ज्ञात थी और अर्जुन ने वहाँ की राजकुमारी से विवाह किया था। अतः यह कहना कि पहली-पहल कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, ठीक नहीं है।

प्राचीन काल के विज्ञान

१८ जनवरी सन् १८७५ को स्वामीजी ने राजकोट से अहमदाबाद के लिये प्रस्थान किया और राजकोट से अहमदाबाद जाते हुए मार्ग में एक दिन बडोयान में लखतर के ठाकुर साहब के उतारे में ठहरे।

अहमदाबाद

२१ जनवरी सन् १८७५ को स्वामीजी राजकोट से अहमदाबाद आये और एक अति मनोहर वक्तृता दी जिसका सारांश यह है:—

वक्तृता का सारांश

आर्य्यों की आपस की फूट और ब्राह्मणों के स्वार्थ के कारण कि उन्होंने दूसरे वर्ण के लोगों को वेद नहीं पढ़ाये, हमारे धर्म्म के इतने खण्ड हो गये हैं कि अब यह जानना कठिन हो गया है कि उनमें से कौन ठीक है। लोग कुछ ऐसे भूले कि मूर्त्तियों के आगे, यह समझ कर कि ब्राह्मणों ने मन्त्रों के द्वारा उनमें देवताओं का आवेश कर दिया है और उनमें सच्चे ईश्वर का निवास है, मस्तक अवनत करने लगे। वही लोग अपने कार्य्यों में सफल होते हैं, जिनका एक, अनादि, अजर, अमर, निराकार ईश्वर में विश्वास होता है। वह अपने धर्म्म के विस्तार के उपायों को फैलाते हैं, उनके मन एक दूसरे से मिल जाते हैं, आपस में प्रेम की वृद्धि होती है और धर्म्म का अभिमान आजाता है। वह एक दूसरे की प्रत्येक सम्भव उपाय से सहायता करते हैं। देखो अंग्रेज़ भारतवर्ष में और संसार के अन्य भू-भागों में कितने शक्तिशाली हैं। इस का कारण उनके मनों का मिलना और एक धर्म्म का होना है।

जब हमारे सब आर्य्य लोग वेद को सर्वोपरि और प्रामाणिक समझ कर चलेंगे और हमारे मन मिल जावेंगे तो हम सारे संसार को वेद मन्त्रों के निनाद से निनादित कर देंगे। देखो जब सब आर्य्यों का एक मत था, उस समय जब सिकन्दर आया था तो एक मनुष्य ने उससे जाकर कहा था कि मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर लीजिये। ऐसे ही जब महमूद ने सोमनाथ पर आक्रमण किया था तो एक मनुष्य ने उससे जाकर कहा था कि मैं तुम्हें सोमनाथ का सुगम से सुगम और निकट का मार्ग बता सकता हूँ। इस प्रकार वह महमूद और उसकी सेना को सिन्ध की मरु-भूमि में लेगया जहाँ कि महमूद के अनेक सैनिक मरगये और वह स्वयम् भी प्यास के मारे अधमरा होगया।

दूसरा व्याख्यान

इसके पश्चात् स्वामीजी ने बाल-विवाह पर कथन किया कि लोग १०-१० वर्ष के बालक और बालिकाओं का विवाह कर देते हैं, जो समय कि उनकी शिक्षा का होता है। वह सदा मूर्ख रहते हैं और जन्मभर अपने माता-पिता को कोसते रहते हैं। ऐसे विवाहित बालकों से क्या उपकार हो सकता है।

आर्य्यसमाज स्थापित करने का उपक्रम

तत्पश्चात् अनेक दृष्टान्त देकर महाराज ने अहमदाबाद में आर्य्यसमाज स्थापित करने का प्रस्ताव किया और मुद्रित नियम पढ़कर सुनाये, जिन्हें सब लोगों ने पसन्द किया और २७ जनवरी सन् १८७५ का दिन इस अभिप्राय के लिये नियत हुआ कि जिसको कोई सन्देह हो वह उसे निवृत्त करले।

२७ जनवरी को राव बहादुर विट्ठलदास के गृह पर एक सभा हुई जिसका उद्देश्य स्वामीजी की विदासूचक संवर्द्धना करना और आर्य्यसमाज-स्थापन के विषय में परामर्श करना था।

सभा में बेचरदास अम्बाईदास, गोपालराव हरिदेशमुख, भोलानाथ साराभाई, अम्बालाल सागरलाल प्रभृति महानुभाव उपस्थित थे। इनके अतिरिक्त शास्त्रीगण भी थे जिनमें से कुछ के नाम यह हैं—शास्त्री सेवकराम, लल्लूभाई बापूजी, भोलानाथ भगवान्।

इनके अतिरिक्त कई पादरी भी उपस्थित थे।

शास्त्रीगण कहते थे कि मूर्त्ति-पूजा हमारे शास्त्रों के अनुकूल है। इस पर बेचरदास

शास्त्रार्थ के लिये आह्वान

अम्बाईदास ने उनसे कहा कि स्वामीजी आपसे शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, आप उनसे शास्त्रार्थ क्यों नहीं कर लेते। परन्तु शास्त्री लोग इस पर सहमत नहीं हुए। उनसे शास्त्रार्थ न करने का कारण पूछा गया। उन्होंने कहा कि स्वामीजी ने—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ (यजु० ३३।४३)

वेदमन्त्र का अर्थ अशुद्ध किया है। इस पर सब लोगों ने पण्डितों से अपना अर्थ करने का अनुरोध किया और कहा कि यह प्रतिपादित करो कि स्वामीजी ने भूल की है और आप का अर्थ ठीक है। अपने किये हुए अर्थों के नीचे अपने हस्ताक्षर कर दो। इस पर कुछ पण्डित तो सहमत होगये और उन्होंने अर्थ करके उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिये और कुछ इस पर भी सहमत न हुए। स्वामीजी ने भी उक्त मन्त्र के अर्थ करके उस पर हस्ताक्षर कर दिये।

वेद मन्त्र का अर्थ

स्वामीजी के किये अर्थ:—

(आकृष्णेन) आकर्षणात्मना (रजसा) रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा (रथेन) रमणीयेन (देवः) द्योतनात्मकः (सविता) प्रसवकर्त्ता वृष्ट्यादेः (मर्त्यं) मर्त्यलोकं (अमृतम्) औषध्यादि रसं (निवेशयन्) प्रवेशयन् (भुवनानि पश्यन्) दर्शयन् (याति) रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन।

(सविता) सर्वस्य जगत उत्पादकः (देवः) सर्वस्य प्रकाशकः (मर्त्यं) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (अमृतम्) सत्योपदेश रूपं (निवेशयन्) प्रवेशयन सर्वाणि (भुवनानि) सर्वज्ञतया (पश्यन्) सन् (आकृष्णेन) सर्वस्याकर्षण स्वरूपेण परमाणूनां धारणेन वा (रथेन) रमणीयेनानन्दस्वरूपेण वर्त्तमानः सन् (याति) धर्म्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः।

संवत् १९३१ पौष वदि षष्ठी बुधवार ७ काल, ४० मिनिट सही सम्मतिरत्र दयानन्द सरस्वतीस्वामिनः।

शास्त्रियों के किये अर्थ:—

(आकृष्णेन) ईषत्कृष्णेन (रजसा वर्तमानः) सहितः (सविता देवः) सूर्य्यः (अमृतं) स्वर्गं (मर्त्यं) भूलोकं (निवेशयन्) स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् (हिरण्ययेन रथेन) स्यन्दनेन (भुवनानि पश्यन् याति) गच्छति।

सही—लल्लुभाई बापू शास्त्रिणः संम्मतोऽयमर्थः
शास्त्री सेवकराम रामनाथ
सम्मतिरत्र भास्करशास्त्रिणः
सम्मतिरत्र अमृतरामशास्त्रिणः

इसके पश्चात् स्वामीजी ने एक वक्तृता दी जिसमें कहा कि सबको वेदों का अनुसरण करना चाहिये।

स्वामीजी का अर्थ ठीक है

गोपालराव हरि, भोलानाथ, अम्बालाल आदि ने दोनों के अर्थों को देख और समझकर कहा कि शास्त्री अविवेकी और दुराग्रही हैं। स्वामीजी का किया अर्थ ही ठीक है।

अकारण द्वेष

इस मन्त्र का जो अर्थ स्वामीजी ने किया था, उस पर उन निष्कारण वैरी पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री ने बहुत आक्षेप किया और उसे अशुद्ध बताया था। उसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपने एक पत्र में संवत् १९३१ फाल्गुन शुक्ला ९ को गोपालराव हरिदेशमुख को लिखा था कि उस विष्णु शास्त्री के विषय में एक बानगी लिखते हैं कि ऐसी मूर्खता कोई विद्यार्थी भी नहीं करेगा।

विष्णुशास्त्री के अर्थों की अशुद्धि

"ऋ गतिप्रापणयोः," इस धातु से रथ शब्द सिद्ध होता है, "रमु क्रीडायाम्," इस धातु से नहीं, इससे यह अर्थ निर्युक्ति और निर्मूल है। स्वामीजी ने लिखा है कि पाणिनिमुनिरचित उणादिगण सूत्र प्रमाण—

'हनि-कुषि-नी-रमि-काशिभ्यः क्थन्' । हयः, कुष्ठः, निथः, रथः, काष्ठम् । यास्को निरुक्तकारः--रथो रंहतेर्गतिकर्मणः इत्यत्र रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वेति ॥

इससे 'रम' धातु से ही रथ शब्द सिद्ध होने से "रमणीयो रथो रमतेऽस्मिन्निति वा"।

इन प्रमाणों को देखते हुए कौन कह सकता है कि विष्णुपरशुराम शास्त्री ने स्वामीजी पर रथ शब्द की निरुक्ति को अशुद्ध कहकर अपने नाम और विद्वत्ता को कलङ्कित नहीं किया। उनका ऐसा करना केवल छिद्रान्वेषण करने के अभिप्राय से ही था।

मूर्तिपूजा और वर्णाश्रम पर व्याख्यान

उपर्युक्त प्रकार से वेदार्थविषयक बात-चीत होने के पश्चात् शास्त्रियों ने स्वामीजी से मूर्त्ति-पूजा और वर्णाश्रम पर भी वार्त्तालाप हुआ था। शास्त्रियों ने भोलानाथ साराभाई और अम्बालाल सागरमल को मध्यस्थ बनाया था। विचार की समाप्ति पर दोनों ही मध्यस्थों ने अपनी सम्मति स्वामीजी के पक्ष में और शास्त्रियों के विरुद्ध दी थी।

शास्त्रियों के विरुद्ध निर्णय

उपहार

अन्त में लोगों ने स्वामीजी को धन्यवाद दिया और गोपालराव हरिदेशमुख ने उनके भाषण से सन्तुष्ट होकर उन्हें एक सुन्दर पीताम्बर भेट किया।

संशयोच्छेदन होगया

रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख पहले वेदों के विरोध में लेख और पुस्तक लिखा करते थे। स्वामीजी के बम्बई में दर्शन, सत्सङ्ग और व्याख्यान-श्रवण से उनका संशयोच्छेदन होगया और वह स्वामीजी के भक्त बन गये। स्वामीजी उन्हीं के निमन्त्रण पर अहमदाबाद गये थे। पहली बार स्वामीजी के जब कई व्याख्यान अहमदाबाद में हो चुके तो एक दिन भोलानाथ साराभाई ने गोपालराव से कहा कि स्वामीजी तो कहते हैं कि वेद निर्भ्रान्त हैं, फिर आप वेदों के विरुद्ध कैसे लिखते हैं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि मैं भ्रान्त था, वेदों को

स्वामीजी का कथन ठीक है

अच्छी तरह नहीं जानता था। अब मेरी समझ में आगया है कि स्वामीजी जो कहते हैं वह ठीक है। गोपालराव स्वामीजी के प्रति इतने अनुरक्त होगये थे कि जब वह थाना में जज थे, तो वहाँ से बम्बई आकर आर्य्यसमाज के अधिवेशनों में सम्मिलित हुआ करते थे और स्वयम् भी वक्तृता दिया करते थे।

एक दिन एक ब्राह्मण ने महाराज से कहा कि हम आपके कहने से अपना धर्म कैसे छोड़दें। श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है,—श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः (अपना धर्म विगुण भी हो तो भी अच्छा है)। महाराज ने उत्तर दिया कि यहाँ धर्म से अभिप्राय वर्णाश्रम धर्म से है, न कि साम्प्रदायिक धर्म से। इस पर वह सन्तुष्ट होगया।

११ मार्च सन् १८७५ के 'हितेच्छु' में एक लेखक ने स्वामीजी के दूसरी बार अहमदाबाद पधारने के विषय में एक लेख लिखा था, जिसका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

अहमादाबाद में आर्यसमाज

"हम अहमदाबाद के लोगों को आर्य्यसमाज स्थापित करने पर बधाई देते हैं। पण्डित दयानन्द का यह मुख्य उद्देश्य था कि एक ऐसी सभा स्थापित की जाय, जिसमें हिन्दू लोग प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होसकें और हम अत्यन्त प्रसन्न हैं कि ईश्वर के अनुग्रह से यह कार्य्य सम्पादित हो गया। ३० के लगभग सज्जन समाज से सम्मिलित हुए हैं, जिनमें रावबहादुर गोपालराव, रावबहादुर बेचरदास और राव साहब महीपतराम भी हैं। यह सज्जन हरएक कार्य में जो भारत के भले का होता है, योग देने में अग्रसर रहते हैं।"

महीपतराम को छोड़कर अन्य-प्रार्थना समाजियों ने आर्यसमाज में नाम नहीं लिखाया था। उनके विषय में उक्त लेख में लिखा:—

प्रार्थना-समाजियों की भूल

यह लोग भूल जाते हैं कि वेद विद्या के बृहत् भाण्डार हैं और उनकी भाषा इतनी गम्भीर अर्थ वाली और आलङ्कारिक है कि उसके आधार पर वैदिक और पौराणिक जैसे एक दूसरे के प्रतिकूल सिद्धान्तों के स्थापित करने का अवसर मिलता है और जब हम देखते हैं कि उसके बहुत से अर्थ होसकते हैं, तो हम उसी अर्थ को क्यों न ग्रहण करें, जो हमारी बुद्धि और अनुभव के सब से अधिक अनुकूल हैं। अपने थोड़े से दिन के निवास में पण्डित

वेदों के अत्यन्त युक्तियुक्त अर्थ

दयानन्द ने वेदों के अत्यन्त युक्तियुक्त अर्थ किये हैं और उनका आधार ऋषियों के प्राचीनतम कोषों पर रक्खा है। उन्होंने पुराने ढंग के शास्त्रियों और पौराणिकों को उससे भिन्न अर्थ करने के लिये आहूत किया, परन्तु उनका साम्मुख्य कौन कर सकता था। ऐसा होते हुए भी और स्वयम् संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी उपर्युक्त सज्जन कुछ बङ्गालियों के पदचिन्हों पर चलते हुए आर्य्यसमाज के सदस्य बनने से पीछे हट गये।

वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करने में पण्डित दयानन्द ने समाज के लिये बहुत ही युक्तियुक्त कार्य किया है। यह बात हम सभी लोगों को, चाहे युवा हों वा वृद्ध ब्राह्म और प्रार्थना समाजों के कथन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और समर्थनीय प्रतीत होगी। उक्त

समाज के सदस्य हम से अलग हो गये हैं और अपनी बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी की मार्गदर्शकता स्वीकार नहीं करते, परन्तु बुद्धि ऐसी शक्ति है जो विकारयुक्त और क्षीण हो सकती है।

स्वामीजी के विषय में लिखा था:—

स्वामीजी असाधारण व्यक्ति हैं

निस्सन्देह वह असाधारण व्यक्ति हैं। उनकी प्रतिभा और योग्यता दुर्लभ है। यदि वह वल्लभ और अन्य साम्प्रदायिक लोगों के सदृश धन के कारण कार्य करने वाले होते तो उन्हें सहस्रों शिष्य प्राप्त होजाते और एक नया सम्प्रदाय स्थापित करके धन की बड़ी राशि इकट्ठी कर लेते। परन्तु ऐसे नीच भाव उनकी प्रकृति के प्रतिकूल हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य भारत-पुनरुद्धार ही है। उनकी प्रबल आकांक्षा यही है कि वह समृद्धि और सभ्यता में अपने देश को फिर एक वार सब जातियों में शिरःस्थान पर देखें।

अहमदाबाद से स्वामीजी भड़ौच होकर सूरत गये।

सूरत

जब महाराज दुबारा सूरत आये तो हाईस्कूल में उन्होंने एक व्याख्यान दिया।

वान बुहलर से साक्षात्

सूरत में उनका डाक्टर वान बुहलर (Von Buhler) से साक्षात् हुआ। वह उस समय शिक्षाविभाग के इन्सपैक्टर थे। वह अच्छे संस्कृतज्ञ थे और प्रोफ़ेसर मैक्समूलर सम्पादित Sacred Books of the East नामक ग्रन्थमाला में उनका मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। स्वामीजी से उनका संस्कृत में वार्त्तालाप हुआ था। स्वामीजी उनके संस्कृतभाषण से इतने प्रसन्न हुए थे कि पण्डित कृष्णराम के पूछने पर स्वामीजी ने उनके विषय में कहा था कि वह पण्डित गट्टूलाल से तो संस्कृत अच्छी ही बोलता है। उनका यह कहना था भी सत्य, क्योंकि पण्डित गट्टूलाल निस्सन्देह काव्य के अच्छे पण्डित थे और उसमें उनकी विलक्षण गति थी, परन्तु वैदिक साहित्य में उनका प्रवेश कम था और इसी कारण वह वैदिक विषयों पर वार्त्तालाप करते हुए अच्छी संस्कृत नहीं बोल सकते थे।

उपहार स्वीकार करना पड़ा

स्वामीजी जब सूरत से चलने लगे तो उनकी अनिच्छा होने पर भी निर्भयराम, दुर्गाराम मोता प्रभृति ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उन्हें एक बहु मूल्य शाल भेंट में दिया था, जो उन्होंने प्रशंसित महानुभावों के आग्रह पर स्वीकार कर लिया था।

सूरत से स्वामीजी ने बालसर जाने की इच्छा प्रकट की और पहले से ही पण्डित कृष्णराम को स्थानादि का प्रबन्ध करने के निमित्त वहाँ भेज दिया।

बालसर

बालसर में स्वामीजी सिद्धनाथ महादेव की धर्म्मशाला में ठहरे और फिर रतनजी पारसी के बाग़ में चले गये। बालसर में स्वामीजी के चार व्याख्यान हुए। कई अनीश्वरवादी उनके पास आये और यह सिद्ध करना चाहा कि कोई जगत् का कर्त्ता नहीं है। परन्तु स्वामीजी ने थोड़ी ही देर में उनका मुँह बन्द कर दिया।

अनीश्वरवादियों का मुँह बन्द

बालसर के पण्डित भवानीशङ्कर गुजरात भर में अपने पाण्डित्य के लिये प्रसिद्ध थे। वह स्वामीजी के व्याख्यान सुनने आया करते थे। लोगों ने उनसे जाकर कहा कि आप दयानन्द से शास्त्रार्थ करके उनके सिद्धान्तों का मिथ्यात्व प्रतिपादित कीजिये। उन्होंने उत्तर दिया कि जो कुछ दयानन्द कहते हैं वह शास्त्रविरुद्ध नहीं है, फिर मैं उनसे शास्त्रार्थ किस बात पर करूँ। जब स्वामीजी को यह वृत्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने पण्डित भवानीशङ्कर से कहा कि आप जैसे विद्वानों को वैदिक सिद्धान्तों को प्रकट करना चाहिये। परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि मैं गृहस्थ हूँ, मेरे द्वारा मूर्त्ति-पूजा का खण्डन और वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार सम्भव नहीं है। उन्हीं दिनों पण्डित भवानीशङ्कर के पुत्र के जामाता की मृत्यु होगई थी। स्वामीजी ने उसका प्रसङ्ग उठने पर उनसे कहा कि वेदों में नियोग की विधि है और उसकी पुष्टि में एक वेदमन्त्र भी पढ़ा। पण्डित भवानीशङ्कर ने कहा कि मैं इस वृद्धावस्था में इस प्रथा को कैसे चला सकता हूँ।

दयानन्द जो कहते हैं सत्य है

मैं गृहस्थ हूँ, मूर्त्ति-पूजा का खण्डन नहीं कर सकता

बालसर से स्वामीजी बसीनरोड गये।

बसीनरोड में बड़ौदा के एक वेतनभोगी गोविन्दराव निवास करते थे, जो देशोन्नति और देशीय शिक्षापद्धति आदि विषयों के उपदेशक थे। उन्होंने बड़ौदा में स्वामीजी के दर्शन किये थे और उनसे बसीनरोड पधारने का अनुरोध कर आये थे। बसीनरोड में स्वामीजी चार दिन ठहरे और दो व्याख्यान दिये।

बसीनरोड

एक नौकर ने स्वामीजी की घड़ी चुराली। दूसरे कर्मचारी उसे पकड़ कर स्वामीजी के पास लेगये। नौकर ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए रोकर क्षमा माँगी। स्वामीजी ने उसे शिक्षा दी और उसने प्रण किया कि वह आगे को ऐसा न करेगा। स्वामीजी ने कर्मचारियों से कहा हमारा प्रयोजन साँप को मारना है, न कि उसकी बँबी को कूटना पीटना, और उसे क्षमा कर दिया।

षोडश अध्याय

माघ सं १९३१—ज्येष्ठ सं० १९३३.

बम्बई

तारीख २९ जनवरी सन् १८७५ को स्वामीजी अहमदाबाद से बम्बई लौट आये और बालकेश्वर में उसी गोशाला नामक स्थान पर ठहरे जहाँ पहले ठहरे थे।

स्वामीजी का बम्बई से पण्ढरपुर जाने का भी विचार था, परन्तु किसी कारण वह सङ्कल्प पूरा न हो सका।

४ फ़रवरी सन् १८७५ को स्वामीजी की एक वक्तृता हुई।

वेद-मण्डप

अन्य स्थानों में व्याख्यानों का प्रबन्ध करने में अड़चन पड़ने और कभी कभी पर्य्याप्त स्थान न मिलने के कारण श्रोतृवर्ग व्याख्यानों से उचित लाभ न उठा सकते थे, अतः महाराज के अनुरक्त भक्तों ने मैदान नामक खुले स्थान में उनके व्याख्यानों के लिये एक मण्डप बना दिया था जिसका नाम 'वेदमण्डप' रक्खा था। इस मण्डप में उनकी पहली वक्तृता २६ फ़रवरी सन् १८७५ को हुई।

स्वामीजी को व्याकरण में परास्त करने की चेष्टा

किसी कारण से बम्बई के पण्डितों की यह धारणा होगई थी कि स्वामीजी व्याकरण में बहुत व्युत्पन्न नहीं हैं। अतः उन्होंने सोचा कि यदि दयानन्द को व्याकरण-विषयक शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया जायगा तो उनकी ख्याति और प्रभाव मन्द पड़ जायंगे और फिर धर्म्म-विषय में भी लोग उनके कथन में श्रद्धा और विश्वास न करेंगे। अतः उन्होंने उक्त विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये स्वामीजी को आहूत किया। ज्यों

शास्त्रार्थ की तिथि

ही शास्त्रिगण के यह शब्द महाराज के कर्णगोचर हुए त्यों ही उन्होंने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया और शास्त्रार्थ की तिथि १० मार्च सन् १८७५ नियत हो गई।

शास्त्रार्थ-स्थल की चहल-पहल

नियत दिवस और समय पर सभा-मण्डप में अपूर्व चहल-पहल दिखाई देने लगी। बड़े-बड़े सेठ आये, साहूकार आये, बैरिस्टर और सालिसिटर आये, कॉलेजों के महोपाध्याय और स्कूलों के उपाध्याय आये, शिक्षित लोग भी आये और अशिक्षित भी, उष्णीषमण्डित पण्डित आये और दयानन्द को पराजित करने की आशा साथ लाये। दयानन्द भी आये, उनका मुखमण्डल सदा की भांति प्रसन्न था, उसपर न चिन्ता की रेखा थी न भय का चिन्ह।

यदि हम उत्तर न दे सकेंगे तो सिंहासन से नीचे उतर जायँगे

सभास्थल में एक बड़ा सिंहासन बनाया गया था और उस पर वेदादि की पुस्तकें प्रमाण के लिये रक्खी गईं थीं। स्वामीजी आकर सिंहासन पर विराजमान हो गये। पण्डितों ने इस पर कुछ आपत्ति की तो स्वामी जी ने कहा कि हम संन्यासी होने के कारण बैठे हैं। आप लोग हमसे कुछ प्रश्न करें, यदि हम उत्तर न दे सकेंगे तो हम सिंहासन से उतर जाएंगे और आप बैठ जाना।

वाक्पटु की पटुता

श्री आत्माराम बापूदल शास्त्रार्थ-सभा के सभापति पद पर प्रतिष्ठित हुए। पण्डितों की ओर से पण्डित खेमजी बालजी जोशी ने भाषण आरम्भ किया। जोशीजी वाक्पटु समझे जाते थे, अतः श्रोतृवर्ग उनके कथन को उत्कण्ठा और आशा से सुनने लगे। परन्तु जोशीजी ने प्रकृत विषय पर तो कुछ कहा नहीं, इधर उधर की बातें कहनी आरम्भ करदीं। श्रोता उकताने लगे और उनकी ओर से जोशीजी को चुप कराने की चेष्टा होने लगी। परन्तु वह चुप होने वाले न थे, वह अप्रासङ्गिक बातें कहते ही रहे। अन्त में श्रोतृगण उनकी बातों से सर्वथा विरक्त होगये और उन्हें अधिक समय नष्ट करने का अवकाश देने से श्रोताओं ने नकार कर दिया। इस पर जोशीजी को चुप होना ही पड़ा। तत्पश्चात् पण्डित इच्छाशङ्कर सुकुल ने स्वामीजी से व्याकरणसम्बन्धी प्रश्न करने आरम्भ किये। स्वामीजी उनके उत्तर देते रहे। जब पण्डित इच्छाशङ्कर के प्रश्न समाप्त हो गये और वह स्वामीजी के उत्तरों पर कोई आपत्ति न कर सके तो फिर स्वामीजी ने उनसे प्रश्न करने आरम्भ किये। पण्डितों के उत्तर लिखे गये और स्वामीजी ने महाभाष्यादि ग्रन्थों के प्रमाण द्वारा उनके उत्तरों को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया। पण्डितगण स्वामीजी के आक्षेपों का निराकरण न कर सके और विवश होकर उन्हें अपनी भ्रान्ति स्वीकार करनी पड़ी। सब लोगों को प्रतीत होगया कि पंडित वर्ग तो स्वामीजी से क्या उनके शिष्यों से भी तर्क करने की योग्यता नहीं रखते।

वाक्पटुको चुप होना पड़ा

पराजय स्वीकार करना पड़ा

नियोग पर आक्षेप

आशा में निराशा

तत्पश्चात् पण्डितों ने नियोग पर कुछ आक्षेप किये जिनका उत्तर स्वामीजी ने इस ढंग से और ऐसी योग्यता और प्रबल युक्तियों से दिया कि पण्डितों को अनन्योपाय होकर मौन ही धारण करना पड़ा। पण्डितों की इस वार भी स्वामीजी को परास्त करने की आशा निराशा में ही परिणत हुई और वह खिन्न और विषादपूर्ण हृदयों के साथ घरों को लौट कर गये।

व्याख्यानों की झड़ी

१६ मार्च सन् १८७५ से तो महाराज ने व्याख्यानों की झड़ी लगादी। एक दिन आप व्याख्यान देते थे और दूसरे दिन लोगों को शङ्कासमाधान करने का अवसर देते थे। जनता ने महाराज के इस अनुपम अनुग्रह से पूरा पूरा लाभ उठाया। वह मन भर भर कर महाराज के उपदेशपूर्ण व्याख्यानों का लाभ लूटने लगे, उनकी धर्म्मपिपासा शान्त होने लगी, उनका हृदयान्धकार दूर होने लगा। महाराज के सदुपदेशों का प्रभाव बम्बई तक ही सीमित न रहा, उसका प्रवाह बम्बई प्रान्त की सीमा को उल्लंघन करके अन्य प्रान्तों को सिञ्चित करने लगा।

एक धनी वणिक् की विनय-पत्रिका

जोधपुर के एक धनी वणिक् ने एक विनय-पत्रिका उनकी सेवा में भेजी, जिसमें उनसे प्रार्थना की कि जोधपुर पधारने का अनुग्रह करें और वहाँ धर्म्म के सम्बन्ध में गम्भीर अन्धकार फैला हुआ है उसे वैदिक धर्म्म के प्रखर प्रकाश से छिन्नभिन्न करें।

यजुर्वेद पर जैन साधु का आक्षेप

एक दिन एक जैन साधु ने जिसका नाम चारित्रप्रधान था, यजुर्वेद के एक मन्त्र के ऊपर कुछ कटाक्ष करके स्वामीजी के पास भेजा। स्वामीजी ने उनके समीचीन उत्तर लिख कर उनके पास भेज दिये, परन्तु साधुजी ने उनके प्रत्युत्तर में कुछ न लिखा।

आर्यसमाज का अंकुर

स्वामीजी के सूरत आदि जाने के पहले ही कुछ श्रद्धालु जन की यह इच्छा हुई थी कि बम्बई में आर्य्यसमाज की स्थापना की जाय, जिससे कि उनके बम्बई से चले जाने के पश्चात् भी वैदिक धर्म्म का उपदेश कार्य्य होता रहे। स्वामीजी से भी उन सज्जनों ने यह इच्छा प्रकट की थी और उन्होंने उन लोगों को उत्साहदान भी किया था। उन्होंने आर्य्यसमाज के संगठन आदि विषयक एक नियमावली की भी रचना करदी थी और ६० मनुष्यों ने उसका सदस्य होने की स्वीकृति देदी थी। परन्तु स्वामीजी के चले जाने के पश्चात् उनका उत्साह मन्द पड़ गया; कुछ पर तो बिरादरी का दबाव पड़ा; कुछ ने सदस्य बनना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल न समझा और कई लोगों के सम्बन्धी और परिवार के लोगों ने विवाद खड़ा कर दिया और यह प्रस्ताव जहाँ का तहाँ ही रह गया।

अंकुर फिर फूटा

जब स्वामीजी गुजरात-यात्रा से लौट कर बम्बई आये तो भक्तजनों के मन में आर्य्यसमाज स्थापित करने की इच्छा पुनः जागृत हुई और स्वामीजी ने भी उनसे यह प्रस्ताव किया। अन्य सज्जनों के अतिरिक्त लछमनदास खेमजी और राजकृष्ण महाराज इस विषय में अधिक उत्साह दिखाने लगे। आर्य्यसमाज स्थापित करने का यत्न फ़रवरी में ही आरम्भ हो गया था और १७ फ़रवरी तक १०० पुरुषों ने उसका सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था।

[illegible] [illegible] आर्य्य-समाज को कदापि स्थापित न करूँगा

राजकृष्ण महाराज ने आर्य्यसमाज के नियम बनाने की इच्छा प्रकट की, तो स्वामीजी ने कहा कि नियम हम स्वयम् बनावेंगे और एक नियमावली बनादी। राजकृष्ण महाराज ने कहा, "नियमों में जीव ब्रह्म के एकत्व के सिद्धान्त का समावेश होना चाहिये, पीछे से उसे छोड़ देंगे। ऐसा करने से हम अनेक लोगों को आर्य्यसमाज की ओर आकर्षित कर सकेंगे।"

स्वामीजी ने इसके उत्तर में जो कुछ कहा वह उनके अनुरूप ही था। उन्होंने कहा, "मैं आर्य-समाज को असत्य पर कदापि स्थापित नहीं करूँगा।" इस पर राजकृष्ण महाराज इतने चिढ़े कि भावी सदस्यों की जो तालिका वह बनाकर लाये थे, उसे लेकर स्वामीजी के पास से चले गये और स्वामीजी का विरोध करने लगे और स्वामीजी के पास आना जाना तक छोड़ दिया।

राजकृष्ण रुष्ट होगये

स्वामीजी जब बम्बई पधारे थे तो राजकृष्ण महाराज ने अन्य सज्जनों के योग से उनके स्वागत और निवास का प्रबन्ध किया था। राजकृष्ण महाराज नवीन वेदान्त के प्रबल पक्षपाती थे और उसके समर्थन में 'हृदय चक्षु' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला करते थे। स्वामीजी के प्रस्ताव पर उसका नाम 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' रक्खा गया था।

नवीन वेदान्ती राजकृष्ण

राजकृष्ण महाराज के इस प्रकार रुष्ट होने का कारण यह था कि वह स्वामीजी द्वारा वैष्णव मत का खण्डन कराके उन्हें उससे विरक्त कर दें और अपनी ओर आकर्षित करलें। जब आर्य्यसमाज स्थापित करने का प्रस्ताव हुआ तो वह जीव ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त का नियमों में समावेश भी इसी गुप्त अभिप्राय से चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि स्वामीजी के प्रभाव और उद्योग से आर्य्यसमाज स्थापित होने पर जब स्वामीजी बम्बई से चले जायंगे तो आर्य्यसमाज को अपने अधिकार में करके उस पर आधिपत्य कर लेंगे।

रुष्ट होने का कारण

राजकृष्ण महाराज रूठ कर उठ गये, उन्होंने समझा होगा कि अब स्वामीजी को कोई आर्य्यसामज का सदस्य बनने के लिये नहीं मिलेगा। परन्तु थोड़े ही समय पीछे उन्हें ज्ञात होगया कि स्वामीजी उनके सहयोग के बिना और असहयोग के होते हुए भी अपना कार्य सिद्ध कर सकते हैं। सेठ मथुरादास लौजी, सेवकलाल करसनदास, गिरिधारी-लाल दयालदास कोठारी बी० ए०, एल एल० बी०, प्रभृति सज्जनों ने आर्य्यसमाज स्थापित करने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया। इन सत्पुरुषो पर पौराणिकों ने अत्याचार भी किये और सर्वसाधारण में उनकी भर पेट निन्दा भी की, परन्तु वह अपने सङ्कल्प पर दृढ़ रहे। राज-मान् राजेश्वरी पानाचन्द आनन्दजी पारीख को आर्य्यसमाज के नियमों का ढाँचा बनाने के लिए नियत किया गया। उन्होंने वह तैयार किया और उसे स्वामीजी के सामने प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने उसमें उचित संशोधन कर दिया। चैत्र शुक्ला ५ शनिवार संवत् १९३२ एवं १० अप्रेल सन् १८७५ एवं [३ रबीउल् अव्वल सन् १२९२ हिजरी, एवं शाके शालिवाहन १७९७, एवं फ़सली सन् १२८३, एवं खुर्दाद सन् १२८४ पारसी] को गिरगाम रोड, में प्रार्थना-समाज के मन्दिर के निकट डाक्टर माणिकजी की बागवाड़ी में सायङ्काल के ५॥ बजे एक सभा की गई, जिसमें आर्य्यसमाज स्थापित किया गया और निम्न लिखित नियम स्वीकार किये गये:—

राजकृष्ण की सहायता की उपेक्षा

आर्य्यसमाज स्थापित होगया

आर्य्यसमाज के नियम—

१—आर्य्यसमाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।

२—इस समाज में मुख्य स्वतःप्रमाण वेदों का ही माना जायगा। साक्षी के लिये, वेदों के ज्ञान के लिये तथा आर्य इतिहास के लिये शतपथादि ४ ब्राह्मण, ६ वेदाङ्ग, ४ उपवेद, ६ दर्शन, ११२७ वेदों की शाखा वेद व्याख्यान, आर्ष सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायगा।

३—इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।

४—अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।

५—प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्य्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश के पुस्तक होंगे और एक 'आर्य-प्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायंगे।

६—हर एक समाज में एक प्रधान पुरुष और दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री सभासद् होंगे।

७—प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था पालन करेगा और मन्त्री सब के पत्रों का उत्तर तथा सब के नाम व्यवस्था लेख करेगा।

८—इस समाज में सत्पुरुष, सत्यनीति, सत्याचरणी मनुष्यों के हित-कारक समाजस्थ किये जायंगे।

९—जो गृहस्थ गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त हो सो जैसा घर के कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिये करे और विरक्त तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करें, अन्यथा नहीं।

१०—हर आठवें दिन प्रधान मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में इकट्ठे हों और सब कामों से इस काम को मुख्य जानें।

११—इकट्ठे होकर सर्वथा स्थिरचित्त हों, परस्पर प्रीति से पक्षपात छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म्म, सत्य-नीति तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में बाजा आदि के साथ हो और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान पुनः गान फिर व्याख्यान और फिर गान हो इत्यादि।

१२—हर एक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करें उसमें से आर्य्यसमाज, आर्य्यविद्यालय और 'आर्य्य-प्रकाश' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिये आर्य्यसमाज के धनकोष (एक) में प्रतिशत प्रीतिपूर्वक देवें, अधिक देने से अधिक धर्म्मफल। इस धन का इन ही विषयों में व्यय होवे और जगह नहीं।

१३—जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिये जितना प्रयत्न करे उसका उत्साह के लिये यथायोग्य सत्कार होना चाहिये।

१४—इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हरएक स्तुति, प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करने में आयगी। अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगन्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द आदि लक्षणयुक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्तसुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद, इत्यादि विशेषणों से परमात्मा

की ही स्तुति, उसका कीर्त्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में साहाय्य चाहना, उपासना, उसके आनन्द स्वरूप में मग्न होजाना। सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय किसी और की कभी नहीं करनी।

१५—इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टिपर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायंगे।

१६—आर्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्षग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।

१७—इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जायगा, एक परमार्थ दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जायगी।

१८—इस समाज में न्याय वही माना जायगा जो पक्षपात रहित अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षित, सत्य-धर्म वेदोक्त होगा, इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जायगा।

१९—इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश करने के लिये समयानुकूल भेजे जायंगे।

२०—स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिये हरएक स्थान में यथाशक्ति अलग अलग बनाये जायंगे। स्त्रियों के लिये पाठशाला में अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जायगा और पुरुष पाठशाला का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।

२१—उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्य्यसमाज के अनुकूल पालन की जायगी।

२२—इस समाज में प्रधान आदि सब सभासद् परस्पर प्रीति के लिये अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोध आदि सब दुर्गुण छोड़कर उपकार सुहृदता से सबसे सबका निर्वैर होकर स्वात्मवत् संप्रीति करनी होगी।

२३—विचार समय सब व्यवहारों में न्याययुक्त सब हित (की) जो सत्य बात भले प्रकार विचार से ठहरे उसी को सब सभासदों को प्रकट करके मानी जाय इसके विरुद्ध न मानी जाय। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

२४—जो पुरुष इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला धर्मात्मा सद्गुणी हो उसको उत्तम समाज में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना, परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, बल्कि यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के ही विचार से की जायँ, अन्य प्रकार नहीं।

२५—आर्यसमाज, आर्यविद्यालय, 'आर्य-प्रकाश' पत्र और आर्यसमाज का अर्थ, धन कोष, इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन, मन और धन से सदा करें।

२६—जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रक्खें, वे दोनों स्वामी सेवक भाव से यथावत् बरतें।

२७—जब विवाह, पुत्र जन्म, महा लाभ वा मरण वा कोई समय दान व धन व्यय करने का हो तब आर्य्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है। इस निश्चय को जान कर इसको कभी न भूलें।

२८—इन नियमों में कोई नियम नया लिखा जायगा वा कोई निकाला जायगा वा

न्यूनाधिक किया जायगा सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथा योग्य करना होगा।

सभासदों की संख्या १०० के लगभग थी

इसके पश्चात् आर्य्यसमाज के पदाधिकारी नियत किये गये और प्रति शनिवार को सायङ्काल आर्य्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन होने निश्चित हुए, परन्तु पीछे शनिवार का दिन सभासदों के अनुकूल न पड़ा, अतः आदित्यवार निश्चित किया गया। आर्य्यसमाज के सभासदों की संख्या १०० के लगभग थी।

स्वामीजी अधिनायक नहीं, केवल सभासद् ही बने

समाज की स्थापना के पश्चात कतिपय सभासदों ने स्वामीजी को आर्य्यसमाज का अभिनायक वा सभापति बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु स्वामीजी ने उसे अस्वीकार किया। सदस्यों के विशेष अनुरोध करने पर उन्होंने कहा कि यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो आप मुझे अन्य सभासदों की भांति एक सदस्य बना सकते हैं। तदनुसार स्वामीजी का नाम भी सभासदों के रजिस्टर में अङ्कित किया गया और वह अन्य सभासदों की भाँति चन्दा देते रहे।

आर्य्यसमाज स्थापित होने के पश्चात स्वामीजी के व्याख्यान आर्य्यसमाज में ही होने लगे। एक व्याख्यान १७ अप्रेल को और दूसरा २४ अप्रेल को हुआ।

स्वामीजी प्रातःकाल सागर-तट पर घूमने जाया करते थे। वहाँ कभी-कभी पादरी एच० एच० विलसन से भी साक्षात् हो जाता था। पादरी विलसन संस्कृतज्ञ थे और उन्होंने वेद का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। स्वामीजी का उनसे धर्म्म विषय पर वार्त्तालाप होजाया करता था, परन्तु उनसे कोई नियमबद्ध विचार नहीं हुआ था। कभी २ स्वामीजी उनके आग्रह पर उनके घर तक भी चले जाते थे, वह स्वामीजी के घोर विरोधी थे।

प्रिंस-ऑफ़-वेल्स का आगमन

जिन दिनों स्वामीजी बम्बई थे, उन्हीं दिनों में प्रिंस-आफ़-वेल्स (युवराज) एडवर्ड महाराणी विक्टोरिया के ज्येष्ठ पुत्र, जो उनके मरने पर राजराजेश्वर एडवर्ड सप्तम हुए, भारतवर्ष में भ्रमण करने के लिये आये थे और भारत के वाइसराय लार्ड नार्थब्रुक उनके स्वागत के लिये बम्बई गये थे।

हम संन्यासी हैं, लार्ड नार्थब्रुक के पास न जायँगे

स्वामीजी के विषय में लार्ड नार्थब्रुक से बाबू केशवचन्द्र सेन की बातचीत हुई थी और उन्होंने स्वामीजी से मिलना चाहा था। इसी कारण से केशव बाबू ने बम्बई के रा. रा. आत्माराम पाण्डुरङ्ग को इस विषय में पत्र लिखा। उन्होंने वह पत्र रा. रा. गिरिधारीलाल दयालदास कोठारी को दिखाकर लार्ड नार्थब्रुक से स्वामीजी की भेंट कराने का प्रबन्ध करने के लिये कहा। स्वामीजी से जब यह प्रसङ्ग उठाया गया तो उन्होंने कहा कि लार्ड नार्थब्रुक तो हमारे पास आयँगे नहीं और हम भी संन्यासी हैं, हम भी उनसे मिलने नहीं जायँगे। एक मध्यस्थ स्थान नियत करो जहां दोनों का मिलन होसके। गिरिधारीलाल ने उद्योग भी किया, परन्तु वाइसराय महोदय को अवकाश नहीं मिलसका।*

---

* स्वामीजी की यह एक मौज ही समझिये जो वह वाइसराय से उनके स्थान पर जाकर

आर्य-मंदिर में हमारा फ़ोटो न रक्खा जाय

हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ने स्वामीजी का फ़ोटो लेना चाहा तो उन्होंने उसमें यह आपत्ति की कि भविष्य में यह सम्भावना हो सकती है कि लोग और विशेष कर आर्य्यसमाजी उनकी प्रतिकृति की पूजा करने लग जायँ। हरिश्चन्द्र ने उनका फ़ोटो तो लेलिया, परन्तु उन्होंने विशेष रूप से यह आदेश करदिया कि आर्य्य मन्दिर में उनका फ़ोटो न रक्खा जाय। तदनुकूल आर्य्यसमाज बम्बई में उनका यह आदेश प्रतिपालित होता है।

एक भ्रान्ति

सुनाजाता है कि इङ्गलैण्ड से एक पत्र उन्हें वहाँ बुलाने के लिये आया था। पण्डित लेखरामकृत दयानन्द-चरित में लिखा है कि प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने जर्मनी से इस आशय का पत्र भेजा था और स्वामीजी ने उसका यह उत्तर दिया था कि मेरी आशा आने की अवश्य थी, परन्तु यहां के लोग मुझे नास्तिक कहते हैं। जब तक मैं इस देश को अच्छी तरह न बतलादूं कि मैं कैसा नास्तिक हूँ, तब तक नहीं आसकता। जब मैक्समूलर की चिट्ठी आई थी तब बम्बई के भाटियों ने अपने जहाज़ पर लेजाने का वचन दिया था।

यह सब निराधार प्रतीत होता है। कोई पत्र अब तक ऐसा नहीं मिला। मैक्समूलर जर्मन अवश्य थे, परन्तु जर्मनी में नहीं रहते थे, अतः उनका जर्मनी से पत्र भेजना कैसे सम्भव था।

अपने जीवन में कभी ऐसा शर्बत नहीं पिया

जीवनदयाल जो पीछे आकर आर्य्यसमाज बम्बई के प्रधान पद पर प्रतिष्ठित हुए, एक दिन ग्रीष्म काल में मध्याह्न में स्वामीजी से मिलने गये। वह अत्यन्त तृषार्त्त थे। महाराज ने उन्हें एक ऐसा शर्बत बनाकर पिलाया कि उनकी तृषा सर्वथा दूर होगई। वह कहते थे कि हमने अपने जीवन में कभी ऐसा शर्बत नहीं पिया। इस से अनुमान होता है कि महाराज को विलक्षण औषधियों का ज्ञान था।

जन्मस्थान की ओर अंगुलि-निर्देश

ग्वालियर के पण्डित ब्रह्मशङ्कर देवशङ्कर कुछ दिन बम्बई प्रान्त की यात्रा में स्वामीजी के साथ रहे थे और कभी २ उनकी रसोई भी बना दिया करते थे। उनसे स्वामीजी ने कहा था कि हमारा जन्मस्थान अहमदाबाद से चालीस कोस है। स्वामीजी ने उन्हें ट्रेन में जाते हुए अंगुलि-निर्देश से उसे दिखाया भी था। पण्डित ब्रह्मशङ्कर स्वामीजी के साथ रहते हुए भी द्वादशलिङ्ग की पूजा और दुर्गा-पाठ किया करते थे। परन्तु स्वामीजी में इतनी सहिष्णुता थी कि इस कारण से कभी उनसे अप्रसन्न नहीं होते थे, हाँ कभी कभी मुस्करा कर कह दिया करते थे कि क्यों कोलाहल करते हो।

अपूर्व सहिष्णुता

मिलने पर सम्मत नहीं हुए, अन्यथा यह समझ में नहीं आता कि उन्होंने वाइसराय के स्थान पर जाना क्यों स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वह इससे पूर्व भी कई अंग्रेज़ राजकर्मचारी और शासकों के स्थान पर जाकर मिल चुके थे और इसके पश्चात् भी मिले। —संग्रहकर्त्ता.

वैरागियों के सिवा लड़का कोई नहीं दे सकता

एक दिन स्वामीजी को बहुत से सेठ साहूकार घेरे बैठे हुए थे कि कई स्त्रियाँ आईं और स्वामीजी से अपने निःसन्तान होने का दुःख प्रकट किया। स्वामीजी ने कहा कि वैरागियों के अतिरिक्त अन्य कोई सन्तान नहीं दे सकता। इसे सुन कर सेठ लोग बहुत लज्जित हुए और स्त्रियाँ चली गईं।

मनोरंजक कहानी

एक दिन स्वामीजी का व्याख्यान हो रहा था। श्रोतागण कई सहस्र की संख्या में उपस्थित थे। स्वामीजी ने राजाओं के विनाश का उल्लेख करते हुए कहा कि राजाओं के परामर्शदाता ऐसे लोग होते हैं जैसे—(१) ज्योतिषी, (२) तेली, (३) ऊँट वाला, (४) हिजड़ा। किसी राजा पर एक शत्रु राजा चढ़-आया और दुर्ग के भीतर घुसने लगा, तब राजा को उसके आक्रमण का ज्ञान हुआ। उसने पहले ज्योतिषी से पूछा, ज्योतिषी बोला अभी महाराज को भद्रा है। तेली से पूछा तो उसने कहा कि ऐसी क्या जल्दी है? अभी आप तेल देखिए तेल की धार देखिए। फिर ऊँट वाले से पूछा, उसने कहा महाराज देखिए अन्त में ऊँट किस कर्वट बैठता है। फिर हिजड़े से पूछा, उसने कहा कि आप कनात तानलें, क्या वह पर्दे के अन्दर भी घुस आयगा? यह बातें होती रहीं और शत्रु-सेना दुर्ग के भीतर घुस आई। यदि हमारे राजाओं की यह दुर्दशा न होती तो हमारी यह दुर्दशा क्यों होती? देश के नाश का यही कारण है।

शास्त्रार्थ की तैयारी

जिस दिन कोई बड़ा शास्त्रार्थ होने को होता उस दिन तीन बजे रात्रि में उठते और ताज़े पानी के साथ ऋतु-अनुसार सौंफ़ आदि फाँक कर शौच को जाते और स्नान करके ध्यानावस्थित हो जाते और ६ बजे प्रातःकाल तक ध्यान में मग्न रहते। अन्य दिनों की अपेक्षा उस दिन अधिक समय तक ध्यान करते थे।

विरोधियों की गालियाँ, सुसराल की गालियाँ हैं

जब लोग खण्डन मण्डन के कारण महाराज को दुर्वचन कहते तो वह कह दिया करते थे कि जैसे लोग सुसराल में जाते हैं और गालियाँ सुन कर प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मैं परमात्मदेव की भक्ति का प्रचार करते हुए विरोधियों की गालियों से प्रसन्न होता हूँ।

सम्पादक के साथ पत्र की नीति भी बदल गई

यह हम पहले लिख चुके हैं कि राजकृष्ण महाराज के मासिक पत्र 'हृदयचक्षु' का नाम स्वामीजी के परामर्श से 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' बदल दिया गया था। जब तक वह स्वामीजी के पक्ष में रहे तो 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' भी स्वामीजी के पक्ष का समर्थन करता रहा, परन्तु जब स्वामीजी ने आर्य्यसमाज के नियमों में यह समाविष्ट करना, कि आर्य्यसमाज अद्वैतवाद का समर्थक है, अस्वीकृत कर दिया तो राजकृष्ण महाराज स्वामीजी से अप्रसन्न हो गये। तब से ही 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' ने भी अपनी नीति बदल ली और वह स्वामीजी के विरुद्ध लिखने लगा।

एक वार फाल्गुन कृष्णा १२ संवत् १९३१ के अङ्क में उसके सम्पादक ने लिखा कि

मूर्त्ति-पूजा का खंडन अनावश्यक है

मूर्त्ति-पूजा आर्य्यधर्म्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु पुष्टि-मार्गप्रवर्त्तित मूर्त्ति-पूजा का आकार आर्य्य-धर्म्म के विरुद्ध है। मूर्त्ति-पूजा वेद प्रतिपादित नहीं है, परन्तु पुराणादिप्रतिपादित (अवश्य) है और अशिक्षित मनुष्यों के लिये मूर्त्ति-पूजा प्रयोजनीय है और उसके खण्डन करने की आवश्यकता नहीं है।

आर्य्यों का आक्षेप

इस सम्मति के प्रकाशित होने पर आर्य्यसमाजियों में कुछ आन्दोलन हुआ और एक व्यक्ति ने उसके सम्पादक शाराधीश से कहा कि आपने ऐसी सम्मति प्रकाशित करके युक्तिसङ्गत कार्य्य नहीं किया, आप इस विषय पर स्वामीजी से शास्त्रार्थ कर लीजिए। वह इस पर सहमत भी हुए, परन्तु पीछे एक घटना ऐसी होगई कि वह उक्त विषय पर वार्त्तालाप करने के लिये स्वामीजी के पास न आये।

गट्टूलाल और दयानन्द का मुक़द्दमा

इसके पश्चात् 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' में एक लेख "गट्टूलाल और दयानन्द के वाद-प्रतिवादसम्बन्धी अभिमत" प्रकाशित हुआ। उसमें स्वामीजी के मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध वैदिक सिद्धान्तों को मुक़द्दमे की Plaint (वादी की प्रतिज्ञा) के रूप में लिखा गया और उस पर साक्षियों की साक्षी लिखी गई। यह सब इस ढंग से लिखा गया कि जिससे यह हास्यास्पद और भ्रमोत्पादक प्रतीत हों।

मुक़द्दमे का निर्णय

इस पर २१ जून सन् १८७५ को पन्नाचन्द आनन्दजी मन्त्री, आर्य्यसमाज बम्बई की ओर से एक नोटिस 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' संचालिका वेदधर्म्म-सभा के प्रधान भाई शङ्कर नानाभाई को दिया गया था कि "जो निर्णय उक्त लेख के अन्त में दिया गया है, वह न्याय और वेद के विरुद्ध है अतः उचित है कि स्वामीजी के साथ मौखिक विचार कर लिया जाय। उसके लिये आप परसों का दिन नियत करदें। हमारी ओर से स्वामी दयानन्द शास्त्रार्थ करेंगे। आप लिखिए कि आप की ओर से कौन करेगा। शास्त्रार्थ-सभा का व्यय उभय पक्ष आधा आधा देंगे। हमारे पास इसका उत्तर कल तक आजाना चाहिए, क्योंकि स्वामीजी के पास पूना आदि स्थानों से निमन्त्रण आये हुए हैं।"

इस नोटिस के उत्तर में राजकृष्ण महाराज के पक्ष वाले स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने पर सहमत नहीं हुए।

तारीख़ २३ जून सन् १८७५ को भाईशङ्कर नानाभाई ने पन्नाचन्द आनन्द के उत्तर में एक पत्र लिखा जिसका साराँश निम्न प्रकार थाः—

"मेरा 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु मेरी और मेरे मित्रों की, जिनसे मैंने आपके नोटिस का उल्लेख किया, यह सम्मति है कि मौखिक शास्त्रार्थ से कोई लाभ नहीं, उसमें अशान्ति होने का भय है। जो लाभ होगा वह बहुत थोड़े मनुष्यों को होगा, अतः आपको इस विषय में जो युक्तियाँ देनी हों उन्हें लिखकर भेज दीजिये। वह लेख हमारी टिप्पणियों और युक्तियों के साथ 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' में प्रकाशित कर दिया जायगा जिससे कि इस महत्व-पूर्ण विषय पर जो कुछ कहा जायगा वह स्थिररूप से सुरक्षित रहेगा।"

इस पत्र में यह भी लिखा था कि जो कुछ 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' में लिखा गया है, उससे स्वामीजी का अपमान करना कदापि अभीष्ट न था और न अब है। लेखक ने जो कुछ लिखा था वह पब्लिक कर्त्तव्य से परवश होकर पब्लिक के हित के लिये लिखा था और वह अपनी सम्मति को जहांतक उन्होंने शास्त्रादि को पढ़ा और विचारा है ठीक और सत्य समझते हैं।

इस पर सेठ लक्ष्मीदास ने उक्त विषय पर विचार करने के लिये स्वामीजी को अपने घर पर बुलाया, परन्तु स्वामीजी ने यह कहकर कि मैं यथा सम्भव धनियों के गृह पर नहीं जाया करता हूँ, उक्त निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया।

इसके कुछ दिन पीछे स्वामीजी ने अद्वैतवाद और प्रार्थना-समाज के सिद्धान्तों के खण्डन पर एक व्याख्यान दिया। उसमें राजकृष्ण महाराज तो न आये, परन्तु उनके पक्ष के कई लोग आये। भाईशङ्कर नानाभाई भी उपस्थित थे। व्याख्यान के अन्त में वह कुछ बोलना चाहते थे, परन्तु वह रोष में भरे हुए थे, अतः आर्य्यसमाज के प्रधान ने उन्हें बोलने न दिया।

२६ जून १८७५ को उनका दूसरा पत्र और आया जिसमें लिखा था,—"आप अपना लेख शीघ्र भेजिए ताकि वह आषाढ़ मास के अङ्क में प्रकाशित कर दिया जाय। देर होने में आपका लेख श्रावण मास के अङ्क में मुद्रित होगा।"

यह ज्ञात नहीं हुआ कि इन दोनों पत्रों का आर्य्यसमाज की ओर से क्या उत्तर दिया गया; परन्तु 'आर्य्य-धर्म्म-प्रकाश' में आर्य्यसमाज की ओर से कोई लेख मुद्रित नहीं हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि कोई लेख भेजा गया वा नहीं।

पण्डित कमलनयनाचार्य

वैष्णवों की चिन्ता

पण्डित कमलनयनाचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् और नेता समझे जाते थे और उन्हें अनेक मारवाड़ी धनपति गुरु करके मानते थे। वैष्णव सम्प्रदाय के वह स्तम्भ थे। जब स्वामीजी ने बम्बई में मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध घोर आन्दोलन किया और अनेक मनुष्यों ने मूर्त्ति-पूजा छोड़ कर वैदिक धर्म्म ग्रहण किया और उसके प्रचार के निमित्त बम्बई में आर्य्यसमाज भी स्थापित हो गया तो वैष्णवों को बड़ी चिन्ता हुई। गोकुलिये गोसाईं अपना पूरा बल लगा चुके थे और दयानन्द के आक्रमणों से अपनी रक्षा में असमर्थ रहे थे। पण्डित गट्टूलाल की सभा और शास्त्रार्थ के आयोजन का चित्र अभी पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ होगा। वल्लभ-सम्प्रदाय के इस भगीरथ प्रयत्न के पश्चात् ही आर्य्यसमाज बम्बई स्थापित हुआ था जो दयानन्द के विजय स्तम्भ के समान था। पण्डित गट्टूलाल जब कुछ न कर सके तो पौराणिकों ने फिर अस्त्र-शस्त्र सँभालने का उपक्रम किया और पण्डित कमलनयनाचार्य का स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराने का उद्योग किया।

शास्त्रार्थ का सूत्रपात

इस शास्त्रार्थ का सूत्रपात ऐसे हुआ कि मिस्टर रामदास छबीलदास (जो पीछे से इंगलैंड जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आये) के चचा देवीदास ने जिन्हें लोग देवीभक्त के नाम से पुकारते थे, पण्डित कमलनयनाचार्य को बम्बई बुलाया था। महाशय देवीभक्त का

देवीभक्त मूर्त्ति-पूजा में अटल विश्वास था और वह चाहते थे कि कोई विद्वान् ऐसा मिले जो दयानन्द के सम्मुखीन होकर मूर्त्ति-पूजा को वेद-विहित सिद्ध करे। देवीभक्त मूर्त्ति-पूजक होते हुए और स्वामीजी से घोर मत भेद रखते हुए भी उनसे कोई द्वेष नहीं रखते थे। उनके भाई और भतीजे आर्य्यसमाज के सदस्य हो गये थे, परन्तु उन्होंने अपने विश्वासों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया था। वह पूर्ववत् कट्टर मूर्त्ति-पूजक थे। परन्तु वह स्वभाव से अति सरल और सच्चे थे।

देवीभक्त और दयानन्द स्वामीजी से उनका सद्भाव था और वह बहुधा उनके पास आया करते थे। स्वामीजी से उनका इतना प्रेम था कि जब कभी वह स्वामीजी से मिलने जाते तो खाली हाथ कभी न जाते। उनके लिये मिष्टान्नादि लेकर जाते। स्वामीजी भी उनसे बड़ा प्रेम करते थे। देवीभक्त स्वामीजी को एक आदर्श सच्चरित्र संन्यासी समझते थे और स्वामीजी भी उन्हें एक निष्कपट उत्तम प्रकृति का समझते थे। स्वामीजी उनकी भेंट को सहर्ष स्वीकार कर लेते थे और उसका अधिकांश दर्शकों को बाँट देते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि देवीभक्त मिष्टान्न लाये। स्वामीजी ने उसे ग्रहण कर लिया। थोड़ी देर बैठ कर वह चले गये। उसके

देवीभक्त की भेंट स्वीकार करने पर आक्षेप पश्चात् उपस्थित पुरुषों में से एक ने स्वामीजी से कहा कि आप को देवीभक्त की भेंट स्वीकार नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह आप के शत्रुओं के पृष्ठपोषक हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मेरी दृष्टि में देवीभक्त का अपने भी किसी-किसी अनुयायी से अधिक सम्मान है

आक्षेप का उत्तर और मैं धार्मिक मतभेद के कारण उनसे आपस के व्यवहार में प्रभावित नहीं होऊँगा। देवीभक्त सच्चे मन से विश्वास करते थे कि मूर्त्ति-पूजा वेदसम्मत है और उसके विरुद्ध दयानन्द की सम्मति आधारशून्य है। उन्होंने पौराणिक पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की उत्तेजना केवल इसी अभिप्राय से दी थी कि मूर्त्ति-पूजा वेदानुमोदित सिद्ध हो जाय न कि किसी अन्य भाव से।

जब पण्डित कमलनयनाचार्य बम्बई आगये तो ३१ मई सन् १८७५ को काँधाबाड़ी के अन्तर्गत नारायण बाड़ी में उनका एक व्याख्यान कराया गया।

आचार्य का मूर्त्ति-पूजा पर व्याख्यान उसमें पण्डित कमलनयनाचार्य ने रामतापिनी और गोपालतापिनी नामक उपनिषदादि के आधार पर मूर्त्ति-पूजा सिद्ध करने की चेष्टा की। परन्तु श्रोताओं का उससे सन्तोष नहीं हुआ और व्याख्यान

श्रोताओं का असन्तोष स्थल में ही लोग कहने लगे कि इस प्रकार मूर्त्ति-पूजा की सिद्धि का यत्न करना व्यर्थ है, चाहिये तो यह कि पण्डित कमलनयनाचार्य फ़्रामजी काऊसजी हॉल वा अन्यत्र किसी प्रसिद्ध स्थान में दयानन्द के सम्मुखीन होकर मूर्त्ति-पूजा को वेदविहित सिद्ध करें। पण्डित कमलनयनाचार्य वा उनके किसी अनुयायी ने इस प्रस्ताव के उत्तर में कुछ भी न कहा।

पण्डित कमलनयनाचार्य स्वामीजी से शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे। एक वार

शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे

अवश्य उन्होंने अपने अनुयायियों के आग्रह पर ऊपर के मनसे यह कह दिया था कि मैं शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हूँ, परन्तु पीछे से इनकार कर दिया था। इसके पश्चात् घटनाचक्र ऐसा चला कि उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिये विवश हो दयानन्द के सम्मुख जाना ही पड़ा।

शास्त्रार्थ करने पर विवश होना पड़ा

इसकी बड़ी मनोरञ्जक कथा है। शिवनारायण बेनीचन्द नाम के एक मारवाड़ी थे जो पण्डित कमलनयनाचार्य को गुरु करके मानते थे। उनके मित्र ठक्कर जीवनदयाल आर्य्यसमाजी थे। एक दिन दोनों मित्रों में धार्मिक विषयों पर बात चीत हो रही थी। एक का आग्रह था कि मूर्त्ति-पूजा वेदसम्मत है और दूसरे का उससे भी प्रबल आग्रह था कि वह वेद विरुद्ध है। अन्त को दोनों मित्र इस बात पर सहमत हुए कि पण्डित कमलनयनाचार्य और दयानन्द में शास्त्रार्थ कराया जावे, यदि दयानन्द हार जावें तो जीवनदयाल रामानुजमत ग्रहण करें और यदि पण्डित कमलनयनाचार्य्य पराजित होजावें तो शिवनारायण बेनीचन्द दयानन्द का मत अवलम्बन करें। बात यहाँ तक ही नहीं रही, दोनों ने नियमानुसार निम्न लिखित प्रतिज्ञा-पत्र लिख कर उस पर हस्ताक्षर कर दिये। इन्हीं दोनों व्यक्तियों ने शास्त्रार्थ का दिन और स्थान भी निश्चित कर दिया कि शास्त्रार्थ १२ जून सन् १८७५ को फ्रामजी काऊसजी इन्स्टीट्यूट में मध्याह्नोत्तर में ३ बजे होगा और विज्ञापन द्वारा इसकी सर्वसाधारण को सूचना भी देदी गई। प्रतिज्ञा-पत्र निम्न लिखित था:—

विवश होने की मनोरञ्जक कथा

जो हारे वह दूसरे का मत ग्रहण करे

प्रतिज्ञा-पत्र तक लिखा गया

प्रतिज्ञा-पत्र

बम्बई ५ जून सन् १८७५—हम नीचे सही करने वाले दोनों आदमियों ने इस लिखित को पढ़ कर उस पर अपनी प्रसन्नतापूर्वक हस्ताक्षर किये हैं, जिसे अपने सत्य-धर्म्म से पालन करेंगे।

१—श्री दयानन्द स्वामी और कमलनयनाचार्य्य स्वामी की सभा, फ्रामजी काऊसजी इन्स्टीट्यूट में अगले शनिचर को कीजावे और जो उसका व्यय हो उसे नीचे हस्ताक्षर करने वाले दोनों व्यक्ति देवें और पुलिस का प्रबन्ध करें।

२—यदि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती वाद में जीतें और इसी प्रकार मूर्त्ति-खण्डन में, तो मारवाड़ी शिवनारायण बेनीचन्द जो सदा कमलनयनाचार्य्य की ओर से, अपने हस्ताक्षर से, विज्ञापन प्रकाशित करता है, वह उनका (दयानन्द का) चेला होवे और जो कमलनयन जीते तो ठक्कर जीवनदयाल कमलनयन का चेला होवे और रामानन्दी टीका लगावे, नहीं तो शिवनारायण अपने तिलक को मिटा देवे।

३—इस सभा में बिना सम्प्रदाय के (अर्थात् कोई भी सम्प्रदाय का पक्ष न करे) बिना पक्षपात के शास्त्री लोग बुलाये जावें और वह लोग जो अभिप्राय प्रकट करें, उसे छाप कर प्रकाशित किया जावे और उसके ऊपर इस लिखत के लिखने वाले हस्ताक्षर करें और उस पर जो कोई कार्य न करे वह धर्म्म हारे।

हस्ताक्षर—ठक्कर जीवनदयाल हस्ताक्षर—शिवनारायण बेनीचन्द।

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि शिवनारायण बेनीचन्द ने यह प्रतिज्ञा-पत्र पण्डित कमलनयनाचार्य्य की अनुमति और सूचना के बिना ही लिख दिया था। अतः जब उन्हें यह वृत्त ज्ञात हुआ तो वह बहुत अप्रसन्न हुए और उन्होंने शास्त्रार्थ करने से स्पष्ट शब्दों में नकार कर दिया। परन्तु वह अपने अनुयायियों के कहने सुनने पर, कि अब जबकि शास्त्रार्थ विज्ञप्ति सर्वत्र हो चुकी है, शास्त्रार्थ से पीछे हटना बड़ी अप्रतिष्ठा का कारण होगा और सब लोग यह विश्वास करने लगेंगे कि वास्तव में दयानन्द का पक्ष सत्य है और मूर्त्ति-पूजा का कोई आधार वेद में नहीं है और इससे वैष्णव धर्म्म को बहुत धक्का पहुँचेगा, पण्डित कमलनयनाचार्य्य ने शास्त्रार्थ करने की स्वीकृति दे दी। स्वीकृति तो उन्होंने देदी परन्तु वह वास्तव में अपने को स्वामीजी के जोड़ का नहीं समझते थे और वेद में मूर्त्ति-पूजा का आधार भी नहीं था, अतः वह शास्त्रार्थ करते भी तो क्या करते, मूर्त्ति-पूजा के पक्ष में वेद के प्रमाण कहाँ से लाते। उन्हें शास्त्रार्थ में अपना पराजय स्पष्ट दिखाई दे रहा था, इसी कारण वह शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे। अतः स्वीकृति देने के पश्चात् भी वह शास्त्रार्थ से पराङ्मुख होने लगे।

आचार्य अप्रसन्न

आचार्य स्वामीजी के जोड़ के न थे

६ जून सन् १८७५ को सेठ मथुरादास लौजी को यह किसी भांति पता लग गया होगा कि पंडित कमलनयनाचार्य शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते। अतः वह स्वामीजी की अनुमति लेकर पंडित कमलनयनाचार्य के पास गये और उनसे कहा कि स्वामी दयानन्द की यह इच्छा है कि आपका और उनका किसी स्थान में जहाँ आपकी इच्छा हो मूर्त्ति-पूजा के विषय में संवाद होजावे। इस पर जो बातें उनकी पं० कमलनयनाचार्य से हुईं उनका सारांश यह है। सेठ मथुरादास लौजी ने कहा कि स्वामी दयानन्द स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मूर्त्ति-पूजा के लिये वेद में कोई आधार नहीं है और जिन मन्त्रों का मूर्त्ति की प्राणप्रतिष्ठा, आवाहन, पूजन और विसर्जन में विनियोग किया जाता है उनका कोई सम्बन्ध इन बातों से नहीं है, आप वैष्णवधर्म के आचार्य हैं आपका कर्त्तव्य है, कि दयानन्द की स्थापनाओं का खण्डन करें। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो वैष्णवधर्म को बहुत क्षति पहुँचेगी और लोगों का यह दृढ़ विश्वास होजावेगा कि वास्तव में दयानन्द का कहना ही सत्य है। हम ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि उभय पक्ष का कथन अक्षरशः लिपिबद्ध कर लिया जावे और प्रत्येक दिन के उभय पक्ष के कथन पर आपके और दयानन्द के हस्ताक्षर होजावें और जब शास्त्रार्थ समाप्त होजावे तो उसे मुद्रित कराकर भारतवर्ष के सब भागों में जहाँ वैष्णव-धर्मावलम्बी निवास करते हैं बाँट दिया जाय। जो मन्त्र भी कोई पक्ष प्रस्तुत करेगा उसे उसका पूरा पता तथा यह कि भाष्यकारों ने उसका क्या अर्थ किया है लिखा देना होगा। इस पर कमलनयनाचार्य ने कहा कि चार दिशा के चार वेद वेदांगवित् पण्डित मध्यस्थ होने चाहिएँ जिनकी मैं पहले से परीक्षा लेलूँगा मथुरादास लौजी ने कहा, ऐसे पण्डित तो मिलने कठिन हैं, तो कमलनयनाचार्य ने नदिया के पण्डित रङ्गजित् तोताद्रि का नाम लिया।

दयानन्द के अनुयायी की कमलनयनाचार्य से बातचीत

मथुरादास लौजी ने कहा कि नदिया में तो हम किसी को जानते नहीं परन्तु यदि आप काशी के किसी परिडत का नाम बतावें तो उसके विषय में हम पूछताछ करें। कमलनयनाचार्य ने कहा कि हम नाम तो किसी का न बतलावेंगे। ४ जून के विज्ञापन में जो कुछ लिखा गया है यदि उसके अनुसार परिडत लोग होंगे तो ही हम शास्त्रार्थ करेंगे। इस पर मथुरादास लौजी ने कहा कि उस विज्ञापन के पश्चात् तो आपके शिष्य ने प्रतिज्ञा-पत्र लिख दिया है। कमलनयनाचार्य ने कहा कि इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है और न वह हमें स्वीकार है। मथुरादास लौजी निराश होकर लौट आये और चलते समय कमलनयनाचार्य से कह आये कि वास्तव में आप में मूर्त्ति-पूजा को वेद-प्रतिपादित सिद्ध करने की शक्ति नहीं है और दयानन्द जो कहते हैं वही सत्य है।

शास्त्रार्थ की चर्चा सर्वत्र फैलगई

शास्त्रार्थ की चर्चा सर्वसाधारण में फैलते ही लोग उसके दिन की बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करने लगे। अन्त को वह दिन आया। शास्त्रार्थ का समय मध्यान्होत्तर का तीन बजे नियत हुआ था, परन्तु सभास्थल २॥ बजे से ही जनस्रोत से भरने लगा और बात करते सारा हॉल खचाखच भरगया। मञ्च पर एक मेज़ रखीगई और उस पर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, शिक्षाकल्प, निरुक्त, निघण्टु प्रभृति ग्रन्थ जो संख्या में १५० थे सजाकर रक्खे गये। मेज़ के दोनों ओर दो कुरसियाँ रक्खी गईं। मेज के दाईं ओर की कुरसी परिडत कमलनयनाचार्य के और बाईं ओर की स्वामीजी के लिये निश्चित की गई, इस विचार से कि कहीं आचार्य महाशय स्वामीजी के बाईं ओर बैठने में अपना अपमान समझें और इसी पर बात बिगड़ जाय, स्वामीजी तो वीतराग और निरभिमान थे उनसे इस प्रकार की कोई आशङ्का हो ही नहीं सकती थी। मेज़ के सामने शास्त्रार्थ के वृत्त लेखकों के लिये ८ कुरसियाँ रक्खीगईं। सभा में रावबहादुर बेचरदास, अम्बाईदास, लक्ष्मीदास खेमजी, भाडोवर पाल्हराम, रावबहादुर दादूभाई पाण्डुरंग, भाईशङ्कर नानाभाई, गङ्गादास किशोरदास, हरगोविन्ददास नाना, मनसुखराम सूरजराम, रणछोड़भाई उदयराम, परिडत विष्णुपरशुराम शास्त्री प्रभृति गण्यमान्य और विद्वान् पुरुष उपस्थित थे।

हिन्दू के अतिरिक्त सभा में कोई न रहे

परिडत कमलनयनाचार्य के पक्ष के लोगों ने कहा कि यह शास्त्रार्थ मूर्त्ति-पूजा पर है, इसलिये सभा में हिन्दूओं के भिन्न अन्य किसी को आने की आज्ञा न होनी चाहिये। सबने इस बात को स्वीकार किया। एक पारसी किसी प्रकार भीतर चला आया था, उसे कमलनयनाचार्य के पक्षवालों ने सभा से बाहर करदिया।

स्वामीजी नियत समय पर सभास्थल में आगये। प्रबन्धकर्त्ताओं ने उन्हें मेज़ के बाईं ओर की कुरसी पर बिठाया, वह सहर्ष उस पर बैठगये, उनके मस्तिष्क में यह विचार ही नहीं आया कि उन्हें बाईं ओर की कुरसी पर क्यों बिठाया जाता है।

आचार्य के आने की प्रतीक्षा

विलम्ब होने लगा, लोग कमलनयनाचार्य के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। कोई कोई कहने लगे कि कमलनयनाचार्य नहीं आवेंगे और कोई न कोई आपत्ति खड़ी करदेंगे कि सभास्थल एक यवन का गृह है, हम वहाँ न जायंगे इत्यादि, अथवा उनके शिष्यवर्ग मध्यस्थ का पचड़ा लगा

कर अपने आचार्य को वापस लेजावेंगे जिससे हारजीत का अवसर ही प्राप्त न हो और उनकी अप्रतिष्ठा न होसके।

पण्डित कमलनयनाचार्य वास्तव में सभास्थल में आना स्वीकार नहीं कर रहे थे, उन्होंने लोगों के अनुनय विनय पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया था। वह सभास्थल में नहीं आते यदि एक आर्यसमाजी ने उनसे जाकर यह न कहा होता कि आप एकवार शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर चुके हैं अब यदि आप सभा में न जायंगे तो आर्यसमाजी आप पर अभियोग चलायँगे।

आचार्य धमकी में आगये

साढ़े तीन बजे पण्डित कमलनयनाचार्य्य सभा में पधारे। उनके साथ उनके सम्प्रदाय के कुछ ब्राह्मण और कई भाटिये, मकाटे, मारवाड़ी थे जो संख्या में २५-३० होंगे। सभा के प्रबन्धकों ने उन्हें आता देखकर सीढ़ियों पर जाकर उनका स्वागत किया और सम्मानपूर्वक उन्हें मेज़ के दाईं ओर की कुर्सी पर बिठाया, उनके साथी उनके ही आस पास मञ्च पर बैठ गये। सभापति का आसन रावबहादुर बेचरदास अम्बाईदास को दिया गया।

अन्त को आचार्य सभा-स्थल में आये

सभा का कार्य आरम्भ हुआ। सभापति ने अपनी प्रारम्भिक वक्तृता में कहा कि भाइयो! हम सब मूर्त्ति-पूजक हैं और मैं भी मूर्त्ति-पूजक हूँ, अतः जब स्वामी दयानन्द सरस्वती यह प्रतिपादित करें कि मूर्त्ति-पूजा वेदसिद्ध नहीं है, तो आप क्रोध न करें बल्कि धैर्य और सन्तोष से सुनें, इससे हमें अमूल्य लाभ होगा, और धर्म्म के पहचानने का मार्ग ज्ञात होगा जिससे देश का कल्याण होगा और हमें अत्यन्त सुख और सन्तोष होगा और जब पण्डित कमलनयनाचार्य मूर्त्ति-पूजा को वेदसिद्ध प्रतिपादित करेंगे उसे भी हमें सुनना चाहिये जिससे हमें सत्य सारांश ज्ञात हो जावेगा। मुझे इस सभा के संगठित करने का विशेष अभिप्राय अभी ज्ञात हुआ है। दो गृहस्थियों ने एक प्रतिज्ञा-पत्र आपस में लिखा है। उसी के कारण यह सभा संगठित हुई है। अब उस प्रतिज्ञा-पत्र को भाईशङ्कर नानाभाई आपको पढ़कर सुनावेंगे।

कार्य आरम्भ हुआ

भाई शङ्कर नानाभाई ने पूर्वोल्लिखित प्रतिज्ञा-पत्र पढ़ कर सुनाया और कहा कि यह प्रतिज्ञा-पत्र ठक्कर जीवनदयाल और शिवनारायण वेनीचन्द ने अपनी निजू स्थिति में लिखा है और इसी के कारण यह सभा बुलाई गई है! पहले पण्डित कमलनयनाचार्य को यह सिद्ध करना होगा कि मूर्त्ति-पूजा वेद प्रतिपादित है।

प्रतिज्ञा-पत्र पढ़कर सुनाया गया

इसपर शिवनारायण वेनीचन्द ने खड़े होकर कहा कि हमने प्रतिज्ञा-पत्र में यह लिखा था कि मूर्त्ति-पूजा को श्रुति-स्मृति से सिद्ध करना होगा, परन्तु उसमें केवल श्रुति का शब्द पढ़ा गया है, स्मृति का क्यों नहीं पढ़ा गया? भाईशङ्कर नानाभाई ने पुनः प्रतिज्ञा-पत्र को पढ़ कर कहा कि इसमें स्मृति का शब्द नहीं है। फिर शिवनारायण वेनीचन्द ने कहा कि साक्षी के लिए ८ पण्डितों की आवश्यकता होगी यह बात भी लिखनी ठहरी थी, वह भी प्रतिज्ञा-पत्र में से पढ़कर नहीं सुनाई गई। भाईशङ्कर नानाभाई ने कहा कि इसमें ऐसी भी

प्रतिज्ञा-पत्र लिखने वाले का आक्षेप

शर्तें नहीं लिखी है। तब शिवनारायण वेनीचन्द ने प्रतिज्ञा-पत्र को देखना चाहा जो उन्हें दे दिया गया। उन्होंने और उनके एक मित्र ने उसे पढ़ा और पढ़ कर चुप हो गये।

आचार्य की आपत्ति

पण्डित कमलनयनाचार्य ने कहा कि श्रोतागण शास्त्रार्थ के परिणाम के विषय में निश्चय करने की योग्यता नहीं रखते। भारतवर्ष के विभिन्न भागों से पण्डित-मण्डली का उपस्थित होना आवश्यक है, जो शास्त्रार्थ को देख कर उसके विषय में अपना निश्चय प्रकट कर सके। इतना कह कर उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि क्या आप अपनी ओर से ऐसे पण्डित साथ लाये हैं और यह भी कहा कि हमारी ओर के पण्डित हमारे साथ उपस्थित हैं।

विरोधी सहायक

विष्णुपरशुराम शास्त्री अब तक स्वामीजी के विरोध में समाचार पत्रों में उनके किये वेदार्थ की अत्यन्त तीव्र आलोचना करते रहे थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि आप मेरी सेवा स्वीकार करें तो मैं आप की ओर से पण्डित का कार्य्य करने पर उद्यत हूँ। स्वामीजी ने सरलचित्तता से यह विश्वास करके कि शास्त्रीजी यह बात हृदय से कह रहे हैं, उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शास्त्रीजी वेदी पर अपने पुराने विपत्ती दयानन्द के बराबर जा बैठे।

आचार्य की दूसरी आपत्ति

पण्डित कमलनयनाचार्य्य ने पूछा कि जो पण्डित लोग बैठें हैं, वह किस सम्प्रदाय के हैं? वह किसी सम्प्रदाय के न होने चाहिएँ*। इस पर सब ही लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि कोई पण्डित भी ऐसा नहीं हो सकता था जो किसी सम्प्रदाय का न हो। सब ही किसी न किसी सम्प्रदाय के थे। इससे लोग समझने लगे कि पण्डित कमलनयनाचार्य्य व्यर्थ ही समय खोना चाहते हैं।

पण्डितों से शपथ लेली गई

एक पण्डित ने कहा कि मैं वैष्णव सम्प्रदाय का हूँ। उसे आचार्य महोदय ने वेदी पर अपने पास बिठा लिया और फिर दूसरे पण्डितों से कहा कि आप शालिग्राम और गीता को हाथ में लेकर शपथ लो कि हम सत्य सत्य अभिप्राय प्रकट करेंगे। पण्डितों की ओर से कालिदास गोविन्दजी शास्त्री ने उत्तर दिया कि हमें जो सत्य प्रतीत होगा, उसे ही सर्वांश में प्रकट करेंगे। इसके पश्चात् उन्होंने विष्णुपरशुराम शास्त्री से भी यही प्रश्न पूछा और उन्होंने भी वही उत्तर दिया कि जो कुछ हमें सत्य प्रतीत होगा, हम वही कहेंगे और आप उभय पक्ष वाले जो कुछ कहेंगे उसे हम अक्षरशः लिखलेंगे और उसपर अपनी योग्य सम्मति भी देंगे। फिर:—

आचार्य और शास्त्री की बातें

पण्डित कमलनयनाचार्य और विष्णुपरशुराम शास्त्री में इस प्रकार बात-चीत हुई:—

कमल०—आपने छः शास्त्रों में से कौन शास्त्र पढ़ा है?

---

* दयानन्द-प्रकाश में लिखा है कि पं० कमलनयनाचार्य ने यह पूछा था कि पण्डित लोग बतायें कि वह किस २ सम्प्रदाय के हैं। यह ठीक है, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि पण्डित लोग किसी सम्प्रदाय के न होने चाहियें। —संग्रहकर्त्ता.

विष्णु०—हमने छहों शास्त्र पढ़े हैं। इससे पहले कि आप स्वामीजी से शास्त्रार्थ करें, मेरी इच्छा है कि आप जिस शास्त्र पर भी चाहें मुझसे बात-चीत करें। मैंने सुना है कि आप नैयायिक हैं, आप प्रसन्नता पूर्वक न्यायशास्त्र में मुझसे जो प्रश्न पूछना चाहें पूछें और जब मेरी योग्यता के विषय में आप को सन्तोष होजाय तो फिर मैं न्याय में आप की परीक्षा लूँ, आप भी तो बताइये कि आपने कौनसा शास्त्र पढ़ा है।

कमल०—बताते हैं।

परिडत कमलनयनाचार्य्य इतना ही कह कर चुप होगये।

स्वामीजी की आचार्य से प्रार्थना

विष्णु०—इस प्रकार की अप्रासङ्गिक बातों में समय नष्ट करना आपके लिये शोभा नहीं देता। आपका कर्त्तव्य है कि मूर्त्ति-पूजा को वेदानुमोदित सिद्ध करें। तत्पश्चात् स्वामीजी ने भी नियमपूर्वक परिडत कमलनयनाचार्य से कहा कि आज का दिवस आनन्द-दिवस है। आपके साथ हमारा सम्मिलन होना निस्सन्देह ही सुख का विषय है। मैं यह प्रतिज्ञा-पूर्वक कहता हूँ कि मूर्त्ति-पूजा वेदप्रतिपादित नहीं है और ऐसा सिद्ध करने को प्रस्तुत हूँ। इसी उद्देश्य से भारतवर्ष के भिन्न २ स्थानों में घूम कर व्याख्यान उपदेशादि देता हूँ। कृपा करके आप आज की सभा में दिखावें कि मूर्त्ति का आवाहन, प्राण-प्रतिष्ठा, पूजन और विसर्जन किस वेद के किस स्थल में लिखे हैं और भाष्यकारों ने उस स्थल का क्या अर्थ किया है, ब्राह्मणों में उस स्थल की किस प्रकार व्याख्या की गई है। इस बात के सिद्ध होने पर जनता को भी सन्तोष होगा और हमारा भी परस्पर लाभ होगा। इसके लिये मैं मध्यस्थ

वेद ही मध्यस्थ हैं

की कोई आवश्यकता नहीं देखता और यदि मध्यस्थ का होना आवश्यक ही हो तो वेदादि ग्रन्थों से अधिक निष्पक्ष और उत्तम मध्यस्थ कौन होगा वह सब ग्रन्थ आपके सम्मुख मेज़ पर रक्खे हुए हैं। यह दिखाइये कि आपके मत के प्रतिपादक वचन वेद के किस स्थल में हैं और उनका क्या अर्थ है। ऐसा होने से ही सत्यासत्य का निर्णय हो सकेगा। आपके और मेरे सब प्रश्नोत्तर लिखे जायंगे और उन पर दोनों के हस्ताक्षर होकर उन्हें छपवा कर प्रकाशित कर दिया जायगा ताकि अनेक स्थानों के परिडत उन पर अपनी सम्मति प्रकट कर सकें। ऐसा करने से आर्य्यों का विशेष उपकार होगा।

एक दूसरे सज्जन की प्रार्थना

परिडत कमलनयनाचार्य्य ने स्वामीजी के इन विनय-वाक्यों पर भी कुछ ध्यान नहीं दिया, तब मथुरादास लौजी ने उस बात-चीत का सविस्तर वर्णन किया जो उनसे परिडत कमलनयनाचार्य्य की ६ जून को हुई थी और कमलनयनाचार्य से कहा कि आप आचार्य लोग ऐसा कहते हैं कि वेद में मूर्त्ति-पूजा है और अपने पाण्डित्य की स्पर्द्धा करते हैं। अब आप स्वामी दयानन्दजी के सामने मूर्त्ति-पूजा को वेदप्रतिपादित सिद्ध करने में प्रवृत्त हूजिये और समय नष्ट न कीजिये।

परिडत कमलनयनाचार्य्य इस पर भी कुछ न बोले। जब स्वामीजी ने देखा कि आचार्य्य महाशय किसी प्रकार शास्त्रार्थ में प्रवृत्त नहीं होते तो उन्होंने पुनः परिडत कमल-

मैं मूर्ति-पूजा को वेद विरुद्ध सिद्ध करता हूं

नयनाचार्य्य से कहा कि मूर्त्ति-पूजा का वेद-सिद्ध होना आपका प्रतिपाद्य पक्ष था, अच्छा होता जो आप उसे सिद्ध कर देते, परन्तु आप ऐसा नहीं करते, अतः मैं विवश होकर उसका वेदानुमोदित न होना सिद्ध करता हूँ। आप उसे सुनने की कृपा करें।

आचार्य एकदम सभा से चले गये

यह हो कैसे सकता था कि वह व्यक्ति जो शास्त्रार्थ करने आया था, अपने मत का खण्डन चुपचाप सुनेजाय और इस अपमान को सहन करता रहे। अतः पण्डित कमलनयनाचार्य्य यह कहते हुए कि वेद मन्त्रों का ऐसी सभा में पढ़ाजाना जिसमें शूद्र भी उपस्थित हैं, शास्त्र में वर्जित है, एकदम सभा से चलेगये। लोगों ने उन्हें बहुत रोकना चाहा, परन्तु वह न रुके। उस समय कुछ लोगों ने उनके लिये कुछ उपहाससूचक शब्द भी कहे।

शास्त्री को स्वामीजी का धन्यवाद

जब आचार्य महोदय सभा-स्थल से चले गये तो स्वामीजी ने पण्डित विष्णुपरशुराम शास्त्री को धन्यवाद दिया कि आपने इस स्थिति को बचाया और श्रोतृवर्ग से कहा कि मुझे शास्त्रीजी सरीखे महान् और विद्वान् पुरुष की मित्रता का गर्व है और मेरी अभिलाषा है कि भारतवर्ष में उनकी विद्या, सद्भाव और सदाशय के बहुत से पुरुष हों।

सतयुग में मूर्त्ति-पूजा न थी

सेठ गोविन्ददास नानभाई ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि मूर्त्ति-पूजा सतयुग में थी वा नहीं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि नहीं थी। इसे तो इसी कलियुग में बौद्ध और जैन लोगों ने चलाया है।

स्वामीजी का व्याख्यान

तत्पश्चात् स्वामीजी ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। पहले तो खेद प्रकट किया कि इतने ग्रन्थ जिस शुभ कार्य्य के लिये एकत्रित किये गये थे वह कार्य्य न हुआ और इन ग्रन्थों का एक पत्रा भी नहीं पलटा गया; फिर मूर्त्ति-पूजा का अनेक वेद मन्त्र उद्धृत करके खण्डन किया और प्राण-प्रतिष्ठा आदि में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ करके दिखलाया कि उनका कोई सम्बन्ध उक्त विषयों से नहीं है।

व्याख्यान को सुन कर श्रोतृवर्ग तृप्त और सन्तुष्ट हुए और सब पर यह भलीभांति प्रकट हो गया कि पण्डित कमलनयनाचार्य्य में मूर्त्ति-पूजा को वेदप्रतिपादित सिद्ध करने की शक्ति बिल्कुल नहीं है। अनेक लोगों की मूर्त्ति-पूजा के ऊपर से श्रद्धा उठगई।

अन्त में सभापति महोदय ने स्वामीजी के गले में पुष्प-माला डाल कर उनका सम्मान-सत्कार किया और सभा विसर्जन हुई।

एक महिला को उपदेश

हरियाना की एक महिला माई-भगवती तरुणावस्था में ही वैराग्यवती हो गई थी। उसके विचार नवीन वेदान्त के थे। परन्तु 'सत्यार्थ-प्रकाश' पढ़कर उसके विचारों में परिवर्त्तन हो गया था। वह स्वामीजी के दर्शनार्थ बम्बई गई और उनसे उपदेश लेकर कृतार्थ हुई। स्वामीजी ने उसे स्त्रीजाति में धर्म्मप्रचार करने का आदेश दिया और वह यह कार्य मरणपर्य्यन्त करती रही।

बम्बई में स्वामीजी की दिनचर्या इस प्रकार थी कि रात्रि में तीन बजे उठकर कुल्ला करके कुछ जल पीते और शौच स्नान करके समाधिस्थ हो जाते और सूर्योदय से पहले ही घूमने चले जाते और एकान्त में एक घण्टा ध्यानावस्थित रहते। ८ बजे आसन पर लौट आते और २० मिनट तक विश्राम करते, फिर दूध पीते और ११ बजे तक लिखने लिखाने का कार्य्य करते, फिर स्नान करके भोजन करते और थोड़ी देर लेट कर ४ बजे तक कार्य्य करते। ४ बजे से १० बजे तक आगुन्तकों से मिलते और सत्सङ्ग में उपदेश करते। रात्रि को केवल दूध पीते और भोजन न करते थे। ठीक दस बजे सो जाते। निद्रा उनके इतनी वश में थी कि पलङ्ग पर लेटते ही गहरी नींद सो जाते थे।

दिन-चर्या

स्वामीजी को इसका बहुत ध्यान था कि रसोई में जो पदार्थ बनें वह सब कर्म्मचारियों को मिल जाय, अतः वह स्वयम् भोजन के समय पाकशाला में चले जाया करते थे।

रसोई में सब वस्तुएँ तौल कर दी जाती थीं ताकि आवश्यकता से अधिक भोजन न बने। एक दिन एक कर्मचारी ने उनसे कहा कि लोग आपको कृपण समझेंगे। उन्होंने कहा कि मुझे इसकी चिन्ता नहीं। मिताहार और मितव्यय दुर्गुण नहीं, सद्गुण है।

स्वामीजी को पूना महादेव गोविन्द राणडे और महादेव मोरेश्वर कुण्टे आदि सुधारक दल के नेताओं ने बुलाया था। राणडे महोदय उन दिनों पूना में जज थे और पीछे आकर बम्बई हाईकोर्ट के जज होगये थे। वह स्वामीजी की शिक्षा और उपदेश को ग्रहण करते थे और उन्हें गुरुभाव से मानते थे। स्वामीजी पूना में विट्ठल पेंठ में पञ्च हौस के पास शङ्कर सेठ के मकान में ठहरे।

पूना

स्वामीजी ने पूना पहुँच कर यह विज्ञापन दिया कि हम अमुक अमुक ग्रन्थ को प्रामाणिक और अमुक-अमुक को अप्रामाणिक मानते हैं।

विज्ञापन

इस विज्ञापन का अभिप्राय यह था कि यदि कोई उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा करे तो इस बात का ध्यान रक्खे और इस विषय में वाद-विवाद करके समय नष्ट करने का किसी को अवसर न मिले।

विज्ञापन का अभिप्राय

पूना में स्वामीजी के व्याख्यान बुधवारपेंठ के भिडे के बाड़े में और कैम्प में ईस्ट स्ट्रीट में मराठी स्कूल में हुआ करते थे। पूना-निवास के दिनों में स्वामीजी के पूना नगर और कैम्प में लगभग ५० व्याख्यान हुए वह सब लिपिबद्ध किये गये थे और मुद्रित होगये थे। उनका सम्पादन महादेव गोविन्द राणडे ने किया था। जिनमें से १५ व्याख्यानों का जो नगर में हुए थे* आर्य्य भाषानुवाद भी मुद्रित हो गया था जो अब भी मिलता है।

५० व्याख्यान

यहाँ भी व्याख्यानों का प्रायः वही क्रम रहा जो अन्यत्र रहता था, अर्थात् एक दिन

* 'दयानन्द-प्रकाश' में लिखा है कि स्वामीजी के पूना में १५ व्याख्यान हुए। व्याख्यान १५ नहीं, ५० हुये थे। १५ नगर में, शेष कैम्प में।

—संग्रहकर्त्ता.

व्याख्यान होता था और दूसरा दिन प्रश्नोत्तर और शङ्कासमाधान के लिये रहता था। व्याख्यानों में लोग सहस्रों की संख्या में आते थे और महाराज की वाग्मिता और विद्या पर मुग्ध होजाते थे।

स्वामीजी संस्कृतज्ञ न होने से भाषा में बोलते हैं

संस्कृत में व्याख्यान

मूर्त्ति फेंकदी

पूना में कुछ लोग कहने लगे थे कि स्वामीजी संस्कृत अच्छी नहीं जानते इसी से हिन्दी में बोलते हैं। इसकी भनक स्वामीजी के भी कानों में पड़ गई, अतः १७ जुलाई को उन्होंने जब अपना व्याख्यान पुनर्जन्म पर आरम्भ किया तो संस्कृत में किया। उन्होंने सुललित और सुमिष्ट संस्कृत की नदी बहादी जिसे सुनकर श्रोता मुग्ध और विस्मित होगये। लोग बहुधा संस्कृत नहीं जानते थे, अतः श्रोताओं ने उनसे हिन्दी में ही बोलने की प्रार्थना की। तब उन्होंने शेष व्याख्यान हिन्दी में ही दिया। उनकी वक्तृताओं का इतना प्रभाव पड़ा कि एक महाराष्ट्र ब्राह्मण ने अपने मन्दिर में गणपति की मूर्त्ति उठा कर फेंकदी।

स्वामीजी व्याख्यान बड़े धीर और गम्भीर भाव से देते थे। जब श्रोतागण सुनते २ श्रान्त और अवसन्न होजाते थे तो स्वामीजी कोई गल्प वा मनोहर आख्यायिका सुनाकर उन्हें पुनर्वार आकृष्टचित्त कर देते थे।

पण्डितों ने नाक रखने का प्रयत्न किया

स्वामीजी के व्याख्यानों ने पूना की पौराणिक मण्डली के हृदयों को विलोडित कर डाला, परन्तु किसी पण्डित का शास्त्रार्थी होकर उनके सामने आने का साहस न हुआ। जब स्वामीजी के बहुत से व्याख्यान होचुके तो पण्डितों ने अपनी नाक रखने के लिये १५ अगस्त सन् १८७५ को विष्णु के मन्दिर में स्वामीजी के विरुद्ध एक सभा की और उसमें कई पण्डितों ने उनके मन्तव्यों के खण्डन में वक्तृताएं दीं। पण्डित रामदीक्षित आप्टे (वेद शास्त्रज्ञ) और पण्डित नारायण शास्त्री गाडबोले ने एक विज्ञापन भी दिया कि हम दयानन्द से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं।

पण्डित वेदज्ञ नहीं हैं

इसके विषय में 'इन्दु प्रकाश' के सम्पादक ने १६-८-१८७५ के अङ्क में लिखा था:—
"दयानन्द ने पूना आकर यह विज्ञापन देदिया था कि वह किस २ ग्रन्थ को प्रामाणिक और किस २ को अप्रामाणिक मानते हैं, परन्तु आज तक कोई भी पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को अग्रसर नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि पण्डितगण वेदज्ञ नहीं हैं और जिन ग्रन्थों को दयानन्द प्रामाणिक मानते हैं, उनके समझने की पण्डितों में अधिक शक्ति भी नहीं है। पण्डितों ने केवल यह समझ कर कि यदि वह चुप रहते हैं, तो लोकसाधारण उन्हें मूर्ख समझेंगे और इससे उनकी जीविका के मार्ग में बाधा पड़ेगी, दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का केवल विज्ञापन दे दिया है और उसमें ऐसे नियम और प्रतिबन्ध निर्दिष्ट कर दिये हैं कि जिन्हें दयानन्द कभी स्वीकार न करेंगे। इसलिये इस प्रकार के विज्ञापन को सिवाय छल के और क्या कहा जा सकता है।"

'हितेच्छु' ने भी १८-८-१८७५ को इस विषय पर निम्न प्रकार लिखा था—"इस समय पूनासमाज के पुरातन पूजक अंश में दयानन्द के कार्यों के कारण उतना ही आन्दोलन मचा हुआ है, जितना ७ वर्ष पहले मचा था, जब शङ्केश्वर के शङ्कराचार्य्य के सभापतित्व में विधवा-विवाह के शास्त्रविहित होने के प्रश्न पर विचार करने के लिये सभा हुई थी। पूना के पत्र दयानन्द और पण्डितों की सभाओं के वर्णन से भरे हुए हैं। पण्डित लोग दयानन्द की सभाओं के उत्तर में यह बात निर्धारित करने के लिये समता करते हैं कि मूर्त्ति-पूजा के इस महान् शत्रु का किस प्रकार साम्मुख्य किया जाय। शास्त्रियों ने नोटिस के रूप में एक पत्र स्वामीजी को भेजा है, जिसमें वह नियम लिखे हैं, जिनके अनुसार वह शास्त्रार्थ कर सकते हैं। यह पत्र स्वामीजी के पास एक असभ्य ढंग से भेजा गया था, अतः उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया परन्तु उन्होंने शास्त्रियों को सूचना देदी है कि शास्त्रार्थ के जो नियम भी वह प्रस्तुत करें उनकी महादेव गोविन्द राणडे और महादेव मोरेश्वर कुण्टे से स्वीकारी लेनी होगी। इसकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि पूना के शास्त्री स्वामीजी के साथ खुले मैदान में शास्त्रयुद्ध करने का साहस करेंगे और यह प्रतीत होता है कि वह ओछी चालें ही चलते रहेंगे जिससे उनका शास्त्रार्थ न करने का मनोरथ पूर्ण हो।

पौराणिकदल उपद्रव करने पर उतारू होगया

जहाँ एक ओर वह लोग जिनकी ज्ञानचक्षु कुछ उन्मीलित होगई थीं महाराज के व्याख्यानों को श्रद्धा और आदर से सुनते थे, वहाँ दूसरी ओर पौराणिकदल उनके व्याख्यानों से अत्यन्त विरक्त और उत्तेजित हो उठा था। उनके वर्णभेद को जन्म पर निर्भर न करने, सबको समान रूप से वेद का अधिकार बतलाने, मूर्त्ति-पूजा को वेद विरुद्ध कहने आदि से वह इतना रुष्ट और क्षुब्ध होगया था कि उपद्रव करने और षड्यन्त्र रचने पर उतारू होगया था।

स्वामीजी के व्याख्यानों का खण्डन

पौराणिकदल के नेता नारायण भीकाजी जोगलेकर थे, जो अवकाशप्राप्त असिस्टेंट कमिश्नर थे। उन्होंने स्वामीजी के व्याख्यामों के खण्डन का प्रबन्ध किया था और वह उनके प्रतिवाद में राम शास्त्री और वासुदेवाचार्य्य के व्याख्यान कराया करते थे।

मिथ्या दोषारोपण

२२ अगस्त की रात्रि में किसी ने क़स्बे के गणपति और अहिल्या की मूर्त्तियाँ उठा कर नाली में फेंक दीं। इस पर पूना में घोर आन्दोलन मच गया। कोई २ कहने लगे कि दयानन्द की मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध वक्तृताओं को सुनकर ही किसी ने यह कर्म्म किया है। विशेषतः यह कहा गया कि किसी ब्राह्मण ने छद्मवेशी होकर इन देव मूर्त्तियों को उठा कर रात्रि में बलवन्त राव के मन्दिर के सामने नाली में फेंक दिया है। स्वामीजी से जो अधिक द्वेष रखते थे उन्होंने तो यहाँ तक कहने में सङ्कोच नहीं किया कि दयानन्द पण्ढरपुर जाकर निबठोबा की मूर्त्ति तोड़ आये हैं और उन्होंने ही उपर्य्युक्त मूर्त्तियाँ नाली में फेंकी हैं। स्वामीजी पण्ढरपुर तो गये भी न थे, परन्तु फिर विद्वेषियों ने ऐसी ऊटपटाँग और मिथ्या बातें कहने में त्रुटि नहीं की।

केवल इतना ही नहीं, स्वामीजी पर अनेक प्रकार के मिथ्या दोषारोपण करके सर्व-साधारण को उनके विरुद्ध भड़काने का यत्न किया गया। एक यह जनरव फैलाया गया कि दयानन्द ने अपने एक व्याख्यान में श्री रामचन्द्र को भड़वा कहा था और यह कि रावण को प्रसन्न करने के लिये ही रामचन्द्रजी ने सीताजी को स्वयम् उसके पास भेजा था। महाराज के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में ऐसे परम निन्दासूचक वाक्य कहना सर्वथा असंभव था। अपने पूर्वजों के प्रति उनके हृदय में परमप्रतिष्ठा के भाव थे। परन्तु शत्रुओं ने सत्यासत्य से क्या लेना था, उन्हें तो यथातथा जनता को महाराज के विरुद्ध उभारने से प्रयोजन था।

लज्जाजनक अपवाद

पौराणिक पक्ष के स्थानीय समाचार-पत्रों ने भी लोक-साधारण को महाराज के विरुद्ध उकसाने में कमी नहीं की और उन्होंने यहां तक लिख मारा कि हिन्दू-धर्म्म पर इस प्रकार के आक्रमणों से सिपाही विद्रोह के समान दूसरे विद्रोह के होने की सम्भावना है। ऐसा लिखने से उन का स्पष्ट अभिप्राय सरकार को स्वामीजी के विरुद्ध करने का था।

लोक-साधारण को स्वामीजी के विरुद्ध भड़काया गया

विपक्षीदल जब विद्या और युक्तिबल से स्वामीजी को परास्त न करसका तो उसने निर्मल कीर्त्तिचन्द्र पर मिथ्या आक्षेपों और मृषा आरोपों की धूलि फेंक कर उस की ज्योत्स्ना को तिरोहित करना चाहा और वह उत्पात और उपद्रव उठाने का सुअवसर जोहने लगा और दैवगति से ऐसा अवसर शीघ्र ही प्राप्त हो गया।

उपद्रव का सुयोग

बात यह हुई कि पूना में अपना कार्य्य समाप्त करने के पश्चात् महाराज ने सतारा जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके श्रद्धालु भक्तों ने आपस में परामर्श करके यह स्थिर किया कि उनके प्रति अपने उपकार को प्रकट करने के लिये उन्हें समारोह पूर्वक शहर और कैम्प में लेजाया जाय और इसके लिये ५ सितम्बर रविवार का दिन निश्चित कर दिया गया और तदर्थ शहर और कैम्प में तैयारियाँ होने लगीं। स्वामीजी की समारोह-यात्रा के लिये ३००) रु० एकत्र किये गये। यह निश्चय हुआ कि ५ सितम्बर सन् १८७५ को पहले कैम्प में महाराज का एक व्याख्यान कराया जाय और तत्पश्चात् कैम्प से समारोह-यात्रा नगर में लेजाई जाय।

सम्मान-प्रदर्शन का निश्चय

सभा के लिये निमन्त्रण-पत्र भेजे गये और सभागृह को फूलपत्ती आदि से सजाया गया। शोभा-यात्रा के लिये देशी और अंग्रेजी बाजे मँगवाये गये। कैम्प मैजिस्ट्रेट से आज्ञा लेकर महाराज की सवारी के लिये हौदे समेत हाथी मँगवाया गया। यतः वातावरण पहले से ही दूषित हो रहा था और विपक्षियों की ओर से उपद्रव की आशङ्का थी अतः पुलिस का भी प्रबन्ध किया गया।

शोभा-यात्रा की तैयारी

संवर्द्धना सभा सङ्गठित हुई। उसमें १०० के लगभग पूना नगर के लोग सम्मिलित हुए थे, श्रोताओं में हिन्दूओं के अतिरिक्त मुसलमान, पारसी और यहूदी भी थे। स्वामीजी

संवर्द्धना-सभा

ने अपने व्याख्यान में 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' इत्यादि वेदमन्त्र की व्याख्या की। व्याख्यान की समाप्ति पर गङ्गाराम भाऊ भस्के ने एक सुन्दर वक्तृता दी जिसमें महाराज के उपकारों का उल्लेख करके उनके प्रति पूना निवासियों की ओर से कृतज्ञता प्रकट करके अन्त में कहा,—"स्वामीजी की व्याख्यानमाला से हमें जो लाभ हुआ है उसके लिये कृतज्ञता प्रकट करने के चिन्हस्वरूप में हमें कोई उत्तम परिच्छद उनकी भेंट करना चाहिए और मैं आशा करता हूँ कि स्वामीजी उसे ग्रहण करने की कृपा करेंगे।" महाराज ने कहा कि यद्यपि मैं किसी परिच्छद के लेने को उद्यत नहीं हूँ, परन्तु न लेने से आप लोग असुन्तुष्ट होंगे अतः मैं उसे स्वीकार करने पर बाध्य हूँ। इसके अनन्तर गङ्गाराम भाऊ भस्के और कई अन्य सज्जनों ने एक जोड़ा शाल, एक पगड़ी, एक रेशमी पीताम्बर और एक रेशमी चादर प्रफुल्लहृदय और श्रद्धा के साथ महाराज की भेंट किये और श्रोतृवर्ग ने उनपर पुष्प वर्षा की और उपस्थित लोगों को पान-सुपारी वितरण किया गया और फिर समारोह-यात्रा आरम्भ हुई, महाराज ने हाथी पर सवार होना स्वीकार नहीं किया* और वह अन्य मनुष्यों के साथ पैदल ही चले।

स्वामीजी हाथी पर सवार न हुए

समारोह यात्रा का यह क्रम था कि सबसे आगे हाथी था, उसके पीछे कोतल घोड़े, फिर पुलिस के सिपाही और उनके पीछे बाजे वाले फिर महाराज और उनके भक्तजन और अन्त में अन्य लोग।

शोभायात्रा का क्रम

समारोह-यात्रा में आरम्भ में ३००—४०० मनुष्य थे, परन्तु नगर तक पहुँचते २ उनकी संख्या ३—४ सहस्र हो गई थी।

स्वामीजी का इस प्रकार सम्मान होता देख कर विद्वेषियों के हृदय ईर्ष्या की अग्नि से दग्ध हो गये, उनके कलेजों पर बरछियाँ चल गईं। मानो स्वामीजी के सम्मान से उनका घोर अपमान होता था। उन्होंने दयानंद समारोह-यात्रा के उपहासार्थ एक गर्दभसमारोह-यात्रा निकालने का प्रबन्ध किया। एक गर्दभ को सजाया, उस पर गेरुए रङ्ग की अर्थात् उस रङ्ग की जिस रङ्ग के स्वामीजी वस्त्र पहनते थे भूल डाली और उस पर 'गर्दभानन्द सरस्वती' लिखा और उस के आगे बाजा बजाते और 'गर्दभानन्द की जय, दयानन्द गदहे की जय' बोलते हुए नगर के बाजारों में घूमने लगे। विपक्षियों का एक बड़ा दल इस गर्दभ-यात्रा के साथ हुआ, नगर के लुच्चे, लुँगाड़े, गुण्डे और लफंगे उपद्रव की तैयारी करने लगे और इस यत्न में रहे कि किसी न किसी प्रकार स्वामीजी की समारोह-यात्रा से मुठभेड़ करें। गर्दभ दल के नेता वही नारायणजी भीकाजी जोगलेकर थे। उन्हों ने ही यह निन्दनीय रचना रची थी। गर्दभ को हाँकने वाले प्रायः २५ मनुष्य थे जो भाडारिया जाति के थे।

विपक्षियों की लीला, गर्दभ-शोभा-यात्रा

स्वामीजी की समारोह यात्रा ५ बजे सायङ्काल के कैम्प से चली थी। जब वह भवानीपेठ, गणेशपेठ, आदित्यवारपेठ, बुधवारपेठ में से होती हुई भिड़े के बाड़े की ओर

---

* दयानन्दप्रकाश में लिखा है कि स्वामीजी हाथी पर सवार हुए। यह ठीक नहीं है। उन्होंने हाथी पर बैठना स्वीकार नहीं किया था। वह सबके साथ पैदल ही थे। —संग्रहकर्त्ता.

दोनों यात्राओं की मुठभेड़

जहाँ स्वामीजी का व्याख्यान होने को था, जानेलगी तो ७।। बजगये थे और मशालें जलाली गईं थीं। उसके वहाँ पहुँचते ही दूसरी ओर से गर्दभदल भी आ पहुँचा और उसने 'स्वामी गदहे की जय', 'दयानन्द गदहे की जय' बोलना आरम्भ किया। इस ओर से उस दुष्टता पर आक्षेप किया गया और गदहे को पकड़वाकर पुलिस के हवाले करदिया। उस दिन वर्षा होकर चुकी थी बल्कि समारोह-यात्रा के समय भी वर्षा होने लगी थी, परन्तु लोगों के हृदय इतने उत्साहयुक्त और उत्फुल्ल थे कि उन्होंने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की। वर्षा के कारण मार्ग में कीचड़ होगई थी। गर्दभ को पुलिस के हवाले करने पर गर्दभ-दल के लोगों ने मशालें बुझादीं और स्वामीजी के पक्षवालों पर ईंट, पत्थर, गोबर, कीचड़ फेंकना आरम्भ कर दिया। गली के सब ओर से और मकानों की छतों और खिड़कियों से ईंटें बरसने लगीं और कई लोगों के चोटें आईं। यह उपद्रव रात्रि के १० बजे तक इसी प्रकार चलता रहा। जो पुलिसवाले स्वामीजी की समारोह-यात्रा के साथ थे, वह खड़े २ तमाशा देखते रहे, उन्होंने उपद्रव को शान्त करने का कोई यत्न नहीं किया। किसी ने पुलिस सुपरिण्टेंडेंट पोर्टमैन और पुलिस इंस्पेक्टर ट्रेने को भी सूचना देदी और वह १०० कॉन्स्टेबिल (कोई कोई २०० कहते हैं) साथ लेकर उपद्रवस्थल पर आगये। उन्होंने बड़ी कठिनता से उपद्रव को शान्त किया। गर्दभदल के लोगों ने पुलिस पर भी ईंट, पत्थर फेंके और उनके भी चोटें आईं। स्वयं इन्स्पेक्टर ट्रेने भी आहत हुए। एक ब्राह्मण के तो इतनी चोट आई कि उसे हस्पताल पहुँचाना पड़ा। * पुलिस की इतनी भीड़ होते हुए और इतना भयङ्कर उपद्रव होते हुए भी पुलिस ने केवल एक मनुष्य को पकड़ा जो अति निम्न श्रेणी का था। उपद्रव शान्त होने पर भी गर्दभदल के लगभग १००० मनुष्य बुधवारपेंठ में डटे खड़े रहे।

स्वामीजी की शोभा-यात्रा पर आक्रमण

पुलिस तमाशा देखती रही

पुलिस ने केवल एक मनुष्य को पकड़ा

स्वामीजी उपद्रव आरम्भ होते ही उस मकान में चलेगये थे, जिसमें उनका व्याख्यान होने को था।

शान्ति स्थापित होने पर स्वामीजी ने अपना व्याख्यान दिया, परन्तु उसमें उन्होंने इस उपद्रव का उल्लेख तक नहीं किया। उनकी चित्त की शान्ति एक क्षण के लिये भी भङ्ग न हुई, वे सदा की भांति प्रफुल्लवदन थे, उनके मुख-मण्डल पर चिन्ता का चिन्ह तक न था। उनका स्वर सदा की भांति गम्भीर व मधुर और विस्पष्ट था, उसमें कोई कातरता न थी, कोई प्रकम्प न था। श्रोतृवर्ग व्याख्यान सुनने के लिये इतना लालायित था कि इस दुर्घटना के होने पर भी व्याख्यान-गृह उससे परिपूर्ण था।

स्वामीजी ने उपद्रव शान्त होने पर व्याख्यान दिया

* कोई कोई कहते हैं कि गर्दभदल गदहे को व्याख्यानगृह के भीतर लेगया जहाँ स्वामीजी पहले ही चलेगये थे और उनसे गदहे की ओर सङ्केत करके कहा कि 'लो यह तुम्हारा अनुयायी है।' स्वामीजी के साथियों ने गदहे को मकान के भीतर से बाहर करदिया और तब गर्दभदल ने उन पर आक्रमण किया।

स्वामीजी ने अपना व्याख्यान शान्त और गम्भीर भाव से समाप्त किया, व्याख्यान की समाप्ति पर श्रीयुत महादेव मोरेश्वर कुण्टे ने उनकी प्रशंसा में छोटी सी वक्तृता दी। कुण्टे महोदय ने कहा कि "श्री स्वामीजी महाराज बहु-गुणसम्पन्न व्यक्ति हैं, उनका समादर करना हमारा कर्त्तव्य है, इत्यादि"। फिर श्रीयुत रघुनाथ शास्त्री ने कहा कि "व्याख्यानदाता का नाम दयानन्द सार्थक हुआ है, अतः उनका आदर-सम्मान विधेय है। तत्पश्चात् श्रीयुत महादेव गोविन्द राणडे ने कहा कि स्वामीजी महाराज ने पूना पधार कर व्याख्यानादि द्वारा स्थानीय पण्डित मण्डली के हृदय में वेदोक्त धर्म्म के विषय में विचार और जिज्ञासा का उदय करदिया है। शास्त्रियों को पक्षपात-शून्य हो कर विचार करना उचित है। स्वामीजी ने अनेक बातें ऐसी कहीं हैं जो ग्रहण करने योग्य हैं, अतः उनका समादर करना हमारा कर्त्तव्य है। उन्हें परिच्छद भेंट करना उपयुक्त है, परन्तु वह संन्यासी हैं, उसे ग्रहण न करेंगे इसलिये उसके बदले उन्हें वेदादि ग्रन्थों के भाष्य और प्रकाशन के लिये अर्थ-साहाय्य करना अच्छा होगा। अतः मैं प्रस्ताव करता हूं कि २५०)रु० उनकी भेंट किये जावें। यह प्रस्ताव सब ने एक मत होकर स्वीकार किया और स्वामीजी ने यह साहाय्य सादर ग्रहण किया। तत्पश्चात् सभास्थ पुरुषों ने स्वामीजी पर पुष्प-वर्षा की और सभा समाप्त हुई।

स्वामीजी का समादर

वेदभाष्य की सहायता

सभा जिस समय विसर्जन हुई, उस समय १२ बज गये थे। इन्स्पेक्टर ट्रेने बराबर सभास्थल में उपस्थित रहे। व्याख्यान की समाप्ति पर उन्होंने स्वामीजी से कहा कि आज की रात्रि को आप भिड़े के बाड़े में ही शयन करें क्योंकि बाहर जाने से आप पर आक्रमण होने का भय है।" स्वामीजी ने कहा आप का कार्य्य रक्षा करना है, आप अपना कार्य्य करें, हम तो निवास-स्थान पर ही जाकर सोवेंगे। इसपर पुलिस विवश होकर स्वामीजी के साथ गई और उन्हें उन के निवास-स्थान पर पहुँचा आई। उस समय भी विपक्षी दल ने जो बराबर डटा खड़ा था, स्वामीजी और पुलिस पर ईंटें फेंकीं।

स्वामीजी की निर्भीकता

इस घटना से ज्ञात होता है कि स्वामीजी कैसे असीम साहस, विपुल वीर्य्य, सुदृढ़ सङ्कल्प, निश्चल निर्भीकता के स्वामी थे। वह एक चट्टान के सदृश अटल थे, जिस से टकरा कर विरोध की लहरें छिन्नभिन्न हो जाती थीं। उन्नतकाय और उन्नतहृदय दयानन्द में दीनता के भाव आना और उनके मुख से दीनता के वचन निकलना असम्भवप्राय थे। वह परमेश्वर से नित्य प्रति 'अदीनाःस्याम' की सच्चे मनोयोग से प्रार्थना करते थे और परमेश्वर के आशीर्वाद से अदीन होगये थे। क्या दयानन्द के अनुयायियों ने उनके इस गुण को धारण किया है, क्या वह भी वैसे ही मनोयोग से सन्ध्या में बैठ कर अदीन होने की प्रार्थना करते हैं, यदि नहीं तो यह दीन अदीन दयानन्द का काम कैसे पूरा करेंगे?

स्वामीजी चट्टान-सदृश अचल थे

इस हङ्गामे में केवल एक को पकड़ा गया और तीन को पीछे से पहचाना गया। इन में से दो पर अभियोग चलाया गया। एक का नाम था गुम्भूबिनपण्डू और दूसरे का गुम्भूबिनबिट्ठू। दोनों ही निम्न कोटि के

दो अभियुक्त

मनुष्य थे। पुलिस की कृपा से उच्च कोटि के मनुष्य जिन्होंने यह उपद्रव खड़ा किया था, पकड़े ही नहीं गये थे, उन पर मुक़द्दमा चलता ही कैसे। पुलिस ने इन्हीं दो पर अभियोग चलाया और इन्हीं दोनों को १७ सितम्बर सन् १८७५ को मिस्टर डब्ल्यू० आर० हैमिल्टन, सिटी मैजिस्ट्रेट के यहाँ से भारत दण्डसंग्रह की धारा १५३ में ६, ६ मास का सपरिश्रम कारावास और ५००)-५००)रु० जुर्माना और जुर्माना न देने की दशा में ३, ३ मास का और सपरिश्रम कारावास और धारा १४७ में ३, ३ मास का सपरिश्रम कारावास का दण्ड हुआ। उनके सहायकों ने अभियुक्तों की ओर से खूब डटकर पैरवी की और पुष्कल द्रव्य व्यय किया।

अभियुक्तों को दण्ड

मैजिस्ट्रेट के निर्णय-पत्र का कुछ भाग हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

"यह विचित्र बात है और प्रशंसनीय होने से बहुत दूर है कि यद्यपि यह उपद्रव नगर में सैंट्रल पुलिस स्टेशन के सामने दो घंटे तक होता रहा, परन्तु केवल एक निरुपद्रवी पटेवाले को पकड़ा गया और तीन को पीछे से पहचाना गया। किसी पक्ष की ओर से यह शिकायत नहीं है कि पुलिस ने उपद्रव को शान्त करने में अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, इस कारण मेरे लिये पुलिस पर अधिक गिरफ़्तारियाँ न करने से उपद्रवकारियों का पक्ष करने का अभियोग लगाना उदारता के विरुद्ध होगा, परन्तु फिर भी यह विश्वास करना असम्भव है कि यदि इस उपद्रव का उद्भाव धर्म्मसम्बन्धी न होता तो अधिक गिरफ़्तारियाँ न होतीं। यह सर्वथा मख़ौल और न्याय की खिल्ली उड़ाना है कि ५००० मनुष्यों की भीड़ में से केवल एक दीन हीन पटेवाले और एक दरिद्र ब्राह्मण का उपद्रव करने के अभियोग में चालान किया जावे और इन दोनों को भी बाजे वालों ने बताया था, पुलिस ने उन्हें नहीं पकड़ा था। यह बात चाहे सुनने में कठोर लगे, मेरा विश्वास है कि सारी पुलिस ब्राह्मणों के प्रभाव में थी और इसी कारण से उसने अधिक लोगों को नहीं पकड़ा। एक फुर्तीला पुलिस अफ़सर डंडे के थोड़े से ही प्रयोग से इन दुरवस्थापन्न उपद्रवकारियों की सेना को तित्तर-बित्तर कर देता और उनमें रेवड़ का रेवड़ पकड़ सकता था। मैं पुलिस पर भीरुता का दोष नहीं लगाता, परन्तु मैं यह कहता हूँ कि उसने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया और उसके ऐसा न करने के कारण स्पष्ट हैं। मैं इसे अपना कर्तव्य समझूँगा कि उसके व्यवहार को ज़िला मैजिस्ट्रेट के नोटिस में लाऊँ।

मैजिस्ट्रेट के निर्णय-पत्र का उद्धरण

आगे चल कर वह लिखते हैं कि "वह अभियुक्त दरिद्र जीव हैं, उनसे ऊँची स्थिति वालों ने अर्थात् कतिपय धर्मान्ध ब्राह्मणों ने अपना काम निकाला है, जिनके ऊपर मुख्यतः इस लज्जाजनक उपद्रव का दोष है। मुझे बताया गया है कि उक्त लोगों ने स्वामीजी से क्षमा की प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया है और इस कारण मानहानि और आघात पहुँचाने का अभियोग जो उन पर चलने वाला था, हटा लिया गया। इस लिये पुलिस को मेरे सामने इन दो अकिञ्चनकर व्यक्तियों पर अभियोग चलाना पड़ा।"

फिर वह लिखते हैं कि "यह दयनीय है कि जिन्होंने इस मूर्खतामय स्वांग की अपने मस्तिष्क से सृष्टि की वह बचजायँ और उनके पिट्ठू दण्ड पाजायँ, परन्तु यह आशा की जाती है कि जो जुर्माना किया गया है उसे वह ही देंगे जो उन्हीं की मूर्खता का परिणाम है।"

सिटी मैजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध अभियुक्तों की ओर से बैरन डी० एच० लार्पेंट साहब सेशंस जज की अदालत में अपील हुई, जिसमें अभियुक्तों की ओर से बम्बई के प्रसिद्ध बैरिस्टर मिस्टर ब्रैन्सन ने पैरवी की। प्रशंसित जज ने २१ सितम्बर सन् १८७५ को धारा १५३ के अपराध से तो अभियुक्तों को मुक्त कर दिया परन्तु धारा १४७ का दण्ड ज्यों का त्यों रक्खा।

इसके पश्चात् जज साहब के निर्णय की हाई कोर्ट में निगरानी की गई और उन्हीं मिस्टर ब्रैन्सन ने पैरवी की, परन्तु निगरानी ८ दिसंबर सन् १८७५ को अस्वीकृत होगई।

दयानन्द की दयालुता

दयानन्द की दयालुता का एक और उदाहरण देखिए। जिन लोगों ने इस प्रकार उसका घोर अपमान करने की चेष्टा की थी जब उन्होंने क्षमा माँगी तो उन्हों ने विना किसी सङ्कोच के उन्हें क्षमा कर दी, वह किसी से भी द्वेष रखने वाले न थे। यदि पुलिस मुक़द्दमा न चलाती तो वह इन दो व्यक्तियों को दण्ड दिलाने का विचार तक न करते। उन का तो कथन यही था कि जब बुरे अपनी बुराई नहीं छोड़ते तो भले अपनी भलाई क्यों छोड़ें और वह सदा इसी के अनुकूल आचरण भी करते थे। जिन दुष्टों ने उन के प्राणघात की चेष्टा की उन तक को उन्होंने दण्ड दिलाना न चाहा, इन अभियुक्तों का तो ऐसा अपराध भी क्या था, वह तो दूसरों के हाथ की कठपुतली थे।

पौराणिक दल की ओर अभियुक्तों का सम्मान

दोनों अपराधी सरकारी नौकर थे, उन में से एक चपरासी और एक दफ़्तरी था पौराणिक दल ने अभियोग में उनकी पूरी २ सहायता की थी। मुक़द्दमे के व्यय के लिये चन्दा किया, पूना में जो सब से योग्य वैरिस्टर था, उसे जजी और हाईकोर्ट में पैरवी के लिये नियत किया। कारावास के समय उन्हें नियमित रूप से मासिक सहायता दी गई। जब दोनों अपराधी कारावास से मुक्त हुए तो उन्हें पालकी में बिठा कर सारे नगर में उनकी समारोह यात्रा निकाली और उन में से हरएक को एक एक सौ रुपया पुरस्कार में दिया, मानों उन्हों ने कोई बड़ा महत्व पूर्ण कार्य किया था, वा सर्वसाधारण की कोई बड़ी सेवा की थी। इसके अतिरिक्त प्रयत्न करके उनकी नौकरी उन्हें दिलादी गई।

सरकार ने उपर्य्युक्त जोगलेकर से इस उपद्रव के कारण उत्तर माँगा।

उपद्रव के कर्त्ता का कथन

देवेन्द्र बाबू जोगलेकर महाशय से मिले थे और इस उपद्रव के सम्बन्ध में उनसे पूछ-ताछ की थी तो उन्होंने कहा था,—'इस दुर्घटना का कारण यह था कि दयानन्द पूना-सुधारक-दल के बुलाये हुए आये थे और उसकी प्रेरणा से ही उन्होंने हिन्दुओं के देव, देवी प्रभृति पर आक्रमण किया था। यदि वह सुधारक दल के बुलाया हुए न आये होते और हिन्दू धर्म्म पर आक्रमण न करते और केवल वैदिक सिद्धान्तों का ही प्रचार करते तो अनेक लोग उनके अनुयायी बन जाते'।

जोगलेकर महाशय का यह कहना कि स्वामीजी ने सुधारक-दल की प्रेरणा से हिन्दुओं के देव देवी प्रभृति का खण्डन किया था, सर्वथा आधार-शून्य है। यह जगद्विख्यात है कि

उक्त कथन की असत्यता

स्वामीजी मूर्त्ति-पूजा के अदम्य विरोधी थे। मूर्त्ति-पूजा आदि के खण्डन के लिये उन्हें किसी की प्रेरणा की आवश्यकता न थी।

पूना में आर्य्यसमाज

स्वामीजी ने पूना में आर्य्यसमाज भी स्थापित किया था, परन्तु वह थोड़े ही दिन चलकर समाप्त हो गया।

पण्डित लेखरामकृत उर्दू 'दयानन्द-चरित' में लिखा है कि पूना में पण्डित विष्णु-परशुराम शास्त्री और डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर से शास्त्रार्थ हुआ था। यह तो सत्य है कि इन दोनों से शास्त्रीय विचार हुआ था, परन्तु वह पूना में नहीं प्रत्युत बम्बई में नवम्बर सन् १८७४ में हुआ था।

पूना से स्वामीजी सितम्बर सन् १८७५ की किसी तारीख को सतारा चले गये।*

पूना से स्वामीजी के कुछ भक्तों ने रा. रा. कल्याणराम सीताराम चित्रे को जो उस समय सतारा के कलक्टर के नेटिव एजेण्ट थे तथा मिस्टर धामनारकर को जो उस समय कलक्टरी में हेड क्लर्क थे और पीछे आकर बड़ौदा के दीवान के पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा मिस्टर राजे हेड-अकाउंटेंट को स्वामीजी के निवास तथा आहार आदि का प्रबन्ध करने के लिये पत्र लिख दिये थे, तदनुसार जब स्वामीजी सतारा पहुँचे तो इन्हीं महानुभावों ने उनका स्वागत किया और उनके ठहरने आदि का सब प्रबन्ध कर दिया।

सतारा

सतारा में स्वामीजी का कोई व्याख्यान नहीं हुआ, परन्तु जो लोग उनके पास आते थे, उनसे ही शास्त्रीय विषयों में बातचीत होती थी।

सतारा के शास्त्रीगण स्वामीजी के मन्तव्यों पर बहुत कटाक्ष करते थे, अतः कुछ लोगों ने शास्त्रियों का स्वामीजी से शास्त्रार्थ कराने का आयोजन किया। एक दिन एक सभा बुलाई गई और उसमें सतारा के गण्यमान्य शास्त्रियों को निमन्त्रित किया गया। यह सभा दीवान बाड़े में हुई और उसमें नगर के प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध शास्त्री और अन्य सज्जन उपस्थित हुए। सभा में सतारा के निम्न लिखित दिग्गज पण्डित उपस्थित हुए:—

शास्त्रार्थ के लिये सभा

वेदमूर्त्ति अनन्ताचार्य्य, वेदशास्त्र सम्पन्न गजेन्द्रगोरकर, रामशास्त्री गाडबोले, भाऊजी दीक्षित चिपलूणकर, अनन्त शास्त्री चिपलूणकर।

बहुत वादविवाद के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि स्वामीजी को शास्त्रार्थ का आह्वान दिया जाय कि उनकी सम्मतियाँ परम्परा, विद्वानों के मन्तव्य तथा शास्त्रों के विरुद्ध हैं, अतः वह उन्हें प्रतिपादित करें। इस शास्त्रार्थ का विज्ञापन एक स्थानीय पत्र में छपवाया गया और उसकी एक प्रति स्वामीजी के पास भेजी गई। विज्ञापन में शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का नियत करना अनिवार्य ठहराया गया था। स्वामीजी पौराणिकों की इस चाल को पहले से ही भली भांति जानते थे। पौराणिकों का इससे अभिप्राय शास्त्रार्थ को टालना ही हुआ करता था, क्योंकि वह जानते थे कि

शास्त्रार्थ का आह्वान

वही मध्यस्थ का पचड़ा

* पण्डित लेखरामकृत के उर्दू जीवन चरित और स्वामी सत्यानन्दजी के 'दयानन्द-प्रकाश' में स्वामीजी के सतारा जाने का उल्लेख नहीं है।
—संग्रहकर्त्ता.

ऐसा मध्यस्थ तो सारे भारतवर्ष में भी नहीं निकलेगा जो मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध अपना निर्णय देसके और यदि कोई ऐसा निकल भी आया तो उसे वह स्वीकार नहीं करेंगे। अतः स्वामीजी ने विज्ञापन के उत्तर में कह दिया कि हम शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत हैं, परन्तु मध्यस्थ का पचड़ा नहीं चाहते। इसे पौराणिक पण्डित मान ही नहीं सकते थे। अतः शास्त्रार्थ की इतनी ही बातचीत होकर रहगई।

फलित ज्योतिष असत्य है

एक दिन एक जिज्ञासु ने स्वामीजी से प्रश्न किया कि फलित ज्योतिष सत्य है वा नहीं, तो उन्होंने कहा कि वह प्रतारणामात्र है।

वर्णभेद पर बात-चीत

एक दिन स्वामीजी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुण पर निर्भर है, न कि जन्म पर और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे। इस पर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इस के विरुद्ध भी हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वह प्रक्षिप्त हैं। इसके उत्तर में उसने कहा कि १०० वर्ष हुए सर विलियम जोन्स ने मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद किया था जो कुल्लूक के अर्थों के अनुकूल था। कुल्लूक को मरे हुए ३०० वर्ष हुए। उससे भी पहले की गोविन्दराज और मेधातिथि की टीकाएँ उपस्थित हैं, उस समय भी यह श्लोक मनुस्मृति में ज्यों के त्यों थे। यदि यह कहा जाय कि उस समय से पहले ही यह श्लोक मनुस्मृति में मिला दिये गये थे, तो इसका कुछ प्रमाण होना चाहिए। इसका स्वामीजी ने उत्तर दिया, परन्तु वह क्या था, यह ज्ञात न हो सका। जिन महाशय से यह प्रश्नोत्तर हुए थे, स्वयं उन्हें भी स्मरण नहीं रहा।

स्वामीजी सतारा से २३ अक्टूबर सन् १८७५ को पूना लौट आये।

बम्बई

पूना से स्वामीजी बम्बई चले गये। बम्बई रेल्वे स्टेशन पर श्रद्धालु जनों ने बड़े प्रेम और सम्मान के साथ स्वागत किया। स्टेशन पर ५०० मनुष्यों के लगभग स्वागत करने के लिये गये थे। बम्बई में ३० अक्टूबर सन् १८७५ को 'आर्य्यों का नये वर्ष का प्रथम दिवस'—विषय पर एक व्याख्यान हुआ।

इसके पश्चात् वह कुछ काल बम्बई में रहे और फिर बड़ौदा आदि स्थानों में धर्मोपदेश करने चले गये।

बड़ौदा

आतिथ्य-सत्कार

बड़ौदे में सर टी. माधवराव ने स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध गोविन्दराम रोडिया की धर्म्मशाला में किया। यह धर्म्मशाला रेल्वे स्टेशन के सामने ही है। स्वामीजी के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया गया था। पत्रादि लेजाने के लिये दो सन्तरी थे, जो हर समय धर्म्मशाला में ही उपस्थित रहते थे। उनके सोने बैठने के लिए उत्तम गद्दी तकिये भेज दिये गये थे, परन्तु स्वामीजी उनको उपयोग में नहीं लाते थे। यद्यपि उन दिनों शीताधिक्य था, परन्तु वह केवल एक दरी बिछाकर और केवल एक चादर ओढ़ कर सोजाते थे। स्वामीजी की रक्षा के लिये दो सिपाही भी नियत थे। स्वामीजी के आतिथ्य-सत्कार के विषय में रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख जज के पुत्र रावबहादुर रामचन्द्र गोपालदेशमुख भी बहुत उद्यमशील रहते थे, जो उन दिनों बड़ौदा में सिटी-जज थे।

स्वामीजी के व्याख्यानों का भी उसी धर्म्मशाला में ही प्रबन्ध कर दिया गया था। उस धर्म्मशाला के तीन भाग थे। बीच के भाग में स्वामीजी रहते थे और तीसरे भाग में उनके व्याख्यान होते थे।

बड़ौदे के सब सम्भ्रान्त, शिक्षित पुरुष, जागीरदार और उच्च राजकर्म्मचारी व्याख्यानों में आते थे, विशेषकर मणिभाई यशभाई, रावबहादुर गजानन विट्ठल, पुलिस कमिश्नर पेलाभाई, रावबहादुर रामचन्द्र गोपालदेशमुख श्रीसेवा में अधिक उपस्थित रहते थे।

व्याख्यानमाला

गायक नव्वाब

स्वामीजी का पहला व्याख्यान, देशोन्नति पर और दूसरा, वेदाधिकार पर हुआ। दूसरे व्याख्यान में श्रोता बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। शास्त्री लोग भी अच्छी संख्या में आये थे। बड़ौदा के एक लाख पेंशन पाने वाले और सुप्रसिद्ध गायक नव्वाब मौलाबख्श भी उपस्थित थे।

शास्त्रियों ने कानों में उँगलियाँ देलीं

स्वामीजी 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' इत्यादि वेद-मन्त्र पढ़ कर व्याख्यान आरम्भ ही करना चाहते थे कि शास्त्रियों ने कानों में उँगलियाँ देलीं और खड़े होकर कोलाहल करने लगे। कारण यह था कि उन लोगों की धारणा के अनुसार वेद-मन्त्रों का उच्चारण शूद्रों और यवनों के सामने करना निषिद्ध था। किसी किसी शास्त्री ने तो यहाँ तक कह डाला कि स्वामीजी ब्राह्मण नहीं हैं, अन्यथा ऐसा न करते। शास्त्रियों की इस प्रकार की

या तो बैठ जाओ, या चले जाओ

धृष्टता देखकर मणिभाई यशभाई, रावबहादुर गजानन प्रभृति ने शास्त्रियों से कहा कि या तो आप लोग बैठ जायँ नहीं तो सभा से चले जायँ, परन्तु कोलाहल करके व्याख्यान में विघ्न न डालें। उस समय तो शास्त्री लोग चुप होगये, परन्तु थोड़ी देर पीछे फिर उपद्रव करने लगे कि शास्त्रार्थ करलो। स्वामीजी ने कहा कि व्याख्यान तो समाप्त होने दीजिए, व्याख्यान की समाप्ति पर शास्त्रार्थ भी हो जायगा, परन्तु शास्त्री लोग कोलाहल करने से न रुके। तब रावबहादुर गजानन ने यह सोचा कि शास्त्री लोग शान्ति से व्याख्यान समाप्त न होने देंगे और श्रोता लोग भी शास्त्रार्थ के लिये बहुत उत्सुक हैं, अतः उन्होंने स्वामीजी से व्याख्यान बन्द करने की प्रार्थना की। उन्होंने व्याख्यान बन्द कर दिया और पण्डित कृष्णराम को काग़ज़ पैंसिल देकर कहा कि जो पण्डित शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, उनके नाम लिखलो!

कितने समय का शास्त्रार्थ करना चाहते हो

उन्होंने पण्डितों के नाम लिख लिये। तब स्वामीजी ने पण्डितों से कहा कि आप वर्षभर का शास्त्रार्थ करना चाहते हैं वा छः मास का अथवा दो घण्टे का। हम सब प्रकार के शास्त्रार्थ के लिये उद्यत हैं, परन्तु शास्त्रियों की ओर से इसका कोई उत्तर न मिला। स्वामीजी ने यह बातें हिन्दी में ही कही थीं। शास्त्रियों में आपस में यह चर्चा होने लगी कि दयानन्द संस्कृत पढ़े तो अवश्य हैं, परन्तु विशेष रूप से नहीं, यदि ऐसा होता

संस्कृत में ही शास्त्रार्थ कीजिये

तो वह संस्कृत में ही बोलते। पण्डितों की कानाफूँसी स्वामीजी तथा मणिभाई यशभाई ने भी सुनली। मणिभाई ने स्वामीजी से संस्कृत में ही शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने कहा कि हमें संस्कृत में शास्त्रार्थ करने में तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जब यह लोग संस्कृत बोलने में

अशुद्धियाँ करेंगे तो उसका उत्तरदाता कौन होगा। मणिभाई ने कहा कि यदि ऐसा होगा तो सभास्थ लोग इनकी संस्कृतविद्या की गति जान लेंगे। इस पर स्वामीजी ने संस्कृत में ही शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। प्रथम यज्ञेश्वर शास्त्री से व्याकरण पर विचार आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने पहले ही कह दिया कि मैं शेखर, मनोरमा आदि जाली व्याकरणों को नहीं मानता हूँ। मैं जिस व्याकरण को मानता हूँ, उसी के अनुसार शास्त्रार्थ करूँगा। तत्पश्चात् स्वामीजी ने पण्डित यज्ञेश्वर से कहा कि इस विषय में जो आप पूछना चाहें पूछिये। पण्डित यज्ञेश्वर ने कहा कि आप ही पूछिये। तब स्वामीजी ने उनसे प्रश्न किया कि 'भू' धातु के लिङ् लकारों का प्रयोग कैसे होता है। अभी प्रश्नोत्तर को होते हुए आधा घण्टा भी न हुआ था कि पण्डित परास्त होगये।

एक पण्डित परास्त होगये

तत्पश्चात् पण्डित अप्पय शास्त्री से न्याय विषय पर विचार आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने उनसे पूछा, आपने गादाधरी पढ़ी है, उन्होंने कहा कि हमने मूल सूत्र पढ़े हैं। इसके पीछे विचार होता रहा, परन्तु अप्पय शास्त्री भी थोड़ी ही देर में परास्त होगये। बीच २ में स्वामीजी शास्त्रार्थकर्त्ताओं की संस्कृत की अशुद्धियाँ भी दिखाते रहे।

दूसरा भी परास्त

उस दिन शास्त्री लोग सभा से अत्यन्त हीनप्रभ होकर गये। उसके पश्चात् एक पण्डित भी सामने आकर शास्त्रार्थ करने का साहस न कर सका, परन्तु स्वामीजी की पीठ पीछे जो मनचाहा कहते और आक्षेप और आक्रमण करते रहे।

बड़ौदा में प्रतिवर्ष श्रावण मास में पूना, नासिक, सूरत प्रभृति स्थानों से ब्राह्मण लोग वर्षाशन पाने के लिये जाया करते हैं। वहाँ की चतुष्पथी के अध्यापक उनकी परीक्षा लेते हैं और उनकी सम्मति के अनुसार परीक्षोत्तीर्ण लोगों का राज्यकोष से वर्षाशन नियत होजाता है, किसी का ४०) रु० किसी का ५०) रु० किसी २ का १००) रु० वार्षिक तक। जब स्वामीजी बड़ौदा गये और इन लोगों को उनके वहाँ जाने का समाचार विदित हुआ तो उन्हें यह भय हुआ कि स्वामीजी पौराणिक धर्म्म का खण्डन करके उनका वर्षाशन बन्द करा देंगे, अतः यह लोग बड़ौदे में आकर इकट्ठे हो गये और स्वामीजी को परास्त करके आत्म-रक्षा करने के उपाय सोचने लगे। शास्त्रियों में प्रमुख दो थे। पण्डित यज्ञेश्वर सूरत निवासी, इनकी व्याकरण में बहुत प्रसिद्धि थी और बड़ौदे के अप्पय शास्त्री यह नैयायिक प्रसिद्ध थे। दोनों ही राज्य के वेतनभोगी थे। यही कारण था कि उस दिन की सभा में शास्त्री लोग शास्त्रार्थ के लिये इतने उत्सुक थे। उन्होंने समझा था कि दयानन्द को संस्कृत का विशेष ज्ञान नहीं है और उनका परास्त करना कुछ अधिक कठिन नहीं होगा, परन्तु यह भ्रम उनका शीघ्र ही टूट गया। वह स्वामीजी के एक ही और हल के से ही आक्रमण से अपने गर्वगिरि से ऐसे फिसले कि नीचे ही आकर रुके और आये भी सिर के बल जिससे उनका सारा मुख ही धूलिधूसरित होगया और जैसे तैसे लज्जावनत होकर अपने घरों को वापस गये और फिर उन्होंने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का नाम न लिया।

वर्षाशन

वर्षाशन बन्द होने का भय

राजमहिषी यमुनाबाई ने स्वामीजी के दर्शनों की अभिलाषा प्रकट की, परन्तु स्वामीजी उन को सामने आने देने पर सहमत न हुए और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी से जो उनका सन्देश लेकर आये थे, कहला भेजा कि स्त्रियों से मिलने का हमारा कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु फिर भी यमुनाबाई की यह अभिलाषा बनी ही रही। जब पण्डितों को यह सूचना मिली कि यमुनाबाई स्वामीजी के दर्शनों की अभिलाषिणी हैं तो उन्हें भय हुआ कि कहीं यमुनाबाई स्वामीजी के कार्य में सहायता प्रदान न करें। अतः वह यमुनाबाई के पास गये और उनसे निवेदन किया कि दयानन्द नास्तिक और पाखण्डी है, उसका मुख देखना उचित नहीं है। रावबहादुर गजानन उस समय बड़ौदे में बड़े प्रतिष्ठित राजपुरुष थे। पण्डित लोग उनके पास भी पहुँचे और उनसे कहा कि आप राज-पुरुषों में अग्रणी हैं, आप को दयानन्द जैसे नास्तिक और पाखण्डी के पास आना जाना और उनके कार्य में सहायता करना उचित नहीं है। किन्तु गजानन ने उनसे कह दिया कि अब तो आप लोग आये सो आये, परन्तु आगे को ऐसा अनुरोध लेकर हमारे पास न आना, दयानन्द आप लोगों से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हैं, आप उन्हें शास्त्रार्थ करके परास्त करो।

राजमहिषी को भी दर्शन न दिये

शास्त्रियों के पेट में चूहे

स्वामीजी का तीसरा व्याख्यान केदारेश्वर के मन्दिर में राजधर्म विषय पर हुआ। रावबहादुर रामचन्द्र गोपालदेशमुख ने इस व्याख्यान को सफल बनाने का विशेष उद्योग किया था और उच्च राजपुरुषों, वकीलों और प्रतिष्ठित मनुष्यों के पास उन्होंने निमन्त्रण-पत्र भेजे थे। अतः इस व्याख्यान में श्रोताओं की संख्या अन्य व्याख्यानों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। इसमें बड़े बड़े राजकर्मचारी पधारे थे। राज्य के दीवान सर टी. माधवराव स्वयं आये थे। मिस्टर आर० एम० केलकर जो उन दिनों पेटलाद ताल्लुके का जमाबन्दी बन्दोबस्त कर रहे थे, उपस्थित हुए थे और बहुत से पटैल जो बन्दोबस्त के सम्बन्ध में बड़ौदे आये हुए थे व्याख्यान श्रवणार्थ आये थे। रेज़िडेन्सी के क्लर्क आदि भी थे। स्वामीजी ने इस व्याख्यान में राजा के गुण और कर्त्तव्य तथा अमात्यवर्ग को कैसा होना चाहिये आदि बातें बतलाई थीं। ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया था और कहा था कि राजाओं के लिये ब्रह्मचर्य्य का पालन नितान्त आवश्यक है, राजाओं को चाहिये कि क़ानून बनाकर लोगों को ब्रह्मचर्य्य पालन पर बाध्य करें और बालविवाह को रोकें, मनुष्यों को सदाचारी और वैदिक धर्म्मानुयायी होना चाहिये। अन्त में स्वामीजी ने कहा था कि यदि भारतवासी योग्य बन जावेंगे तो विदेशी लोग स्वयं ही उनसे कह देंगे कि अब तुम योग्य होगये हो, तुम अपना शासन प्रबन्ध स्वयं करो। ब्रह्मचर्य्य पर कथन करते हुए स्वामीजी ने यह भी कहा था कि किसी भी तीस वर्ष के मांस-मदिराभोजी युवा पुरुष को हमारे साथ चलने दो, तब आप लोग देखेंगे कि ब्रह्मचर्य्य का बल कैसा होता है, हमें किसी भी बीस वर्ष के युवा पुरुष का हाथ पकड़ लेने दो तब आप देखेंगे कि ब्रह्मचर्य

तीसरा व्याख्यान

व्याख्यान का सार

ब्रह्मचर्य्य का बल

की शक्ति कैसी होती है, यदि एक मनुष्य केवल चने चबाकर रहे और ब्रह्मचर्य्य का पालन करे तो वह मांसाहारियों से कहीं अधिक बलिष्ठ हो सकता है।

दीवान का श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम

जिस समय सर टी. माधवराव सभा में आये थे तो वह स्वामीजी को साधारण रीति से प्रणाम करके बैठ गये थे, परन्तु जब व्याख्यान समाप्त होगया और वह सभास्थल से जाने लगे तो उन्होंने स्वामीजी को दण्डवत् होकर प्रणाम किया और कहा—"महाराज आप राजनीति में हमसे भी सौगुने निपुण हैं"।

एक दिन स्वामीजी क्षौर करा रहे थे। एक पण्डित ने आकर कहा कि संन्यासियों का धर्म तो त्याग है, आप देह-विभूषा में क्यों लगे हैं। स्वामीजी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी है। यह कह कर उसे उपदेश दिया कि देह की रक्षा के लिये उसे सँवारना पाप नहीं। जो पुरुष परोपकारी हैं उन्हें अपने देह की रक्षा करना आवश्यक है ताकि वह उपकार कार्य्य अच्छे प्रकार कर सकें।

एक दिन एक अन्य पण्डित ने स्वामीजी से कहा कि सुना है आप धन ले लेते हैं और शास्त्र में यह लिखा है कि यतियों को सुवर्ण न देवे। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि सुवर्ण न देवे तो क्या आपकी सम्मति में रत्न आदि देने चाहिएँ, उसे समझाया कि यतियों के लिये संग्रह करने का निषेध है, परोपकार में व्यय करने के लिये धन लेना पाप नहीं है। हम भी जब केवल एक कौपीन लगाकर गङ्गातट पर घूमते थे किसी से कुछ न लेते थे, परन्तु जब से हमने परोपकार के कार्य्यों में भाग लेना आरम्भ किया है हमें उन कार्य्यों के लिए धन लेना पड़ता है। जैसे कुएँ की मिट्टी कुएँ को ही लग जाती है, ऐसे हम भी जो धन लोगों से लेते हैं वह उन्हीं के हितकर कार्य्यों में लगा देते हैं।

सहस्र रुपयों का उपहार वापस

एक दिन सर टी. माधवराव श्री महाराज को निमन्त्रित करके अपने घर लेगये। कथा-वार्त्ता करने के पश्चात् जब महाराज विदा होने लगे तो उन्होंने एक थाल में एक सहस्र मुद्रा रख कर उनको भेंट कीं। महाराज ने उनसे कहा कि "हम वल्लभाचारियों के समान दुकानदार नहीं हैं" और भेंट स्वीकार नहीं की।

इजारेदार पर अभियोग

गोविन्दराम लिछाभाई देसाई नवसारी प्रान्त के इज़ारेदार थे। उनके ऊपर राज्य का कुछ रुपया दातव्य था। मलहार राव की राज्यच्युति के पश्चात् इज़ारे की प्रथा उठादी गई थी। गोविन्दराम पर राज्य की ओर से दो लाख रुपये का दावा किया गया था। उसमें नवसारी के सूबा राव बहादुर लक्ष्मण जगन्नाथ ने गोविन्दराम को साहूकारी जेल में भेज दिया था। वहाँ पड़े हुए उन्हें बहुत दिन होगये थे, परन्तु उनके मुक़द्दमे का फ़ैसला नहीं होता था। जनार्दन कीर्त्तनीय नायब दीवान के पास गोविन्दराम के जामाता इस अभिप्राय से आये थे कि उनके मुक़द्दमे का फ़ैसला शीघ्र करा दिया जावे। वह पण्डित कृष्णराम से परिचित थे। उन्होंने यह देख कर कि सर टी. माधवराव पर

वेद-भाष्य के लिये २००००) रु० देने का लोभ

स्वामीजी का विशेष प्रभाव है, पण्डित कृष्णराम से कहा कि यदि स्वामीजी दीवान साहब से कह कर मेरे श्वशुर के मुक़द्दमे का फ़ैसला करादेंगे तो मैं वेद-भाष्य की सहायता में २००००) रु० दूँगा। पण्डित कृष्णराम ने अवसर पाकर यह बात महाराज से कह दी। स्वामीजी को इस बात के सुनने से बहुत क्रोध आया और उन्होंने पण्डित कृष्णराम को फटकारा और कहा कि रुपये का प्रलोभन दिखा कर ऐसा प्रस्ताव हम से फिर कभी न करना। हम वह बात तो करने को उद्यत हैं जिस से कोई हमारा देशी भाई अपने न्याय को पहुँच जावे, परन्तु क्या हम रुपये के भूखे हैं ?

पण्डित कृष्णराम पर फटकार

जिस दिन स्वामीजी दीवान साहब के घर पर गये तो उन्होंने बातों-बातों में यह घटना भी दीवान साहब से वर्णन कर दी और इसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिन पीछे गोविन्दराम के मुक़द्दमे का निर्णय हो गया और उनसे २००००)रु० लेकर उन्हें जेल से मुक्त कर दिया।

अभियुक्त जेल से मुक्त

दयानन्द भविष्यद्रष्टा और भविष्यवक्ता थे। वह कई ऐसी बातों का उल्लेख कर गये हैं जिनकी भवितव्यता उस समय किसी के ध्यान में भी न थी। कोई कह सकता है कि यह बात किसी के मस्तिष्क में भी आई थी कि राज्य की ओर से अनिवार्य शिक्षा का क़ानून होना चाहिये और यदि कोई माता पिता अपने बालक को शिक्षार्थ गुरुकुल में न भेजे तो उसे दण्ड दिया जाय। उस समय तो हम समझते हैं कि योरुप में भी कहीं ऐसा क़ानून न था। परन्तु सत्यार्थप्रकाश में यह अङ्कित है और आज भारत में कई प्रान्तों में यह क़ानून जारी है।

भविष्यवक्ता दयानन्द

इसी प्रकार यह बात कि क़ानून बना कर बाल-विवाह की कुप्रथा को रोकना चाहिये किसी ने सोची न थी, परन्तु दयानन्द के विचार में यह बात थी, जैसा कि उन्होंने अपने उपर्युक्त व्याख्यान में कहा था। आज कई राज्यों में यह क़ानून बना हुआ है कि नियत आयु से कम के वर और कन्या का विवाह न होना चाहिये और अब तो भारतसरकार ने भी इसी अभिप्राय से शारदा एक्ट पास कर दिया है, जिसके अनुसार १४ वर्ष से कम आयु की कन्या और १८ वर्ष से कम आयु के वर का विवाह निन्दनीय ठहराया गया है और उसके करने पर माता-पिता, पुरोहितादि दण्डनीय हैं। यह भी परम सन्तोष का विषय है कि इस क़ानून के बनवाने का सेहरा दयानन्द के एक अनुयायी दीवान बहादुर बाबू हरबिलास शारदा के सिर पर है। उन्होंने यह क़ानून बनवा कर जो उपकार आर्य्य जाति का किया है उसके लिये वे सदैव धन्यवाद के पात्र रहेंगे।

गोविन्दराम सम्बन्धी घटना से स्वामीजी का असामान्य निःस्पृहत्व प्रकट होता है। वेदभाष्य की सहायता के लिये २००००) रु० की बड़ी रक़म की ओर उन्होंने भ्रूक्षेप तक नहीं किया और पण्डित कृष्णराम को जिन्होंने इस प्रकार का प्रस्ताव उनके सामने रखने का साहस किया था, बुरी तरह फटकार दिया। परन्तु इसका फल यह नहीं हुआ कि वह गोविन्दराम के जेल मुक्त होने के विषय में उद्योगी न हुए हों। उन्हें विश्वास होगया

असामान्य निःस्पृहत्व

न्यायप्रियता

था कि उसके साथ अन्याय हो रहा है और केवल इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने उसे जेल-मुक्त कराने का यत्न किया था। यह उनकी न्यायप्रियता और न्यायपरायणता का ज्वलन्त उदाहरण है। साधारण जन तो दूर रहे उन लोगों में भी जो अपने को समाज का मौलि-मुकुट समझते हैं, आज कितने हैं जो इसी भाव से कार्य करने में अग्रसर हों जिस भाव से कि महाराज ने कार्य किया।

बड़ौदे में पण्डित शङ्कर पाण्डुरङ्ग ने अपना अंग्रेजी वेदानुवाद स्वामीजी को दिखाया था। वह सायणभाष्य और मैक्समूलर के अनुवाद के अनुकूल ही किया गया था। स्वामीजी ने उसे सुन कर कहा था कि इस प्रकार वेदार्थ करना उचित नहीं है।

वेद का अंग्रेजी अनुवाद

संस्कार विधि का लिखाना बड़ौदे में ही समाप्त हुआ था।

बड़ौदे से राव बहादुर गोपालराव हरिदेशमुख से मिलने के लिये स्वामीजी अहमदाबाद गये और वहाँ से बम्बई चले गये।

बड़ौदा आदि स्थानों में वैदिकधर्म का प्रचार करके स्वामीजी बम्बई लौट आये। उनके आगमन की ठीक तिथि ज्ञात नहीं, परन्तु यह निश्चित है कि वह मार्च सन् १८७६ के आरम्भ में बम्बई में थे।

५ मार्च सन् १८७६ को स्वामीजी का वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता पर आर्यसमाज की ओर से पैलनरोड पर मि० गोविन्दविष्णु के प्राइवेट इंगलिश स्कूल के हाल में एक अत्यन्त मनोहर व्याख्यान हुआ, जिसमें बम्बई के अनेक सुशिक्षित और प्रतिष्ठित हिन्दू उपस्थित थे। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफ़ेसर मोनियर विलियम्स और बम्बई के कलक्टर मि० शेफ़र्ड भी उपस्थित थे, जिन्हें विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया था। व्याख्यान यद्यपि हिन्दी में था तथापि संस्कृत शब्दों की प्रचुरता के कारण उसका बहुत सा भाग प्रोफ़ेसर महोदय के बोधगम्य था। दोनों ही महानुभाव उसे ध्यानपूर्वक सुनते रहे और स्वामीजी की भाषण-प्रणाली और व्यवहार से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए प्रतीत होते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख जज खफ़ीफ़ा अहमदाबाद और नगीनदास तुलसीदास मारफटिया एल एल. बी. ने आर्य्यसमाज के कार्य और विद्वान् सुधारक के उद्देश्यों और अभिप्रायों से सच्चा सन्तोष प्रकट किया और कहा कि हमारी सम्मति में सब लोगों को जो भारतवर्ष के आर्य्यों के नाम और कीर्त्ति पर गर्व करते हैं, स्वामीजी के मन्तव्यों को स्वीकार करना चाहिये।

वेदों पर व्याख्यान

प्रोफ़ेसर मोनियर विलियम्स

तदनन्तर प्रोफ़ेसर मोनियर विलियम्स ने स्वामीजी से बहुत देर तक संस्कृत में बात-चीत की और विदा होते समय न केवल सन्तोष ही प्रकट किया प्रत्युत स्वामीजी की विविध विद्या और व्याख्यान देने की शैली की बहुत बहुत प्रशंसा की। वह स्वामीजी से वार्त्तालाप करने में बहुत मनोविनोद प्राप्त करते प्रतीत होते थे। उन्हें आर्य्यसमाज के नियम और तद्द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भेंट में दी गईं, जिन्हें उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया।

मोनियर विलियम्स से सम्भाषण

१६ और १७ मार्च सन् १८७६ को भाई हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के हाल में ईश्वर के अस्तित्व, गुण और यज्ञों पर स्वामीजी ने व्याख्यान दिये, जिनमें रावबहादुर नानामोरोजी मैजिस्ट्रेट मि० छबीलदास लल्लूभाई, मि० भाईजीवनजी, मि० शामराव विट्ठल (जो पीछे आकर बम्बई हाईकोर्ट के जज हुए) डा० पाण्डुरंग गोपाल और मि० आत्माराम पायादालव्ये प्रभृति सम्भ्रान्त और सुप्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे। मि० नानामोरोजी ने स्वामीजी को शाल जोड़ा देना चाहा। महाराज ने उनसे कहा कि आप न्याय-विचारक हैं, आप शाल देने के क्यों इच्छुक हैं। यदि बहुत शीत हो तो एक शाल की आवश्यकता हो सकती है, संन्यासी इतने शाल लेकर क्या करेगा।

दो और व्याख्यान

संन्यासी शाल लेकर क्या करेगा?

२१ मार्च सन् १८७६ को महाराज का एक व्याख्यान टाउन हॉल में मि० नानामोरोजी रावबहादुर के सभापतित्व में आर्य्यों के इतिहास और हिन्दुओं की नवयुवक-सन्तति के कर्त्तव्यों पर हुआ।

चौथा व्याख्यान

स्वामीजी के आक्रमणों से पौराणिक दल की अवस्था ऐसी होगई थी, जैसी एक डूबते मनुष्य की होती है। जैसे वह तिनके तक का सहारा तकने लगता है वैसे ही पौराणिक दल भी जहां कहीं भी उसे आशा की रेखा दीख पड़ती थी उसकी ओर अति उत्सुकता और उत्कण्ठा के साथ दौड़ पड़ता था। यदि कोई पण्डित झूठ मूठ भी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का दम भरता तो उक्त दल उसके पीछे लग जाता कि सम्भव है यही हमारा परित्राता सिद्ध हो और यही पौराणिक मत की मृगी को वैदिक-धर्म्म के सिंह के मुख से बचा सके।

पौराणिकों की मानसिक दशा

शान्तिपुर नदिया के एक ज्योतिषी पण्डित रामलाल नामक बम्बई के मारवाड़ियों के वर्ष फलादि बनाने और उनसे दान दक्षिणा लेने के लिये प्रतिवर्ष बम्बई आया करते थे। अन्य वर्षों की भांति वह मार्च सन् १८७६ में भी बम्बई आये थे। मारवाड़ी समाज में वह उच्च कोटि के विद्वान् समझे जाते थे। उनके श्रद्धालु भक्तों ने उनसे प्रार्थना की कि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित करके धर्म्मयश कमाइये। पण्डित रामलाल अपने अन्तस्तल में भलीभांति जानते थे कि उनका विद्याबल कितना है और वह दयानन्द जैसे वेद-पारङ्गत विद्वान् से शास्त्रार्थ करने की कितनी योग्यता रखते हैं और इसलिये वह दयानन्द से शास्त्रार्थ करने का कभी भी साहस नहीं कर सकते थे, परन्तु एक तो यह बात कि वह नदिया प्रान्त के निवासी हैं, जहाँ की विद्या का सारा भारतवर्ष लोहा मानता है, यह न कहने देती थी कि हम शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं, दूसरे उन्हें यह भी भय था कि यदि हम शास्त्रार्थ करना स्वीकार न करेंगे तो हमारे शिष्यवर्ग में हमारा अपमान और अप्रतिष्ठा होगी, इसलिये उन्हें अगत्या यही कहना पड़ा कि हम दयानन्द से शास्त्रार्थ

पण्डित रामलाल ज्योतिषी

पंडित रामलाल शास्त्रार्थ के लिये सन्नद्ध किये गये

करने पर उद्यत हैं। उनका इतना कहना था कि पौराणिक दल की मुरझाई आशा लता लहलहाने लगी और शास्त्रार्थ की तैयारियाँ होने लगीं पण्डित गट्टूलाल के घर पर बम्बई के पण्डित इकट्ठे होकर पण्डित रामलाल की सहायता के लिये शास्त्रानुसन्धान करने लगे। उन्होंने पण्डित रामलाल को उत्साहित और उनकी पृष्ठपोषकता करने में कोई न्यूनता न की।

स्वामीजी हँस पड़े

स्वामीजी के किसी अनुरागी ने भी इस बात की सूचना पाकर उनसे यह संवाद कह दिया कि अब की बार पण्डित लोग शास्त्रार्थ की असाधारण तैयारी कर रहे हैं। स्वामीजी इसे सुन कर हँस पड़े और कहने लगे कि कुछ चिन्ता नहीं है। वास्तव में उन्हें चिन्ता भी क्यों होती? जिन्होंने पौराणिक मत के दृढ़तम गढ़ काशी के दिग्गज पण्डितों से जिनकी विद्या की धाक दिग्दिगन्तर में बैठी हुई थी, भय न खाया था, वह बम्बई के पण्डितों से कब डरने वाले थे। अस्तु, जब बम्बई के शास्त्रीगण सब प्रकार से तैयारी कर चुके तो स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिये आहूत किया गया।

शास्त्रार्थ स्वीकार है

उन्होंने तत्क्षण शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ का विषय वही पुराना विषय था कि मूर्त्ति-पूजा वेदविहित है वा नहीं। शास्त्रार्थ की तिथि २७ मार्च सन् १८७६ और स्थान भाई जीवनजी का हॉल नियत हुए।

शास्त्रार्थ सभा

नियत तिथि पर शास्त्रार्थ सभा सङ्गठित हुई। दर्शकों से हॉल इतना खचाखच भर गया था कि खड़े होने तक को जगह न रही थी और बहुत से लोगों को घर लौट जाना पड़ा था। स्वामीजी यथासमय विना किसी आडम्बर के सभा में उपस्थित हो गये। पंडित रामलाल भी पधारे और बड़े दलबल और घोर गर्ज के साथ पधारे। उनके साथ अनेक स्थानीय शास्त्री और उनके शिष्य तथा श्रद्धालु जन थे। शास्त्रार्थ-सभा में मध्यस्थ का आसन श्री भू भाऊजी शास्त्री ने ग्रहण किया। शास्त्रार्थ उचित भावानुकूल और ऐसे ढंग से हुआ कि उसमें भाग लेने वालों के लिये वह प्रशंसनीय था।

पंडित गट्टूलाल सभास्थल में न आये

पण्डित गट्टूलालजी ने भी शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया था, परन्तु वह सभास्थल में नहीं पधारे। उनके लाने के लिये गाड़ी भी भेजी गई परन्तु उन्होंने कहला भेजा कि हमको वमन होगया है, हम नहीं आ सकते, हमारी ओर से पण्डित रामलाल ही शास्त्रार्थ करेंगे।

पंडित रामलाल असमंजस में

स्वामीजी ने प्रथम ही पण्डित रामलाल से यह स्वीकार करा लिया कि आर्य्यों का मौलिक धर्म्मग्रन्थ वेद है और फिर उनसे वेद का कोई मन्त्र वा पंक्ति दिखाने को कहा जिसमें मूर्त्ति पूजा की ओर संकेत हो। पंडित रामलाल ने पुराण और स्मृतियों के प्रमाण उपस्थित किये। स्वामीजी ने कहा कि यह ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं, यदि कोई वेदमन्त्र स्मरण हो तो कहिये। इस पर पण्डित रामलाल ने फिर मनुस्मृति के प्रमाण प्रस्तुत किये। स्वामीजी ने कहा कि इन प्रमाणों में आये हुए प्रतिमा और देव शब्दों से मूर्त्ति-पूजा का

कोई सम्बन्ध नहीं है और उनके यथार्थ अर्थ करके दिखाये* और यह भी कहा कि पंडितजी के बताये हुए ग्रन्थों में पण्डितों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के निमित्त बहुत से असत्य भाग प्रक्षिप्त कर दिये हैं, अतः वह उन ग्रन्थों का प्रमाण उक्त असत्य भागों को छोड़ कर ही स्वीकार करते हैं। मौलिक धर्म्मग्रन्थ वेद में एक शब्द भी नहीं है, जिससे मूर्त्ति-पूजा का प्रतिपादन होता हो, अतः अन्य ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकते।

तदनन्तर पंडित रामलाल ने फिर भी स्मृतियों और पुराणों के प्रमाण उपस्थित किये।

मध्यस्थ की सम्मति

इस पर मध्यस्थ ने कहा कि पण्डितजी! स्वामीजी प्रश्न कुछ और करते हैं और आप उत्तर कुछ और ही देते हैं। यह सभा और पण्डितों का नियम नहीं है। जैसे किसी ने किसी से द्वारिका का मार्ग पूछा और उसने कलकत्ते का मार्ग बतलाया, ऐसा ही आप का यह शास्त्रार्थ है। अन्त में पण्डित रामलाल ने कहा कि हम मूर्त्ति-पूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते परन्तु मनुस्मृति, ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं। इसी पर शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

हम मूर्त्ति-पूजा को वेद से सिद्ध नहीं कर सकते

शास्त्रार्थ सभा साढ़े ग्यारह बजे रात्रि के विसर्जन हुई। शास्त्रार्थ के अन्त में अनेक लोगों ने भाई जीवनजी को धन्यवाद दिया कि जिनके उद्योग से ऐसा चमत्कारिक परिणाम प्राप्त हुआ। सब लोग यह विश्वास लेकर घरों को लौटे कि आर्य्यों के मौलिक धर्म्मग्रन्थ वेद में मूर्त्ति-पूजा की कोई आज्ञा नहीं है।

श्रोताओं पर प्रभाव

४ अप्रेल सन् १८७६ को जीवनदयाल नेरकादयाल ने एक विज्ञापन दिया था जिस में लिखा था कि १८ मास से पण्डित दयानन्द सरस्वती बम्बई पधारे हैं और वह बराबर मूर्त्ति-पूजा का खण्डन कर रहे हैं, पण्डित गट्टूलाल, पण्डित कमलनयनाचार्य्य, पण्डित रामलाल कोई भी मूर्त्ति-पूजा को वेदविहित सिद्ध नहीं करसके। अतः मैं यह निश्चय करके कि मूर्त्ति-पूजा वेदानुमोदित नहीं है, आर्य्यसमाज का सभासद् हुआ हूँ, फिर भी यदि कोई पण्डित कोई वेदमन्त्र पते और सत्यअर्थ सहित जिससे मूर्त्ति-पूजा सिद्ध होती हो, मेरे पास भेज देगा तो मैं उसे १२५) रु० दक्षिणा दूँगा।

वेद से मूर्त्ति-पूजा सिद्ध करने वाले को १२५) रु० दूँगा

एक लेखक ने बम्बई आदि में स्वामीजी के कार्य्य की आलोचना करते हुए कलकत्ता के 'वङ्ग-दर्शन' पत्र में इस प्रकार लिखा थाः—

"बम्बई और पूना प्रभृति स्थानों में कितने ही लोग आर्य्यसमाज में प्रविष्ट होगये हैं। बम्बई प्रदेश में भ्रमण करते हुए मैंने देखा कि वहाँ दयानन्द ने महा-आन्दोलन उपस्थित कर रक्खा है। अनेक उत्साही भद्र पुरुष उनके दल में सम्मिलित होगये हैं। जहाँ तहाँ दयानन्द की ही चर्चा

एक लेखक की साक्षी

---

* पण्डित रामलाल ने मनुस्मृति के श्लोकों का जिनमें देवायतन और देवपरिक्रमण शब्द आये हैं, प्रमाण दिया था। स्वामीजी ने देव शब्द के विद्वान् अर्थ किये थे और देवायतन का अर्थ विद्वानों का निवास स्थान और देवपरिक्रमण का अर्थ विद्वानों के शरीर की परिक्रमा अर्थ किया था। इसका पण्डित रामलाल कोई उत्तर न दे सके थे।
—संग्रहकर्त्ता.

होती है। दयानन्द की वक्तृताशक्ति, दयानन्द का सामाजिक मत, दयानन्द की नवीन प्रकार की वेदव्याख्या पर सर्वत्र आलोचना होती है।.......दयानन्द सबल और दीर्घकाय हैं। उनके साथ वार्त्तालाप करने और विशेष परिचय प्राप्त करने से यह विश्वास होता है कि वह यथार्थ ही एक असाधारण पुरुष हैं; उनकी वाग्मिता असाधारण है, उनकी तर्कशक्ति असाधारण है और स्वदेश के मङ्गल के लिये उनका उत्साह और प्रयत्न भी असाधारण है।....... दयानन्द ने एक बार मुझ से कहा था कि इस समय उनका कार्य दो प्रकार का है, एक तो स्थान २ पर आर्य्यसमाज स्थापित करना और दूसरा वेद का एक नूतन भाष्य लिखना।........ मैं बम्बई के आर्य्यसमाज को देखने गया था। वहाँ अनेक भद्र लोग एकत्र होकर धार्मिक और सामाजिक विषयों पर वक्तृता और तर्क-वितर्क कर रहे थे। मैंने देखा कि अनेक लोग दयानन्द के शिष्य हो गये हैं। उनमें सुशिक्षित मनुष्यों से लेकर अशिक्षित मनुष्य पर्यन्त देखने में आये। एक दिन दयानन्द के पूना से आने का संवाद था। मैंने देखा कि बम्बई के बाजार का एक सामान्य दूकानदार, अपनी दूकान बन्द करके दयानन्द का स्वागत करने के लिये रेल्वे स्टेशन को चल दिया।...... मैंने सुना कि रेल्वे स्टेशन से प्रायः ५०० मनुष्य दयानन्द को लिवा कर लाये थे।

.......दयानन्द मूर्त्ति-पूजा के विरोधी हैं, एकेश्वरवादी हैं और वेद को आप्तवाक्य मानते हैं। अतः जन्मान्तर में भी विश्वास करते हैं। सामाजिक विषयों पर उनके मन्तव्य अति विशुद्ध और उन्नत हैं।................"

एक हिन्दू पण्डित प्राचीनतम हिन्दू धर्म के भ्रम-प्रमाद का प्रदर्शन करते हैं, एक हिन्दू संन्यासी पौराणिक उपासना के असारत्व की घोषणा करते हैं। एक सुप्रसिद्ध वेदज्ञ व्यक्ति वेद को सनातन शास्त्र स्वीकार करके उसमें से उन्नीसवीं शताब्दी के उन्नतम विचारों का प्रतिपादन करते हैं। यदि इससे भी हिन्दूसमाज का चित्त आकृष्ट न होगा तो किस से होगा ?

दयानन्द अंग्रेजी का विन्दु-विसर्ग तक भी नहीं जानते। यह बात उनके पक्ष में अच्छी ही हुई है। यदि वह अंग्रेजी जानते होते तो लोग कहते कि दयानन्द वेदज्ञ संन्यासी अवश्य हैं, परन्तु अंग्रेजी पढ़ने से उनकी मति विकृत हो गई है, वह भ्रष्ट होगये हैं। यह सत्य है कि अंग्रेजी-शिक्षित नव्य समुदाय का कोई मनुष्य यदि अंग्रेजी प्रणाली के अनुसार वक्तृता आदि करे तो वह अपने ही समुदाय में आन्दोलन उपस्थित कर सकता है, परन्तु वह आन्दोलन प्राचीन समुदाय में प्रवेश नहीं कर सकता। दयानन्द जो कुछ भी कहते हैं वह सब ही देशभाव का अनुसारी होता है। वह स्वयम् अंग्रेजी से अनभिज्ञ वेदज्ञ पण्डित हैं। उनकी सब ही वक्तृताओं में हिन्दुओं के चिरपूज्य वेदादि शास्त्रों की ही व्याख्या होती है। यदि किसी मत का समर्थन करना होता है तो वह किसी भी निरपेक्ष व्यक्ति का अवलम्बन नहीं करते, वह सदा ही शास्त्रीय प्रमाणों का प्रयोग करते हैं। इसलिये प्राचीन समुदाय में आन्दोलन उपस्थित हो गया है।

एक दिन बम्बई के प्रसिद्ध सेठ गोकुलदास तेजपाल जो वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी थे, महाराज के पास आये और कहा कि यदि आप मूर्त्ति-पूजा का खण्डन छोड़ दें तो मैं सब

वृहतप्रलोभन

प्रलोभन देने का कारण

गोसाईंजी ने ५,००० की माला लेली

भाटियों को आपका अनुयायी बनवा दूं। महाराज को तो कोई प्रलोभन भी विचलित न कर सकता था, उन्होंने तुरन्त उत्तर देदिया कि ऐसा कभी नहीं होसकता। सेठजी के इस प्रस्ताव का एक कारण था। वह निम्न लिखित घटना के कारण वल्लभाचारी गोसाईंयों से विरक्त होगये थे और वल्लभसम्प्रदाय के आचार्यों के फन्दे से निकलना चाहते थे। उनकी एक विधवा पुत्री थी। एक दिन वह एक रत्न जटित माला पहन कर मन्दिर में गई। माला का मूल्य ५०००) था। गोसाईंजी ने वह माला उससे लेली। उसने यह बात अपने पिता से न कही। एक दिन सेठजी जब मन्दिर गये तो उन्होंने गोसाईंजी को वही माला पहने हुए देखा। गोसाईंजी से तो उन्होंने कुछ न कहा परन्तु घर पर आकर पुत्री को बहुत धमकाया और कहा कि गोसाईंजी पर मैं चोरी का अभियोग चगाऊँगा कि उन्होंने मेरी माला चुराली है। लड़की ने गोसाईंजी को बचाने के लिए यह बात बनादी कि गोसाईंजी ने वह माला मुझसे देखने के लिये लेली थी। फिर गोसाईंजी ने भी ऐसा ही कहा कि हमें ऐसी दूसरी माला बनवानी थी इसलिये हमने देखने के लिये यह माला लेली थी और यह कह कर माला वापस करदी।

एप्रिल सन् १८७६ की किसी तारीख़ को स्वामीजी बम्बई से इन्दौर चले गये।

इन्दौर

एप्रिल की किसी तारीख़ को महाराज इन्दौर पहुँच कर लालबाग़ में ठहरे। उनके ठहरने आदि का प्रबन्ध डाक्टर गणपतिसिंह ने किया था*।

महाराज भी व्याख्यान में पधारे

इन्दौर के सम्भ्रान्त और प्रधान कर्म्मचारी स्वामीजी से मिलने और उनके व्याख्यान सुनने जाया करते थे। एक व्याख्यान में महाराजा तुकोजीराव भी पधारे थे। स्वामीजी का एक व्याख्यान हाईस्कूल में हुआ था। उसमें पण्डित गणेश शास्त्री और रामानुज शास्त्री ने कुछ विरुद्ध बोलने की चेष्टा की थी परन्तु उन्हें बोलने नहीं दिया गया था।

महाराजा को उपदेश

महाराजा तुकोजीराव स्वामीजी से प्रायः मिलने आया करते थे। वह यद्यपि स्वयम् घोर शिवभक्त थे, परन्तु स्वामीजी के आदर सत्कार में कोई त्रुटि नहीं करते थे। स्वामीजी ने महाराजा को राजनीति के कुछ सिद्धान्त लिख कर दिये थे। स्वामीजी की हिन्दी उस समय शुद्ध नहीं थी इस लिये उन्होंने अपना लेख रावर्जा वासुदेव टुल्लो अध्यक्ष शिक्षा विभाग इन्दौर राज्य को शुद्ध कराने के लिये दे दिया था और उन्होंने उसे मास्टर शम्भुदयाल से शुद्ध कराया था।

एक दिन व्याख्यान के समय पण्डित बाल शास्त्री (हाथी शास्त्री) से शास्त्रार्थ का उपक्रम हुआ था, परन्तु शास्त्रार्थ हुआ नहीं।

विदा के समय महाराज तुकोजीराव ने यथेष्ट सम्मान पूर्वकमहाराज को दुशाला

* स्वामीजी के इन्दौर जाने का उल्लेख न पं० लेखरामकृत जीवन-चरित में है और न स्वामी सत्यानन्दजी के दयानन्दप्रकाश में ही है।
—संग्रहकर्त्ता,

महाराजा ने शाल दिया

मैं ऐसी मूर्त्ति-पूजा का खण्डन नहीं करता

आदि भेट किया था और भेट करते समय कहा था कि महाराज! क्या यह मूर्त्ति-पूजा नहीं हो रही है? इसके उत्तर में महाराज ने कहा कि मैं इस प्रकार की मूर्त्ति-पूजा का खण्डन नहीं करता हूँ, मृत-व्यक्तियों के उद्देश्य से जो पूजा होती है, उसी का खण्डन करता हूँ। स्वामीजी ने शाल लेने में आपत्ति की थी और कहा था कि शाल उन्हें दीजिये जो शीत से कातर हों, मैं शाल लेकर क्या करूँगा, यदि प्रत्येक राजा मुझे शाल देगा तो शालों का बोझा हो जायगा और फिर मैं गृहस्थों की भांति (हो जाऊँगा स्वतन्त्रता से) कहाँ घूम सकूँगा। महाराजा ने इन्दौर से काशी तक का रेल भाड़ा भी दिया था और वेदभाष्य की ५० प्रतियाँ क्रय करने का भी वचन दिया था। ३ मई सन् १८७६ के 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' बम्बई के दैनिक में इन्दौर के एक सम्वाद दाता का ३० एप्रिल का लिखा हुआ एक पत्र छपा था कि "स्वामी दयानन्द आज सायङ्काल को बनारस जाने वाले हैं। यहाँ उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। परन्तु लोग उनके आगमन से विचार करने लगे हैं।" उसी पत्र में महाराजा के स्वामीजी को मार्गव्यय देने और वेदभाष्य की ५० प्रतियाँ क्रय करने के वचन देने का भी उल्लेख है।

स्वामीजी के विषय में सम्मति

इन्दौर के एक व्यक्ति पण्डित विष्णुपन्त ने स्वामीजी के विषय में देवेन्द्र बाबू को लिखा था:—स्वामीजी उत्कृष्ट वक्ता थे। उनका स्वर उच्च, गम्भीर और मधुर था। उनकी बोलने की रीति तेजःपूर्ण और उनका आक्रमण तीव्र होता था, उनकी वाणी एकदम लोगों के हृदय में प्रवेश कर जाती थी; इस लिये वह विरुद्ध पक्ष के लोगों को असह्य हो जाती थी और वह बीच में से ही उठ कर चले जाते थे।"

स्वामीजी इन्दौर से चलकर ९ मई सन् १८७६ को फ़र्रुख़ाबाद पहुँच गये।